आनन्द प्रवचन

[ग्यारहवां भाग]

[गौतम कुलक पर २१ प्रवचन]

प्रवचनकार

राष्ट्रसंत आचार्यश्री आनन्द ऋषि

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

अहमदनगर

आनन्द प्रवचन ग्यारहवाँ भाग

☐ प्रकाशक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
बुरुडगाव रोड
पो० अहमदनगर (महाराष्ट्र)

☐ प्रथमबार

फरवरी १९८१
वि० स० २०३७ माघ
वीर निर्वाण स० २५०८

☐ पृष्ठ ३७२

☐ प्रथम संस्करण

२२०० प्रतियाँ

☐ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए
विजय आर्ट प्रिंटर्स, आगरा

मूल्य पन्द्रह रुपया मात्र

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज श्वे० स्था० जैन श्रमण संघ के द्वितीय आचार्य है, यह हम सबके गौरव की बात है, हाँ, यह और भी अधिक उत्कर्ष का विषय है कि वे भारतीय विद्या (अध्यात्म) के गहन अभ्यासी तथा मर्मस्पर्शी विद्वान है। वे न्याय, दर्शन, तत्त्वज्ञान, व्याकरण तथा प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं और साथ ही समन्वयशीलप्रज्ञा और व्युत्पन्नप्रतिभा के धनी हैं, उनकी वाणी मे अद्‌भुत ओज और माधुर्य है। शास्त्रो के गहनतम अध्ययन-अनुशीलन से जनित अनुभूति जब उनकी वाणी से अभिव्यक्ति पाती है तो श्रोता सुनते-सुनते भाव-विभोर हो उठते हैं। उनके वचन, जीवन निर्माण के मूल्यवान सूत्र हैं।

आचार्यप्रवर के प्रवचनो के सकलन की बलवती प्रेरणा विद्यारसिक श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज ने हमे प्रदान की। बहुत वर्ष पूर्व जब आचार्यश्री का उत्तर भारत, देहली, पजाब आदि प्रदेशो मे विचरण हुआ, तब वहाँ की जनता ने भी आचार्य श्री के प्रवचन साहित्य की माँग की थी। जन-भावना को विशेष ध्यान मे रखकर श्री कुन्दन ऋषिजी महाराज के मार्ग दर्शन मे हमने आचार्यप्रवर के प्रवचनो के सकलन सम्पादन, प्रकाशन की योजना बनायी और कार्य भी प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे अब तक 'आनन्द प्रवचन' नाम से दस भाग प्रकाश मे आ चुके है।

यद्यपि आचार्यप्रवर के सभी प्रवचन महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणाप्रद होते हैं फिरभी सबका सकलन-सपादन नही किया जा सका। कुछ तो सम्पादको की सुविधा व कुछ स्थानीय व्यवस्था के कारण आचार्यप्रवर के लगभग ३००-४०० प्रवचनों का संकलन-सपादन ही अब तक हो सका है। जिनका दस भागो मे प्रकाशन किया जा चुका है। प्रथम सात भागो का सपादन प्रसिद्ध विदुषी धर्मशीला बहन कमला जैन 'जीजी' ने किया है। पाठको ने सर्वत्र ही इन प्रवचनो को बहुत रुचि व भावनापूर्वक पढ़ा और अगले भागों की माँग की।

आठवें भाग मे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गौतमकुलक' पर दिए गए २० प्रवचन हैं। तथा नवे भाग मे प्रवचन सख्या २१ से ४० तक के २० प्रवचन हैं। दसवें भाग मे ४१ से ४६ तक कुल १६ प्रवचन हैं। ग्यारहवें भाग मे ५० से ८० तक २१ प्रवचन हैं।

'गौतमकुलक' जैन साहित्य का बहुत ही विचार-चिन्तनपूर्ण सामग्री से भरा सुन्दर ग्रन्थ है। इसका प्रत्येक चरण एक जीवनसूत्र है, अनुभूति और सभूति का भडार है। ग्रन्थ परिमाण मे बहुत ही छोटा है, सिर्फ बीस गाथाओ का, किन्तु प्रत्येक गाथा के प्रत्येक चरण मे गहनतम विचार-सामग्री भरी हुई है। अगर एक-एक चरण पर चिन्तन-मनन किया जाय तो भी विशालविचार साहित्य तैयार हो सकता है।

श्रद्धेय आचार्य सम्राट ने अपने गहनतम अध्ययन-अनुभव के आधार पर इस ग्रन्थ के एक-एक सूत्र पर विविध दृष्टियो से चिन्तन-मनन-प्रत्यालोचन कर जीवन का नवनीत प्रस्तुत किया है। इन प्रवचनो मे जहाँ चिन्तन की गहराई है, वहाँ जीवन जीने की सच्ची कला भी है। गौतम कुलक के इन प्रवचनो को हम लगभग पाँच भाग मे क्रमश प्रकाशित करेंगे। प्रथम खण्ड पाठको की सेवा मे दो वर्ष पूर्व पहुँचा था। गौतम कुलक पर प्रवचनो का द्वितीय खण्ड, तृतीय खण्ड और चतुर्थ खण्ड भी छप चुका है आशा है, पाठक अगले खण्ड ५ की भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करेंगे।

इन प्रवचनो का सम्पादन यशस्वी साहित्यकार श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। विद्वान लेखक मुनिश्री नेमीचन्द जी महाराज का मार्गदर्शन एव उपयोगी सहकार भी समय-समय पर मिलता रहा है। हम उनके आभारी है। आशा है यह प्रवचन पुस्तक पाठको को पसन्द आएगी।

मन्त्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

प्राक्कथन

जैन साहित्य भारतीय साहित्य की एक अनमोल निधि है। जैन मनीषियो का चिन्तन व्यापक और उदार रहा है। उन्होंने भाषावाद, प्रान्तवाद,जातिवाद, पक्षवाद की सकीर्णता से ऊपर उठकर जन-जीवन के उत्कर्ष के लिए विविध भाषाओ मे विविध विषयो पर साहित्य का सरस सृजन किया है। अध्यात्म, योग, तत्वनिरूपण, दर्शन न्याय, काव्य, नाटक, इतिहास, पुराण, नीति, अर्थशास्त्र, व्याकरण कोश, छन्द, अलकार, भूगोल खगोल, गणित-ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्र, सगीत रत्न-परीक्षा, प्रभृति विषयो पर साधिकार लिखा है और खूब जमकर लिखा है। यदि भारतीय साहित्य मे से जैन साहित्य को पृथक कर दिया जाय तो भारतीय साहित्य प्राणरहित शरीर के सदृश परिज्ञात होगा।

जैन साहित्य मनीषियो ने विविध शैलियो मे अनेक माध्यमो से अपने चिन्तन को अभिव्यक्ति दी है। उनमे एक शैली कुलक भी है। 'कुलक' साहित्य के नाम से भी जैन चिन्तको ने बहुत कुछ लिखा है। दान, शील, तप, भाव, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि अनेक जीवनोपयोगी विषयो पर पृथक-पृथक कुलको का निर्माण किया है। मैंने अहमदाबाद बम्बई, पूना जालोर, खम्भात आदि मे अवस्थित प्राचीन साहित्य भण्डारो मे विविध विषयो पर 'कुलक' लिखे हुए देखे हैं पर इस समय विहार यात्रा मे होने के कारण साधनाभाव से उन सभी कुलकों का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण प्रस्तुत नही कर पा रहा हूँ।

मैं जब बहुत ही छोटा था तब मुझे परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य ने 'गौतम कुलक याद कराया था। मैंने उसी समय यह अनुभव किया कि इस ग्रन्थ मे लेखक ने बहुत ही सक्षेप मे विराट भावो को कम शब्दो मे लिखकर न केवल अपनी प्रकृष्ट चिन्तन शील प्रतिभा का परिचय दिया है, बल्कि कुशल अभिव्यजना का चमत्कार भी प्रदर्शित किया है।

गौतम कुलक वस्तुत बहुत ही अद्भुत व अनूठा ग्रन्थ है। यह वामन की तरह आकार मे लघु होने पर भी भावो की विराटता को लिए हुई है। एक-एक लघु सूक्ति और युक्ति को स्पष्ट करने के लिए सैकड़ो पृष्ठ सहज-रूप से लिखे जा सकते है। 'गौतम कुलक' के कुछ चिन्तन वाक्य तो बहुत ही मार्मिक और अनुभव से परिपूर्ण है। एक प्रकार से प्रत्येक पद स्वतन्त्र सूक्ति है, स्वतन्त्र जीवनसूत्र है और है विजय-मन्त्र।

परम आल्हाद है कि महामहिम आचार्य सम्राट राष्ट्रसन्त आनन्द ऋषिजी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न पर मननीय प्रवचन प्रदान कर जन-जन का ध्यान इस ग्रन्थ रत्न की ओर केन्द्रित किया है। आचार्य प्रवर ने अपने 'जीवन की परख' नामक प्रथम प्रवचन मे 'गौतम कुलक' ग्रन्थ के सम्बन्ध मे बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। जो उनकी बहुश्रुतता का स्पष्ट प्रमाण है।

परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट को कौन नही जानता। साक्षर और निरक्षर, बुद्धिमान और बुद्धू, बालक और वृद्ध, युवक और युवतियाँ सभी उनके नाम से परिचित है। वे उनके अत्युज्ज्वल व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशसा करते हुए अघाते नही है। वे श्रमणसघ के ही नही, अपितु स्थानकवासी जैन समाज के वरिष्ठ आचार्य हैं, उनके कुशल नेतृत्व मे एक हजार से भी अधिक श्रमण और श्रमणियाँ ज्ञान-दर्शन चारित्र की आराधना कर रहे हैं। लाखो श्रावक और श्राविकाएँ श्रावकाचार की साधना कर अपने जीवन को चमका रहे है। वे श्रमणसघ के द्वितीय पट्टधर है। उनका नाम ही आनन्द नही अपितु उनका सुमधुर व्यवहार भी आनन्द की साक्षात प्रतिमा है। उनका स्वय का जीवन तो आनन्द स्वरूप है ही। आप जब कभी भी उनके पास जायेंगे तब उनके दार्शनिक चेहरे पर मधुर मुस्कान अठखेलियाँ करती हुई देखेंगे। वृद्धावस्था के कारण भले ही शरीर कुछ शिथिल हो गया हो किन्तु आत्मतेज पहले से भी अधिक दीप्तिमान है। उनके निकट सम्पर्क मे जो भी आता है वह आधि, व्याधि, उपाधि को भूलकर समाधि की सहज अनुभूति करने लगता है, यही कारण है कि उनके परिसर मे रात-दिन दर्शनार्थियो का सतत जमघट बना रहता है। दर्शक अपने आपको उनके श्री चरणो मे पाकर धन्य-प्रसन्न अनुभव करने लगता है।

भारतीय साहित्य के किसी महान चिन्तक ने कहा है कि भगवान यदि कोई है तो आनन्द है। 'आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्' (उपनिषद) मैंने जान लिया है, आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही परमात्म तत्व के दर्शन होते हैं। जब आत्मा पर-भाव से हटकर आत्म-स्वरूप मे रमण करता है तो उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। सच्चा आनन्द कही बाहर नही, हमारे अन्दर ही विद्यमान है। आचार्य सम्राट अपने प्रवचनो मे, वार्तालाप मे उसी आनन्द को प्राप्त करने की कुंजी बताते है। भूले-भटके जीवनराहियो का सच्चा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

आचार्य सम्राट के प्रवचनो को सुनने का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है और उनके प्रवचन साहित्य को पढने का सौभाग्य भी मुझे मिला है जिसके आधार से मै यह साधिकार कह सकता हूँ कि आचार्य सम्राट एक सफल प्रवक्ता है। यो तो प्रत्येक मानव बोलता है, पर उसकी वाणी का दूसरो के मानस पर कोई प्रभाव नही पडता, पर आचार्य सम्राट जब भी बोलना प्रारम्भ करते है तो श्रोता-गण मन्त्र-मुग्ध हो जाते है। श्रोताओ का मन-मस्तिष्क उनकी सुमधुर भावधारा मे प्रवाहित होने लगता है। आचार्यप्रवर की वाणी मे शान्त-रस, करुण-रस, हास्य-रस, वीर रस की सहज अभिव्यक्ति होती है। उसके लिए आपश्री को प्रयास करने की आवश्य-

कशा नहीं होती । यही कारण है कि लोग आपश्री को वाणी का जादूगर मानते हैं। आपश्री की वाणी मे मक्खन की तरह मृदुता है, शहद की तरह मधुरता है, और मेघ की तरह गम्भीरता है । भावो की गगा को धारण करने मे भाषा का यह भागीरथ पूर्ण समर्थ है । आपश्री की वाणी मे ओज हैं, तेज है, सामर्थ्य है ।

आपश्री के प्रवचनो मे जहाँ एक ओर महान आचार्य कुन्द-कुन्द, समन्तभद्र की तरह गहन आध्यात्मिक विवेचना है । आत्मा परमात्मा की विशद चर्चा है तो दूसरी ओर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और अकलक की तहर दार्शनिक रहस्यो का तर्कपूर्ण सही-सही समाधान भी है । स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय, निक्षेप, सप्तभंगी का गहन किन्तु सुबोध विश्लेषण है । एक ओर आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र की तरह सर्व विचार समन्वय का उदात्त दृष्टिकोण प्राप्त होता है तो दूसरी ओर आनन्दघन, व कबीर की तरह फक्कड़पन और सहज निश्छलता दिखाई देती है । एक ओर आचार्य मानतु ग की तरह भक्ति की गगा प्रवाहित हो रही हे दूसरी ओर ज्ञान-वाद की यमुना बह रही है । एक ओर आचार क्रान्ति का सूर्य चमक रहा है तो दूसरी ओर स्नेह की चारुचन्द्रिका छिटक रही है । एक ओर आध्यात्मिक चिन्तन की प्रखरता है तो दूसरी ओर सामाजिक समस्याओ का ज्वलन्त समाधान है । सक्षेप मे हम कह सकते है कि आचार्यप्रवर के प्रवचनो मे दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और साहित्यिकता सब कुछ है ।

मेरे सामने आचार्यप्रवर के प्रवचनो का यह बहुत ही सुन्दर सग्रह है । 'गौतम कुलक' पर उनके द्वारा दिये गए मननीय प्रवचन है । प्रवचन क्या है ? चिन्तन और अनुभूति का सरस कोष है । विषय को स्पष्ट करने के लिए आगम, उपनिषद, गीता महाभारत, कुरान, पुराण तथा आधुनिक कवियो के अनेक उद्धरण दिये गए है । वहाँ पर पाश्चात्य चिन्तक फिलिप्स, जानसन, बेकन, कूले, साउथ, टालस्टाय, ईसामसीह, चेनिग, बॉबी, पिटरसन, सेनेका, विलियम राल्फ, इन्गे, हॉम सेण्टमेथ्यु जार्ज इलियट, शेली, पोप, सिसिल, कॉस्टन, शक्सपियर, प्रभृति शताधिक व्यक्तियो के चिन्तन-सूत्र भी उद्धृत किये गये है । जिससे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि आचार्य सम्राट का अध्ययन कितना गम्भीर व व्यापक है । पौराणिक, ऐतिहासिक रूपको के अतिरिक्त अद्यतन व्यक्तियो के बोलते जीवन-चित्र भी इसमे दिए है जो उनके गम्भीर व गहन विषय को स्फटिक की तरह स्पष्ट करते हैं । यह सत्य है कि जिसकी जितनी गहरी अनुभूति होगी उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति होगी । आचार्यप्रवर की अनुभूति गहरी है तो अभिव्यक्ति भी स्पष्ट है ।

मैंने आचार्यप्रवर के प्रवचनो को पढ़ा है । मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि प्रवचनो का सम्पादन भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियो से उत्कृष्ट हुआ है । सम्पादन कला-मर्मज्ञ कलम-कलाधर श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने अपनी सम्पादन कला का उत्कृष्ट रूप उपस्थित किया है । गौतम कुलक का स्वाध्याय करने वाले जब इन प्रवचनो को पढ़ेगे तो उनके समक्ष इसके अनेक नये-नये गम्भीर अर्थ स्पष्ट होगे । इन

प्रवचनो मे सिर्फ उपदेशक का उपदेश-कौशल ही नहीं, बल्कि एक विचारक का विचार वैभव तथा अनुशीलनात्मक दृष्टि भी है। इससे प्रवचनो का स्तर काफी ऊँचा व विचार प्रधान बन गया है।

इन प्रवचनो को पढते समय प्रबुद्ध पाठको को ऐसा अनुभव भी होगा कि इन प्रवचनो मे उपन्यास और कहानी साहित्य की तरह सरसता है, दार्शनिक ग्रन्थो की तरह गम्भीरता है। यदि एक शब्द मे कह दिया जाय तो सरलता, सरसता और गम्भीरता का मधुर समन्वय हुआ है। ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के लिए पाठक आचार्य प्रवर का सदा ऋणी रहेगा तो साथ ही ऐसे सम्पादक के श्रम को भी विस्मृत नही हो सकेगा।

मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि प्रस्तुत आनन्द प्रवचनो के ये भाग सर्वत्र समादृत होगे। इन्हे अधिक से अधिक जिज्ञासु पढ़कर अपने जीवन को चमकायेगे।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

अनुक्रमणिका

□□

आनन्द प्रवचन भाग ११, के प्रकाशनार्थ प्राप्त सहयोग

निम्न महानुभावो ने प्रकाशन मे उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद !

२१००—श्री वीरसेनजैन—फर्म मिट्ठनलाल जैन एण्डसन्स
चावडी बाजार—देहली ६

१०००—श्री मोहनलाल पारख- हैदराबाद

११०१—श्री जसवतराज सुमेरमल जी लुणावत—बेंगलोर

१०००—श्री उत्तमचन्द लखमीचन्द दोमडिया—सिकन्दराबाद

१०००—श्री फतेहचन्द जी बाफना—भोपाल

१००१—श्री कातीलाल जी चोरडिया—पुणे

१०००—श्री सुमेरचन्द जी जैन बम्बई

१०००—श्री पोपटलाल भागचन्द मुनोत—चिचवड

१००१—श्री हरकचन्द जी केवलचन्द जी चोरडिया—पुणे

१००१—श्री चम्पालाल जी कस्तूरचन्द जी बाफना—नासिक

१००१—श्री यू० मागीलाल जी दूगड—हैदराबाद

१००१- श्री एम शेरमल जी बोहरा -सिकन्दराबाद

१००१—श्री चम्पकलाल माणकलाल शाह बम्बई

१००१—श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड—सिकन्दराबाद

१००१—श्री सौ० गजराबाई नेमीचन्द जी पारख—नासिक

१००१—श्री धरमचन्द लालचन्द शाह- बम्बई

१००१—श्री चम्पालाल जी उत्तमचन्द जी गाधी—मद्रास

१००१—सौ० सुशिलाबाई, मिश्रीलाल जी शिवलाल जी भसाली राहता

५०१—शुभकरण नथमल खिवसरा—अमरावती

५०१— श्री बाबूलाल नरेन्द्रकुमार जी पोखरणा इचलकरजी

५०१ श्रीमती भागुबाई रामचन्द जी दलवाई -इचलकरजी

२५१ विमलीलाल इन्द्रसेन जैन - देहली

२५१ श्री इन्द्रचन्द मोहनराज जी कोठारी--मैसूर

२०१ -श्री शुभकरण चोरडिया—एदलाबाद

२०१—श्री जयनारायण जैन -देहली

★ ★

मूलस्रोत

अप्पा दुरप्पा अणवट्ठियस्स ।
अप्पा जियप्पा सरण गई अ ॥११॥

अनवस्थित की आत्मा शत्रु ।
तथा जितात्मा स्वय शरण है ॥११॥

न धमकज्जा परमत्थि कज्ज ।
न पाणिहिमा परम अकज्ज ॥
न पेमरागा परमत्थि बधो ।
न बोहिलाभा परमत्थि लाभो ॥१२॥

धर्म कार्य ही श्रेष्ठ कार्य है,
हिसा सबसे बडा अकाज ।
परम-बध है प्रेम-राग का,
बोधि-लाभ है उत्तम लाभ ॥१२॥

न सेवियव्वा पमया परक्का ।
न सेवियव्वा पुरिसा अविज्जा ॥
न सेवियव्वा अहिमाणि-हीणा ।
न सेवियव्वा पिसुणा मणुस्सा ॥१३॥

पर-प्रमदा की करो न वाछा,
अज्ञानी का सग नही ।
बचो, नीच-अभिमानी जन से,
चुगलखोर का सग नही ॥१३॥

जे धम्मिया ते खलु सेवियव्वा ।
जे पंडिया ते खलु पुच्छियव्वा ॥
जे साहुणो ते अभिवंदियव्वा ।
जे निम्ममा ते पडिलाभियव्वा ॥१४॥

धार्मिक जन की सेवा करिए,
पंडित नर से पूछो ज्ञान ।
साधुजनो की करो वंदना,
अपरिग्रही को देना दान ॥१४॥

पुत्ता य सीसा य सम विभत्ता ।
रिसीय देवा य सम विभत्ता ॥
मुक्खा तिरिक्खा य सम विभत्ता ।
मुआ दरिद्दा य सम विभत्ता ॥१५॥

पुत्र, शिष्य को तुल्य समझिए,
ऋषि, देवो को समझो तुल्य ।
मूर्ख, और पशु तुल्य कहे हैं,
है दरिद्र का मृत-सम मूल्य ॥१५॥

★ ★
★
★ ★

६०. अनवस्थित आत्मा ही दुरात्मा

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आध्यात्मिक विषय से सम्बन्धित प्रवचन के सिलसिले मे अनवस्थित आत्मा के विषय मे चर्चा करूँगा। वास्तव मे, अनवस्थित आत्मा जैसे अपना ही शत्रु होता है, वैसे ही अनवस्थित आत्मा दुरात्मा भी हो जाता है। महर्षि गौतम ने इस जीवन-सूत्र मे पुन अनवस्थित आत्मा पर बताया है। यह जीवनसूत्र इस प्रकार है—

अप्पा दुरप्पा अणवट्ठियस्स

अनवस्थित व्यक्ति की आत्मा ही दुरात्मा हो जाती है।
गौतम कुलक का यह ४९वाँ जीवन-सूत्र है।

इस सम्बन्ध मे आज हम गहराई से विचार करेगे।

आत्मा को सदात्मा या दुरात्मा बनाना · अपने हाथ मे

भारत का प्रत्येक धर्म एव आस्तिक दर्शन यह बात बहुत जोर-शोर से कह रहा है कि अपनी आत्मा को बनाना और बिगाडना प्रत्येक व्यक्ति के हाथ मे है। वह चाहे तो आत्मा को भ्रष्ट और दुष्ट बना सकता है और वह चाहे तो आत्मा को उच्च और शिष्ट बना सकता है। किसी व्यक्ति के चेहरे या शरीर को देख कर आप सहसा यह अनुमान नही लगा सकते या निश्चित नही कह सकते कि कौन-सा मानव चोर है और कौन-सा साहूकार, कौन दुरात्मा है, कौन सदात्मा, कौन बेईमान है, कौन ईमानदार, कौन कामी, क्रोधी, कपटी, कुटिल, लोभी या अभिमानी है और कौन शीलवान, क्षमाधारी, सरल, मृदु, सन्तोषी या निरभिमानी, नम्र है ?

मनोवैज्ञानिको का कहना है कि आलसी और उत्साही, सद्गुणी और दुर्गुणी, पापी और पुण्यात्मा, तुच्छ और महान, दुर्जन और सज्जन आदि का जो आकाश-पाताल-सा अन्तर मनुष्य-मनुष्य के बीच दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण उस व्यक्ति की मानसिक स्थिति ही है। यद्यपि परिस्थितियाँ भी कुछ हद तक इन भिन्नताओ मे सहायक होती हैं, परन्तु उनका प्रभाव पाँच प्रतिशत है, पचानवे प्रतिशत कारण मनुष्य की अच्छी बुरी मन स्थिति है। बुरी से बुरी-परिस्थितियों मे पड़ा

हुआ मनुष्य अपनी कुशलता और विशेषता, अपनी मानसिक क्षमता और दक्षता के द्वारा उन बाधाओ को पार करके देर-सबेर अच्छी स्थिति प्राप्त कर लेता है। अपनी आत्मा मे निहित शक्तियो, सद्गुणो, सद्विचारो एव सत्प्रयत्नो द्वारा कोई भी मनुष्य बुरी से बुरी परिस्थिति को पार करके ऊँचा उठ सकता है, अपनी आत्मा को उच्च विकसित और श्रेष्ठ बना सकता है। किन्तु जिसकी मनोभूमि निम्न श्रेणी की है, जो दुर्विचारो, दुर्बुद्धि, दुर्गुणो और दुष्प्रवृत्तियो से ग्रसित है, अगर उसके पास कुबेर जितनी सम्पदा और इन्द्र जैसे ठाठ-बाट और वैभव-विलास होगे तो भी वह सदात्मा नही बन सकेगा। यही नही, सम्पत्ति और सुख-सामग्री भी उसके पास अधिक दिन नही टिक सकेगी, वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी।

इसलिए यह बात निश्चित है कि मनुष्य अपने मन को सुधारे, उन्नत दिशा मे पुरुषार्थ करे तो वह अपनी आत्मा को श्रेष्ठ बना सकता है, और वह चाहे तो मन की आदतो को बिगाडकर, उसका गुलाम बनकर अपनी अच्छी आत्मा को भी दुरात्मा बना सकता है। दूसरे लोग अपना कहना न माने यह हो सकता है, पर यदि व्यक्ति स्वय ही अपनी बात को न माने, इसका कारण बहानेबाजी एव लापरवाही के सिवाय और क्या हो सकता है ? अपनी मान्यताओ को व्यक्ति स्वय ही कार्यरूप मे परिणत न करे तो फिर उसके स्त्री-बच्चो, मित्रो, पडौसियो या सारे ससार से यह कैसे आशा रखी जा सकती है कि वे समझेगे और सुधरेंगे।

बाहर की अस्वच्छता साफ करने मे कुछ अडचने हो, यह बात समझ मे आ सकती है, मगर अपने घर को, अपने मन-मन्दिर को भी साफ-सुथरा न बनाये जा सकने मे कौन-सी बहानेबाजी चलेगी ? यह कार्य कोई गुरु या देवता आकर कर देगा, यह सोचना व्यर्थ है। हर व्यक्ति स्वय को सुधार या बिगाड सकता है। दूसरे लोग इस कार्य मे कुछ मदद कर सकते है लेकिन रोटी खाने, शौच जाने, विद्या पढने आदि की तरह मन को सुधारकर आत्मा को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न भी उसे स्वय करना पडेगा। एक के बदले दूसरा रोटी खा लिया करे या दूसरा शौच हो आया करे, यह असम्भव है, इसी प्रकार यह भी सभव नही है कि दूसरे के वरदान या आशीर्वाद से व्यक्ति की मानसिक अस्वच्छता दूर हो जाये। यह कार्य उसे स्वयं ही करना होगा। इस दृष्टि से मनुष्य अपनी आत्मा को सदात्मा और दुरात्मा बनाने के लिए स्वतत्र है। एक प्रसिद्ध कवि ने बहुत ही सुन्दर प्रेरणा दी है—

मेरे मधुवन मे आम लगा, फल खाऊँ कौन मना करता ?
आँगन मे गगा बहती है, उठ न्हाऊँ कौन मना करता ? ॥ ध्रुव ॥
है अचरज इसका ही घर पर, क्यो अपनी नजर नही जाती ?
क्यो सडे-गले बाजारो के फल खाने को मति ललचाती ?
अपनी निधि पर अपनी प्रभुता, दिखलाऊँ कौन मना करता ? ॥१॥

पर-घर में अपने घर जैसा, हा हा ! तेरा सत्कार कहाँ ?
सहकार कहाँ, व्यवहार कहाँ, और उचित उपचार कहाँ ?
अपनी भूमि पर विजयध्वजा फहराऊँ कौन मना करता ? ॥२॥

कितना उन्नत चिन्तन दिया है, कविवर मुनिश्री ने !

वास्तव मे मनुष्य अपने आत्मारूपी बाग का माली स्वयमेव है, वह चाहे तो अपने बाग को अच्छा बना सकता है, और चाहे तो इसे बिगाड या उजाड सकता है।

एक वास्तविक सौन्दर्य का उपासक मस्त यात्री वनराजि के अद्भुत सौन्दर्य को निहारता हुआ एक गिरिश्रृंग पर चढ गया। वहाँ से उसने चारो ओर दृष्टि दौडाई तो सहसा उसे एक छोटा-सा सुन्दर बगला नजर आया। बगले के चारो ओर एक नयनाभिराम उद्यान लगा हुआ था। उस मस्त यात्री ने उधर ही अपने चरण बढाये। धीमे कदमो से उद्यान मे प्रवेश किया। चारो ओर वातावरण सुन्दर सुगन्धित था। नवपल्लवित वृक्ष आनन्द से झूम रहे थे। पक्षियो का सुन्दर कलरव हो रहा था। लताएँ रग-बिरगे फूलो से सुशोभित थी। उद्यान मे वह यात्री घूम रहा था कि सहसा एक वृद्ध ने उसके रग मे भग डाला। उसने पूछा—"कहिए महाशयजी ! किससे काम था ?" यात्री बोला—"काम किसी से नही था, इस मनोहर उद्यान को देखकर इसका सौन्दय-पान करने आया हूँ। आप इस उद्यान के माली मालूम होते है।"

माली स्वीकृतिसूचक 'हाँ' कहकर खुरपी मे फूलो की क्यारी को खोदने मे लग गया। यात्री भी फूलो की क्यारी के पास रखी हुई एक बेंच पर बैठ गया। स्वच्छ और सुव्यवस्थित उद्यान को देखते ही यात्री का मन प्रफुल्लित हो उठा। उसने बगले की ओर दृष्टि फेंककर पूछा—"माली ! यह बगला किसका है ?"

माली बोला—"मेरे मालिक का है।"

यात्री ने कहा—"तब तो वह इस समय यही होगे।"

"नही, वे तो काफी अर्से से परदेश मे रहते है।" माली ने कहा।

यात्री—"तब तो आजकल मे वे आने ही वाले होंगे।"

माली ने आनन्दविभोर होकर कहा— "भाई ! आप यह समझ रहे होगे कि मेरे मालिक आजकल मे आने वाले हैं, इसीलिए मैं इस बाग को व्यवस्थित कर रहा हूँ। पर ऐसी बात नही है। मेरे मालिक कई वर्षों से परदेश ही हैं। वे यहाँ थे, तब भी इस बाग की शोभा ऐसी ही थी, वे आज यहाँ नही है तो भी वैसी ही है और भविष्य मे भी वैसी ही रहेगी।"

यात्री साश्चर्य बोला—"आपके मालिक यहाँ नही है, कब आएँगे, इसका भी कोई निश्चित नही फिर किसे दिखाने के लिए आप इतना परिश्रम कर रहे हैं ?"

माली ने कहा—"बाग को सुव्यवस्थित और शोभायमान रखना, प्रत्येक माली का कर्तव्य है। मेरे मालिक ने पूरे विश्वास के साथ मुझे यह बाग सौंपा है,

इसलिए मेरा भी यह फर्ज हो जाता है कि मैं इस बाग को अधिकाधिक सुन्दर बनाऊँ ? मैं इस चक्कर मे नही पडता कि मेरे मालिक कब आएँगे, अत. मैं अपने बाग को व्यवस्थित और रम्य बनाने मे ही अपना श्रेय समझता हूँ। 'अभी मालिक यहाँ नही है,' यह सोचकर मैं निष्क्रिय होकर बैठा रहूँ, तो मेरे इस बाग की शोभा नष्ट हो जाएगी। फूल, फल, लता और हरे-भरे पौधो के बदले यहाँ कटीले झाड झखाड, निकम्मा घास-फूस और बेर खडे हो जाऐंगे। यदि मेरे मालिक अचानक आ भी जाएँ तो वे बाग की शोभा देखकर आनन्दित हो उठेंगे। उनका आनन्द ही मेरे श्रम का पारितोषिक है।"

माली की अद्‌भुत कर्तव्यपरायणता की भावना देखकर यात्री दग रह गया।

आप और हम सब अपने-अपने आत्मारूपी बाग के माली है। वैष्णव भाषा मे कहूँ तो भगवान ने और जैनदर्शन की भाषा मे कहूँ तो महापुण्यरूपी राजा ने पूरे विश्वास के साथ इस आत्मारूपी उद्यान की सुरक्षा एव सुव्यवस्था का कार्य हमे सौपा है। परन्तु उस माली की तरह कौन अपने आत्मारूपी बाग को सुव्यवस्थित, सुन्दर और शोभायमान रखने के लिए सतर्क और सत्पुरुषार्थशील रहता है ? राजा या प्रभु की अनुपस्थिति मे इस आत्मारूपी बगीचे का मालिक स्वय आत्मा (जीव) ही है। जो इस बात को समझकर दत्तचित्त और आत्मस्थित या प्रभु-ध्यान मे स्थित होकर इस आत्मारूपी उद्यान को ज्ञान-दर्शन-चारित्र एव तप-सयम के पुरुषार्थ द्वारा सुन्दर, सुव्यवस्थित और श्रेष्ठ बनाता है, वही श्रेष्ठ आत्मा, विकसित आत्मा एव मोक्ष-प्राप्ति योग्य आत्मा बनाने का पारितोषिक पाता है। इसके विपरीत जो अनवस्थित, लापरवाह एव कर्तव्यहीन होकर आत्मारूपी उद्यान की सार-सभाल नही करता, इसे ज्ञानादि गुणो की वृद्धि के पुरुषार्थ मे सुन्दर, सुव्यवस्थित बनाने का पुरुषार्थ नही करता, वह अपनी आत्मा को दुरात्मा, अविकसित आत्मा एव पापात्मा बना लेता है, जिसका दण्ड उसे अनेक जन्मो तक विविध गतियो एव योनियो मे परिभ्रमण करने के रूप मे मिलता है। भगवान या पुण्यराजा के प्रकुपित होने से फिर मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ हो जाता है।

इसलिए यह तो मनुष्य के अपने हाथ मे है कि वह अपनी आत्मा को दुरात्मा बनाए या सदात्मा, पापी बनाए या धर्मात्मा !

अनवस्थित आत्मा ही दुरात्मा बनता है

मनुष्य का सदात्मा या दुरात्मा बनना अपने हाथ मे है, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मा दुरात्मा कब बनती है ? महर्षि गौतम ने इसका सीमित शब्दो मे उत्तर दे दिया है कि अनवस्थित आत्मा ही दुरात्मा बन जाती है।

आत्मा को दुरात्मा बनाने मे अन्यान्य निमित्त कारण होंगे, परन्तु मूल कारण अनवस्थितता है। जब जीवन मे अनवस्थितता आ जाती है, चित्त एक जगह, एक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य कार्य मे नही जमता, तब आत्मा उसका अनुवर्ती बनकर

दुरात्मा बन जाता है। आत्मा का अपने पर उस समय आधिपत्य नही रहता, वह दूसरो के अधीन हो जाता है।

तथागत बुद्ध का एक चचेरा भाई भिक्षु बन गया था, उसका नाम था सुभाग। दूसरे भिक्षुओ के साथ उसकी पटती नही थी। वह हर एक के साथ झगड़ पड़ता था। वह समझता था, मैं दूसरो पर रौब दिखाकर अपना सिक्का जमा लूँगा। तथागत ने जब उसकी यह वृत्ति देखी तो उसे आदेश दिया—"जाओ, तीन दिन तक एकान्त मे निर्जल तीन उपवास करके रहो।"

यह देखकर आनन्द ने बुद्ध से कहा—"आखिर तो आप क्रुद्ध हो गए न ?" बुद्ध बोले—"क्या कहा, मैं क्रुद्ध हो गया ? यह तुमने किस पर से निर्णय किया ?" आनन्द ने कहा—"आपने सुभाग भिक्षु को दण्ड जो दिया है।" बुद्ध—"मैंने उसे सजा नही दी है, दिव्य आशीष दी है। तीन दिन के बाद उसका परिणाम तुम सब को ज्ञात हो जाएगा।"

और तीन दिन के बाद जब सुभाग एकान्तवास से बाहर निकला तो आनन्द और अन्य भिक्षुओ को लगता था कि या तो यह भाग जाएगा, अथवा यह पहले से भी ज्यादा बुरा व्यवहार करेगा, परन्तु यह क्या ? सबके आश्चर्य के बीच वह सीधा तथागत बुद्ध के चरणो मे गिर पडा, और ये उद्गार निकाले—"तथागत ! मैं धन्य हो गया हूँ, आपकी कृपा से।" "सुभाग ! खडा हो जा। तुम मे नवचेतना का स्फुरण देखकर मुझे अतीव प्रसन्नता हो रही है।" यो कहकर तथागत ने उसे अपने हाथ से भोजन कराया।

उसी दोपहर को भिक्षु आनन्द खासतौर से उससे मिलने गये। उन्होने सुभाग भिक्षु से पूछा—"भिक्षो ! क्या चमत्कार हुआ, मुझे भी कहो ?"

"भते ! मेरा जीवन बदल गया है। मैं तो तथागत से प्रार्थना करूंगा कि मुझे वे ८ दिन के निर्जल उपवास के साथ एकान्तवास की अनुमति दें।"

भिक्षु आनन्द—"परन्तु तुम्हें क्या अनुभव हुआ ? यह तो बताओ।"

सुभाग भिक्षु—"भते ! मैंने तीन दिनो तक अपनी आत्मा के विषय मे शान्त, स्वस्थ और दत्तचित्त होकर चिन्तन-मनन किया और मुझे यह बात भलीभांति समझ मे आगई कि मेरी आत्मा जगत् मे महान् है और वही नादान भी है। महानता और नादानता दोनो मेरे अदर छिपी हुई है। मैं जिसे चाहूँ प्रकट कर सकता हूँ।"

निष्कर्ष यह है कि जब व्यक्ति का अपने पर अपना नियन्त्रण या आधिपत्य रहता है, तब वह अपनी आत्मा को श्रेष्ठ बना सकता है और जब उसका अपने पर नियन्त्रण या आधिपत्य नही रहता, तब वह अनवस्थित होकर आत्मा को दुरात्मा बना लेता है।

आत्मा की अनवस्थित दशा कब, अवस्थित दशा कब ?

जब यह सिद्ध होगया कि अनवस्थित आत्मा दुरात्मा बन जाता है और

अवस्थित आत्मा सदात्मा, तब सहसा यह प्रश्न उठता है कि आत्मा कब अनवस्थित दशा मे होता है, कब अवस्थित दशा मे ?

आत्मा जब अपने गुणो मे, अपने स्वभाव में, अपने धर्म मे स्थित रहता है, तब तक वह अवस्थित कहलाता है और जब वह अपने गुणो को छोडकर परभावो, विभावो, विषय-कषायादि या राग-द्वेष-मोह आदि विकारो मे फँस जाता है, अपने स्वभाव और धर्म को छोडकर जब वह परभाव और परधर्म मे लुब्ध हो जाता है, तब उसकी दशा अनवस्थित कहलाती है और अनवस्थित दशा मे आत्मा दुरात्मा बन जाता है ।

मिश्र मे एक सन्त हो चुके है, हिलेरियो । जब वे १५ वर्ष के थे तभी उन्हें अपने पिता के प्यार से वचित हो जाना पडा । इस छोटी-सी उम्र मे हिलेरियो को अपने आत्मस्वभाव मे स्थित होने की धुन लगी । वह सम्पत्ति को अपने आत्म-भावो से विचलित और चित्त को चचल बनाने वाली समझते थे इसलिए पिता के द्वारा छोडी हुई सारी सम्पत्ति उन्होने निर्धनो और जरूरतमदो मे वितरित कर दी, स्वय ने यह निश्चय कर लिया कि मैं आत्मस्वभाव मे स्थित होने के लिए एकान्त मरुभूमि मे रहकर साधना करूँगा । जिस स्थान को उन्होने पसद किया, वह स्थान समुद्रतट से दूर और झाड-झखाडो के बीच मे था । वहाँ आवागमन के साधन सुलभ न थे । सदैव डाकुओ का भय बना रहता था, इसलिए वहाँ दिन मे भी कोई व्यक्ति अकेले जाने का साहस नही करता था ।

हिलेरियो के कितने ही मित्रो ने उन्हें उस स्थान पर न रहने की सलाह दी, कहा कि लूट-पाट और मार-काट के लिए वह स्थान बदनाम हो चुका है, अत आपको वहाँ नही रहना चाहिए । परन्तु हिलेरियो ने वहाँ रहकर अपना स्वभाव निर्द्वन्द्वता का बना लिया था, अपने स्वभाव मे अवस्थित रहने का ध्यान, मौन, एकाग्रता-पूर्वक चिन्तन का अभ्यास कर लिया था, इस कारण महान् आत्मा हिलेरियो का आत्मबल बहुत बढ गया था । इस कारण वे मृत्यु से भी नही डरते थे ।

एक दिन मरुस्थल मे महान् आत्मा हिलेरियो को कुछ व्यक्तियो ने घेर लिया और पूछा—"तुम इस जगल मे अकेल रहते हो, यदि कोई तुम्हें परेशान करे और तुम्हारा सामान छीन ले तो तुम क्या करोगे ?" सत हिलेरियो ने मुस्कराकर कहा—"मेरे पास सामान है ही क्या ? पहनने के दो कपडे और पानी पीने के लिए एक कमण्डल ही है । यदि तुम्हें उनकी भी आवश्यकता हो तो मैं सहर्ष देने को तैयार हूँ ।"

"और यदि तुम्हें कुछ डाकू अपने कार्य मे बाधक समझकर जान से ही मार दें तो तुम सहायता के लिए किसे पुकारोगे ?"

सत हिलेरियो बोले—"जान से मारना चाहें तो मार दें, मैं मरने से डरता नही । मैं अपने आत्मध्यान मे यह निश्चित रूप से जान चुका हूँ कि आत्मा अजर-

अमर है, वह कभी मरता नही, मैं अपनी आत्मा मे ही अवस्थित हूँ। शरीर, इन्द्रिय आदि पर या किसी भौतिक पदार्थ पर मेरी आसक्ति नहीं है, उनकी चिन्ता मैं नही करता। वे सब नाशवान हैं, एक दिन वे नष्ट होंगे ही, चाहे वे शीघ्र ही नष्ट हो जाएँ। हृदय से स्वागत है मृत्यु का।"

यह है, आत्मा की अवस्थित दशा का ज्वलन्त उदाहरण !

जो व्यक्ति आत्मा के प्रति वफादार न होकर शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि का गुलाम बन जाता है, भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्त हो जाता है, अपनी आत्मा का कोई विचार नही करता, वह अनवस्थित है, यानी आत्मा मे अवस्थित नही है।

अनवस्थित व्यक्ति आत्मा की आवाज नही सुनता, क्योकि आत्मदेवता के प्रति उसे श्रद्धा-भक्ति नही होती, वफादारी नही होती। जिसका लक्ष्य ही आत्मा का हित और विकास नही है, वह व्यक्ति आत्मा की आवाज की ओर ध्यान ही क्यो देगा ? परन्तु आत्मा मे अवस्थित एवं वफादार व्यक्ति को स्वत आत्मा की आवाज सुनाई देती है, क्योकि वह सावधान होकर उसकी ओर ठीक-ठीक उन्मुख होता है। आत्मा अपने प्रति वफादार व्यक्ति को अपने प्रति सावधान एव सम्मुख करने को आवाज देती है। जब कभी अकस्मात् कोई आवाज आती है, तो बाहोश साधक यह समझ लेता है कि मेरी अन्तरात्मा ने यह आवाज दी है और उस आवाज का केवल एक ही तात्पर्य होता है—"अरे भाई ! अपने को समझ, मुझे पहचान, तू अपना पथ छोडकर किधर जा रहा है ?" यदि ऐसी आवाज आती है तो अवस्थित व्यक्ति उत्साहपूर्वक तत्काल अपने आपका विश्लेषण करके जहाँ भी गलती होती है, तुरन्त उसे सुधार लेता है और आत्मा मे पुन सुदृढता से स्थित हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा की आवाज के अनुसार चलने वाला व्यक्ति अवस्थित होकर अपनी आत्मा का शीघ्र विकास कर लेता है परन्तु जो अनवस्थित है वह आत्मा की आवाज की परवाह न करके कुमार्ग पर चल पडता है, अन्त मे आत्मा को दुरात्मा बनाकर अनेक दु खो मे डाल देता है। अपने जीवन को सार्थक नही कर पाता।

जो व्यक्ति जिस कार्य को अन्तरात्मा की साक्षी से करता है, वह अपने प्रत्येक कार्य के साथ अपनी अन्तरात्मा से पूछेगा कि तू जो कुछ कर रहा है, वह किस उद्देश्य से और क्यो कर रहा है ? जो इस प्रकार अन्तरात्मा से पूछकर कार्य करता है, वह आत्मा मे अवस्थित है। इसलिए वह प्रत्येक कार्य मनोयोगपूर्वक करता है, जिससे कार्य मे सफलता मिलती है। ऐसे अवस्थित आत्मा को कार्य करते समय और कार्य करने के पश्चात् भी आल्हाद का अनुभव होगा।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अन्तरात्मा की साक्षी से कार्य नही करता, आत्मा की उपेक्षा कर देता है, जैसे-तैसे उद्देश्यरहित कार्य करता है, उसका मनोयोग कार्य मे नही होगा। वह किसी भी कार्य को बोझ समझकर ऊपरी मन से करेगा,

मनोयोगपूर्वक नही; वह उसे कष्ट समझेगा। उसे अपने कार्य से सतोष और सुख नही मिलेगा, न प्रसन्नता ही। वह अच्छे से अच्छे कार्य का भी उत्तम फल प्राप्त नहीं कर सकेगा। ऐसे व्यक्ति की आत्मा अनवस्थित होती है, इसलिए वह जानबूझकर अपनी आत्मा को दुरात्मा बना डालता है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करना उचित होगा—

एक नौकर है। वह काम पर आते ही छुट्टी का समय गिनने लगता है। थोडी-थोडी देर बाद वह घडी देखता है, कि कब यहाँ से छुटकारा मिलेगा। उसका मन काम मे नही लगता, जी ऊबता है। क्या इस तरीके से वह नौकर अपना काम अच्छा और पूरा कर सकेगा? कदापि नही। इस नौकर के काम बहुत ही भद्दे, अधूरे और खराब होगे क्योकि उसने अपनी आधी शक्ति तो छुट्टी की प्रतीक्षा मे गँवा दी। शेष आधी से तो आधा-अधूरा काम ही हो सकता है। जिसका चित्त छुट्टी मे अटका है, वह बेगार समझकर काम करेगा, काम को बोझ समझेगा। ऐसा व्यक्ति छुट्टी के समय भले ही प्रसन्न हो ले, शेष समय को कुडकुडाते हुए आनन्दरहित व्यतीत करेगा।

दूसरा नौकर इससे विपरीत स्वभाव का है। उसे अपना काम खेल की तरह मनोरजक प्रतीत होता है, वह पूरी दिलचस्पी के साथ कलापूर्ण कार्य करता है। अपने काम मे उसे आनन्द आता है। वह इतना तन्मय हो जाता है कि छुट्टी के समय की ओर ध्यान ही नही देता।

व्यावहारिक दृष्टि से पहला नौकर अनवस्थित आत्मा की कोटि का है, जबकि दूसरा नौकर अवस्थित आत्मा की कोटि का। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी अव्यवस्थित ढग से बेगार समझकर जैसी-तैसी जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना—धार्मिक क्रिया करता है, वह अनवस्थित आत्मा की कोटि मे है। वह अपनी साधना या क्रिया को भाररूप समझता है, उसे उसमे कोई दिलचस्पी नही होती, न उसके प्रति श्रद्धा और लगन ही होती है। ऐसी आत्मा अनवस्थित है, जो आगे चलकर दुरात्मा बन जाती है। अनवस्थित आत्मा निरुत्साह, निरानन्द, निराश-हताश हो जाता है। नीतिकार कहते है—

> निरुत्साह, निरानन्द निर्वीर्यमरिनन्दनम्।
> मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयत्पुत्रमीदृशम्॥

—कोई भी नारी निरुत्साह, आनन्दशून्य, निर्वीर्य एव शत्रु को खुश करने वाले पुत्र को जन्म न दे।

इसके विपरीत जो साधक पूरी श्रद्धा, भक्ति, लगन, दिलचस्पी एवं तन्मयता के साथ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना करता है या क्रिया करता है उस साधना या क्रिया मे उसे आनन्द प्राप्त होता है, वह हँसी-खुशी से साधना मे ओतप्रोत हो जाता है। अत उसे हम अवस्थित आत्मा कह सकते है, जो अपनी आत्मा को उच्च कोटि के विकास की ओर ले जाता है।

अवस्थित आत्मा साधु, श्रावक या नीतिमान गृहस्थ आदि जिस दर्जे या भूमिका पर है, उस पर पूर्ण श्रद्धा एवं वफादारी के साथ उसका पालन करता है। वह मनोयोगपूर्वक अपनी भूमिका या श्रेणी अथवा कक्षा की साधना करता है, वह उसे बोझरूप नहीं मानता, इसलिए उसे अपने दर्जे की साधना करने मे कही भी कष्ट या पीडा की अनुभूति नही होती, बल्कि उसे अपनी कक्षा के धर्म का पालन करने मे सन्तोष और आनन्द का अनुभव होता है। अपने दर्जे का धर्म-पालन करते समय और करने के पश्चात् उसे आल्हाद का अनुभव होता है। जो साधु है, वह साधु-धर्म के पालन मे आने वाले कष्टों को भी आनन्द के रूप मे पलट लेता है। इसी प्रकार श्रावक या नीतिमान गृहस्थ के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। ऐसे अवस्थित आत्मा के हृदय मे भगवद्गीता का यह श्लोक अकित हो जाता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

दूसरे के द्वारा भली-भाँति अनुष्ठित पर-धर्म की अपेक्षा वर्तमान मे विगुण प्रतीत होने वाला स्वधर्म श्रेयस्कर है। स्वधर्म मे मृत्यु भी श्रेयस्कर है, क्योकि पर-धर्म—चाहे कितना ही लुभावना लग रहा हो, भयावह है। तात्पर्य यह है कि साधु के लिए गृहस्थ परधर्म है, जबकि गृहस्थ के लिए वर्तमान मे साधुधर्म पर धर्म है।

जो साधक अपने धर्म मे अवस्थित रहता है उसे अपने धर्म के अन्तर्गत यम नियमो का पालन करने मे भार नही लगता, जबकि परधर्म की ओर मन को दौडाने वाले, चचलचित्त साधक स्वधर्म का तो ठीक से पालन कर ही नही पाते, परधर्म का पालन तो बहुत दूर की बात है। चाहे कोई साधु हो या श्रावक, ऊपर से साधु या श्रावक होने का दिखावा करना और भीतर पोल चलाना, अनवस्थित आत्मा की निशानी है, ऐसा व्यक्ति आत्मवचना करता है और दूसरो को भी धोखे मे रखता है।

आचाराग सूत्र मे साधु को अपने स्वधर्मपालन पर जोर देते हुए कहा है—

"जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिआ "

—साधु जिस श्रद्धा से घर-बार छोडकर साधुधर्म मे दीक्षित हुआ है, उसका उसी श्रद्धा के साथ पालन करे।

तात्पर्य यह है कि जो साधक (साधु या गृहस्थ) जिस लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए उद्यत हुआ है, अगर वह उसका ठीक तरह से पालन नही करता है, तो स्थिति विषम हो जाती है। वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और अपनी आत्मा को दुरात्मा बना लेता है। न वह घर का रहता है, न घाट का। जैसे कोई अपने महान् ध्येय को प्राप्त करने के लिए अनगार, अकिचन भिक्षु बना, सासारिक सुखों का परित्याग किया, यदि वह अपने इस ध्येय से च्युत होता है, उसकी पूर्ति के लिए उद्यत नही रहता, वह अनवस्थित आत्मा अपनी आत्मा को दुरात्मा बना लेता है। यही बात

श्रावक या नीतिमान सद्‌गृहस्थ के सम्बन्ध मे समझ लीजिए। ऐसे लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति की आत्मा दुरात्मा बनकर अनेक दु खो की परम्परा खडी कर देती है। जब आत्मा दुरात्मा बन जाती है, तब विषय, कषाय, दुराचरण, पापकर्म और सासारिक सुख-भोग के वश होकर एक-एक योनि मे अनन्त-अनन्त बार चक्कर लगाती है। ऐसी दुरात्मा दु सह दु ख के गर्त मे डाल देती है। इससे अधिक हानि पहुँचाने वाला दूसरा कौन है ? इस दुरात्मा ने आत्मा का जितना अहित किया है या करती है उतना अहित दूसरे किसी भी वैरी ने नही किया। इस दुरात्मा ने ही कषायादि दूसरे वैरी पैदा किये हैं। बस, अनवस्थितता मिटा दीजिए फिर आपकी आत्मा दुरात्मा न रहकर सदात्मा बन जाएगी।

इसी प्रकार जो व्यक्ति परमात्मा का ध्यान करते समय मन को डावाडोल करता है। इधर-उधर के विषय-बीहडो मे इन्द्रियो को दौडाता है, वह अनवस्थित आत्मा है। उसकी आत्मा परमात्मा के ध्यान मे स्थित नही है, वह अपने चित्त को बाहर भटकाता है, अपने भीतर नही झाँकता, वह बाहर ही बाहर देखता है। ऐसी अनवस्थित दशा आत्मा को दुरात्मा बनाती है।

तारापीठ (बगाल) मे द्वारका नदी के सुरम्य तट पर तारा देवी का मन्दिर है। उस दिन कोई मेला या विशेष पर्व था, इसलिए निकटवर्ती गाँव से एक जमीदार तारादेवी के दर्शनार्थ आया। दर्शन करने से पूर्व उसने सोचा कि स्नान करके यही पूजा-पाठ सम्पन्न कर लिया जाए। फलत द्वारकातट पर अपना सामान रखकर वस्त्र उतारे और स्नान करने लगा। फिर एक आसन बिछाकर पूजा-पाठ के लिए पूर्वाभिमुख बैठकर ध्यान मे प्रवृत्त हुआ। उसी समय एक सत भी स्नान के लिए आये। यह महात्मा बगाल के असाधारण तान्त्रिक वामाक्षेपा थे। उधर वे स्नान कर रहे थे, इधर जमीदार परमात्मा के ध्यान मे निमग्न था। जो सन्त कुछ देर पहले प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे, सहसा उन्हें न मालूम क्या कौतुक सूझा कि प्रभुध्यानमग्न जमीदार पर पानी के छीटे मारने लगे। जमीदार ने आँखे खोली, जिनमे गुस्सा स्पष्टत. झलक रहा था। सन्त वामाक्षेपा बालको-सी मुद्रा बनाकर ऐसे खडे हो गये, मानो उन्होंने जल के छीटे मारे ही न हो, या उन्हें पता तक न हो कि कुछ अनुचित छेडछाड हो रही है। जमीदार ने दुबारा आँखे मूँद ली और फिर ध्यानमग्न हो गया, इधर वामाक्षेपा फिर जल उलीचकर छीटे मारने लगे—निर्द्वन्द्व, निर्भय होकर।

जमीदार गर्जा—अरे ओ साधु ! अन्धा हो गया है ? दिखाई नही देता, मेरे पर पानी उलीच रहा है। मेरा ध्यान भग हो गया। साधु होकर भी उपासना मे विघ्न डालते हुए तुझे शर्म नही आती ?"

वामाक्षेपा मुस्करा दिये। बोले—"उपासना को कलकित न करो, जमीदार साहब ! भगवान का ध्यान कर रहे हो या 'मूर एण्ड कम्पनी, कलकत्ता' की दूकान से जूते खरीद रहे हो ?"

यह सुनते ही जमीदार का उबलता हुआ क्रोध, जहाँ का तहाँ ऐसा बैठ गया,

जैसे उफनते दूध पर जल के छींटे मारने से उसका उफान रुक जाता है। आश्चर्यचकित जमींदार वहाँ से उठा और साधु के चरण पकड़कर बोला—"महाराज! सचमुच मैं ध्यान मे यही सोच रहा था कि मूर एण्ड कम्पनी से जूते खरीदने हैं, कौन-सा जूता ठीक रहेगा? आपश्री ने मेरे मन की बात कैसे जान ली?"

साधु ने मुस्कराकर कहा—"मन को बाहर भटकाना छोड, अन्तर मे झाकी कर। रंगीन चमक-दमक और ऊपरी दिखावे की आदतें छोड। फिर ध्यान के समय सिर्फ भगवान का ही चिन्तन कर। जिस दिन तेरा चित्त एकाग्र हो जायेगा, उस दिन ऐसी सूक्ष्म मन की बातें तू भी जान सकेगा। अत अपने अन्दर मे बैठे भगवान या आत्मदेव को देख।"

जप, तप, ध्यान, चिन्तन, स्वाध्याय आदि मे अवश्य ही मनुष्य का कल्याण होता है, बशर्ते कि इनके साथ मन का तार जुडा हुआ हो, चित्त उसी मे सलग्न हो, आत्मविकास के लक्ष्य से मन बाहर न भटकता हो। इस प्रकार आत्मा अवस्थित हो जाने पर आत्मसुधार की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया भी चल सकेगी। अन्यथा कोरे भजन, स्वाध्याय, जप, तप आदि से सब सद्गुण आ जायेंगे, ऐसा सोचना भ्रान्तिमूलक है। अगर ऐसा होता तो भारत मे विचरण करने वाले ६०-७० लाख साधुओ की पलटन का कभी का कल्याण हो गया होता, वे सब के सब सद्गुणी और उच्च चारित्रशील पाये जाते और उनके निमित्त से भारत ही नही, सारा विश्व सुधर गया होता। इसलिए यह मानकर चलना होगा कि जब तक भजनादि के साथ लक्ष्य मे एकाग्रता न होगी, चित्त उसी मे ओतप्रोत न होगा, बाहर के विषय-कषायादि जगल मे नही भटकेगा, साथ ही अपना व्यक्तित्व सुधारने तथा आत्मनिर्माण करने की समानान्तर प्रक्रिया पूरी सावधानी और तत्परता के साथ न चलाई जायेगी, तब तक केवल भजन आदि से बेडा पार नही होगा।

जिसका अन्त करण बाहर की मलिनताओ और विषय-वासना की गंदगी को बटोरता रहता है, वह अनवस्थित आत्मा केवल भजन आदि से कैसे सदात्मा बन जाएगी? वह तो दुरात्मा बनकर अधिकाधिक कर्मबन्धन करती रहेगी। निष्कर्ष यह है कि जब तक आत्मा अनवस्थित रहेगी, तब तक चाहे जितने भजन आदि किये जाएँ, उनसे—केवल उनसे आत्मा दुरात्मा होती नही रुकेगी।

इसी प्रकार मानव जब किसी कार्य को आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण वफादारी, दिलचस्पी, तन्मयता और लगन के साथ नही करता, उसकी आत्मा यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, स्वार्थलिप्सा, लोभवृत्ति आदि मे लग जाती है, वह अपने काम मे सतत जागरूकता और सतर्कता नही रखता, तब वह अनवस्थित की कोटि मे पहुँच जाती है और अनवस्थित आत्मा दुरात्मा बन ही जाती है। अवस्थित आत्मा प्रत्येक कार्य को भगवान की पूजा-सेवा समझकर पूरी सतर्कता के साथ करता है। वह समझता है कि प्रत्येक कार्य एक कला है, चाहे वह छोटा हो या बडा। जिस तरह कलाकार

अपनी कला से प्रेम करता है, उसमे तन्मयता के साथ जो जाता है, उसके प्रति दिल-चस्पी और लगन का अटूट स्रोत उमड पडता है। तब वह कार्य ही निश्चित रूप से उसके लिए वरदान बनकर उस कलाकार को धन्य बना देता है।

रुचि, लगन और तत्परता के साथ कार्य करने से मनुष्य की शारीरिक, मानसिक शक्तियो पर नियन्त्रण और व्यवस्था कायम होती है, अन्त क्षेत्र मे उठने वाली विघटनात्मक ध्वसात्मक वृत्तियो पर सयम होता है। उसकी बुद्धिमत्ता, शक्ति, कार्यक्षमता और सफलता को सरक्षण और पोषण मिलता है। बाह्य क्षेत्र मे भी कार्य की क्रम-व्यवस्था ठीक-ठीक निर्धारित हो जाती है। जनता उसके कार्य की, उसकी क्षमता की और सामर्थ्य की प्रशसा करती है। उसकी आत्मशक्तियाँ विकसित हो उठती हैं। और इस प्रकार कुल मिलाकर उस अवस्थित व्यक्ति की आत्मा श्रेष्ठ और विकासशील बन जाती है। फिर कार्य मे मन न जमना, शिकायतें करना, नुक्स निकालना, कार्य की कठिनाइयो को बढ़ा-चढ़ाकर तूल देना, कार्य से घृणा करना, ऊब जाना आदि बातें अवस्थित आत्मा के जीवन मे नही होती। अनवस्थित आत्मा ही इस प्रकार की शिकायतें करके कुडकुडाता हुआ, दु खित होता हुआ कार्य करता है। ऐसा करने से उसकी आत्मा को कोई यथेष्ट लाभ नही हो पाता। आत्मशक्तियाँ कुण्ठित हो जाती है। आलस्य, प्रमाद, असावधानी और लापरवाही उसकी कार्यक्षमता को नष्ट कर देती हैं। फिर भला, उसकी आत्मा दुरात्मा होकर दु खो की परम्परा न बढायेगी तो क्या करेगी ?

एक व्यावहारिक उदाहरण देकर मैं अपनी बात को स्पष्ट कर दूँ—

एक छोटे बच्चे एडिसन को उसकी माँ वैज्ञानिक बनाने के विचार से एक बडे वैज्ञानिक के पास ले गई और उससे प्रार्थना की—अपने बच्चे को पास रखने की। उस वैज्ञानिक ने बच्चे को अपने पास रख लिया और मकान मे झाड़ू लगाने का काम सौंपा। बालक बडी तन्मयता के साथ मकान मे झाड़ू लगाता, मकान के कोने, दीवारें, छतें, आलमारियाँ, फर्श आदि को वह खूब साफ रखता। वैज्ञानिक बालक एडिसन की कार्यकुशलता से बहुत प्रसन्न हुआ और यही बालक उस वैज्ञानिक की देखरेख मे आगे चलकर महान् वैज्ञानिक बना।

यदि बालक पहले ही यह सोच लेता कि यहाँ तो झाड़ू लगाने का काम है, यहाँ क्या सीखने को मिलेगा ? तो शायद ही वह अपने जीवन मे महानता को प्राप्त करता, बल्कि वह साधारण लोगो की तरह ही अपना जीवन बिताता।

यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र मे समझिये। जिस व्यक्ति की तन्मयता, रुचि और लगन साधना के छोटे से छोटे कार्य मे नही होती, वह दूसरो की तरक्की को देखकर ईर्ष्या, घृणा और द्वेष से भर जाता है, वैभव और विलासिता के स्वप्न देखने लगता है, और अन्त में, चित्त मे अस्थिरता के कारण वह किसी भी साधना, किसी भी धर्मकार्य मे जम नही पाता। वह अनवस्थित आत्मा अपने ही लिए दु.खपूर्ण कब्र खोद लेता है। जीवन का सच्चा आनन्द उसे नही मिल पाता।

परन्तु जो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक शक्तियो का विकास करना चाहता है, वह पूरी तीव्रता, तन्मयता और तल्लीनता के साथ अपनी साधना मे लग जाता है, वह छोटे-से बालक से भी प्रेरणा लेकर अपनी साधना मे आये हुए गतिरोध को समाप्त कर देता है।

महात्मा 'निष्कम्प' नगर के बाहर उपवन मे रुके थे। जिज्ञासु साधक उनसे ज्ञान-लाभ लेने पहुँचे। विद्रूप नामक साधक भी इस अवसर का लाभ उठाने पहुँचा। विद्रूप यो तो परमार्थ एवं आत्मकल्याण की साधना मे रत था, किन्तु उसकी साधना मे भौतिक वैभव बाधक बन रहा था, जिसके कारण गतिरोध हो गया था। अत निष्कम्प महात्मा को प्रणाम करके उनके चरणो मे उसने सविनय निवेदन किया और कहा—"भौतिक वैभव छोडा भी नही जाता और बिना छोडे यह साधना मे बाधक बनता है, कृपया कोई मार्ग बतलाएँ।"

महात्मा हँसकर बोले—"वत्स ! तुम्हारी साधना को अपच हो गया है। उसे हलका आहार दो।"

विद्रूप इस रहस्यमय बात को समझ न पाए, अवाक् खडे रहे। महात्मा ने उनकी मन स्थिति समझकर कहा—"मस्तिष्क पर अधिक तनाव मत दो। अपने खेल मे तल्लीन बच्चो की गतिविधि मे रस लिया करो, वही तुम्हारे प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर तुम्हे प्राप्त हो जाएगा।"

विद्रूप मन ही मन विकल्पो के बहाव मे बहने लगे—'बच्चो के खेल मे इस प्रश्न का उत्तर ? कैसे पूछे ?' फिर भी वे साहस करके बोले—"भगवन् ! स्वय अपने श्रीमुख से शका-निवारण कर दे तो अतिकृपा होगी।"

महात्मा ने मुस्कराकर विद्रूप की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—"वत्स ! शब्द की अपेक्षा क्रिया से जल्दी शिक्षण मिलता है, वह अधिक उपयोगी भी होता है। बच्चो के खेल से क्या शिक्षा मिलेगी ? यह शका तुम्हारे मानस मे मँडरा रही है, परन्तु ध्यान रखो, यह ससार एक प्रकार का क्रीडागण है, हम सब उसी क्रीडागण मे खेलने वाले प्रभु-पुत्र बालक है। ऋषि दत्तात्रेय को जब प्रकृति और जीव-जन्तुओ से शिक्षा मिल सकती है तो क्या तुम्हें बच्चो से शिक्षा न मिलेगी ? जाओ, मनोयोगपूर्वक प्रयास करो।"

विद्रूप प्रणाम करके लौट आए। आदेशानुसार उन्होने क्रीडारत बालक-बालिकाओ को देखना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे ही उन्हें अन्त करण मे हलकापन महसूस हुआ। उन्होने पाया कि बच्चे खेल के समय कितने तन्मय, कितने एकाग्र और तद्रूप हो जाते हैं, उन्हें अपने खाने पीने या अन्य आवश्यकताओ की भी सुध नही रहती। महात्मा विद्रूप भी उसी प्रकार अपने साधनाप्रधान कार्यों मे तन्मय होने लगे। प्रश्न का पूरा उत्तर अभी तक न मिला तो भी सहज शान्ति मिलने लगी। और एक दिन अचानक उनके गम्भीर प्रश्न का उत्तर उन्हें मिल गया। उन्हें मानो बच्चो के खेल से

दिव्य दृष्टि मिल गई। जिस प्रकार बच्चो को अपने खेल मे वैभव, विलास, खान-पान आदि की याद नही आती, वैसे ही साधक विद्रूप को भी अब अपनी साधना मे तन्मयता के कारण वैभव, विलास, खान-पान आदि की याद नही आती। नाम, यश, कीर्ति, प्रसिद्धि, वैभव आदि सब साधना के आनन्द के आगे फीके लगने लगे।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जब साधक अन्त करण से अपनी साधना मे तन्मय हो जाता है, तब उसकी अवस्थित आत्मा सासारिक वैभव, प्रसिद्धि, यश-कीर्ति, धन तथा सुख-सामग्री के बीहड मे नही भटकती। उसका आत्मिक वैभव, आत्मबल चमक उठता है। परन्तु जब अपनी साधना मे साधक की तन्मयता नही होती, तब वह सासारिक एव भौतिक वैभव की चमक-दमक मे उलझ जाता है, आडम्बरप्रिय हो जाता है, भौतिक चमत्कार दिखाने और अपनी सिद्धियो का प्रदर्शन करने मे लग जाता है। इस प्रकार अपनी आत्मा को साधना-पथ से भटकाकर दुरात्मा बना देता है।

साधनाशील व्यक्ति के चित्त मे जब एकाग्रता नही होती, तब उसके सामने अनेक आकाक्षाएँ, तमन्नाएँ, अभिलाषाएँ मुँह बाए खडी होती है। उसका चित्त डावाडोल हो उठता है, वह निश्चय नही कर पाता कि किसको पकडूँ। ऐसी अनवस्थित मनोदशा मे आत्मा सफलतापूर्वक कुछ भी नही कर पाता। सारी जिदगी यो ही सोचने-विचारने म पूरी हो जाती है। जो कार्य करना था वह नही कर पाता। किन्तु जिसके चित्त मे एकाग्रता होती है, वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति एक ही लक्ष्य मे केन्द्रित करके लगा देता है। वह देख-परख लेता है कि जिस वस्तु के लिए मेरी सक्रियता सम्पूर्ण शक्ति मे गतिशील हो सकती है, वही वास्तविक उपादेय आकाक्षा है, बाकी की तो सिर्फ तरगे है, जो समय-समय पर मानस सिन्धु मे उठती रहती है। उन तरगो के मध्य एक द्वीप की भाति जो अविचल रहती है, वही उसकी सच्ची तमन्ना है। इसलिए वह उस एक तमन्ना को पकडकर उसी म अपना तन-मन सवस्व लगा देता है। फिर इधर-उधर की चकाचौध मे, वैभव की चमक-दमक मे, भौतिक आकर्षणो और प्रलोभनो मे वह नही फँसता। ऐसा व्यक्ति ही अपनी अवस्थित आत्मा को ससार समुद्र से पार ले जाता है।

अनवस्थित आत्मा किसी विषय मे झटपट निर्णय नही ले सकती। कौन-सा कार्य पहले करना है, कौन-सा बाद मे इस सम्बन्ध मे अनवस्थित साधक घटो सोचते रहेंगे, फिर भी एक निश्चय पर नही पहुँच सकेंगे। उनकी निर्णायक शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

एक यात्री अपने मित्र के साथ बम्बई जा रहा था। सुबह का समय। लोकल ट्रेनो मे बहुत भीड। वे तीन ट्रेने चूक गये। चौथी ट्रेन मे चाहे जैसे भी चढने का निश्चय किया। धक्का-मुक्की मे दोनो मित्र अलग-अलग हो गये। चर्चगेट स्टेशन पर उतर कर देखा तो मित्र गायब! फिर वह मित्र दूसरी ट्रेन मे आया। उसके प्रतीक्षारत मित्र ने उससे पूछा—"क्या हुआ? देर से कैसे पहुँचे?" वह मित्र बोला—"ट्रेन रवाना हो गई थी।" प्रतीक्षारत मित्र ने पूछा—"कैसे?"

वह बोला—"गाडी तो प्लेटफार्म पर खडी थी, पर मैं यह निश्चय न कर सका कि किस डिब्बे मे चढू । इधर से उधर भाग-दौड मे ट्रेन रवाना हो गई ।"

इस मित्र के जीवन मे किसी भी कार्य मे निश्चय न होने से सफलता नही मिली । न तो वह शादी कर सका, न कोई व्यवसाय स्थिरतापूर्वक कर सकता । बिलकुल हताश, उदास ! 'क्या करें ?' इस बात का निश्चय न कर सकने वाले व्यक्तियो का आधार टूट जाता है ।

यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र मे असफल व्यक्तियो के सम्बन्ध मे समझ लीजिए । वे साधना के बारे मे निश्चय नही कर पाते, आखिर वे तुलना करने लगते हैं—अमुक की साधना जैसी तो मेरे से नही हो सकती, फिर व्यर्थ है कुछ भी करना ! यो वे आत्मशक्तियो को कुण्ठित कर देते हैं, जान-बूझकर अशक्ति और असमर्थता के दलदल मे फँसाकर वे आत्मा को दुरात्मा बना देते है । जो व्यक्ति सयोगो और व्यक्तियो के साथ अपनी तुलना किया करते है, उनके पल्ले अश्रद्धा और निराशा के सिवाय कुछ भी नही पडता ।

स्वामी विवेकानन्द के एक गुरुभाई थे—हृदयानन्द ! उन्होने एक दिन स्वामी जी से कहा—"स्वामीजी ! मेरा सन्यास तो व्यर्थ गया ?"

स्वामीजी ने पूछा—"कैसे ?"

वे बोले—"स्वामी आत्मानन्द जैसी साधना तो मेरे से हो नही सकती ।"

स्वामीजी—"तो फिर शुरू करिये न ?"

हृदयानन्द—"कहाँ स्वामी आत्मानन्द और कहाँ मैं ?"

स्वामीजी—"यह तुलना ही गलत है । आप अपनी जगह पर एकदम ठीक है । जो साधक तुलना करने मे पडे रहते है, वे शायद ही कुछ कर सकते हैं । इतना याद रखेंगे, तभी आप आगे बढ सकेंगे ।"

पर अनवस्थित साधको की यह आदत छूटती नही । उन्हें स्वय तुलना करना नही आएगा तो वे दूसरो से पूछते फिरेंगे । ऐसे कई निठल्ले लोग भी होते हैं, जिनके पास कोई पूछने नही जाता, तो भी वे बिना मांगे सलाह देते रहते हैं । और अनवस्थित साधक उनके चक्कर मे आ जाता है । पर जो साधक अवस्थित होता है, जिसे अपने मे आत्मविश्वास होता है, जिसमे निश्चय करने का सामर्थ्य होता है, वह दूसरो के चक्कर मे नही आता ।

विख्यात फ्रेंच चित्रकार पाब्लो पिकासो आधुनिक चित्रकला का पितामह माना जाता है । उसके पास एक कला-विवेचक ने आकर कहा—"आपके चित्र मुझे तो अच्छे नहीं लगते ।"

उसने दृढता से उत्तर दिया—"उसकी मुझे क्या परवाह ! आपको चित्र अच्छे लगे या न लगें, उसके साथ मेरी कला का कोई वास्ता नही है ।"

इस प्रकार के निश्चयशील व्यक्ति ही किसी क्षेत्र मे उन्नति कर सकते हैं ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसे ढच्चु-पच्चु और अनिश्चयात्मक स्थिति मे पड़े रहने वाले साधक किसी भी साधना को ठीक ढग से नही कर पाते। वे बात-बात मे निर्णय बदल डालते हैं, अपने वचन के पाबन्द नही रहते। उन्हें यह भय सताता रहता है कि यदि मेरे से यह साधना नही हुई तो लोग हँसेंगे, मेरी खिल्ली उड़ाएँगे, मेरी प्रतिष्ठा को आच लगेगी। परन्तु यह निश्चय समझिए कि ऐसे अनवस्थित आत्मा अपनी आत्मशक्तियो का, आत्मगुणो का विकास नही कर पाते जबकि दूसरे उनके सम-कालीन साधक बाजी मार जाते है।

एक सरकारी कर्मचारी था। उसके कार्यालय मे उसकी मेज पर रोज १५-२० कार्यों की सूची पड़ी रहती। परन्तु वह कार्यालय मे जाकर उस सूची को देखते ही घबरा जाता, निर्णय नही कर पाता और मन ही मन सोचता रहता—'यह काम हाथ मे लूँ या वह काम?' यो प्रतिदिन उसके दो-ढाई घटे सोचने ही सोचने मे खराब हो जाते। फिर वह किसी एक काम को शकाग्रस्त मन से हाथ मे लेता, थोड़ा सा वह काम करता भी सही, किन्तु कुछ ही देर बाद वह उस कार्य से ऊब जाता, उस कार्य मे आने वाली कठिनाइयो और कष्टो से घबराकर उसे अधबीच मे ही छोड़ देता। फिर दूसरा काम उठाता, उसमे भी यही दशा होती। फिर तीसरा कार्य उठाता। यो इसी आपाधापी मे उसका सारा दिन पूरा हो जाता, अन्त मे एक भी कार्य पूरा नही होता। अगर वह कर्मचारी एक ही कार्य को हाथ मे लेकर उसी मे अपना चित्त ओतप्रोत कर देता तो शाम होते-होते ५-७ कार्य तो पूरे कर ही डालता। भला, ऐसे कर्मचारी कही तरक्की कर सकते है!

आध्यात्मिक क्षेत्र के ऐसे साधक जो ढच्चु-पच्चु मन से साधना करने लगते है, अपने क्षेत्र मे कोई भी उन्नति प्रगति नही कर पाते। वर्षों तक साधना करने पर भी वे वही के वही रहते है, साधना की वर्णमाला ही घोटते-घोटते जिन्दगी पूरी हो जाती है, आत्मा का कोई कल्याण, हित या विकास नही कर पाते। ऐसे अनवस्थित साधक अपनी आत्मा को दुरात्मा बना लेते है।

ऐसे अनवस्थित व्यक्ति आत्महीनता के शिकार हो जाते है। वे हर अच्छे कार्य मे अपने आपको दुर्बल, असमर्थ और शक्तिहीन मानने लगते है। उन्हे हर कार्य अपनी शक्ति से बाहर का लगता है। उनके मन मे बार-बार आशका और भीति के बादल उठते रहते है कि अमुक काम हाथ मे लिया तो हो सकता है, कोई नई आफत खड़ी हो जाए या किसी सकट मे पड जाएँ। आत्महीन व्यक्ति नाना प्रकार के वहम, भ्रम, न्यूनताएँ, निर्बलताएँ, भीतियाँ, कुकल्पनाएँ और आशकाएँ पाले रहते है। उन्हें कोई किसी अच्छे कार्य के लिए प्रोत्साहित और उत्तेजित भी करता है तब भी वे भयभीत रहते है। उनके उद्गार प्राय ये ही रहते है—अमुक कार्य हमारे बलबूते का नही है, भला हम उसे किस प्रकार कर सकते है? हम ऐसा खतरा क्यो मोल ले?

आत्महीनो की कई कोटियाँ होती है, कोई अपने आपको शरीर से निर्बल,

कोई विद्या बुद्धि से रहित, कोई धनहीन, तो कोई साधनहीन बताकर अपने भाग्य को या परमात्मा को कोसता है, कोई परिस्थितियो का रोना रोता है। वस्तुत आत्महीनता अनवस्थित दशा में से पैदा होती है, और वह मनुष्य की आत्मा को दीन-हीन, कंगाल और तुच्छ बना देती है। आत्महीनता के कारण कोई भी व्यक्ति चाहे जितना बुद्धिमान हो, क्रियाकाडी हो, धनाढ्य हो, आत्मिक उन्नति नही कर पाता, उसे गई-बीती स्थिति मे ही अपनी जिंदगी काटने को विवश होना पडता है। ऐसे आत्महीनता से ग्रस्त व्यक्ति मे आशा, आकाक्षा, आत्मविश्वास, आत्मबल, साहस आदि उन्नति और प्रगति के आधारभूत गुणो का सर्वथा अभाव-सा होता है।

ऐसे आत्महीन लोग अपनी आत्मा को जानबूझकर दुरात्मा बना देते हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में वे प्राय दूसरे लोगो के धन-वैभव, कारबार, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा आदि पर दृष्टि गडाये रहते हैं, और उन्हें बडा आदमी मान बैठते हैं, जिनके पास ये साधन हो। फिर उनकी स्थिति से अपनी तुलना करके ऊहापोह मे पडे रहते हैं। तभी उनमे आत्महीनता के अकुर पनपने लगते है।

जो व्यक्ति आत्मविश्वासी हैं, अपने आप मे अवस्थित हैं, वे चाहे जैसी परिस्थिति मे हो लेकिन आत्महीनता के शिकार नही होते। वे उत्साह, साहस और आत्मबल के आधार पर आगे बढ़ते है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी यही बात है। आत्महीनता को जो पास मे नही फटकने देते, वे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे विजयी होते है, आत्मविकास मे सफल होते हैं।

जो आत्माएँ अवस्थित दशा मे होती है, उनमे दृढ़-सकल्पशक्ति होती है। वे जब दृढ़-सकल्प कर लेते हैं तो इससे उनकी शारीरिक, मानसिक एव अन्य शक्तियो को बहुत बडा बल मिलता है। एक व्यावहारिक उदाहरण लीजिए।

५५ वर्ष की आयु मे अग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक 'सर वाल्टर स्काट' पर बीस लाख रुपयो का कर्ज हो गया था। उन्होने निश्चय किया कि वह कर्ज पूरा-पूरा चुकाएँगे। इस दृढ-सकल्प से उनके मन के प्रत्येक परमाणु को बल मिला। शरीर के प्रत्येक तन्तु से यही ध्वनि निकलने लगी कि 'कर्ज अवश्य चुकाना चाहिए।' वे साहित्य-लेखन से धनोपार्जन करने लगे और कर्ज चुकाने मे लग गये। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन्होने कुछ ही वर्षों मे सारा कर्ज चुकाकर अपने सकल्प को पूर्ण किया।

दृढसकल्पी व्यक्तियो की आत्मा अवस्थित होती है, उनके लिए असम्भव जैसा कुछ नही होता। परन्तु जो निर्बल विचारो के, अन्यमनस्क एव अनिश्चयात्मक स्थिति वाले व्यक्ति होते है, उनका कोई भी कार्य पूर्ण नही होता। प्रत्येक कार्य मे उनका मनोबल गिरा रहता है। ऐसी आत्मा अनवस्थित दशा वाली होती है। वह क्या व्यावहारिक, क्या आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो मे असफल होते हैं। मनोविकारो के आगे घुटने टेक देते हैं, आध्यात्मिक विचारो पर डटे नही रहते और अन्त मे अपनी आत्मा को दुरात्मा बना देते हैं।

इसी प्रकार जो व्यक्ति कार्य प्रारम्भ करने के बाद बीच मे धैर्य खोकर उसे छोड बैठते हैं, कठिनाइयो से घबरा जाते हैं, वे अनवस्थित कहलाते हैं । ऐसे व्यक्ति न तो अपने आत्मबल पर भरोसा रखते हैं और न धैर्य से काम लेते हैं, वे हतोत्साह होकर साधना भी अधबीच मे छोडकर भाग जाते हैं । ऐसे अनवस्थित व्यक्ति अपनी आत्मा को दुरात्मा बना लें, इसमे क्या सन्देह है ?

जो चारित्रभ्रष्ट होते है, वे भी अपने चारित्र की साधना को अश्रद्धापूर्वक छोडकर असयम, कुशील और व्यभिचार के मार्ग पर सरपट दौडने लगते हैं, वे न तो अपनी इन्द्रियो पर लगाम रख सकते है, और न ही अपने मन पर, फलत अपनी समस्त कार्यक्षमता और शक्ति को निचोड डालते हैं । असमय मे ही मन से वृद्धत्व आ जाता है । इन सबका कारण अपनी आत्मा की अनवस्थितता है । जिसके कारण वे केवल तन, मन, बुद्धि एव इन्द्रियो का ही नही, अपनी आत्मा का भी सर्वनाश कर बैठते हैं ।

व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से देखे तो ऐसा अनवस्थित पुरुष केवल अपना ही नही, अपने स्त्री-बच्चो का भी बहुत बडा अहित कर बैठता है, अपने उज्ज्वल भविष्य को आग लगा देता है । परन्तु अवस्थित आत्मा धैर्य, गाम्भीर्य के साथ कठिनाइयो का सामना करते है । वे चारित्रभ्रष्टता के पथ पर जाने का स्वप्न मे भी नही सोचते । इसलिए एक दिन अपनी आत्मा को विकास के उच्चशिखर पर पहुँचा देते है ।

बन्धुओ ! महर्षि गौतम इसीलिए चेतावनी के स्वर मे कह रहे हैं कि अगर तुम किसी भी प्रकार से अनवस्थित बनोगे तो अपनी आत्मा को दुरात्मा बना बैठोगे । इससे बचना तुम्हारे जैसे भव्य पुरुष के लिए आवश्यक है । अनवस्थित जीवन हेय है, अवस्थित जीवन ही उपादेय है । *

६१. जितात्मा ही शरण और गति—१

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसी आत्मा की चर्चा करना चाहता हूँ, जो विजयी है, विजित है, जिसने बाह्य युद्ध मे नही, आन्तरिक युद्ध में विजय प्राप्त कर ली है। गौतम कुलक का यह ५०वाँ जीवनसूत्र है। महर्षि गौतम ने इस सूत्र को इस ढंग से प्रस्तुत किया है—

"अप्पा जिअप्पा सरणं गई अ।"

"ऐसी आत्मा, जो जितात्मा है, वही भव्यजीवो के शरणयोग्य और गति-प्रगतिप्रेरक होती है।"

जितात्मा क्या है ? जितात्मा कौन और कैसे बन सकता है ? और वही भव्यजीवो के लिए शरणदाता और गति-प्रगतिप्रेरक क्यो हो सकता है, अन्य क्यो नही ? आइए, इन जीवन-स्पर्शी प्रश्नो पर गहराई से विचार कर लें।

जितात्मा की व्याख्या

आत्मा शब्द केवल आत्मा अर्थ मे ही नही है, उसके संस्कृत भाषा मे अनेक अर्थ बताये गये हैं। देखिये, अमरकोश मे आत्मा शब्द के विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति—

'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो, ब्रह्म वर्ष्म च।'

आत्मा के यत्न, धैर्य, बुद्धि, स्वभाव, स्व, ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) एवं शरीर, मन, इन्द्रिय आदि अनेक अर्थ होते हैं। इस दृष्टि से विजितात्मा के भी निम्न-लिखित अर्थ फलित होते हैं—

(१) पुरुषार्थ पर विजय पाने वाला

(२) धैर्य का विजेता

(३) बुद्धि पर विजयी

(४) स्वभाव को जीतने वाला

(५) आत्मजयी—अपने आप पर विजय पाने वाला।

(६) परमात्मतत्त्व को भी अपने गुणों से जीतने वाला।

(७) शरीर, मन एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वाला। जितेन्द्रिय, या मनो-विजेता।

मैं अब क्रमश प्रत्येक अर्थ पर सक्षेप मे अपने विचार प्रस्तुत करूंगा ।

जितात्मा · पुरुषार्थ पर विजयी

यो तो मनुष्य भौतिक क्षेत्र मे आज अथक पुरुषार्थ कर रहा है । भौतिक विज्ञान आज एक से एक बढ़कर नित नये आविष्कारों के सम्बन्ध में पुरुषार्थरत है । पाश्चात्य देश भौतिक प्रयत्न की दौड मे आज सबसे आगे हैं । भारतवर्ष भी पश्चिम का अनुकरण करके इस दिशा मे काफी गति-प्रगति कर रहा है । परन्तु भौतिक क्षेत्र मे पुरुषार्थ करने वाले व्यक्ति को यहाँ जितात्मा नही कहा गया है । यहाँ तो उसी पुरुषार्थ का या यत्न का स्वीकार किया गया है, जो आध्यात्मिक क्षेत्रीय हो, यहाँ पुरुषार्थजयी या प्रयत्नजयी उसे ही कहा गया है, जो आत्मसयम मे पुरुषार्थ करने से पीछे न हटता हो, अनवरत अथक प्रयत्न उसी दिशा मे करता हो, बन्धन (कर्मबन्धन) से मुक्त होने (मोक्ष पाने) के पुरुषार्थ में सतत रत हो । जिसके सामने आलस्य, अकर्मण्यता, पुरुषार्थहीनता, परमुखापेक्षिता या पराश्रयता एक क्षण भी टिक न सकती हो, संयम मे पुरुषार्थ करने मे वह अपने मन, वचन और तन तीनो को एकजुट करके पूरी शक्ति से जुटा हुआ हो । सयमलक्षी पुरुषार्थ मे वह कदापि बहानेबाजी, टालमटूल, कालक्षेप, या उपेक्षा न करता हो, बल्कि नई नई स्फुरणा से वह अदम्य उत्साह दृढ मनोबल, अविचल धैर्य, स्पष्ट सम्यग्दर्शन, अमिट विश्वास, अटूट साहस एव परिपक्व विचारो का पाथेय लेकर अभीष्ट ध्येय की ओर सतत गतिशील रहता हो । इस पुरुषार्थ के मार्ग मे आने वाले विघ्नो, सकटो, बाधाओं, असुविधाओं, भय और प्रलोभनो के आक्रमणो से वह कभी न घबराता हो । इस अनुपम पुरुषार्थ से वह कभी थकता न हो, न ऊबता हो, और न ही श्रद्धाहीन होकर, या फल-प्राप्ति न होने से यथार्थ श्रेय मार्ग छोडकर लुभावना प्रेय-मार्ग पकडता हो । अविद्या उसे बहका नही सकती, विघ्न-बाधाएँ उसे रोक नही सकती । वह अपने लक्ष्यानुकूल मार्ग पर सतत यात्रा करता रहता है । यही उसकी पुरुषार्थजयिता का प्रमाण है, यही उस पुरुषार्थविजेता, यत्न-विजयी की पहचान है । ऐसे विजितात्मा सयम मे पुरुषार्थ के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उनके प्रत्येक श्वासोच्छ्वास मे स्वत ही सयम का स्वर निकलता है ।

श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार के अप्रतिम पुरुषार्थी एव सतत जागरूक रहकर अनायास ही सयम मे पराक्रम करते थे । जब वे लाढ देश जैसे अनार्य एव कठोर प्रदेश मे गये, तब उनके सयम-पालन के पुरुषार्थ मे अनेकानेक विघ्न-बाधाएँ आईं, बहुत-सी यातनाएँ, परीषह और उपसर्ग की सेनाएँ उन पर हमला करने आईं, किन्तु वे उनसे जरा भी विचलित हुए बिना आत्मजयी बनकर टिके रहे ।

सयम मे पुरुषार्थ करने वाले जितने भी महामनीषी ससार मे आये, उन्होने अपनी सुख-सुविधाओ की कोई परवाह नही की । सुख-सुविधाएँ बढाने से सुख नही बढ़ता, बल्कि नई-नई चिन्ताएँ, समस्याएं और आफतें खडी होती है, मनुष्य को हर बात मे परावलम्बी और परमुखापेक्षी बनना पडता है । इसीलिए तीर्थंकरो ने वास्त-

विक सुखवृद्धि और स्वावलम्बिता के लिए 'सयम' का पथ बताया। यद्यपि संयम शब्द सुनते ही आप लोग झटपट यही अर्थ लगाने लगते हैं कि साधु जीवन अंगीकार कर लेना, घर-बार, कुटुम्ब-परिवार और धन-सम्पत्ति सब कुछ छोडकर साधु बन जाना परन्तु संयम का ऐसा संकुचित अर्थ ही नही है अपितु उसका व्यापक अर्थ है—ब्रह्मचर्य, जिसके अन्तर्गत इन्द्रियों और मन; वासना और विकारो या सभी प्रकार की कामोत्तेजना पर नियंत्रण आ जाता है।

इसलिए संयम मे पुरुषार्थ करने वाला विजितात्मा कहलाता है। कहते हैं, परमाणु शक्ति को धारण करने वाला बम इतनी शक्तिशाली धातु का बना होता है कि बाहरी आघात का उस पर कोई असर नही होता है। इतनी कठोर और सुदृढ धातु का आवरण उस पर न चढाया जाए तो किसी भी क्षण उसका विस्फोट होने का खतरा रहता है। मन शक्ति के सगठित होने से आत्मा की चैतन्य शक्ति भी बढती है। इस शक्ति को धारण करने के लिए बलिष्ठ शरीर की आवश्यकता होती है। उपनिषद् के अध्यात्मवादियों ने कहा है—

"बलवति शरीरे बलवान् आत्मा निवसति"
"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य."

—बलवान् शरीर मे ही बलवान् आत्मा का निवास होता है।
—बलहीन इस आत्मा को प्राप्त नही कर सकता।

अत आत्मविजय के साधक को बलिष्ठ शरीर के लिए अपनी शारीरिक-मानसिक शक्तियो, आवेगो आदि पर नियत्रण करना आवश्यक है। एक ओर से शक्ति को सतत तप, सयम, सहिष्णुता के लिए श्रम से, साधना से और एकाग्रता से संचित करना और दूसरी ओर से इन्द्रिय और मन के छिद्रो को विविध विषय-कषायो के बीहड मे स्वच्छन्द विचरण करने से रोकना अनिवार्य है। इस प्रयत्न और पुरुषार्थ का फल सयम से ही मिलता है। जो अपने आवेगो, आवेशो, वासनाओ और निकृष्ट इच्छाओ को वश मे रखता है, वही आत्मविजय का सच्चा अधिकारी है। आवेगो और उत्तेजनाओ को, तथा वासनाओ और विषयासक्ति को निरन्तर काबू मे रखने का नाम ही संयम है, उस सयम के लिए पुरुषार्थ करना ही जितात्मा का लक्षण है। आवेग और वासनाएँ मन में होती हैं, फिर उनका प्रभाव और प्रतिक्रिया इन्द्रियो पर पडती है। इसलिए सयम मे पुरुषार्थी को अवांछित बातो और विपरीत परिस्थितियो से सतत जूझने की मानसिक दक्षता होनी चाहिए। ये अनिष्ट बाते उसके मस्तिष्क को उत्तेजित न कर सकें, यही सयम की कसौटी है।

भारतीय सस्कृति के उन्नायको ने सयम में पुरुषार्थ को जीवन का आवश्यक और दुर्लभ अग बताया है। सयम को हम ब्रह्मचर्य का पर्यायवाची भी कह सकते हैं। वस्तुत सयम—ब्रह्मचर्य के अभाव मे मनुष्य के उत्कृष्ट जीवन की कल्पना ही नही की जा सकती। जिसका जितना अधिक सयम मे पराक्रम होगा, उसका व्यक्तित्व उतना

ही प्रखर, तेजस्वी और शक्तिमान बनेगा, वही दूसरों को शरण दे सकेगा, प्रभावित एवं प्रेरित कर सकेगा।

राम और रावण के युद्ध का जब प्रथम दौर चल रहा था, तब रावण ने अपने पुत्र और सर्वोच्च सेनापति मेघनाद को ही सर्वप्रथम लड़ने भेजा। मेघनाद पर युद्ध मे विजय का रावण को पूर्ण विश्वास था। मेघनाद को युद्ध के लिए आता देख राम पीछे हट गये और लक्ष्मण से बोले—"भैया! तुम्हें ही मेघनाद से युद्ध करना है।"

कैसी विचित्र बात थी! अपार शक्तिशाली राम को मेघनाद से लड़ने मे स्वय पीछे हटकर लक्ष्मण को ही उसका सामना करने क्यो भेजना पड़ा? स्वय श्रीराम ने इसका स्पष्टीकरण किया है—"लक्ष्मण! मेघनाद १२ वर्षों से तप कर रहा है, वह ब्रह्मचारी है, और तुम १४ वर्ष से ब्रह्मचारी हो। मेरे साथ रहकर निष्ठापूर्वक तपस्वी एव सयमी जीवन तुमने बिताया है। इसलिए तुम ही मेघनाद को पराजित कर सकते हो।" सचमुच लक्ष्मण की ब्रह्मचर्य-शक्ति ने मेघनाद–इन्द्रजीत को हरा दिया। लक्ष्मण सचमुच ही जितात्मा थे।

भीष्म पितामह को कौन नही जानता। वे महाभारत युद्ध मे अपराजेय तथा समस्त कौरव पाण्डवकुल के आदरणीय एव विश्वस्त पुरुष रहे, उनकी प्रचण्ड शक्ति का मूल ब्रह्मचर्य ही था। स्वामी विवेकानन्द, उनके गुरु रामकृष्ण परमहस, महर्षि दयानन्द आदि ससार मे जो कुछ अद्भुत कार्य कर सके, उनका मूल उनका ब्रह्मचर्य-पूर्ण सयमी जीवन ही था। स्वय महात्मा गाधी का जीवन भी उसी समय से प्रकाश मे आया, जब उन्होंने अखण्ड सयम (ब्रह्मचर्य) पालन की प्रतिज्ञा ली।

यह ध्रुव सत्य है कि विषय-भोगो मे मनुष्य को सुख नही मिल सकता। भगवद्गीता मे स्पष्ट कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥

—जो ये इन्द्रियो और विषयो के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे नि सन्देह दु ख के ही कारण है और नाशवान हैं। हे अर्जुन! इसीलिए बुद्धिमान पुरुष उनमे रमण नही करते।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भी कामभोगो को अनर्थकारक कहा है—

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।[1]
कामभोगाणुराएण केस सपडिवज्जइ।[2]

—कामभोग अनर्थों की खान हैं।
—कामभोगो मे अनुराग से जीव क्लेश (दु ख) पाता हैं।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र–१४/१३ २. उत्तराध्ययन सूत्र–५/७

वर्तमान युग के मानव ने अनेक विजय प्राप्त की हैं। प्रकृति की अनेक-अनेक शक्तियों पर वैज्ञानिकों ने विजय प्राप्त कर ली है। जल, स्थल और नभ पर भी वह अपनी विजय का सिक्का जमा चुका है। यंत्रों को अपने वश मे कर लिया है, वस्तुओं पर भी कट्रोल कर लिया। किन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि इतना होने हुए भी क्या वह सुखी है। शान्तिमय जीवन है उसका ? नही। इतनी सुख-सुविधाएँ होते हुए भी वर्तमान युग का मानव अशान्त है, दुःखी है; क्यो ? जबकि भूतकाल मे अल्पसाधन और थोडी-सी सुख-सुविधाओ से मनुष्य सुख-शान्ति मे जीता था। इसका कारण है—आज के मानव का जीवन लगाम से विहीन घोडे जैसा है। वर्तमान युग का मानव सयम की मजाक उडाता है। सयम को वह अपने जीवन मे स्वेच्छा से स्थान देना नहीं चाहता, बीमार पड़ने या संकट आ पडने पर, अथवा फटेहाल हो जाने पर थोडे मे गुजारा चलाना पडे, वहाँ सयम नही है, लाचारी है, विवशता से कम खर्च में चलाना पडता है। स्वेच्छा से जहाँ इन्द्रियो, मन, आवश्यकताओ, इच्छाओ, आवेगो आदि पर सयम हो तो उसका जीवन सुख-शान्तिमय हुए बिना नही रहता। परन्तु जो व्यक्ति हाय-हाय करता, अभाव से पीडित होकर, वासना और कामना को मन मे सजोये हुए जीता है, वह तो मजबूरी से अपने पर नियत्रण करता है, स्वेच्छा से, प्रसन्नता से और उत्साहपूर्वक नही।

अमेरिका जैसे भौतिकवादी देश आज भौतिक साधनो की प्रचुरता होते हुए भी सुख-शान्ति से कोसो दूर हैं। अमेरिका मे लोगो के पास खाने-पीने, पहनने आदि के साधनो की कोई कमी नही है। गेहूँ, मक्का आदि अनाज वहाँ जानवरो को खिलाया जाता है। घी-दूध की नदियाँ बहती है, किन्तु सुख के साधन होते हुए भी वहाँ के लोग सुखी नही है, क्योकि वहाँ के लोगो म स्वच्छन्दरूप से विषयो का उपयोग करने की प्रवृत्ति है। वहाँ शरीर, मन, इन्द्रियो, आवश्यकताओ, वासनाओ आदि पर कोई नियत्रण नही है, न वे कोई नियत्रण चाहते है, तब सुख-शान्ति कैसे हो ? यहाँ के लोग भी पश्चिम का अनुसरण करके मोह, माया, अहकार और लोभ आदि आवेगो मे फँसे हैं, मानसिक सन्तुलन खो बैठे है, इसी कारण मानसिक तनाव यहाँ और वहाँ सर्वत्र बढ़ गया है। स्वैच्छिक सयम को छोडकर सुख-शान्ति को आशा मृग-मरीचिका जैसी है। आज का पढ़ा-लिखा व्यक्ति असतुलित हो गया है वह सयम और नियम के मामले मे बहुत ही पिछड़ा हुआ है। इसीलिए गीता मे कहा है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य[1]

—प्रशान्त और जितात्मा को ही वास्तविक सुख प्राप्त हो सकता है।

असतुलन और असयम से मनुष्य को शान्ति नही मिल सकती। शान्ति के

---

१. भगवद्गीता अ. २

बिना वह सुख की अनुभूति नही कर सकता। व्यावहारिक लोग धन, इन्द्रियविषय, भौतिक साधन आदि को सुख के कारण मानते हैं, परन्तु रुग्ण, अस्वस्थ, शोकग्रस्त, मानसिक चिन्ता, पीडित अवस्था मे ये सब चीजे सुख-शान्ति की कारण नही बनती, उलटे अशान्तिदायक प्रतीत होती हैं।

बडे-बडे चक्रवर्ती, राजा, श्रेष्ठी आदि अपनी सब सुख-सामग्री, विषयोपभोग के साधन, सुविधाएँ आदि छोडकर त्याग और सयम का मार्ग क्यो अगीकार करते थे ? इसीलिए कि इन भौतिक पदार्थों मे कही सुख-शान्ति नही है। सुख-शान्ति स्वेच्छा से तप और सयम का मार्ग अगीकार करने से प्राप्त होती है। सयमयुक्त जीवन मे ही उन्हें सच्ची सुख-शान्ति, स्वतत्रता, मुक्ति-सुख आदि की प्रतीति हुई थी।

निष्कर्ष यह है—सयम मे पुरुषार्थ करने वाला ही जितात्मा होता है, वही स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। कविकुलभूषण पूज्य श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने भी इस सम्बन्ध मे उचित प्रकाश डाला है—

उत्तम उद्यम कर, अधम को तज कर,
क्षम दम शम वर शुद्ध भाव धरवो।
जप तप सत्य दत्त गहत रहत रत्त,
तन्त मतभेद तस निरणय करवो।
प्राणातिपात असत्य अदत्त ममत अघ,
करम-सचय को उद्यम परिहरवो।
'कहत 'तिलोक' एक उद्यम थी भ्रमे जीव,
एक सुउद्यम सेती भवोदधि तरवो ॥१०॥[1]

वस्तुत शम, दम, सयम, क्षमा, अहिंसा आदि उत्तम धर्मांगो मे पुरुषार्थ (उद्यम) करने की ओर पूज्य कविश्रीजी का सकेत है।

जितात्मा : धैर्य-विजेता

धृति पर विजय प्राप्त करने वाला जितात्मा होता है। यह जितात्मा का दूसरा अर्थ होता है। जिस समय आफतो की बिजलियाँ कडक रही हो, एक से एक बढकर सकटो के तूफान आ रहे हो, भाग्याकाश मे दु:खो के बादल उमड-घुमडकर आ रहे हो, चारो ओर से आलोचना की आँधी आ रही हो, उस समय बडे-बडे साधको के पैर लडखडाने लगते है, और वे धर्म के सुदृढ़ सहज सन्मार्ग को छोडकर सुख-सुविधाओ या प्रलोभनो से भरा प्रेय मार्ग पकडने को तत्पर हो जाते हैं। परन्तु जितात्मा वही है जो, सकटो और आफतो के समय अपने स्वीकृत धर्म पर मजबूती से

---

१. त्रिलोक काव्य सग्रह, तृतीय त्रिलोक, अक्षर बावनी, १०.

डटा रहता हो, धैर्यपूर्वक आनेवाले संकटों का सामना करता हो, परीषहों और उप-सर्गों के तूफानों के समय धीरतापूर्वक उन्हें सहन करता हो। जरा-सा भी, मन से भी विचलित न होता हो। धीरपुरुष का लक्षण कवि कालिदास ने बताया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते,
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—विकार उत्पन्न होने का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त विकृत नही होते, वास्तव मे वे ही धीर पुरुष हैं।[1]

संकटकाल मे ही साधक के धैर्य की परीक्षा होती है, यों तो साधारण व्यक्ति भी कह सकता है कि मैं अपने धर्म पर दृढ हूँ, विचलित नही होता। मगर समय आने पर वे धैर्य पर कितने अडोल रहते है ? इसका पता लग जाता है। भर्तृहरि ने नीति-शतक मे धैर्य-विजयी धीरो का लक्षण बताया है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु, गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथ. प्रविचलन्ति पदं न धीरा.।

—नीतिज्ञ पुरुष चाहे निन्दा करें या प्रशसा, लक्ष्मी आये, चाहे जाये, चाहे आज ही मृत्यु आ जाये, अथवा युगान्तर मे आये, किन्तु धीरपुरुष अपने स्वीकृत न्याययुक्त पथ से एक कदम भी विचलित नही होते।[2]

वास्तव मे, सकट आ पडने पर अपने धैर्य के सिवाय मनुष्य को सकट से कोई उबार नही सकता। निशीथभाष्य मे कहा है—

धिती तु मोहस्स उवसमे होति।[3]

—मोह का उपशम होने पर ही धृति (धीरता) होती है।

बृहत्कल्पभाष्य मे बताया है कि "ऐसा कौन-सा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान व्यक्ति सम्पन्न न कर सकता हो ?" धैर्य के फल हमेशा मीठे होते है।

अत धैर्यविजेता का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति धैर्य धारण करके सकटो, परीषहो, उपसर्गों, या तूफानो के समय विचलित नही होता, वह उनका सामना करके उनसे जूझता हुआ अन्त मे विजय प्राप्त कर लेता है, यहाँ मध्यमपदलोपी कर्मधारय समास करने से यह अर्थ सगत बैठेगा।

इस सम्बन्ध मे बौद्धग्रन्थ जातक की एक कथा मुझे याद आ रही है—

एक सेठ का लडका जहाज द्वारा विदेश यात्रा के लिए तैयार हुआ। उसके

---

१. कुमारसम्भव १/५६। २. भर्तृहरि—नीतिशतकम् ८४।
३ निशीथभाष्य ८५।

पिता ने उसे बहुत समझाया कि "बेटा ! अपने घर मे धन की कोई कमी नही है, फिर क्यो तू विदेशयात्रा का व्यर्थ कष्ट सहता है ? पता है तुझे, जहाज से समुद्र-यात्रा करने मे बहुत ही खतरे है ।" किन्तु लडका धीर, पुरुषार्थी और कष्टसहिष्णु था। उसने कहा—"पिताजी ! आपका कहना यथार्थ है, किन्तु आपने भी तो धनोपार्जन करने मे कष्ट-सहन किये होगे ? फिर क्या मेरे लिए यह उचित होगा कि मैं स्वय परिश्रम के बिना ही इसका उपभोग करू ? यदि मैंने बिना श्रम किये ही आपकी उपार्जित सम्पत्ति का उपभोग किया, उसी से ऐश-आराम करने लगा तो कदाचित् आप मेरे प्रति पुत्रवात्सल्य होने के कारण कुछ न कहें, लेकिन दुनिया तो कहे बिना न रहेगी । उसका मुँह कैसे बन्द किया जायेगा ? बिना कमाए इस धन का उपभोग करने से मेरी बुद्धि बिगडेगी, मैं मिट्टी के पुतले के समान निरुद्यमी, आलसी और परमुखापेक्षी बन जाऊँगा । जब मैं पुरुषार्थ कर सकता हूँ, तब अकर्मण्य बनकर बैठे रहना, बिना कमाये आपकी सम्पत्ति का उपभोग करना, मुझे अनुचित लगता है। अत कृपया आप आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए कि मैं विदेश जाकर कुछ कमाऊँ ।"

पिता ने अपने पुत्र की कर्तव्यनिष्ठा, साहस और विनम्रता देखकर कहा— "बेटा ! तेरी बात तो ठीक है। सुपुत्र का कर्तव्य है—पिता के धन और यश मे वृद्धि करे । पुरुषार्थी बनना तो प्रत्येक मानव का कर्तव्य है । तुम्हारी प्रबल इच्छा है तो हम तुम्हें रोकना नही चाहते ।"

इस प्रकार माता-पिता से विदेश यात्रा की अनुमति पाकर श्रेष्ठिपुत्र ने एक जहाज तैयार करवाया । उसमे समुद्र-यात्रा मे आवश्यक वस्तुएँ भी रखवा दी । ठीक समय पर वह जहाज मे बैठा । जहाज रवाना हुआ । जहाज जब बीच समुद्र मे पहुँचा कि अकस्मात् समुद्र मे तूफान उठा । जहाज उछलने लगा, और डूबने की स्थिति मे हो गया । मल्लाहो ने जी-तोड मेहनत की, जहाज को बचाने की, मगर वे सफल न हुए । हार-थककर उन्होने कह दिया—"अब हमारा वश नही चलता । जहाज थोडी ही देर मे समुद्र मे डूब जाएगा । जिसे अपनी सुरक्षा का जो उपाय करना हो, वह करे ।"

ऐसे विकट सकट के समय कायर पुरुष प्राय रोता-चिल्लाता है, हाय-तोबा मचाता है, या निमित्तो को कोसता है, मगर धैर्यनिष्ठ पुरुष तटस्थ और शान्त होकर सुरक्षा का उपाय सोचता है और यथायोग्य पुरुषार्थ करता है ।

श्रेष्ठिपुत्र ने जब मल्लाहो की सूचना सुनी तो कुछ चिन्तन करके शौचादि से निवृत्त हुआ । उसने अपना पेट साफ किया । फिर ऐसे पदार्थ खाए जो वजन मे हलके थे, किन्तु अधिक समय तक शक्तिदायक एव पौष्टिक थे । इसके बाद सारे शरीर मे तेल मालिश करवाई, जिससे समुद्र के खारे पानी का चमडी पर असर न हो सके । तत्पश्चात् एक चर्मवस्त्र पहना, जो जल-जन्तुओ से शरीर-रक्षा के लिए कवच का

काम करता था। यह सब पूर्वतैयारी करके वह एक तख्ता लेकर समुद्र मे कूद पडा, ताकि उसके सहारे से किनारे पहुँच सके।

श्रेष्ठिपुत्र महाजातक ने सोचा—ऐसे समय मे जहाज का त्याग कर देना ही उचित है, क्योकि जहाज की अपेक्षा आत्मा बडा है। जहाज अब सुरक्षा नहीं कर सकता। यद्यपि समुद्र मे कूदने से मृत्यु का भय तो है, पर सुरक्षा का दूसरा उपाय भी तो साथ मे है। धैर्यपूर्वक सकट का सामना करना ही उचित है।

अधीर व्यक्ति ऐसे विकट सकट के समय किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाते हैं, उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। वे सोचकर किसी प्रकार का निर्णय नहीं कर पाते। उन्हें एक ओर कुँआ और दूसरी ओर गहरा गड्ढा दिखाई देता है। किन्तु ऐसे प्रसग पर बुद्धि का सन्तुलन न खोकर स्थिरबुद्धि से निर्णय करना ही बुद्धिमत्ता है। जो सकट और विपदाओ से घिर जाने पर भी कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कर लेता है, वही वास्तव मे धीर और बुद्धिमान है। जो ऐसा निर्णय नही कर पाता, वह आफतो से घिर जाता है, और पद-पद पर विपत्तियाँ आकर उसके मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। व्यावहारिक क्षेत्र में ही नही, आध्यात्मिक क्षेत्र के विषय में भी यही बात है। धैर्यनिष्ठ पुरुष उचित निर्णय करके सकटो पर विजय पा लेते है। अधीर पुरुष सशय और भय मे पडे रहते है।

श्रेष्ठिपुत्र ने सशयात्मक स्थिति मे पडे रहने की अपेक्षा झटपट निर्णय कर लिया कि जहाज को बचाने की अपेक्षा, इस समय अपने आपको बचाना जरूरी है। मृत्यु का खतरा तो दोनों जगह है, लेकिन बिना यथोचित पुरुषार्थ किये कायर की तरह मर जाने की अपेक्षा पुरुषार्थ करके मर्द की तरह मर जाना बेहतर है। सफलता के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करना ही इस समय मेरा धर्म है। जो पहले से ही सफलता की प्रतीक्षा करके कार्य प्रारम्भ करता है, वह कार्य के लिए साहस नही कर सकता, सफलता के बदले असफलता मिलने पर वह रोता-धोता और पछताता रहता है। अत धैर्यवान् व्यक्ति सफलता-असफलता की प्रतीक्षा और चिन्ता किये बिना निष्कामभाव से कर्तव्यमार्ग मे डट जाता है और अन्त तक टिका रहता है।

धैर्यनिष्ठ श्रेष्ठिपुत्र महाजातक लकडी के तख्ते के सहारे हाथ-पैर मारता हुआ समुद्र मे बह रहा था। उस समय समुद्र के देव ने उसे यो उद्यम करते देख सोचा—मृत्यु सिर पर खडी है, फिर यह युवक समुद्र पर तैरने की व्यर्थ चेष्टा क्यो कर रहा है, पूछूँ तो सही। देव ने निकट आकर उससे पूछा—ऐसे भयकर तूफान के समय समुद्र को तैरकर पार करना बहुत ही कठिन है। मौत तुम्हारे सामने खडी है, फिर क्यो ऐसा अनावश्यक श्रम करके अपनी मूर्खता प्रकट कर रहे हो? अब तो हाथ पैर हिलाना छोडकर, भगवान का नाम लो।

देव की बात सुनकर महाजातक हताश नहीं हुआ, वह हाथ-पैर चलाता हुआ समुद्र पर तैरता रहा। उसने देव से पूछा—"आप कौन हैं?" उसने कहा—"मैं इस समुद्र का देव हूँ।"

महाजातक—"आप देव हैं ? आपको तो सत्कार्य के लिए उद्यम करने का उपदेश देना चाहिए, लेकिन आप तो डूब मरने का उपदेश दे रहे है। रही भगवान् का नाम जपने की बात, सो मृत्यु से बचने के लिए भगवान् का नाम लेना मैं काय-रता समझता हूँ। यो अपने कल्याण के लिए तथा मृत्यु भी आये तो हँसते-हँसते सहन करने की शक्ति के लिए मैं परमात्मा का स्मरण अवश्य करूँगा। अत आप मुझे विपरीत उपदेश देकर बहकाइये मत।"

महाजातक का उत्तर एक धीर और वीर पुरुष का उत्तर था। उसके उत्तर मे उसकी धीरता और बुद्धिमत्ता टपकती थी। देव उसके उत्तर से प्रभावित हुआ। सोचा—मृत्यु के समय भी यह मानव कितना निर्भय है! अत देव ने फिर पूछा—"उद्यम करना तो ठीक है, मगर उसके फल का तो विचार करना चाहिए। जहाँ फल-प्राप्ति की सम्भावना न हो, उस उद्यम को करना तो निरर्थक है न।"

महाजातक—"हाँ, मैंने फल का विचार करके ही यह प्रयत्न शुरू किया है। इस उद्योग का पहला फल है—अपनी प्राप्त शक्ति का उपयोग करके सतोष पाना, दूसरा फल है—आप जैसे देव का मिलना। अगर मैं जहाज के साथ ही डूब मरता तो आप सरीखे देव कैसे मिलते? मैंने धैर्य रखकर साहस किया, तभी तो आपके दर्शन हुए।" देव इस उत्तर से बहुत प्रसन्न हुआ। बोला—"तो तुमने मुझ से रक्षा करने की प्रार्थना क्यो नही की?"

महाजातक—"देवता प्रार्थना की अपेक्षा नही रखते, वे तो जिसे भी धर्मयुक्त कार्य मे मग्न देखते है, तथा जिसका तन-मन प्रसन्न होता है, जो अपने कर्त्तव्य मे सलग्न होता है, उस पर वे स्वत प्रसन्न होते है। इसके अतिरिक्त अगर आप प्रार्थना करने पर मेरी रक्षा करते तो मेरा कर्त्तव्य-गौरव कम हो जाता। बिना ही प्रार्थना के प्रसन्न होकर आप मेरे कार्य म सहायक होगे तो आपका भी गौरव बढेगा, मेरा भी। मै आपका भी गौरव कम नही करना चाहता, और न अपने कर्त्तव्य का महत्त्व घटाना चाहता हूँ।"

देवता ने प्रसन्न होकर जहाज के सहित उसे किनारे लगा दिया और प्रशसा करते हुए कहा—"तुम-सा धीर और पुरुषार्थी दूसरा पुरुष तो क्या देव भी मैंने नही देखा। वास्तव मे धैर्य और पुरुषार्थ मे तुम्हारी शक्ति हम से बढी-चढी है।"

वास्तव म देखा जाए तो महाजातक धैर्य-निष्ठा की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुआ। इसी कारण वह सकट पर विजय प्राप्त कर सका। यही विजितात्मा का दूसरा लक्षण है।

जितात्मा बुद्धि पर विजयी

जो व्यक्ति सच्चा आध्यात्मिक होता है, वह राजसी और तामसी बुद्धि पर या चचल और मारक बुद्धि पर पूरा काबू पा लेता है, तथा सात्त्विक बुद्धि को भी अपने नियंत्रण मे रखता है। जब भी कभी भय और प्रलोभन के अवसर आते हैं, तब

जितात्मा राजसी और तामसी बुद्धि से निर्णय न करके सात्त्विक बुद्धि से झटपट शुद्ध निर्णय कर लेता है। चंचल और मारक बुद्धि के प्रवाह मे बह जाने वाला व्यक्ति भयो और प्रलोभनो से घिर जाता है, संकट के समय भी अपनी विकारयुक्त बुद्धि के कारण यथार्थ निर्णय नही कर पाता। सात्त्विक बुद्धि का धनी संकट के समय भी अपना सन्तुलन नही खोता और न ही घबराकर हायतोबा मचाता है। विजितात्मा अपनी बुद्धि को अपने कंट्रोल मे रखता है, वह मादक एवं नशीली वस्तुओं का सेवन करके अपनी बुद्धि को लुप्त नही करता। न ही वह सकट या विपत्ति के समय अपना गौरव खोकर दूसरो के सामने सहायता के लिये गिडगिडाता है।

एक बार चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस से उनके कुछ शिष्यो ने पूछा—"गुरुदेव ! मच्चा बुद्धिमान् कौन होता है ? उसकी क्या पहिचान है ?"

कन्फ्यूशियस ने सब शिष्यो को थोडी देर तक बैठकर प्रतीक्षा करने को कहा। वे बैठ गये। कन्फ्यूशियस ने अपनी शेष दिनचर्या पूरी की, वस्त्र पहने और सब शिष्यो को लेकर एक ओर चल पडे। सब लोग एक गुफा मे प्रविष्ट हुए। वहाँ एक तापस रहते थे, जो जप-तप और भजन किया करते थे। कन्फ्यूशियस ने उन्हें प्रणाम किया और एक ओर बैठ गये। फिर शा त होकर पूछा—"भगवन् ! हम आपसे ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने आये है। बताइए, वह कौन है ? क्या है ? कहाँ रहता है ?" महात्मा यह सुनते ही भभक उठे—"तुम लोग मेरी शान्ति भग करने क्यो आये हो ? भागो यहाँ से ! मेरे भजन मे विघ्न मत डालो।"

कन्फ्यूशियस अपने शिष्यो को लेकर बाहर निकले। उन्होने शिष्यो से कहा—"एक बुद्धिमान् तो यह है, जो ससार के प्रति आँखे मूँदे हुए है। ससार की सुख-दु खमयी परिस्थिति के प्रति उपेक्षा किये हुए है। एकान्त, अलग-थलग रहकर अपनी बुद्धि को शान्त रखने मे इनका विश्वास है।"

वहाँ से चलकर वे एक गाँव म पहुँचे, जहाँ एक तेली कोल्हू चला रहा था, बैल की आँखे बन्द थी, वह अपनी मस्त चाल मे उतने-से दायरे मे चल रहा था। तेली कोल्हू पर बैठा अपनी मस्ती मे कुछ गा रहा था।

कन्फ्यूशियस ने उससे कहा—"भाई ! कोई ब्रह्मज्ञान की बात सुनाओ।" तेली ने हँसकर कहा—"भाई ! यह बैल ही मेरा ब्रह्म है, मेरा परमात्मा है। मैं इसकी सेवा करता हूँ, यह मेरी सेवा करता है। बस, हम दोनो सुखी है, सुख ही ब्रह्म है।"

कन्फ्यूशियस उसकी बात सुनकर आगे बढ़े और शिष्यो से कहा—"यह मध्यम श्रणी का बुद्धिमान है, यद्यपि इसकी बुद्धि भी सकुचित दायरे मे बन्द है। यह बुद्धि भी विकृत है।"

बातचीत करते हुए वे एक बुढ़िया के दरवाजे पर आकर रुके। बुढ़िया चर्खा कात रही थी। उसके आसपास कई बच्चे शोरगुल मचा रहे थे। बीच-बीच मे किसी बालक के पानी माँगने पर वह पानी पिला देती, कभी किसी नटखट बालक को प्रेम-

भाव से बनावटी कोप दिखाकर समझाती, कभी किसी को हँसकर समझाती। बच्चे जब खेलने लगते तो बुढिया अपना चर्खा कातने लग जाती। कन्फ्यूशियस जैसे ही वहाँ पहुँचे, सब लडके भाग गये। कन्फ्यूशियस ने बुढिया से पूछा—"माताजी! कोई आत्मज्ञान की बात सुनाओ।"

बुढिया मुस्कराकर कहने लगी—"ये जो अभी बच्चे खेल रहे थे, और आप सब लोग आये हैं, ये सब आत्मा ही तो है। मेरा आत्मज्ञान यही है कि सब आत्माओ के साथ अच्छा व्यवहार करना, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का व्यवहार ही आत्मज्ञान का मूल स्रोत है। छोटे बच्चो मे भी आत्मा है, इन बच्चो का रूठना, मेरा मनाना, निरर्थक शोरगुल के समय झुझलाना नही, इन्हें प्रेम से समझाना, इनके साथ विनोद करना, यही मेरा आत्मज्ञान है।"

कन्फ्यूशियस शिष्यों को साथ लेकर लौट पडे। उन्होने बताया कि इस बुढिया की बुद्धि निष्काम और सात्त्विक है। इसी प्रकार की बुद्धि हर समस्या का सही हल खोज लेती है। किसी भी सकट के समय ऐमी बुद्धि घबराती नही, सन्तुलन नही, खोती, अपनी मस्ती नही छोडती। भगवद्गीता (अ० २) मे भी कहा है—

प्रसन्नचेतसो ह्याशुबुद्धि पर्यवतिष्ठति।

—जो प्रसन्नचेता है, उसी की बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है।

गीता म वर्णित 'स्थितप्रज्ञ' और जैनशास्त्र आचाराग सूत्र मे निरूपित 'स्थितात्मा'—ये सब 'जितात्मा' के ही पर्यायवाची है।

जितात्मा स्वभावविजेता

आत्मा अनादि काल के कुसस्कारवश बार-बार अपने स्वभाव को छोडकर परभाव या विभाव म चली जाती है, कभी राग और द्वेष मे, कभी मोह और आसक्ति मे, कभी क्रोधादि कषायो मे और काम आदि वासनाओ म। स्वभावविजेता जितात्मा अपनी आत्मा को सतत अभ्यास के द्वारा स्वभाव मे स्थित रखता है। वह परभावो या विभावो के प्रलोभन या आकर्षण से लुब्ध या आकृष्ट नही होता। प्रतिक्षण वह विवेक का दीपक जलाकर चलता है। यह स्वभाव है या परभाव? इसका निर्णय तो थोडे-से अभ्यास से व्यक्ति तुरत कर सकता है। परन्तु शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि परभाव होते हुए भी इन्ही से काम लेना पडता है। इसी प्रकार माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र आदि परभाव होते हुए भी इनसे रात-दिन वास्ता पडता है। ऐसी स्थिति मे स्वभावविजेता क्या करे? क्या वह इन सब परभावो को एकदम तिलाजलि दे दे? इनमे किनाराकसी कर ले? इसी प्रकार आहार-पानी, अन्न, औषध, मकान, वस्त्र, बर्तन आदि साधन भी परभाव है, इनका इस्तेमाल किये बिना प्राय मनुष्य का काम नही चलता, ऐसी दशा मे परभाव कोटि की असख्य वस्तुएँ हैं, जिनके बिना न तो गृहस्थो का जीवन टिक सकता है और न ही साधुओ

का । अत ऐसी स्थिति मे स्वभावविजयी कैसे और किस तरीके से अपने स्वभाव पर स्थिति रह सकता है, या परभाव से दूर रह सकता है ?

जैनदर्शन इसके लिए दो शब्दो मे निपटारा कर देता है, वे हैं—राग और द्वेष । इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियो के विषय हैं, शरीर है, शरीर के विविध अंगोपाग हैं, मन-बुद्धि आदि हैं । आहार आदि जीवनयापन के विविध साधन हैं । इनका उपयोग करना अनिवार्य जान पडे तो करना पडता है परन्तु ध्यान रहे कि न इन पर राग (मोह या आसक्ति) करना है और न ही द्वेष (घृणा, विद्रोह या वैर-विरोध) करना है । इन्द्रिय, मन आदि के साथ लगने वाले राग और द्वेष से सावधान रहना है । इन्हें विभाव के मूल एवं कर्मबीज जानकर जब भी ये आने लगे, तुरन्त खदेडना है । स्वभाव-विजेता यह देखता रहता है, कि ये परभाव वैसे ही पास मे पडे रहें तो भले ही रहें, परन्तु इन्हें देखकर राग-द्वेष, मोह-घृणा, वैर-विरोध, आसक्ति, द्रोह आदि मन मे उत्पन्न न हो, बुद्धि मे ये भाव ही उत्पन्न न हो ।

एक वीतरागी नि स्पृही साधु भी बगीचे मे बैठता है, उसे न तो बगीचे पर मोह है और न ही उसके प्रति द्वेष या घृणा है । वह वहाँ रहता भी है तो नि स्पृह भाव से । किन्तु उस बगीचे का मालिक आता है, उसे बगीचे के प्रति राग और मोह है, अगर दूसरा कोई बगीचे मे अपना डेरा डालता है या कब्जा जमाने लगता है तो उसके प्रति द्वेष और वैर हो जाता है । यही परभाव की विजय है, इसी विजय को जितात्मा स्वभावजयी पराजय मे बदलता है । वह किसी भी वस्तु के प्रति न तो राग या मोह करता है और न ही द्वेष या द्रोह करता है, न ही आसक्ति या घृणा । यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रियो और मन का उपयोग करते हुए भी स्वभावजयी इन परभावो को आत्मा पर हावी नही होने देता । आवश्यकता पडने पर वह परभावो का तटस्थ-भाव से सेवन भी करता है, किन्तु राग-द्वेष से परे होकर स्वभाव के अविरुद्ध होने पर ही ।

निष्कर्ष यह है कि स्वभावजयी अनिवार्य परभावो से निकट मे रहता है, उनका आवश्यकतानुसार उपयोग भी करता है, सेवन भी करता है, परन्तु स्वभाव पर राग-द्वेषादि के माध्यम से होने वाले परभावो के हमले को नहीं होने देता, उससे स्वभाव की सुरक्षा करते हुए । स्वभाव —आत्मभाव है, उसके अतिरिक्त सभी पर भाव या विभाव हैं । ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा इनसे सम्बन्धित जो भी आत्मा के निजी गुण हैं, वे स्वभाव हैं और इनसे विपरीत—परभाव हैं । स्वभाव और परभाव के द्वन्द्व मे स्वभावजयी स्वभाव को जिताता है, परभाव को नहीं । परभाव को वह सदैव परास्त करता है , वह परभाव को एक क्षण के लिए भी स्वभाव पर हावी नही होने देता ।

स्वभाव बनाम आदत

इसके अतिरिक्त स्वभाव का एक और लोकव्यवहार मे प्रचलित अर्थ है—अपना स्वभाव, प्रकृति, नेचर या आदत। अपने स्वभाव पर काबू पा लेना भी स्वभावविजय का अर्थ है। कई मनुष्यो की आदतें किसी न किसी व्यसन की हो जाती है, कोई तम्बाकू पीता है, तो कोई बीडी-सिगरेट पीने लगता है, कोई गाजा, भाँग, अफीम या शराब पीने का आदी बन जाता है, किसी की आदत चोरी करने की हो जाती है, कोई परस्त्रीगामी या वेश्यागामी बन जाता है। अथवा किसी की प्रकृति बहमी बन जाती है, वह बात-बात मे शका-कुशका करने लग जाता है। कोई स्वभाव से गुस्सैल, क्रोधी, कपटी, दुराचारी, झक्की, कजूस, खर्चीला, बात-बात मे गाली-गलौज करने वाला, जिद्दी, बातूनी, झूठी शेखी बघारने वाला आदि हो जाता है। असख्य प्रकार के अच्छे और बुरे स्वभाव हैं। परन्तु प्राय देखा जाता है कि जिसका जैसा स्वभाव पड गया, फिर उसे उस स्वभाव का बदलना दुष्कर हो जाता है, अत. स्वभाव विजेता के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह किसी भी प्रकार की खोटी आदत, बुरे स्वभाव, खराब प्रकृति, कुटेब आदि को जीवन मे स्थान न दे, अपने पर हावी न होने दे। जब भी कोई वस्तु अपने स्वभाव म परिणत होने लगे कि प्रारम्भ मे हो उसे बदल द, उसको वही मे समाप्त कर दे, उसका मूल ही नाबूद कर दे, अन्यथा एक बार किसी बुरे स्वभाव, बुरी आदत, कुटेब या खराब प्रकृति को प्रश्रय दे दिया तो फिर वह आदत उसके जीवन मे घर कर जायेगी, वह उसके काबू मे बाहर हो जायेगी।

एक राजस्थानी कहावत प्रसिद्ध है—

> काजल तजै न श्यामता, मोती तजै न श्वेत।
> दुर्जन तजै न दुष्टता, सज्जन तजै न हेत॥

ये सब स्वभाव के नमूने है।

एक दयालु व्यक्ति ने एक बिच्छू को पानी मे डूबते हुए देखा तो उसे बहुत दया आई कि बेचारा पानी मे डूबकर मर जाएगा। उसने बिच्छू को हाथ से पकड कर बाहर निकाला। परन्तु बिच्छू अपना स्वभाव कैसे छोड सकता था! बिच्छू तो बिच्छू ही जो ठहरा! उसने दयालु पुरुष के हाथ पर डक मारा, बेचारे दयालु के हाथ मे बिच्छू के काटने से असह्य पीडा होने लगी। फिर उसने दया करके बिच्छू को एक ओर सुरक्षित स्थान मे छोड दिया। किन्तु बिच्छू फिर रेंगता-रेंगता पानी मे चला गया, और तडफने लगा। दयालु पुरुष को फिर दया आई। उसने बिच्छू को पुन हाथ से पकडकर बाहर निकाला तो पुन उसके हाथ पर डंक मारा। एक तटस्थ दर्शक ने दयालु से कहा—"जब यह बिच्छू आपके उपकार को कुछ नहीं समझता है तो आप इसे दया करके क्यो पानी मे से निकालते हैं?" उसने कहा—"बिच्छू का स्वभाव है—काटना, मेरा स्वभाव है—दया करना। जब यह अपना कुस्वभाव नहीं छोडता तो मैं अपना सुस्वभाव क्यो छोड दूँ?"

यह कोई बात नहीं है कि स्वभाव बिलकुल बदल ही न सके। परिस्थिति, प्रबल निमित्त या अन्य विशिष्ट कारणों से मनुष्य की वर्षों से पड़ी हुई आदत, प्रकृति स्वभाव या नेचर बदल जाती है, और जब बदलती है तो एक झटके मे बदल जाती है। जो वर्षों से शराब पीते थे, मास खाते थे, उन्होंने साधुओं के सत्सग से एक ही दिन मे सभी बुरी आदतें छोड दीं। अत स्वभावविजेता अपने जीवन में किसी भी दुर्व्यसन, बुरी आदत, कुटेव, स्वभाव, खोटी प्रकृति आदि को फटकने नही देता, वही जितात्मा कहलाता है। बन्धुओ! यह जितात्मा का चौथा अर्थ है। अभी मुझे इसके तीन अर्थों पर और प्रकाश डालना है।

अगले प्रवचन मे ही अवशिष्ट अर्थों पर प्रकार डाला जाएगा। आप जितात्मा के प्रत्येक अर्थ पर बारीकी से चिन्तन-मनन करें और अपना जीवन जितात्म-मय बनाने का प्रयत्न करे। तभी आप दूसरो के लिए महावृक्ष की तरह शरणदाता और सूर्य की तरह दूसरों के लिए गति-प्रगति के प्रेरणादाता बन सकेंगे। ●

६२. जितात्मा ही शरण और गति—२

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं पुन कल वाले विषय पर चर्चा करूँगा । जितात्मा का जीवन हर पहलू से विचारणीय है । जब तक मनुष्य जितात्मा नही बनता, तब तक उसका जीवन दूसरो के लिए अनुकरणीय, प्रेरणादायक एव शरणदाता नही बन सकता । इसीलिए महर्षि गौतम ने मनुष्य-जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए यह जीवनसूत्र प्रस्तुत किया है—

अप्पा जिअप्पा सरण गई अ

आइए जितात्मा के अन्य अर्थों पर विचार कर ले—

जितात्मा आत्मजयी

एक दिन भ० पार्श्वनाथ स्वामी की परम्परा के श्री केशीकुमार श्रमण के प्रश्न का उत्तर भ० महावीर के पट्टधर शिष्य गणधर श्री गौतमस्वामी ने दिया था, जो कि उत्तराध्ययनसूत्र मे अकित है—

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि अ ।
ते जिणित्तु जहानाय, विहरामि अह मुणी [1] ॥

—कषायो और इन्द्रियो से युक्त बिना जीता हुआ एकमात्र आत्मा ही शत्रु है, उसे जीतकर मैं यथाज्ञात दशा मे विहरण करता हूँ ।

लोकव्यवहार मे जिस प्रकार युद्ध मे मुख्य शत्रु प्रतिपक्षी राजा या उसका सेनापति माना जाता है । उसे जीत लेने पर सारी सेना जीत ली गई, ऐसा समझा जाता है । इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे एक आत्मा को जीत लेने पर कषाय और इन्द्रियाँ आदि सब पर विजय प्राप्त हो गई, ऐसा समझा जाता है । इसलिए यहाँ जितात्मा का एक अर्थ यह किया गया है कि अपनी आत्मा पर विजय पाने वाला, अपने आप पर विजयी बनने वाला ।

वैसे तो आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही शत्रु है । मित्र तब है, जब वह कषायो और इन्द्रियविषयो के चक्कर मे नही पडता, किन्तु जब वह कषायो, विषयो आदि के चक्कर मे फँस जाता है, अपने स्व-भाव से विपरीत दिशा मे चलता है, तब शत्रु बन जाता है । ऐसे शत्रु बने हुए आत्मा को जो जीत लेता है, अपने पर हावी नही होने देता, वही आत्मजयी जितात्मा है ।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २३/३८

आशय यह है कि जितात्मा पुरुष अपनी आत्मा के शत्रुभूत जो क्रोधादि कषाय है, या इन्द्रिय-विषय हैं, उनकी ओर जाती हुई अपनी आत्मा को किसी भी प्रकार से रोकता है, या उसकी दिशा बदल देता है, आत्मगुणो की दिशा मे उसे अभिमुख कर देता है।

यह बहुत सम्भव है कि कोई सारे जगत को जीत ले परन्तु जहाँ तक वह अपने आप को नही जीत लेता, तब तक सच्चे माने मे वह उसकी जीत नही है, वह अन्दर से हारा हुआ है—पराजित है। उसकी बाह्य विजय दूसरो को धोखा दे सकती है, पर अपने आपको नही। अपने आपको जीतना ही सच्ची विजय है, उसी विजय का आनन्द सच्चा आनन्द होगा। केवल बाह्यविजय के आनन्द से काम नही चलेगा। अपने आप पर विजय पाये बिना केवल बाह्यविजय तो पराजय मे बदल जाती है, सभी उपलब्धियाँ शून्य बन जाती है।

मानव अपनी आँखो मे कब तक धूल झोंक सकता है ? यदि आपको सब कुछ मिल जाये किन्तु मिले अपने आपको खोकर तो क्या आप उसे पसन्द करेंगे ? यह सौदा कितना महगा पडेगा ? यह तो हीरा खोकर पत्थर खरीदने जैसा है। बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि जो अपने आपको खो बैठता है, वह सभी बाह्य पदार्थों की प्राप्ति के धोखे मे सब कुछ खो देता है। सचमुच, अपने आपको खोना सर्वस्व खोना है। 'स्व' केन्द्र मे न हो तो ससार के सारे पदार्थों की उपलब्धि का कोई मूल्य नही है, क्योकि जो अकेले 'स्व' मे छिपा है, उसकी पूर्ति दुनिया के समस्त पदार्थ एकत्र करने पर भी नही हो सकती। स्व' (आत्मा) से बढ़कर कोई सम्पत्ति नही है। इसी की उपलब्धि से ससार की समस्त वस्तुएँ उपलब्ध हो सकती है और इस अकेले को खोने से दुनिया की वस्तुएँ खो जाती है। स्व एक है, दुनिया के सारे पदार्थ शून्यवत् है। शून्य चाहे जितने हो, कोरे शून्यो की तब तक कोई कीमत नहीं होती, जब तक कि एक का अक उनके पूर्व न लगे। वास्तव मे स्व (आत्मा) ही एकमात्र सम्पत्ति है, वही हमारी आन्तरिक शक्ति है।

याद रखिए, जब तक मनुष्य अपने आपको प्राप्त नही कर लेता, तब तक दूसरी सब वस्तुओ को प्राप्त करने का दावा व्यर्थ है। सच्ची समझ की प्राप्ति अपने आप की प्राप्ति मे से प्रारम्भ होती है, यही जागृति का प्रारम्भ है। परन्तु आज तो 'दिया तले अंधेरा' वाली कहावत प्राय चरितार्थ हो रही है। दीपक सबको प्रकाश देता है, लेकिन स्वय के नीचे अंधेरा रखता है, वैसी स्थिति आज दिखाई दे रही है। वर्तमान युग मे मानव की शक्ति विस्तीर्ण होती जा रही है, लेकिन मानव स्वय शक्तिहीन होता जा रहा है। कितना विरोधाभास है यह ! आज मनुष्यों की बाह्य शक्ति तो बढ़ी है, लेकिन आन्तरिक शक्ति से वे क्षीण होते चले जा रहे हैं। भौतिक पदार्थों मे लोगों की गति बढी है, लेकिन आध्यात्मिक जीवन मे वे शक्तिहीन—गतिहीन-से हो रहे हैं। पदार्थों को जानने में हमने अपनी सारी शक्ति लगा दी, परन्तु अपने आप को जानने का कोई ध्यान ही न रहा।

याद रखिये, जब तक मानव अपने छोटे-से केन्द्र—स्व (आत्मा) पर विजय प्राप्त नही कर लेगा तब तक भले ही वह अपनी शक्ति को दिग्‌दिगन्त तक विस्तृत कर दे, फिर भी रहेगा शक्तिहीन ही। अपने आप (स्व) पर विजय प्राप्त करने से ही शक्ति का—परम-शक्ति का आधार मिलता है। आत्मविजय के विना केवल बाह्य पदार्थों या प्रकृति पर विजय से आज तक कोई भी व्यक्ति आनन्द नही पा सका। आपको भी वह आन्तरिक विजय प्राप्त करनी है।

आप पूछेंगे हमारी आत्मा तो हमारे पास है ही फिर उस पर विजय प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है ? मैं कहता हूँ—उस पर विजय प्राप्त किये बिना आपका सारा जीवन परतन्त्र, इन्द्रियो और मन का गुलाम, कषायो का वशवर्ती और विषयो का दास बन जाएगा। क्या आपको पता है, आपकी आत्मा कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे पराजित होती है ? बाहर से विजय का डका बजते रहने पर भी आप अपने अन्दर से कितने हारे हुए है ? जिनकी विजय-पताका (बाहर से) उड रही हैं, उनकी थोडी सी भी आन्तरिक विजय है ? आप अपने अन्तर् मे डुबकी मारकर देखेंगे तो पता चलेगा कि अन्दर तो सिर्फ हार है, पद-पद पर आप हारते हैं।

आप जरा-से क्रोध पर नियन्त्रण नही रख सकते। अभिमान का सर्प जरा-सा छेडने से फुफकार उठता है। लोभ के वशीभूत होकर दिन मे कई बार अपने जरा से स्वार्थ के लिए लोग बेईमानी, ठगी, नाप-तौल मे गड-बड, हेरा-फेरी आदि कर बैठते है। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए छल-कपट, दगा, धोखा आदि करते जरा भी नही हिच-किचाते। जरा-सी कामवासना की लहर आई कि आप फिसल जाते है। जरा-सी तुच्छ वस्तु के मोह मे आप पागल हो उठते है। पैसे और पद के लिए राष्ट्रद्रोह, समाजद्रोह, ग्रामद्रोह आदि करने से नही चूकते। मतलब यह है कि वर्तमान युग का मानव प्राय काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग-द्वेष, कपट, अहकार आदि मानसिक विकारो का गुलाम बना हुआ है। वह इनसे बार-बार हारता है। बाहर से भले ही वह राजा, बादशाह या लखपति-करोडपति सेठ बना हुआ हो, परन्तु अन्दर से वास-नाओ के वेग मे यन्त्र की तरह पिसता जाता है। इतनी पराधीनता है कि मनुष्य की स्थिति यन्त्र की तरह है। अपना ही मन है, लेकिन आत्मा उसका मालिक नही है, इन्द्रियाँ अपनी ही है, लेकिन आत्मा के नियन्त्रण मे वे नही हैं, आत्मा पर मन और इन्द्रियाँ विजयी बनकर हावी हो गये हैं। आत्मा को तो केवल उनकी हाँ मे हाँ मिला देनी होती है। इन्द्रियाँ और मन मिलकर जिधर आत्मा को बहा ले जाएँ, उधर बहना पडता है। चेतन आत्मा को इन अचेतन मन के आवेगो एव कषाय के आवेशो के सामने बार-बार झुकना पडता है, इन्द्रियविषयो के अधीन हो जाना पडता है। मन और इन्द्रियो तथा इनके विषय-विकारो के सामने बार-बार हार खानी पडती है। अचेतन वेग तथा प्रवाह और भौतिक आकर्षण आत्मा को खीच ले जाते है। भौतिक आकर्षण के अधड के सामने आत्मा की कुछ भी नही चलती। भौतिक पदार्थों की वासना मालिक और आत्मा उसका गुलाम बन जाता है।

जितात्मा साधक इस पराधीन स्थिति को सहन नही करता। वह एक ही

झटके मे इन्द्रियो और मन की, विषयों और कषायों की दासता की जंजीर काट देता है। वह इन्द्रियो और मन को आत्मगुणो की सेवा मे लगाता है। वह वृत्तियो, कषायों, वासनाओ, विषयों को जीतता है, उनके सामने गुलाम बनकर वह रोता-गिड़गिड़ाता नही, उनके बिना भी वह काम चला सकता है। वह चैतन्य-अग्नि को बुझने नही देता।

हाँ, तो मैं कह रहा था, जितात्मा बनने के लिए अपने आप पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। इसके लिए बाह्य शत्रुओं को नही, आन्तरिक शत्रुओ को जीतना आवश्यक है। बाह्य शत्रु तो दूसरे हैं, पर ये आन्तरिक शत्रु तो अपने ही हैं। अपनी ही दिशाभ्रष्ट शक्तियाँ आन्तरिक शत्रु हैं। उनका नाश नही करना है, क्योंकि उनका नाश करने से हमारी ही शक्तियाँ नष्ट होंगी। उनकी दिशा बदलनी है, उनका मार्ग-परिवर्तन करना है, यही उन पर विजय पाने का तरीका है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे आत्मदमन के लिए कहा गया है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य॥
वर मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहि य॥

इनका अर्थ है—आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्दम्य है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक मे सुखी होती है। अच्छा तो यही है कि मैं सयम और तप के द्वारा स्वय अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नही है।[1]

प्रश्न होता है, क्या इस प्रकार के दमन से आत्मा पर—अपनी आन्तरिक शक्तियो—उन्मार्गगामी शक्तियो पर विजय प्राप्त की जा सकती है? इसके उत्तर मे हमे प्राचीन वृत्तिकारो के द्वारा इन गाथाओ मे उक्त दमन की व्याख्या की ओर झाँकना होगा। कोरा दमन कदापि शत्रु को जीतने मे सफल नही होता, यह वर्तमान मनोवैज्ञानिको द्वारा सम्मत तथ्य है। आत्मदमन का जो अर्थ आज तक समझा जाता है, वह बदल गया है। उत्तराध्ययनसूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार श्री शान्त्याचार्य ने आत्मदमन का अर्थ किया है—आत्मिक उपशमन। 'शमु दमु उपशमे' इस धातुपाठ के अनुसार शम और दम दोनो धातु उपशम अर्थ मे हैं। महाभारत मे 'दमन' की सुन्दर परिभाषा मिलती है। देखिए वे श्लोक—

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं च मार्दवं ह्रीरचापलम्॥१५॥

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र अ० १, गा० १५,१६

अकार्पण्यासरम्भ सन्तोष प्रियवादिता ।
अविहिसानसूया चाप्येषा समुदयो दमः ॥१६॥

—क्षमा, धैर्य, अहिसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रियजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, अचपलता (स्थिरता), उदारता, क्रोधहीनता, सतोष, प्रियवचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरो के दोष न देखना (अनसूया) — इन सब सद्गुणो का उदय होना ही दम है ।[1] इसी सन्दर्भ मे महाभारत मे 'दान्त' का अर्थ भी उपशान्तपरक ही किया गया है—

गुरुपूजा च कौरव्य ! दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवाद मृषावाद, स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥१७॥
काम क्रोध च, लोभ च दर्प स्तम्भ विकत्थनम् ।
रोषमीर्ष्यावमान च नैव दान्तो निषेवते ॥१८॥

—हे कुरुनन्दन ! जिसने मन और इन्द्रियो का दमन कर लिया है, उसमे गुरुजनो के प्रति भक्ति, प्राणियो के प्रति दया, तथा किसी की चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है । वह जनापवाद, असत्यभाषण, किसी की निन्दा-स्तुति (चापलूसी) मे पडने की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, अभिमान, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या, दूसरो का अपमान—इन दुर्गुणो का कभी सेवन नहीं करता ।[2]

वास्तव मे, आत्मदमन से आत्मविजय हो सकती है, बशर्ते कि महाभारत एव शान्त्याचार्य की व्याख्या के अनुसार दमन का अर्थ आत्मोपशमन-परक लिया जाये ।

आत्मदमन की जब यह परिभाषा मान ली जाती है, तो आत्मा की विरोधी और मार्गभ्रष्ट बनी हुई उन शक्तियो को जीतना बहुत ही आसान हो जाता है । जैसे—एक नदी मे भयकर बाढ आती है, उसके जल से लाभ के बदले धन-जन की हानि ही होती है । ऐसी स्थिति मे कोई इजीनियर नदी के उस व्यर्थ बहकर विनाशकारी बनने वाले जल-प्रवाह को मोडकर विविध नहरो के द्वारा खेतो मे पहुँचा देता है, तब वह जीवनदायी बन जाता है । इसी प्रकार जितात्मा अपनी उन विनाशकारिणी एव उन्मार्गगामिनी शक्तियो, वेगो एवं वृत्तियो के प्रवाह की दिशा बदलकर उन्हें विकासकारी एव सन्मार्गगामी बना देता है । तब वे शत्रु के बदले मित्र बन जाती हैं । इस प्रकार की विजय ही सच्ची आत्मविजय है । महाभारत मे बताई गई आत्म-दमन की परिभाषा के अनुसार भी आत्मा की उन्मार्गगामिनी वृत्ति-प्रवृत्तियो को क्षमा, दया, सत्यता, सरलता, धीरता, मृदुता, आदि विविध अभीष्ट प्रवृत्तियो की ओर मोड

१. महाभारत, आपद्धर्मपर्व, अ० १६०, श्लोक १५-१६ ।
२. महाभारत, आपद्धर्मपर्व, अ० १६०, श्लोक १७-१८ ।

किया जाता है तो वे पहले जो आत्मा के नियन्त्रण से बाहर थीं, अब आत्मा के नियंत्रण मे हो जाती हैं।

निष्कर्ष यह है कि शत्रु बनी हुई आत्मा की इन उन्मार्गगामिनी आन्तरिक शक्तियों का विनाश नही, परिवर्तन करना है; उन्हें नया मोड देना है। जैसे—बंजर खेत मे खाद और मिट्टी बदलने से वह उपजाऊ बन जाता है, वैसे ही आत्मशक्ति का क्षय करने वाली इन आन्तरिक वृत्ति-प्रवृत्तियो—शक्तियो को सद्गुणो की खाद देने से ये उपयोगी तथा आत्मशक्ति का विकास करने वाली बन जाएँगी। इनसे ही फिर आत्मा तेजस्वी और वीतरागत्व का आधार बन सकेगी। यही आत्मविजयी बनने का रहस्य है।

अपने आप पर या अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करने का अर्थ आत्मा को दबाना, सताना या उससे लडना नही है, परन्तु विपरीत-पथगामिनी आत्मा की आन्तरिक शक्तियों के साथ मैत्री करके उन्हें सन्मार्गगामिनी बनाना है। तभी वह आत्मविजेता बन सकता है। वास्तव मे देखा जाये तो प्रत्येक व्यक्ति मे शक्ति का विपुल प्रवाह भरा है, किन्तु वह भान भूलकर विषयासक्ति, वासना, कषायवृत्ति आदि उन्मार्गों मे अपनी उस शक्ति को बहा देता है, या बहने देता है। धीरे-धीरे वे उन्मार्गगामिनी शक्तियाँ उस पर हावी हो जाती है। फिर दूसरी भूल वह यह करता है कि वह उन उन्मार्गगामिनी शक्तियो का बिलकुल निरोध या विरोध करता है, किन्तु केवल निरोध या विरोध से वे काबू मे नही आती। बाहर से दिखाई देता है कि उन पर विजय प्राप्त हो गई है, परन्तु अन्दर मे वे अपना अड्डा जमाए रहती हैं, कोई न कोई निमित्त मिलते ही वे पुन उभर आती है। इसलिए आत्मविजय का यह तरीका ठीक नही है, सही तरीका है—प्रवाह-परिवर्तन का, अर्थात् उन शक्तियो—अपने मे रही हुई वृत्ति-प्रवृत्तियो के साथ परिचय करना, उनकी उपयोगिता जानना, फिर उनसे मैत्री करके उनके प्रवाह को मोडना, उन्हें सहयोगी बना लेना, यही आत्म-विजय का यथार्थ क्रम है।

जितात्मा : अपने गुणों से परमात्मतत्त्व को जीतने वाला

जिस प्रकार एक अच्छा खिलाडी खेल मे अपनी योग्यता, क्षमता और कुशलता से विजय पा लेता है, उसी प्रकार विजित आत्मारूपी खिलाडी भी अपनी योग्यता, क्षमता, कुशलता एव उत्तमोत्तम गुणो की वृद्धि से अपने तन-मन के साथ होने वाले खेल मे जीतकर परमात्मतत्त्व को पाने का हकदार हो जाता है। वह सासारिक प्रलोभनों और आकर्षणो मे नही फँसता, कषायों और विषयो के मायाजाल से दूर रहता है। अपने तन, मन, बुद्धि, शक्ति, इन्द्रियो आदि को यथायोग्य कार्यों मे लगा देता है, जिससे उसे इस लुभावने मायाजाल मे फँसने का मौका ही नहीं मिलता।

आद्य शंकराचार्यजी अपनी माता के इकलौते पुत्र थे। माता ने सन्तान-प्राप्ति

के लिए शिवजी की उपासना की। उपासना के पश्चात् जब सन्तान-प्राप्ति हुई तो उसका नाम 'शकर' रखा। शकराचार्य की माता भी अन्य माताओ की तरह मन मे यही कल्पना सँजोये हुई थी कि मेरा शकर कुछ ही वर्षों में जब बडा हो जाएगा तो मैं उसका विवाह करूँगी। बहू घर मे आएगी। कुछ ही वर्षों मे मेरा घर नाती-पोतो से भरा-पूरा हो जाएगा। बहू की सेवाओ से तृप्ति होगी। जीवन की अन्तिम घडियाँ सुख-शान्ति और सम्पन्नता मे व्यतीत होगी। ज्यों-ज्यो शंकर बडे होते जाते, माता का यह स्वप्न और भी तीव्र होता जाता।

परन्तु जन्म से ही प्रतिभासम्पन्न तथा पूर्वजन्म के सस्कारो से परिपूर्ण शंकर का ध्यान परमात्म-प्राप्ति म लगा रहता था। वह इसके लिए जप-ध्यान, पूजा-पाठ, तप, सेवा आदि मे ही अधिक समय लगाता था। वे अपनी प्रतिभा स्वय को सासारिक माया-जाल मे फसाकर नष्ट नही करना चाहते थे। उधर माता अपने बालक की प्रवृत्ति ससार के मोहजाल से विरक्त-सी देखकर खिन्न होती थी और यही समझाया करती थी कि विवाह करना, घर-गृहस्थी सभालना और आजीविका कमाना सुपुत्र का धर्म है।

शकर को अपनी माता के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे माता का पूरा सम्मान करते थे, उनको सेवाशुश्रूषा मे रचमात्र भी कमी नही आने देते थे। फिर भी उनकी अन्तरात्मा यह नहीं मानती थी, कि सासारिक मोहजाल मे फँसने की मोहग्रस्त माता की बात को स्वीकार कर लिया जाये। माता की ममता का मूल्य बहुत है, लेकिन विश्वमाता—परमात्मा की गोद मे बैठने का मूल्य उससे भी अधिक है। उनके विवेक ने कहा—बडे के लिये छोटे का त्याग उचित है। अन्तरात्मा ने परमात्मा की अन्तरग प्रेरणा का अनुभव किया और उसी को परमात्मा का निर्देश मानकर विश्व-माता—परमात्मा को प्राप्त करन तथा उसके लिए विश्वसेवा करने का निश्चय किया।

पर माता को कोई कष्ट न हो, उनकी स्वीकृति भी मिल जाए, ऐसा उपाय उनके मस्तिष्क मे गूँजने लगा। एक दिन माता-पुत्र दोनो नदी मे स्नान करने साथ-साथ गये। माता तो किनारे पर ही खडी रही, पुत्र उछलता-कूदता गहरे पानी तक चला गया। वहाँ अचानक चिल्लाया—"बचाओ, बचाओ! मुझे मगर पकडकर ले जा रहा है।" किसी जलजन्तु ने उनकी टाँग पकड ली थी। माता बेटे की पुकार सुनकर घबराई। वह किंकर्त्तव्यविमूढ-सी हो रही थी कि शकर ने माता से कहा—"माँ अब मेरे बचने का एक ही उपाय शेष है, तुम मुझे भगवान् शकर को समर्पित कर दो, उनकी कृपा से मेरी प्राणरक्षा हो सकती है।" माता को यह निर्णय करने देर न लगी कि मर जाने की अपेक्षा तो सन्यासी बनकर जीवित रहने का मूल्य अधिक है। उन्होने शकरजी से प्रार्थना की—"मेरा पुत्र यदि मगर के मुख से निकल आये तो मैं उसे आपको समर्पित कर दूँगी।" यह सुनकर पुत्र की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह धीरे-धीरे किनारे पर आगया।

इस प्रकार विश्वमाता परमात्मा की प्राप्ति की धुन ने और विश्वसेवा की निष्ठा ने मोहममता पर विजय पाई। किशोर शकर—संन्यासी शंकराचार्य के रूप में भारत में भ्रमण करने लगे। उन्होंने अपनी सारी शक्ति तथा सभी अंगोपांगो को शुद्ध आत्म-सेवा या परमात्मसेवा में लगा दिया। अपने जीवन को उत्तमोत्तम गुणो से सम्पन्न बनाया।

विजितात्मा के इस अर्थ पर हम एक दूसरे पहलू से विचार करें। जैसे शरीर और मन की भूख-प्यास है, वैसे ही आत्मा की भी भूख-प्यास है। साधारण मनुष्य को शरीर और मन की भूख-प्यास का तो प्राय प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है, लेकिन आत्मा की भूख-प्यास का अनुभव किसी विरले को हुआ करता है। आत्मा की भूख, प्यास या माँग है—परमात्मा से मिलन, परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार। यह शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। ऐसे व्यक्ति को, जिसे परमात्म-प्राप्ति की भूख-प्यास लगी है, जीवन मे एक प्रकार की तडफन, तीव्रता और लगन होगी, भले ही किसी समय उसकी अनुभूति बहुत ही मन्द हो, किसी समय तीव्र हो, पर होती अवश्य है। उसे ऐसा लगा करता है, मानो जीवन मे कुछ खो गया है, जो अभी तक मिला नहीं है। क्या खोया है ? कैसे खोया है ? इसका पता उसे प्रारम्भिक दशा मे नही होता। परन्तु एक अज्ञात व्यथा मन मे होती रहती है। सब कुछ मिल जाये, फिर भी उसे लगेगा कि अभी रिक्तता है, खालीपन है। आत्मा की भूख-प्यास जब मिट जाती है, तब परमात्मतत्त्व पर अधिकार हो जाता है। यही जितात्मा का एक लक्षण है।

ऐसा जितात्मा परमात्मतत्त्व से बाह्य अथवा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति मे अवरोधक तत्त्वो से बिलकुल अनासक्त, निर्लिप्त रहता है। वह एकमात्र ब्रह्मस्वरूप मे स्थित हो जाता है अथवा उसमे परमात्मा और जीवात्मा के ऐक्य का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसे ही वेदान्त की भाषा मे समाधि कहते हैं। ऐसा जितात्मा नित्यतृप्त हो जाता है।

जितात्मा · शरीर, इन्द्रियो एवं मन का विजेता

जितात्मा का यह अन्तिम और महत्वपूर्ण अर्थ है। इस अर्थ मे तीन अर्थ गर्भित है—

(१) शरीरविजयी,

(२) जितेन्द्रिय और

(३) मनोविजेता।

यद्यपि शरीर और इन्द्रियाँ मन के अनुसार ही चलती हैं, मन ही इनका कमांड करता है तथापि पृथक्-पृथक् स्पष्टत· समझने के लिए, इन तीनो का अलग-अलग निर्देश किया जाता है। एक मनोविजेता कहने से शेष दोनो का इसमे समावेश हो जाता है।

समग्र जीवन का गुरु मन है। यह क्रियाशील और विकासशील है। उसमे जीवन को बदलने की शक्ति है। मन के बिना इन्द्रियाँ विषयो का उपभोग नहीं कर सकती। जिसे सद्य पुत्रशोक हुआ हो, वह यदि सिनेमा देखे तो उसके सामने पुत्र का दृश्य आता है, सिनेमा के दृश्यो का उसे ध्यान ही नही रहता। मन अस्वस्थ होने पर न खाना खाया जाता है और न ही सोया जाता है। इसलिए मन मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

मन मनुष्य को भगवान् भी बना सकता है, शैतान भी और हैवान (पशु) भी। उसमे सर्वत्र गमन की शक्ति है। मन मे मुख्यतया नौ गुण महाभारत मे बताये गये हैं—(१) धैर्य, (२) तर्क-वितर्क मे कुशलता, (३) स्मरण, (४) भ्रान्ति, (५) कल्पना, (६) क्षमा, (७-८) शुभ-अशुभ सकल्प, और (९) चचलता।[1] विज्ञान के अनुसार प्रकाश का वेग एक सैकड मे १ लाख ८६ हजार मील है विद्युत् का वेग है—२ लाख ८८ हजार मील, जबकि विचारो का वेग २२ लाख ६५ हजार १२० मील है।[2]

कोई भी यान इतना द्रुतगामी नही है, जितना मनोयान है। कोई भी भौगोलिक राज्य इतना बडा नही है जितना मनोराज्य है। इसकी ग्रन्थियो को खोलकर फैलाया जाये तो छहो महाद्वीपो मे नही समा पाती। इस छोटे-से शरीर म मन की असख्य ग्रन्थियो का पिण्ड बहुत ही आश्चर्यजनक है।

चरकसहिता मे मन के ये विषय बताये हैं—

(१) चिन्त्य—यह करने योग्य है या नही—इसका चिन्तन करना,

(२) विचार्य—इस कार्य से लाभ है या अलाभ—यह विचार करना,

(३) ऊह्य—यह कार्य ऐसे होगा, ऐसे क्यो नही—इस प्रकार तर्क करना,

(४) ध्येय—किसी कार्य के विषय मे दीर्घ चिन्तन—ध्यान करना,

(५) सकल्प्य—यह दोषयुक्त है यह दोषमुक्त, यो निश्चय करना,

(६) ज्ञेय—सुख-दु ख आदि का ज्ञान करना।[3]

हमे तारने वाला भी मन है और डुबाने वाला भी मन ही है। हमारा मन जब अन्तर् की ओर झाकता है, तब हम तर जाते हैं। कलह, क्लेश आदि क्या हैं ? ये मन के बाहर झाँकने के प्रकार हैं। मन जब बहिर्मुखी होकर देखता या उपर्युक्त कार्य करता है, तभी ईर्ष्या, द्वेष, मोह, अहकार, कलह, क्लेश आदि उत्पन्न होते हैं। यो

---

१. धैर्योपपत्ति व्यक्तिश्च, विसर्ग कल्पनाक्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणा ॥ —महाभारत, शान्तिपर्व, २५५/९

२. सामायिकसूत्र (भाष्य) पृ० ५५

३. चिन्त्य विचार्यमूह्य च, ध्येयं सकल्प्यमेव च।
यत्किचिन्मनसो ज्ञेय, तत्सर्वं ह्यर्थसज्ञकम् ॥—चरकसहिता, शरीरस्थान १/२०

तो मन की असख्य ग्रन्थियाँ हैं और वे मुकुलित रहती हैं। सामग्री का योग मिलने पर ही उनके तार खुलते हैं। सामग्री के योग से मन की अनेक ग्रन्थियाँ सकुचित और अनेक विस्तृत होती हैं। सक्षेप मे राग और द्वेष इन दो मे मन की असख्य ग्रन्थियाँ समाविष्ट हो जाती हैं।

सभी अपने मन के सकल्प से ही छोटे-बडे बनते है। वस्तु पर अच्छेपन या बुरेपन की छाप मन लगाता है। कार्य की सिद्धि होगी या असिद्धि—यह भी मन के उत्साह-अनुत्साह से ज्ञात हो जाता है। मन से किया हुआ कार्य ही वस्तुत' किया हुआ है, शरीर से किया हुआ नही। मन मे ही इतनी शक्ति है कि वह निजरुचि या संकल्प से स्वर्ग को नरक और नरक को स्वर्ग बना सकता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने मन से ही सातवे नरक तथा छब्बीसवे स्वर्ग मे जाने की तैयारी कर ली। तन्दुलमत्स्य मन के दु सकल्प के कारण अन्तर्मुहूर्त की आयु मे ही सातवी नरक की यात्रा कर लेता है। मनोभावना का प्राकृतिक पदार्थों पर भी प्रभाव पडता है, पेड-पौधो पर तो पडता ही है, जल पर भी पडता है। एक बार तीन व्यक्तियो ने पौधो पर जल सीचा। एक के सीचे हुए पौधे कुम्हला गये, दूसरे के सीचे हुए पौधे लहलहा उठे, और तीसरे के सीचे हुए पौधे मूलरूप मे रहे। वैज्ञानिको ने तीनो के मन का अध्ययन किया, उससे पता चला कि पहले व्यक्ति के मन मे पानी सीचते समय क्रूरता थी, दूसरे के मन मे करुणा एव मैत्री की भावना थी, जबकि तीसरे के मन मे न क्रूरता थी और न करुणा।

श्रीमद्भागवत मे मन को ही सुख-दु ख का मुख्य कारण बताया गया है—

नाऽयं जनो सुखदु ख हेतुर्न देवतात्मा-ग्रह-कर्म-काला।
मन पर कारणमामनन्ति, ससारचक्र परिवर्तयेद् यत् ॥[1]

—मेरे सुख-दु ख के कारण न तो ये मनुष्य है, और न देवता, न शरीर है, और न ग्रह, कर्म या काल आदि हैं। मन ही सुख-दु ख का कारण माना गया है, क्योकि यही ससारचक्र को चला रहा है।

देवी भागवत मे भी मन की पवित्रता-अपवित्रता पर सारे पदार्थों का परिणाम निर्भर है, यह सूचित किया गया है—

मनस्तु सुखदु खानां महता कारण द्विज !
जाते तु निर्मले ह्यस्मिन्, सर्व भवति निर्मलम् ॥[2]

—द्विजवर! मन ही महान् दु खो का कारण है। इसके निर्मल होने पर सब कुछ निर्मल हो जाता है। मन निर्मल न हो तो सभी क्रियाएँ निरर्थक और निष्फल हो जाती है।

---

१. श्रीमद्भागवत ११/२३/४३
२. देवीभागवत १/१५

इसलिए मन को बन्ध और मोक्ष का कारण बताया गया है—

बन्धाय विषयासक्त, मुक्त्यै निर्विषयं मनः।
मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः॥

—मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण न तो शरीर है, न इन्द्रियाँ हैं और न ही जीवात्मा है। वस्तुत विषयासक्त मन ही मनुष्य के लिए बन्धजनक होता है और विषयमुक्त मन होता है मुक्ति के लिए। अत बन्ध और मोक्ष का कारण मनुष्यो का मन ही है।[1]

इसी मन पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति विजितात्मा कहलाता है। परन्तु मन तो बडा ही चचल, जिद्दी और हठी है, इस पर नियंत्रण करना बडा ही कठिन काम है। बडे-बडे योगी इस कार्य मे असफल हो गये। एक दिन अर्जुन जैसे जिज्ञासु भक्त ने भी कर्मयोगी श्रीकृष्ण के समक्ष मनोनिग्रह की दुष्करता प्रस्तुत की थी—

चचल हि मन कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याऽहं निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥

—हे कृष्ण ! मन तो बडा चचल, बलवान, जिद्दी और सुदृढ है, मैं तो उसका निग्रह हवा को पकडने की तरह अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। मनोविजय का मतलब ही है— मन का निग्रह करना, मन को वश मे कर लेना, बहुत ही कठिन काम है यह।[2]

मन को अपने वश मे करने का तात्पर्य है—'जा' कहते ही वह चला जाये और 'आ' कहते ही वह उपस्थित हो जाये। इसी प्रकार का आज्ञाकारी सेवक हो जाये तभी समझा जाएगा कि मन अपना हो गया है। किसी सेठ के सामने उसका नौकर खडा हो और उस समय सेठ किसी दूसरे आदमी मे बातचीत करना चाहता हो तो वह नौकर की ओर देखता है। नौकर फौरन समझ जाता है कि सेठ प्राइवेट बातचीत करना चाहता है इसलिए नौकर वहाँ से अन्यत्र चला जाता है, और पुन जरा सा सकेत पाते ही आकर उपस्थित होता है। इसी प्रकार मन को भी अभ्यास और वैराग्य से प्रशिक्षित और नियन्त्रित करना[3] पडेगा, तभी मनोविजय कहलायेगा।

दूसरी बात यह है कि मन विषयो और कषायो के सम्पर्क से इतना मलिन हो जाता है कि उसका आत्मा की आज्ञा मे रहना कठिन हो जाता है। अत मन की शुद्धि के बिना, वह सरल नही बनता और सरल बने बिना वह आज्ञाकारी और आत्माधीनस्थ नही बनता है। जब तक मन वैसा नही बनता, तब तक व्यक्ति मनोविजेता नही कहलाता। ज्ञानार्णव मे बताया गया है—

---

१. चाणक्यनीति १३/१२ २. भगवद्गीता ६/३४

३. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध.। —पातजल योगदर्शन १/१२

मन शुद्ध्यैव शुद्धिः स्यात्, देहिना नात्र संशय ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण, कायस्यैव कदर्थनम् ॥[1]

"इसमे कोई सन्देह नहीं कि प्राणियो के मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है । उसके बिना केवल शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है ।"

जब तक मन मैला है, तब तक तन का शृगार करना व्यर्थ है । संत कबीर ने तो स्पष्ट कह दिया—

मन लोभी मन लालची, मन चचल मन चोर ।
मन के मते न चालिए, पलक-पलक मन और ॥[2]

गणधर गौतम स्वामी से केशीकुमार श्रमण ने भी जब मनोनिग्रह के विषय मे पूछा तो उन्होने बडे मार्मिक शब्दों मे उत्तर दिया—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
त सम्म तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कथग ॥

—मन ही साहसिक एव भयकर दुष्ट घोडा है जो चारो ओर दौडता है, लेकिन मैं उस कथक घोडे को धर्मशिक्षा से काबू मे करता हूँ ।[3]

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वह मनरूपी घोडा प्रशिक्षित किया जा सकता है । परन्तु दु ख के साथ कहना पडता है कि वर्तमान युग का मानव और अनेक बातो का प्रशिक्षण लेता है, लेकिन मन को प्रशिक्षित करने के सम्बन्ध मे प्राय विचार नही करता, वह ऐसे प्रशिक्षण को अनावश्यक समझता है ।

मैंने कही एक कहानी पढी थी—एक राजा ने एक बार सात जगली घोडे पकडवाकर मँगाये । वर्षभर उन्हें खूब खिला-पिलाकर मोटे-ताजे बना दिये, उनसे कुछ भी काम न लिया गया । फलत वे स्वच्छन्दी घोडे बहुत ही ताकतवर और साथ ही खतरनाक हो गये । उन्हें तबेले मे बाँधना और खोलना भी कठिन हो गया । यहाँ तक कि उन घोडो के पास जाना भी खतरे से खाली नही था । अत राजा ने राज्यभर मे ढिढोरा पिटवाया कि जो सात मनुष्य इन सात घोडो पर सवारी कर लेंगे, उनका बहुत सम्मान किया जायेगा और अपनी सेना मे उनको अधिकारी नियुक्त किया जायेगा । इनमे से जो सर्वप्रथम आयेगा, उसे घुडसवार सेना का सेनापति बनाया जायेगा । यह घोषणा सुनते ही बहुत से लोग उन घोडो को देखने आये पर देखते ही उनके छक्के छूट जाते । फिर ७ बहादुरो ने यह बीडा उठाया । राजा ने प्रतियोगिता का दिन, समय और दूरी की सीमा तथा वापस लौटने की अवधि आदि सब बाते निश्चित कर दी । सौ मील तक घोडो पर सवार होकर जाना था, ७ दिन मे वहाँ तक पहुँचकर वापस लौटने की शर्त थी । सात दिनो मे जो सवार घोडे के साथ सही-सलामत पहुँच जायेगा, उसे विजयी माना जाएगा ।

---

१. ज्ञानार्णव पृ० २३४ २. कबीर दोहावली
३. उत्तराध्ययन सूत्र २३/५०

निश्चित दिन घोडे बाहर निकाले गये। सातों सवार उपस्थित हुए। हजारो दर्शक इस घुडदौड को देखने आये। सवारो के चढते ही घोडे उन्हें ठीक रास्ता छोड-कर जगल की ओर ले भागे। उन घोडो को काबू मे लेना बहुत ही मुश्किल था। सवार उन घोडो की पीठ पर अवश्य बैठे थे, लेकिन नही जैसे ही थे। घोडो पर उनका कोई काबू न था। फलत घोडो को वे सवार नही, घोडे ही सवारो को लेकर रफूचक्कर हो गये।

एक दिन बीता, दो दिन बीते, अभी तक उन सवारो और घोडो का कोई पता नही लगा। सभी चिन्तातुर थे। तभी तीसरे दिन एक घुडसवार लहूलुहान एव घायल हालत मे लौटा। घोडा भी घायल था। उसके बाद दूसरे ५ सवार भी उसी तरह लहूलुहान एव घायल अवस्था मे लौटे। जो पहला सवार था, वह अभी तक नही लौटा था। सातवाँ दिन हो गया, तब भी उसका कोई अता-पता न था। सभी लोग सोचने लगे—वह खत्म हो गया है, अब लौटने वाला नही। परन्तु सभी के आश्चर्य के बीच सातवे दिन सूर्यास्त से पहले ही वह गीत गुनगुनाता हुआ आ पहुँचा। वह और उसका घोडा दोनो ही स्वस्थ और प्रसन्न थे। उसमे अत्यन्त उमग थी, घोडे की आँखो मे भी अपने सवार के प्रति कृतज्ञता और प्रेम था।

राजा ने उसे देखकर धन्यवाद देते हुए कहा—'शाबाश युवक! सातो मे तुम ही अकेले सच्चे सवार लगते हो, बाकी के कोई सच्चे सवार नही हैं, उनकी सवारी घोडो ने ही की है।" राजा ने उस सवार को सेनापति बना दिया।

जो रहस्य सेनापति बने हुए सवार की सवारी का है, वही यहाँ मनरूपी घोडे की सवारी का रहस्य है। वह सवार केवल ८ दिन घोडे के साथ रहा। उसने सवार न बनकर साथी बनने की कोशिश की। इसलिए उसने घोडे की लगाम भी नही छुई, न घोडे को दिशादर्शन किया, न कोई इशारा ही किया। वह घोडे की पीठ पर था, पर नही जैसा ही। घोडे को यह मालूम नही पडने दिया कि वह है। घोडा पहले तो स्वच्छदी और खुला था, सवार केवल दर्शक था। घोडा जब थक जाता तो वह उसे विश्राम देता था, तथा उसके लिये भोजन और छाया की व्यवस्था करता था। जब वह पुन तरोताजा होकर दौडने को तैयार होता, सवार चुपके से उसकी पीठ पर सवार हो जाता, मानो सवार, सवार नही, केवल दर्शक है। उसके इस व्यवहार से घोडा चार ही दिनो मे उसका मित्र बन गया, वह विनीत और कृतज्ञ हो गया। जो अब तक पराया था, शत्रु-सा था, वह मित्र हो गया। अब वह सवार की इच्छा के अधीन होकर चलने लगा। यही उस सवार की उस घोडे पर विजय थी।

बन्धुओ! इस ससार मे लगभग तीन अरब मनुष्य होंगे। उन सभी को एक-एक घोडा मिला हुआ है। पर मैं आपसे पूछता हूँ कि उनमे से सच्चे सवार कितने हैं? मेरी दृष्टि से उनमे से सच्चे सवार इनेगिने ही निकलेंगे, अधिकांश तो घोडे के

साथ लटके हुए लहूलुहान उन घुडसवारों की तरह हैं, जिनके घोडे भी घायल हैं, स्वयं भी घायल हैं। जिन्हें अपने मनरूपी घोडे पर सवारी करना नही आता, उनकी यह जीवनयात्रा भारभूत ही सिद्ध होती है। वे मनरूपी घोडे पर सवार नही हैं, मनरूपी घोडा ही उन पर सवार है। जो अपने मनरूपी घोडे को मार-पीटकर घायल करके नहीं, उसके दर्शक बनकर धीरे-धीरे प्रेम से, आत्मीयता से अपने अनुकूल बना लेते हैं, अपनी इच्छा से चलाते है, वे ही सच्चे सवार हैं। मनोविजय का यही रहस्य है।

मन पर नियन्त्रण करने की सही विधि ज्ञात न होने से आज अधिकाश साधक उसे ठोक-पीटकर मारना चाहते है, परन्तु मनोविजय मारने से नही, साधने से होती है। मनुष्य की सेवा मे मन हर घडी ताबेदार सेवक की तरह तैयार खडा रहता है, वह कभी थकता नही, रुकता नही, कभी बूढा नही होता, सतत उद्यम उसका स्वभाव है, इच्छाएँ करते रहना और उनकी पूर्ति के पीछे भागते फिरने मे ही उसे आनन्द आता है। मन की शक्ति अपार है, वह सब कुछ कर सकता है, परन्तु उसमे स्वेच्छाचारिता का दुर्गुण है, जिसके कारण वह अनियन्त्रित रहता है। अनियन्त्रित मन मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देता है, वह जीवनलक्ष्य की ओर न ले जाकर इन्द्रियमुखो के बीहड म ले जाता है, वहाँ किसी न किसी रोग, शोक, कलह, कुसग, कुमार्ग या कुटेब से टकरा कर जीवन नष्ट कर देता है।

मनुष्य का मन पारे की तरह है। अशुद्ध पारा खा लेने पर जीवन से हाथ धोने की नौबत आजाती है, किन्तु वही पारा जब शुद्ध और सस्कारित हो जाता है तो अमूल्य औषधि बन जाता है। सस्कारहीन मन अशुद्ध पारे के समान मानव-जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है, जबकि सुसस्कृत और विशुद्ध मन जीवन को उन्नत, सुखी, महान्, उच्च और पवित्र बना देता है। मन की शक्तियाँ विलक्षण हैं। इसीलिए कहा गया है—

जित जगत् केन ? मनो हि येन।

—जगत् को किसने जीता ? जिसने मन को जीत लिया, उसने जगत् को जीत लिया।

'मनोविजेता जगतो विजेता''

—मन का विजेता जगत् का विजेता है।

जिसे आँखें नहीं देख सकती, कान नही सुन सकते, मन उसे भी आसानी से ग्रहण कर सकता है; बशर्ते कि उसकी चंचलता को रोककर पारदर्शी स्फटिक की तरह स्वच्छ बनाया जा सके। यद्यपि श्रोत्रादि इन्द्रियो का सहारा लेकर ही मन विषयो का सेवन करता है, तथापि कई बार इन्द्रियो का आश्रय लिये बिना भी मन विषयों और कषायो का चिन्तन, सेवन और आस्वादन करता है। इसलिए मन की प्रवृत्तियो पर चौकसी रखना और सतर्क रहना बहुत आवश्यक है। यदि मन असह-

योग करे, कुमार्ग मे चलने की हठधर्मी करे तो एक भी इन्द्रिय प्रयोजन की—काम की नही रहती। इसलिए पहले से ही मन को अपना सहयोगी और अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसीलिए कठोपनिषद् मे कहा गया है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मन प्रग्रहवान् नर ।
सोऽध्वन पारमाप्नोति, तद्विष्णो. परमपदम् ॥

—जो मनुष्य विवेकी सारथी के समान अपनी जागृत और सतर्क बुद्धि के द्वारा मन की लगाम को वश मे रखता है वह इस ससार मे पार होकर परमात्मा के परम-पद को प्राप्त करता है।[1]

जितेन्द्रियता—मनोविजयी होने के साथ-साथ साधक का जितेन्द्रिय होना भी बहुत आवश्यक है, क्योकि कई बार प्रबल इन्द्रियाँ अत्यन्त उत्तेजित होकर सयमी (साधु-सन्यासी) के मन को भी बलात् खीच लेती है अर्थात् उसके मन को भी विषयो की ओर ले जाती है। गीता मे कहा गया है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन[2]

इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ अपने पूर्वसस्कार एव अभ्यास के अनुसार मनुष्य को अहर्निश विभिन्न दिशाओ मे अपनी-अपनी ओर खीच ले जाती है। जीभ चाहती है—तरह-तरह के मिठाई, पक्वान्न आदि स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिले। आँखें सुन्दर दृश्य देखने को बार-बार लालायित रहती है, कान मधुर सगीत की खोज मे रहते है। जननेन्द्रिय उसे कामभोग की ओर प्रेरित करती है, घ्राणेन्द्रिय उसे सुगन्धित पदार्थ की ओर खीच ले जाती है। अगर मनुष्य असावधान (गाफिल-प्रमादी) रहता है, तो पाँच ही क्यो एक ही इन्द्रिय उसे विनाश के गर्त मे डालने म काफी होती है, पाँचो इन्द्रियविषयो मे आसक्त का तो कहना ही क्या ? कहा भी है—

कुरग-मातग-पतग-भृग-मीनाहता पचभिरेव पच ।
एक प्रमादी स कथ न हन्यते य सेवते पचभिरेव पच ॥

मृग श्रवणेन्द्रियविषय मे, हाथी स्पर्शेन्द्रियविषय मे, पतगा चक्षुरिन्द्रियविषय मे, भौरा घ्राणेन्द्रियविषय मे और जिह्वेन्द्रिय विषय मे आसक्त होकर अपने प्राण खो देता है। यो एक-एक इन्द्रिय मे आसक्त होकर प्राणी विनष्ट हो जाता है अत जो मनुष्य एक ही इन्द्रिय का प्रमादी होता है वह भी जब नष्ट हो जाता है तो पाँचो इन्द्रियविषयो के प्रमादी का तो कहना ही क्या है ?

कहने का मतलब यह है कि इन्द्रियो और मन के विषय असीम है, इनके सेवन से मनुष्य को कभी तृप्ति नही होती, वरन् आत्मविजय या आत्मज्ञान की महत्व-पूर्ण आवश्यकता बीच मे ही छूट जाती है, काम, क्रोध, लोभ, मोह मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या, विषयास्वादन, आदि हीनवृत्तियो के अधीन होकर मनुष्य की जीवनदिशा पूर्णतया

---

१ कठोपनिषद् १/३/९ २. भगवद्गीता, अ० ६

सांसारिक हो जाती है। ऐसी स्थिति मे अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, सामर्थ्य का भण्डार, नित्य, शाश्वत और अविनाशी आत्मा अपनी शक्ति को भूलकर इन इन्द्रियो की गुलाम बन जाती है।

कदाचित् मनुष्य बौद्धिक बल के आधार से शास्त्रो और ग्रन्थो से रट-रटाकर आत्मज्ञान पा भी ले तो वह केवल तोतारटन होगा, उस ज्ञान के अनुभवयुक्त न होने से अथवा आचरण से रिक्त होने से व्यक्ति इन्द्रियो के विविध प्रलोभनों से जल्दी छूट नही पायेगा। इसलिए इन्द्रियविजय के लिए सर्वप्रथम उसे इन्द्रियसयम का अभ्यास करने की आवश्यकता है। जिसकी इन्द्रियाँ वश म होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। जितेन्द्रिय का लक्षण मनुस्मृति मे इस प्रकार दिया गया है—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च, भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नर ।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रिय ॥

—निन्दा-प्रशसा सुनकर, सुखद-दु खद कोमल-कठोर वस्तु को छूकर, सुरूप-कुरूप को देखकर, सरस-नीरस वस्तु को खाकर तथा सुगन्ध-दुर्गन्ध वस्तु को सूँघकर जिसे हर्ष-विषाद नही होता उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिए।[1]

जो व्यक्ति इन्द्रियो मे आसक्त हो जाता है, उसकी सारी चेष्टाएँ, कुत्सित, घृणित, अदूरदर्शी एव क्षणिक सुखोपभोग के आसपास ही चक्कर लगाया करती हैं। क्षणिक इन्द्रियविषयसुखो से लक्ष्यपूर्ति मे कोई सहायता नही मिलती। उलटे, शक्ति के अपव्यय से निराशा, उत्तेजना, असतुष्टि और ग्लानि पैदा होती है। विषयभोगो मे या भोग्यपदार्थों मे मनुष्य को वास्तविक सुख नही मिल सकता। जिसे हम,सुख समझते है, उसके बदले मे बडे दु ख के रूप मे मूल्य चुकाना पडता है। जब तक वह काल्पनिक सुख नही प्राप्त होता, तब तक प्राप्त करने की बेचैनी, फिर भोगते ही समाप्त हो जाने पर पुन नये सिरे मे इन्द्रियो को प्रेरित करना पडता है, बार-बार विषयसेवन से रोग, क्लेश, दु ख, ग्लानि, शक्तिव्यय, शोक, पश्चात्ताप आदि न जाने कितनी हानियाँ उठानी पडती हैं। कोल्हू के बैल की तरह विषयभोगो की अन्धी दौड मे मनुष्य को कितना हैरान होना पडता है!

अत बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियो को बाह्यविषयो में स्वच्छन्द न भटकने देकर आत्मा की विकास यात्रा मे इन्हें सहायक बनाए, आध्यात्मिक उत्कर्ष मे इन्द्रियो का उपयोग करे। इन्द्रियविजय का अर्थ इन्द्रियो को बद करके या गठडी बाँधकर रख देना नही है, अपितु इन्द्रियो पर सयम और सावधानी रखी जाये। इन्द्रियाँ जब भी विषयो की ओर दौडें, तब उन्हें सावधानी से सम्हाला जाये, देखभाल रखी जाये और उनकी शक्ति को बर्बाद न होने दिया जाये, जिससे आत्मा की विकास यात्रा निर्विघ्नता से पूर्ण हो सके। इसीलिए उपनिषद्कार एक रूपक द्वारा इसे समझाते हैं—

---

१. मनुस्मृति २/६८

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।

अर्थात्—शरीर एक रथ है, आत्मा इस पर आरूढ होने वाला रथ का स्वामी (रथी) है। आत्मा को यह रथ मोक्ष पाने के लिए मिला है। इन्द्रियाँ इस रथ के घोडे हैं, ये विषयो की सडक या गोचर भूमि पर चलते हुए मुक्तियात्रा की ओर बढते हैं, रथ का सारथी है—मनुष्य की बुद्धि या विवेक। यदि वह सजग है तो इन्द्रियाँ अनिष्ट विषयो मे न भटककर कुशलतापूर्वक इन्द्रिय मनोयुक्त अपने स्वामी (आत्मा) को परमात्मा के निकट पहुँचा देती है।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियो को उपयोग करना, विषयो को जानना एकान्तत पापरूप नही है, ये अन्त करण की उचित क्षुधा तृषा को तृप्त करने का माध्यम हैं। देखना, सुनना आदि इन्द्रियविषय भी आवश्यक है। शरीर को इन उचित आवश्यकताओ को समय पर पूर्ण नही किया जाये तो जीवन का सन्तुलन बिगड जाता है, जिसका प्रभाव शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य पर पडता है। यदि इनका सदुपयोग किया जाये तो मनुष्य निरन्तर जीवन का मधुर रसास्वादन करता हुआ उसे सफल बना सकता है। इन्द्रियाँ शत्रु तो तब तक है, जब तक इनका उपयोग बाह्य-जीवन के सुखोपभोग मे करते हैं। इन्द्रियो की प्रबलता या सीमातिक्रमण या विषयलोलुपता ही आत्मकल्याण के मार्ग मे प्रबल शत्रुता का काम करती है। गीताकार ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ (विषय) के साथ राग और द्वेष सन्निहित हैं, जितेन्द्रिय को चाहिए कि उन (राग और द्वेष) के वश मे न हो, क्योकि ये दोनो ही आत्मकल्याण के पथ मे प्रबल शत्रु है।

जिन इन्द्रियो को आत्मविकास मे विघ्नकारक समझा जाता है, वे ही (विषयो के प्रति राग-द्वेष न हो तो) आत्मकल्याण का कारण बन सकती हैं, मानसिक चंचलता और आन्तरिक मलिनता का उदय इन्द्रियो के असयम से होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस मे ठीक ही कहा है—

इन्द्रिय-द्वार झरोखा नाना, तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना।
आवत देखहि विषय बयारी, ते हठि देहि कपाट उघारी ।।
जब सो प्रभजन उर गृह जाई, तबहि दीप विज्ञान बुझाई।
इन्द्रियसुरन्ह न ज्ञान सोहाई, विषयभोग पर प्रीति सदाई ।।

तात्पर्य यह है कि अनियन्त्रित इन्द्रियाँ बलात् विषयो की ओर खीच ले जाती हैं, तब ज्ञान-विज्ञान का दीपक विषयो के प्रबल अंधड से बुझ जाता है। विषयो के प्रति राग-द्वेषो मे स्वच्छन्द विचरण करती हुई इन्द्रियाँ विचार एव विवेक से थोडी

देर के लिए नियंत्रण में रखी जा सकती हैं। इतना करने से भी यह नही कहा जा सकता कि इन्द्रियाँ आपके वश मे हो गई। अनुकूल परिस्थिति या संयोग मिलते ही उनमे पुन: प्रबल उत्तेजना उठे बिना नही रहती। ऐसी स्थिति मे विचार-शक्ति कुंठित हो जाती है; एक आवेश के साथ विद्वान् माने जाने वाले लोग भी बलात् उन दुर्विषयो से जनित दुष्कर्मों की ओर खिंच जाते हैं। विचार जब तक सुदृढ नही होते तब तक यह खतरा उपस्थित हो सकता है, इसलिए अपने प्रत्येक विचार को संकल्प का रूप देना चाहिए। बहुत ही सतर्कता और सूक्ष्मता से यह देखते रहना चाहिए कि इन्द्रियाँ कही स्वच्छन्दता से हमे बलात् घसीट तो नही रही हैं। इन्द्रियो का स्वभाव जानकर उन्हे सही मार्ग पर चलाएँ। अपनी आन्तरिक निर्मलता बनाये रखने से इन्द्रियाँ सहसा उन्मार्ग मे नही जाती, संयमित होने लगती हैं। द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, मोह, क्रोध आदि से अन्त करण मलिन व दूषित बनता है, तब मनोभावनाओ मे मैत्री, आत्मीयता, सहानुभूति, दया, क्षमा आदि की प्रचुरता होती है तो आन्तरिक पवित्रता या श्रेष्ठता स्थिर रहती है। जब तक ऐसी स्थिति बनी रहती है, तब तक सहसा दूषित विकार उत्पन्न नही होने पाते और इन्द्रियाँ नियन्त्रित बनी रहती हैं।

सबसे आसान उपाय यह है कि अपना अधिकाश समय स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन, आत्मा और परमात्मा के चिन्तन-मनन मे या किसी महान् सत्कार्य, सेवाकार्य आदि मे लगाये रखे। जितनी देर तक आपका मन आन्तरिक शक्तियो के विचार क्षेत्र मे डूबा रहेगा उतनी देर तक इन्द्रियविषय शान्त रहेंगे। फिर भी यदि वे उठते हैं तो भक्तिमार्गियो ने एक समर्पणात्मक उपाय बताया है—इन्द्रियो के बहलाने का, उसे अजमाया जा सकता है—

> गोविन्द प्रणमोत्तमाग ! रसने ! त घोषयाहर्निशम् ।
> पाणी ! पूजय त, मन ! स्मर पदे ! तस्यालयगच्छताम् ॥

हे सिर ! तुम गोविन्द को प्रणाम करो, हे रसना ! तुम रातदिन उसके नाम का रटन करो, ऐ दोनो हाथो ! तुम उसकी पूजा-सेवा करो, हे मन ! उसका स्मरण करो और हे पैरो ! तुम उसके देवालय की ओर जाओ। आँखो ! तुम उसे देखो, कानो ! तुम उसे ही सुनो। इत्यादि तरीके से इन्द्रियविषयो के अधम उपयोग से बचने की युक्ति भक्तिमार्गियो ने बताई है। ज्ञानी आत्मा सम्यग्ज्ञानपूर्वक इसे आत्म-रमण की युक्ति बना सकता है।

आप भी वीतराग प्रभु के नाम-जप आदि के रूप मे कोई भी उपाय आजमा सकते हैं। मूल बात है—मन का संकल्पवान् होना, उसी से इन्द्रियो और उनके विषयो पर यथोचित नियन्त्रण रखा जा सकता है। इन्द्रियो को आत्मा की शत्रु नही, सेविकाएँ मानना चाहिए। ये अमर्यादित और स्वेच्छाचारिणी होती हैं, तभी जीवनलक्ष्य से गिराती हैं, किन्तु इनका सदुपयोग आत्मकल्याण मे साधक बनता है। यही जितेन्द्रियता का रहस्य है।

तप के बारह भेदो मे से एक भेद है—प्रतिसलीनता। औपपातिक सूत्र मे प्रतिसंलीनता के चार प्रकार बताये है—१ इन्द्रिय-प्रतिसलीनता, २ योग प्रतिसंलीनता, ३. कषाय प्रतिसलीनता और ४. विविक्त शयनासनप्रतिसलीनता।

इन्द्रियदमन या इन्द्रियनिग्रह के लिए यहाँ इन्द्रियप्रतिसलीनता शब्द प्रयुक्त है। योगदर्शन मे प्रत्याहार शब्द का जो अर्थ है, उससे विशद अर्थ है—प्रतिसंलीनता का। इन्द्रियप्रतिसलीनता का अर्थ है—इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से हटाकर अपने-अपने गोलक मे स्थापित कर देना। जैसा कि शकराचार्य ने 'दम' का अर्थ किया है—

विषयेभ्य परावर्त्य, स्थापन स्वस्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणा, स दम परिकीर्तित' ॥

वास्तव मे इन्द्रियो की गति बाहर की ओर है। आँख बाहर की ओर देखती है, कान बाहर की बात सुनता है, जीभ बाहर की वस्तु चखती है, नाक भी बाहर की गन्ध को ग्रहण करती है, स्पर्शेन्द्रिय भी बाहर की वस्तु का स्पर्श करती है। इस प्रकार इन्द्रियो का बाह्य जगत् से जो सम्पर्क है, उसे विच्छिन्न करके आन्तरिक जगत् से सम्पर्क स्थापित करा देना इन्द्रिय-प्रतिसलीनता का प्रयोजन है। इसके लिए समस्त इन्द्रियविषयो से उपरम मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, ताकि इन्द्रियाँ बाहरी विषयो से अपना सम्बन्ध तोड सके। इस प्रकार के इन्द्रियप्रतिसलीनता के अभ्यास से भी मनुष्य जितेन्द्रिय हो जाता है।

शरीरविजयी—यद्यपि इन्द्रियो पर विजय के साथ साथ शरीर पर विजय हो जाती है, तथापि शरीरविजय के अन्य पहलू भी है जिन पर विचार करना आवश्यक है। शरीर-विजय से तात्पर्य है—शरीरासक्ति पर विजय। शरीर धर्मपालन के या आत्म-विकास के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है, इसलिए साधनाकाल मे शरीर का सर्वथा त्याग कथमपि अभीष्ट नही है वैसे ही शरीर के प्रति मोह-ममत्व रखकर इसका अत्यधिक लाड-प्यार करना भी अभीष्ट नही है। शरीर एक रथ है। यह टूटा-फूटा, कमजोर या विषम होगा तो अपने गन्तव्य स्थान पर कदापि नही पहुँचा सकेगा, अधबीच मे ही मनुष्य को धोखा दे देगा, विषय-वासनाओ और वैषयिक पदार्थों के बीहड मे भटकाकर नष्ट कर देगा। शरीर की इस अशक्ति का प्रभाव मनुष्य के मन पर भी पडता है। मन की क्रियाओ की अभिव्यक्ति शरीर पर से होती है। मन जब भय आदि से काँपता है, तो वाणी, हाथ-पैर आदि सब अग काँपने लगते हैं। मन मे सदेह हो तो वाणी अस्पष्ट, आँखे स्थिर और अंग-प्रत्यग की क्रियाएँ ढीली हो जाती हैं, रोये खडे हो जाते हैं। मन के चौंकने से कान खडे हो जाते हैं। मन जब क्रुद्ध होता है तो सास की गति बढ जाती है, चेहरा लाल हो जाता है। पुत्रवात्सल्य से आनन्द विह्वलमन होने पर माता के स्तनों से दूध टपकने लगता है। मनोभावो को दबाने से अनेक विकार एव रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

शरीर की मुख्य आवश्यकताएँ हैं—आहार, वस्त्र, आवास तथा अन्य सुख-

सुविधाएँ। आहार शरीर की सबसे बडी आवश्यकता है, किन्तु केवल स्वादलालसा से आहार करने से, प्रतिदिन अत्यन्त गरिष्ठ, पौष्टिक, तामसिक भोजन करने से शरीर की क्षति ही अधिक होती है, अतिमात्रा मे आहार करने का परिणाम तो आप जानते ही हैं। ऐसा करने से अनेक रोग पैदा होंगे, ब्रह्मचर्य का नाश होगा, इसलिए आहार-विहार पर संयम रखना शरीरविजय के लिए अनिवार्य है। यही हाल वस्त्र और आवास का है। उनके उपभोग की भी एक सीमा निर्धारित न हो तो मनुष्य को अनेक दु ख आ घेरेंगे। सीमातिक्रमण करके वस्त्रादि की प्राप्ति और उसके पश्चात् उसकी सुरक्षा आदि की चिन्ता मे अनेक सक्लेशो का सामना करना पडता है। शरीर को सात्त्विक और उचित मात्रा मे सतुलित आहार चाहिए, परन्तु असयमी मनुष्य इसके बदले मास, मत्स्य आदि या अत्यधिक मिर्च-मसाले वाले तले हुए चटपटे गरिष्ठ या तामसिक भोजन का उपभोग करके शरीर को नष्ट कर डालता है, दूध आदि सात्त्विक पेय के बदले शराब, भाग, गाजा, अफीम, बीडी, सिगरेट आदि नशैली मादक उत्तेजक वस्तुओ का सेवन करके शरीर तो बिगाडता ही है, साथ ही अपने मे अपराधी और क्रूरवृत्ति को जन्म देता है, जीवन को अशान्त बना देता है, ज्ञान-तन्तुओ को उत्तेजित कर देता है। धीरे-धीरे शरीर अनेक रोगो का घर बन जाता है।

पाश्चात्य देशो मे इस प्रकार की आवश्यकताओ का अतिक्रमण करके लोग अशान्त है, वे अनेक रोगो से पीडित है, खासतौर से वे अनेक मानसिक रोगो के शिकार है। अमेरिका मे ११ व्यक्तियो मे से एक मानसिक शान्ति के लिए अनेक दवाइयाँ लेता है, नीद के लिए गोलियो का उपयोग करता है। ऐसी दवाइयो की शोध पर अमेरिका मे १०० करोड रुपये प्रति वर्ष खर्च किये जाते है। ये आँकडे बताते है कि अमेरिका मे लोग कितने अशान्त है।

शरीर श्रम का काम जहाँ मशीनो से लिया जाता है, वहाँ के लोग शारीरिक श्रम न करने के कारण पगु, आलसी, अकर्मण्य, पराधीन और अशक्त बन जाते हैं। उन्हें प्रतिदिन कोई न कोई दवा लेनी पडती है। इस प्रकार शरीर का सन्तुलन—सयम न रखने से लोग असयमी और पराधीन बन जाते है। ऐसे लोग न तो कोई आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं और न ही किसी प्रकार की शारीरिक मानसिक उन्नति।

सुख-सुविधाएँ बढ़ाने से शरीर-सुख बढ़ते हैं, इस भ्रम ने भारतीय जनता को और खासकर पाश्चात्य जनता को चौपट कर दिया है। शरीर पर चाहे जितनी सुख-सुविधाएँ लादी जाएँ, वह सुखी नही होता, सुख और शान्ति का सम्बन्ध तो मन से है। इसलिए अतिसुखभोग की कल्पना से भारतीय और पश्चिम के लोग आज अशान्त एव रोगाक्रान्त बने हुए है। शरीर मे वीर्य से उत्पन्न होने वाली शक्ति और स्फूर्ति, उत्साह और पराक्रम आत्मविकास की यात्रा के लिए उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य है। शरीर मे बल-वीर्य की प्रचुरमात्रा न रहे तो वह आत्मिक आदेशो का पालन कैसे कर सकेगा ? इसलिए जैसे वीर्य रक्षा आवश्यक है, वैसे ही शरीर

को अनावश्यक खान-पान, ऐश-आराम तथा निरर्थक सुख-सुविधाओ से लादकर उसकी शक्तियो का रोग, क्लेश, अशान्ति, दु ख, चिन्ता, ईर्ष्या, अहकार, काम, क्रोध आदि से क्षय कर डालने से बचाना भी आवश्यक है। अत्यधिक वीर्यपात, कामुकता, संभोग-क्रिया, खानपान के असयम, सुख-सुविधाओ का अतिमात्रा मे उपभोग, आदि ये सब शारीरिक शक्ति का ह्रास करने वाले हैं। इनसे मनुष्य की बुद्धि भ्रान्त होकर आत्मकल्याण का मार्ग छोड देती है। शक्ति का क्षरण हो जाने से शरीर की सहनशक्ति खतम हो जाती है। अगर मनुष्य अपने शरीर पर सयम रखे, तो उससे शारीरिक शक्तियाँ का असाधारण विकास सम्भव है। गीता मे इसे सुखदायक योग बताकर कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु खहा ॥

—जो व्यक्ति युक्त आहार-विहार करता है, कर्त्तव्य कर्मों मे युक्त चेष्टा (श्रम) करता है, जिसका सोना-जागना युक्त है, उसके लिए योग दु खनाशक होता है।

राममूर्ति जैसे पहलवान शरीरसयमरूप योग से ही असाधारण शक्ति के धनी हो सके थे। जिन लोगो ने शरीर के प्रति असयम रखा है, कामवासना की भट्टी मे, स्त्री-शरीर के प्रति आकर्षित होकर शरीर को झौका है, रुपहली चमक के पीछे अपने आत्मकल्याण को विस्मृत कर दिया है, उनके शरीर सूखे, निस्तेज, निर्वीर्य, शक्तिहीन दिखाई देते हैं। उन्होने अपने शरीर की विद्युत्शक्ति, प्राणशक्ति और ऊर्जाशक्ति का अनावश्यक दुरुपयोग किया है, जिससे वे दु खी, रोगी, अशान्त और अप्रसन्न दिखाई देते है। सचमुच वे अपने हाथो से अपनी शक्ति को नष्ट करने का अपराध करते है। शरीर के लिए बाह्यपदार्थो का अत्यधिक उपभोग भी सुख का कारण नही है। इस शरीर-विज्ञान को समझकर शरीर को यथायोग्य नियत्रण मे रखना ही शरीरासक्ति पर विजय है। कायोत्सर्ग द्वारा भी शरीर के प्रति ममत्व और अध्यास को छोडने का अभ्यास किया जा सकता है और विविध बाह्य-आभ्यन्तर तप के द्वारा भी।

शरीररूपी अश्व के रईस बनो, सईस नहीं—शरीरविजेता का अर्थ यह भी है कि शरीर के दास नही, स्वामी बनना। शरीर का दास बनने वाला व्यक्ति रात-दिन शरीर की परिचर्या करने मे जुटा रहता है, उसे और कुछ नही सूझता। वह शरीर भाव से उपर नही उठ पाता। शरीर को ही सर्वस्व समझता है, शरीर ही उसका सब कुछ है। परन्तु शरीर का स्वामी बनने वाला उससे यथोचित धर्मकार्य लेता है, सयम-पालन करता है, तप-जप की आराधना करता है, शरीर गलत मार्ग पर चलता है तो वह रोकता है।

एक जगह विद्यालय के दीक्षान्त समारोह के समाप्त होने के बाद दो स्नातक आचार्य के पास विदाई-आशीर्वाद लेने आये। उन्होने आचार्य-चरणो मे सविनय नमस्कार करके अन्तिम उपदेश देने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने कहा—"वत्स !

जाओ, रईस की संगति करो, स्वयं रईस बनो।" इस आशीर्वाद से दोनो स्तब्ध रह गये। सोचा—आज तक गुरुजी ने ऐश्वर्य, धन, विलासिता आदि से सावधान रहने का सदैव उपदेश दिया था, किन्तु आज विदाई वेला मे वे कैसा विरोधी उपदेश दे रहे हैं —रईसो की सगति करने और स्वय रईस बनने की !

दोनो शिष्यो—स्नातको की मुखाकृति पर से गुरुजी समझ गये कि वे असमजस मे पडे हैं। अत अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा—मैंने तुम्हें रईस बनने को कहा है, सईस नही। रईस और सईस मे बडा अन्तर है, समझ लो। देखो, यह शरीर एक घोडा है। सईस सबेरे उठकर घोडे का सानी-पानी, सार-संभाल, और ऐसी ही खबरदारी करता है, खुरपा करता है, नहलाता है, दाना-पानी देता है, कुछ घुमाता है फिर उसे चरागाह ले जाता है या हरी घास काटकर खिलाता है। धूप-वर्षा से उसकी रक्षा करता है। सुबह उठने से रात को सोने तक हर समय उसकी सेवा-चाकरी मे लगा रहता है। सईस नौकर है, दास है, स्वामी नही। और रईस वह है, जो उस पर लगाम डालकर सवारी करता है, वह उसे अपनी मजिल की ओर सरपट दौडाता है, ठीक न चलने पर कोडे भी लगाता है। कुमार्ग मे मुडने पर लगाम खीचकर रोकता है। वह शरीररूपी घोडे का स्वामी है। वह उसके कदम परमार्थ की मजिल की ओर बढाता है। दाना-पानी देने का ध्यान रखते हुए भी उसका उद्देश्य अश्व पर सवारी करना है। मैं भी यही चाहता हूँ कि तुम इस शरीररूपी अश्व के रईस यानी स्वामी बनो, सईस यानी दास न बनो। दूसरे शब्दो मे कहूँ तो केवल शरीर को ही सब कुछ समझने वाले बहिरात्मा न बनो, किन्तु शरीर को आदेश देकर धर्माराधना मे लगाने और उस पर सयम (नियत्रण) रखने वाले अन्तरात्मा बनो। यही मेरे उपदेश का तात्पर्य है।

दोनो स्नातक गुरुचरणों मे नतमस्तक होकर सहर्ष विदा हुए।

बन्धुओ ! शरीरविजय का रहस्य भी यही है कि शरीर के स्वामी बनो, दास नही। इस प्रकार जितात्मा का अन्तिम लक्षण यह है कि वह अपने मन, इन्द्रियो और शरीर पर विजय प्राप्त कर चुका हो। इसी बात को उत्तराध्ययनसूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है—

> एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
> दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह ॥ —२३/३६

—गौतमगणधर कहते है "एक (मन) को जीतकर मैंने पाँचो (इन्द्रियो) को जीत लिया, और पाँच को जीतकर दस (१ मन, ५ इन्द्रियाँ और ४ कषाय यो कुल १०) को जीत लिया। और दस को जीतकर मैं सर्वशत्रुओ को जीत लेता हूँ।"

यो जितात्मा के ७ लक्षण मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत किये है, इनके प्रकाश मे आप चिन्तन-मनन करें, और अपने जीवन मे जितात्मा के इन गुणो को लाने का प्रयत्न करें।

जितात्मा ही शरण्य और प्रगतिप्रेरक

गौतम महर्षि कहते हैं—जो जितात्मा होता है; वही दूसरों को—भव्य और जिज्ञासु आत्माओ को शरणदाता और प्रगतिप्रेरक हो सकता है। जो व्यक्ति स्वयं लक्ष्य के प्रति पुरुषार्थ करने से जी चुराता है, संकट आने पर जिसका धैर्य जवाब दे देता है, जो बौद्धिक सन्तुलन नही रख सकता, जिसकी बुद्धि यथार्थ हित-अहित का निर्णय नही कर सकती, जो अपने स्वभाव मे स्थिर नहीं रह सकता, अपने आप पर विजय नही प्राप्त कर सकता, जो परमात्मपद को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं कर सकता, तथा मन, इन्द्रियो और शरीर पर विजय प्राप्त नही कर सकता, तन-मन और इन्द्रियो का गुलाम बना हुआ है, शरीरासक्त है, जीवनमोही है, विषय-भोगो का लोलुपी बना हुआ है, वह स्वय ही अपने स्वरूप मे स्थिर नही है, तब दूसरों को क्या खाक शरण देगा ? जो स्वय ही देहाध्यास मे सराबोर है, वह आत्मविकास के लिए दूसरो को गति-प्रगति का मार्ग कैसे बतायेगा ? सत कबीर ने ऐसे लोगो के लिए उचित ही कहा है—

> पानी मिले न आप को, औरन बकसत छीर।
> आपन मन निसचल नही, और बँधावत धीर ॥

भावार्थ स्पष्ट है। जो व्यक्ति पोथियो से रट-रटाकर जितात्मा बनने का उपदेश दूसरो को देता है, परन्तु स्वय मे जितात्मा के लक्षण नही उतारता, वह व्यक्ति भी दूसरो के लिए शरणदाता और गति-प्रगति का मार्गदर्शक कैसे हो सकता है ? नेता वही होता है, जो दूसरो को साथ लेकर चलता है। पर जो दूसरो के मन को पढ नही सकता, अपने मन की स्वच्छता का प्रतिबिम्ब दूसरो के मन पर नही डाल सकता, वह दूसरो को साथ लेकर चल नही सकता अत नेता नही हो सकता। जिसके जीवन म जितात्मा का स्वरूप रोम-रोम मे रम गया है, जिसे स्वय अनुभव करके जितात्मपद को प्राप्त किया है, वही उन व्यक्तियो के लिए शरणदाता हो सकता है, जो शरीर, मन, इन्द्रियो, भौतिक पदार्थ आदि के वशवर्ती बनकर दुखी और भयत्रस्त बने हुए हे, साथ ही जो आगे बढने के लिये मार्गदर्शन चाहते हैं, उन्हें भी वही मार्गदर्शन दे सकता है। इसीलिये गौतम महर्षि का अनुभवसिद्ध उद्गार है—

> अप्पा जियप्पा सरण गई अ।

आप भी जितात्मा बनने का प्रयत्न कीजिए। *

६३. धर्मकार्य से बढ़कर कोई कार्य नहीं–१

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं जीवन के एक महान् सत्य का उद्घाटन करने जा रहा हूँ। गौतम-कुलक का यह ५१वाँ जीवनसूत्र है, जिसमे धर्मप्रेमीजनो के समक्ष जगत् के अनेक कार्यों मे श्रेष्ठ कार्य का निर्णय प्रस्तुत किया गया है। उसका अक्षरात्मक रूप इस प्रकार है—

"न धम्मकज्जा परमत्थि कज्ज"

—धर्मकार्य से बढकर श्रेष्ठकार्य और कोई नही है।

प्रश्न होता है—धर्मकार्य किसे कहते है ? उसकी पहचान क्या है ? तथा उससे बढकर श्रेष्ठकार्य और क्यो नही है ? आइए, इन प्रश्नो पर गहराई से विचार कर लें।

धर्मकार्य क्या है, क्या नहीं ?

सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि धर्मकार्य क्या है ? हम किसे धर्मकार्य कहें या समझें ? मेरी दृष्टि से धर्मकार्य वह है, जिससे आत्मशुद्धि हो, सवर (नये कर्मों का निरोध) और सकाम निर्जरा (कर्मों का आशिकरूप मे क्षय) हो, मुक्ति की ओर बढ़ने-बढाने का कार्य हो, जिस कार्य से मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र) की आराधना हो, जिस कार्य मे साध्य, साधन और साधक तीनो शुद्ध हो, जो कार्य नि स्वार्थ, निष्कामभाव से यश-कीर्ति, प्रसिद्धि आदि से रहित भावना से किया जाये।

इस परिभाषा की कसौटी पर प्रत्येक कार्य को कसा जाये तो आसानी से पता लग सकता है कि यह धर्मकार्य है या और कोई कार्य ? संसार मे अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। एक होता है सामान्य शारीरिक कार्य, आहार, विहार, नीहार, निद्रा आदि दैनिक कार्य हैं, जिन्हें न तो धर्मकार्य कहा जा सकता है और न ही अधर्मकार्य। मगर इन्ही कार्यों को विवेकपूर्वक करने से मनुष्य पापकर्मबन्ध से बच सकता है। साथ ही आहारादि के दान से अथवा किसी की सेवा के लिये निद्रात्याग आदि से धर्म भी हो सकता है, पुण्य भी, तथा इन्हीं कार्यो करें और उसम धर्म लाभ न हो, ऐसा भी हो सकता है। यह तो मनुष्य की भावना और विवेक पर तथा पात्रता और विधि पर निर्भर है। कई बार मनुष्य किसी को दान देता है, पर शुद्ध भावो से नही, उसके

पीछे नामना-कामना या प्रसिद्धि के भाव रहते हैं तो वहाँ पुण्य हो सकता है, धर्म नही। यदि दान की भावना के पीछे आशय कलुषित है, किसी को हानि पहुँचाने, मारने या ठगने की भावना से दान देता है तो वहाँ दान धर्म और पुण्य का कारण नही होता।

इसी प्रकार प्रत्येक अच्छे समझे जाने वाले कार्य के पीछे तीन प्रकार की परिणति होती है—शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभ-परिणति से कार्य करने पर पुण्य, अशुभ-परिणति से कार्य करने पर पाप और शुद्ध-परिणति से कार्य करने पर धर्म होता है। आप इसी गज से सभी सत्कार्यो को माप लीजिए। आपको हथेली मे रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि यह धर्मकार्य है, यह पुण्यकार्य है, और यह पापकार्य है।

जैसे—दान के कार्य को आमतौर पर धर्म समझा जाता है। परन्तु उस दान-कार्य के पीछे जरा स्वार्थ-भावना, यशकीर्ति, नामवरी या अन्य कोई सौदेबाजी की भावना हुई तो वह दान धर्मकार्य की कोटि मे न आकर पुण्यकार्य की कोटि मे आ जायेगा, परन्तु उक्त दान के पीछे अगर कोई नामना-कामना, प्रसिद्धि या यशकीर्ति की भावना नही है, नि स्पृह या निष्कामभाव से कोई व्यक्ति शुद्ध सात्त्विक वस्तु का योग्य सुपात्र को दान करता है, तो समझ लीजिये वह दान धर्मकार्य है। परन्तु इन दोनो से अतिरिक्त कोई व्यक्ति अपने पापो पर पर्दा डालने की दृष्टि से, या किसी मूढ महास्वार्थवश अथवा दूसरो की कोई चीज लेने की नीयत से दान देता है तो वह दान न तो धर्मकार्य होगा, न पुण्यकार्य ही, वह पापकार्य की कोटि मे परिगणित हो जाता है।

धर्मकार्य का दान—यह शुद्ध भावनापूर्वक किया जाता है, त्यागी, सुपात्र व परोपकारी व्यक्ति को सेवा, करुणा, दया, ज्ञानदान आदि की भावना के साथ नि स्वार्थ-भाव से जो दिया जाता है, वह दान धर्मकार्य की कोटि मे आ सकते है।

पुण्यकार्य की कोटि का दान—पुण्यकार्य की कोटि के दान मे दान देने वाले को बदले मे अपने नाम, यश या प्रसिद्धि की या किसी को परलोक मे स्वर्गादि की कामना रहती है। वह शुभ भावना से ही दान देता है, पर उसके दान के साथ प्रतिफल की आकाक्षा रहती है, इसलिए वैसा दान पुण्यकार्य की कोटि मे आता है।

आपने देखा होगा कि कई जगह उपाश्रयो, मन्दिरो या धर्मस्थानो मे कई लोगो के नाम की तख्ती लगी रहती है—"अमुक भाई ' ने हजार रु० दिये।" यद्यपि यह दान भी अच्छी भावना से होता है, परन्तु दान के साथ जो विज्ञापन का अश है, वह उसे धर्मकार्य की कोटि मे नही जाने देता।

विक्रम सवत् १९५६ मे जैनाचार्य पूज्य श्रीलालजी म० विहार करते हुए सौराष्ट्र के एक गाँव मे पधारे। गाँव मे प्रवेश करते ही कुछ झोंपडे बने देख उन्होने

ग्रामवासियों से उन झौंपड़ो के बनाने का उद्देश्य पूछा तो वे बोले—"महाराजश्री ! इस साल इस प्रदेश मे भयकर दुष्काल पडा । ग्रामवासी लोगों को दुष्काल-पीडित देखकर हमारे गाँव के बोहराजी स्वय यहाँ आये । उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा । इन बोहराजी की माँ चक्की पीसकर गुजारा चलाती थी । इनकी आर्थिक स्थिति पहले बहुत खराब थी । माँ के आशीर्वाद से उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई । किसी शहर मे इन्होने जमीन खरीदी थी । सौभाग्य से जमीन खोदते समय हीरे, पन्ने आदि जवाहरात निकले । बोहराजो का भाग्य चमका । गाँव की करुणाजनक स्थिति देखकर उन्हें अपने वे गरीबी के दिन याद आ गये । सोचा—'मेरे गाँव के लोग सकट मे रहें, और मैं अकेला मौज से रहूँ, यह स्थिति मेरे लिए असह्य है । इस समय गाँव वालो का दुःख दूर करना मेरा कर्त्तव्य है । मेरे पास एक दिन कुछ नही था, लेकिन ग्रामनिवासियो की सद्भावना से आज मेरे पास कुछ सम्पत्ति हो गई है । अत' मुझे अकेले ही इस दुष्काल सकट का निवारण करना चाहिए ।' वे ग्राम के बुजुर्गों से मिले, हाथ जोडकर कहा—इस समय मे आप लोगो की कुछ सेवा करना चाहता हूँ । गाँव वालो ने पहले तो कुछ आना कानी की । बाद मे बोहराजी की नम्रता और भावना देखकर उन्होने भोजन लेना स्वीकार किया । बोहराजी ने तत्काल दो कडाह चढवाये । और अलग-अलग रसोइये रखकर हिन्दुओ और मुसलमानो के लिए अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की । गाँव के सभी लोग यही भोजन करते हैं, दूसरे गाँवो के दुष्काल पीडित लोग भी । बोहराजी ने दुष्काल पीडितो के रहने के लिए ये झौपडे भी बनवा दिये है ।"

ग्रामवासी लोगो के प्रति बोहराजी की कर्त्तव्य भावना से दी गई दान की भावना को देखकर पूज्य श्रीलालजी म० ने प्रसन्नता व्यक्त की । यह है—पुण्यकार्य की कोटि का दान ।

पापकार्य की कोटि का दान—पापकार्य की कोटि का दान वह है, जिस दान से पापकार्य को प्रोत्साहन मिले, जो दान पापकार्य कराने के लिए दिया जाता हो । जो दान दूसरो को दु ख देने, ठगने, धोखा देने या कोई बडा स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दिया जाये वह दान भी पापकार्य की कोटि मे आता है ।

चोर को चोरी करके माल मँगाने के लिए भेट देना, चोर-डाकू को सहयोग देना, आश्रय देना अथवा मदिरालय, वेश्यालय, सिनेमा, नाचघर या मास की दूकान आदि खोलने के लिए दान देना । तस्करी, हत्या, डाका आदि के लिए इनाम देना—ये सब दान पापकार्य है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं, कि वेश्या, चोर, डाकू आदि कोई भी व्यक्ति अत्यन्त दयनीय हालत मे हो, उस समय उसे भोजन आदि अनुकम्पा लाकर देना (वेश्याकर्म आदि के लिए नही), अथवा, चोर आदि को वेश्याकर्म, चोरी

आदि छुड़ाने की दृष्टि से सहयोग देना पापकार्यजनक नही है, वह कार्य अनुकम्पा-दान की कोटि मे आयेगा।

जैसे दान की तीन कोटियाँ हैं, वैसे ही सेवा, परोपकार आदि सत्कार्यों की भी तीन कोटियाँ हो सकती है।

सेवा भी धर्म, पुण्य और अधर्मरूप—बहुत-से लोग सेवा को एकान्त धर्मकार्य अथवा एकान्त पापकार्य कह बैठते है, वह अनेकान्तवाद—सापेक्षवाद को नही समझने का फल है। जिस सेवा मे दूसरे के प्रति कोई स्वार्थ, सौदेबाजी, लाचारी, विवशता, देखा-देखी, यशकीर्ति या प्रसिद्धि की भावना है, वह सेवा धर्मकार्य रूप नही बनती, वह या तो पुण्यकार्य बनती है, या फिर अधर्मकार्य रूप।

एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर दूँ—

जिस समय कलकत्ते मे प्लेग का प्रकोप हुआ, उस समय स्वामी विवेकानन्द अपनी योग-साधना, ध्यान, उपासना आदि छोडकर नि स्वार्थ भाव से रोगियो की सेवा करने-कराने मे जुट गये। उन्होने अपने सभी शिष्यो और साथियो को भी सेवाकार्य मे लगा दिया।

स्वामीजी को चिन्तित और सेवा मे व्यग्र देखकर अनेक लोगो ने कहा—"आप तो एक सन्यासी हैं, योगी है, फिर यो साधारण मनुष्यो की तरह व्याकुल क्यो है ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"योगी होने के कारण ही तो मैं इतना व्यग्र और चिन्तित हूँ। सारा विश्व ही मेरे लिए कुटुम्ब है। दूसरो की पीडा को अपनी पीडा के समान अनुभव करना ही योग है। हाँ, योगी की अपनी कोई पीडा नही होती, न ही अपना कोई दु ख होता है। दूसरो का दु ख-सुख ही उसका दु ख-सुख है। प्रत्येक प्राणी की पीडा को आज मैं अपनी पीडा महसूस करता हूँ, और उनकी सेवा को अपनी सेवा मानता हूँ।"

पैसे की आवश्यकता होने पर जब स्वामी विवेकानन्द रामकृष्णमठ की भूमि बेचने को तैयार हुए तो उनके अनेक शिष्यो के कहा—"स्वामीजी! यह तो आपके गुरुदेव के स्मारक की भूमि है, क्या आप इसे भी बेच देगे ?" इस अवसर पर उन्होने उत्तर दिया—"आवश्यकता पडने पर इन मठ-मन्दिरो का क्या होगा ? जब तक इनकी उपयोगिता है, तब तक ये मठ, मन्दिर देवालय है, भगवान् के स्थान है, किन्तु जब वे पीडित मानवजाति के काम नही आते, तब मिट्टी के व्यर्थ स्तूपो के समान इनका कुछ भी मूल्य नही रह जाता। इस मठ का एक-एक कण पीडित मानव जाति की पीडा दूर करने मे लगेगा, तो गुरुदेव की आत्मा को अधिकाधिक सन्तोष, शान्ति होगी। जो सम्पत्ति पीडितो के दु खनिवारण और सेवा मे काम नही आ सकती वह मिट्टी है। उसका होना, न होना समान है। इसी प्रकार जो मनुष्य पर-पीडा से कातर नही होता, दु खी की सेवा नही करता, वह भी पृथ्वी पर भारभूत है, मानवता से दूर है। पीडितो की सेवा करना ही भगवान् की सच्ची सेवा-भक्ति है।"

कहना न होगा कि स्वामीजी के इस सेवाकार्य के फलस्वरूप महामारी का प्रकोप भी शान्त हो गया। किन्तु यही सेवा कोई विज्ञापन, यश-कीर्ति, प्रसिद्धि आदि की दृष्टि से या रो-झीककर सरकार के दबाब से, या भय से करता है तो वह धर्मकार्य की कोटि मे परिगणित नही होगी।

कष्ट सहकर करुणा विशुद्ध धर्मकार्य—कई बार दूसरो को कष्ट मे देखकर करुणा करने वाला सहृदय व्यक्ति अपने कष्ट, सकट, आफत या दु ख को भूल जाता है, कभी-कभी तो वह संकटो को चेलेंज भी दे बैठता है, और निर्भीक होकर उनका सामना करते हुए करुणा जैसे विशुद्ध धर्मकार्य को नि स्वार्थभाव से करता है।

बात उस जमाने की है, जब योरोप मे दास-प्रथा प्रचलित थी। अफ्रीकी देशो से छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ, दास-दासियो के रूप मे खरीदे जाते और योरोप मे ले जाकर अच्छे दामो मे बेच दिये जाते। इस घृणित व्यवसाय मे व्यापारियों को जहाँ करोडो रुपयो की आय होती, वहाँ खरीदे गये गुलामो की उतनी ही दुर्गति होती। केवल जीवित रखने भर के लिये अन्न और फटे-पुराने वस्त्र देकर उनमे जितना अधिक काम लेना सम्भव होता, लिया जाता। इन अभागे मानवो की यह करुण दशा देखकर अमेरिकी महिला 'जान ह्विटले' का हृदय करुणा से भर आया। उसने इस अमानवीय कृत्य के प्रति विद्रोह करने का निश्चय किया। जैसे ही सेनेगल से अफ्रीकी लडकियो का जहाज आया, उस दयालु महिला ने अपनी सारी सम्पत्ति लगाकर पूरा जहाज खरीद लिया। उन लडके-लडकियो से दास-दासी का काम कराने की अपेक्षा उन्हें लिखाना-पढाना और दस्तकारी का काम सिखाना प्रारम्भ कर दिया। दास-दासियो के प्रति इस प्रकार का मानवीय व्यवहार देखकर अमेरिकन गोरे चिढ गये और वे जॉन ह्विटले के प्राणो के ग्राहक बन गये। उन्होने जॉन को ऐसा न करने को कहा तो उस सेवाभाविनी ने उत्तर दिया—"मैं मातृहृदय नारी हूँ। इन मानवो की आन्तरिक पवित्रता को अच्छी तरह जानती हूँ। नारी, फिर वह चाहे किसी भी देश की हो, उत्पीडित मानवो को देख नही सकती। आप लोग कुछ भी करे, हम नारी और उससे सम्बद्ध बच्चो का तिरस्कार नही होने देंगे, बल्कि इनके जीवन की नई दिशा मे मोडने के लिए कुख्यात तक हो जाएँगे।" गोरो ने उसे तरह-तरह से सताया, पर जॉन ह्विटले अपने पथ से विचलित न हुई। वह लगातार इन लडके-लडकियो को शिक्षित करने मे लगी रही।

इन्ही लडकियो मे एक लडकी 'फिलिप ह्विटले' ने दासप्रथा के विरुद्ध आन्दोलन छेड दिया। उसने ऐसे प्रौढ और प्रखर विचार दिये कि अमेरिकन लोगो का मर्म हिल गया। दूसरी ओर सारे अफ्रीकी नीग्रो इस अमानवीय कुप्रथा को मिटाने के लिये बलिदान तक देने को तैयार हो गये। अन्त मे, जार्ज वाशिंगटन स्वय बहुत प्रभावित हुए, और उन्होने नीग्रो जाति को भी मानवीय अधिकार देने का निश्चय कर लिया। फिलिप ह्विटले नामक क्रान्तिकारिणी महिला के प्रति आज भी अमेरिका मे

बहुत आदर है। परन्तु फिलिप अन्त तक इस सफलता का श्रेय जॉन ह्विटले के त्याग को ही देती रही।

क्या इस प्रकार अनेक सकटो को झेलकर मानवीय करुणा का नि स्वार्थ निष्कामभाव से कार्य करना धर्मकार्य नही है ?

धर्मकार्य स्वान्त सुखाय—इस प्रकार के और भी धर्मकार्य हो सकते है, जो स्वान्त सुखाय हो, नि स्वार्थभाव मे, धर्म से ओत-प्रोत हो। कई बार ऐसे उत्पीडित मानवो की नि स्वार्थ सेवा करते हुए व्यक्ति को साम्प्रदायिक लोगो का कोपभाजन भी बनना पडता है। फिर भी उस व्यक्ति को हार्दिक प्रसन्नता होती है, उस सच्चे धर्मकार्य को करने मे। महात्मा गाधीजी के जीवन का एक प्रसग है—गाधीजी दक्षिण अफ्रीका मे थे। अफ्रीकन लोगो के स्वत्वाधिकार के लिए उनका आन्दोलन सफलतापूर्वक चल रहा था। ब्रिटिश सरकार के सकेत पर एक दिन मीर आलम नामक एक पठान ने गाधीजी पर हमला कर दिया, वे गम्भीररूप से घायल हो गये। सत्य, सेवा और अहिंसा से भरा मनुष्य का सद्धर्मकार्य ऐसा ही है, कि इसमे सुख की अपेक्षा दु ख ही अधिक उठाने पडते है। फिर भी धर्मकार्यार्थी मनस्वी उच्च आत्मा कभी अपने पथ से विचलित नही होते। गाधीजी अपने इस धर्मपुनीत कार्य पर डटे रहे। उन्हे लोगो ने स्वदेश लौट जाने का आग्रह किया, पर वे न लौटे। घायल गाधीजी पादरी जोसेफ डोक के मेहमान बने और कुछ ही दिनो मे यह सम्बन्ध और घनिष्ट हो गया।

पादरी जोसेफ डोक यद्यपि बेपटिस्ट पथ के अनुयायी और धर्मगुरु थे, तथापि गाधीजी के सम्पर्क से वे भारतीय धर्म और सस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुए। धीरे-धीरे वे भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम का भी समर्थन करने लगे। इसे देखकर पादरी डोक के एक अग्रेज मित्र ने उनसे आग्रह किया कि वे भारतीयो के प्रति इतना स्नेह और आदरभाव प्रदर्शित न करे, अन्यथा, उन्हें जातीयकोपभाजन बनना पड सकता है। इस पर डोक ने उत्तर दिया—"मित्र ! क्या अपना धर्म पीडितो और दुखियो की सेवा करने का समर्थन नही करता ? क्या गिरे हुओ को ऊपर उठाने मे मदद करना धर्मसम्मत कार्य नही है ? ईसामसीह भी तो ऐसा ही करते हुए क्रूस पर लटके थे, फिर मुझे घबराने की क्या आवश्यकता है ?"

मित्र की आशका सच निकली, कुछ ही दिन मे गोरे उनके विरोधी बन गये और तरह-तरह से सताने लगे। ब्रिटिश समाचारपत्र उनकी निन्दा करने लगे, लेकिन इससे पादरी डोक की सिद्धान्तनिष्ठा मे कोई अन्तर नही पडा। वे भारतीयो का समर्थन पूर्ववत् करते रहे। गाधीजी जहाँ पादरी डोक के इस त्याग से प्रभावित थे, वहाँ उन्हें गोरो द्वारा उत्पीडित होते देखकर चिन्तित भी थे। एक दिन गांधीजी ने सवेदना के स्वर मे कहा—"आपको इन दिनो अपने जातिभाइयो से भारतीयो के कारण कष्ट उठाने पड रहे हैं, उसके लिए मैं भारतीयो की ओर से आपका आभार

मानता हूँ। परन्तु आप पर जो सकट आ गया है, वह हमसे देखा नहीं जाता। आप हमारा समर्थन बद कर दे। परमात्मा हमारे साथ है। यह लडाई हम लोग निपट लेंगे।"

इस पर पादरी डोक के कहा—"मि० गाधी! आपने ही तो कहा था—धर्म एक और सनातन है और वह है पीडित मानवो की सेवा। प्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड शॉ (G. B Shaw) ने भी यही बात कही है—'There is only one religion, though there are a hundred versions of it अर्थात्—धर्म सिर्फ एक ही है यद्यपि उसके अनुवाद सैकडो हैं।' फिर यदि मैं साम्प्रदायिक कुरूढियो की अवहेलना करके सच्चे धर्म का पालन करूँ तो इसमे किसी को दु खित होने की क्या बात है? यह तो मैं स्वान्त सुखाय करता हूँ। पीडित मानवो की सेवा करते हुए मुझे जो प्रसन्नता होती है वह प्रसाद मुझे मिल ही रहा है। इसलिए ऐसे उच्च धर्मकार्य करने मे आने वाली बाह्य अडचनो, दु खो और उत्पीडनो की मुझे किंचित् भी परवाह नही।"

पादरी डोक अन्त तक इस धर्मकार्य को करते रहे।

वास्तव मे कष्ट सहकर नि स्वार्थ भाव से वे यह धर्मपालन करते, यही आदर्श धर्मकार्य है।

नि स्वार्थ दया या अनुकम्पा भी धर्मकार्य—दया या अनुकम्पा, जब नि स्वार्थ भाव से, बदले की आशा के बिना की जाती है तो वह भी धर्मकार्य की कोटि मे समझनी चाहिए। जब मनुष्य दूसरो को आज्ञा न देकर या दूसरो न कराकर स्वय कष्ट सहकर भी बिना किसी स्वार्थ के दया या अनुकम्पा करता है, तब उसे उस धर्मकार्य मे अनोखा आनन्द आता है। अन्तकृद्दशाग सूत्र मे कर्मयोगी श्री कृष्ण का जीवन अकित है। एक बार वे अपने गृहस्थपक्षीय छोटे भाई नवदीक्षित गजकुमार मुनि एव तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान् ने दर्शनकर हाथी पर बैठकर जा रहे थे, साथ मे अनेको सेवक थे। रास्ते मे उन्होने एक अत्यन्त जरा-जीर्ण जर्जर वृद्ध को देखा, जो घर के बाहर पडे एक विशाल ईंटो के ढेर मे से बहुत मुश्किल से एक-एक ईंट उठाकर अन्दर रख रहा था।

वृद्ध को ऐसी दयनीय हालत मे देखकर श्रीकृष्ण का हृदय अनुकम्पा से भर आया। उन्होने हाथी पर बैठे-बैठे ही एक ईंट उठाई और जहाँ वह वृद्ध ईंटें रख रहा था, वहाँ रख दी। श्रीकृष्ण के हाथ लगते ही उनके सेवको के हाथ लग गये। बहुत शीघ्र ही वह ईंटो का ढेर वहाँ से उठाकर यथास्थान रख दिया गया। वृद्ध आश्चर्य से गद्गद् होकर देखता रह गया। उसने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और इस उपकार के बदले उनका आभार माना।

श्रीकृष्ण का वृद्ध से कोई स्वार्थ नही था। अनुकम्पा से प्रेरित होकर ही उन्होने यह कार्य किया था। इसे धर्मकार्य नही कहेंगे तो क्या कहेंगे? पाश्चात्य विचारक रॉबर्ट

एण्ड्रयूज मिलिकन (Robert Andrews Millikan) ने ठीक ही कहा है—

"I conceive the essential task of religion to be—to develop the consciences, the ideals and the aspiration of mankind"

"मैं सोचता हूँ, धर्म का अत्यावश्यक कार्य—मानवजाति मे सद्-असद् विवेक-बुद्धि, आदर्श और महत्वाकाक्षाएँ विकसित करना है।"

प्राण देकर पाच व्यक्तियो की रक्षा—कई व्यक्ति इतने सहृदय और कर्त्तव्य-परायण होते है कि दूसरो की रक्षा के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देते हैं।

अमेरिका के पश्चिमीतट पर समुद्र मे एक जहाज तीव्रगति मे चला जा रहा था। किसे पता था कि थोडी देर मे मौसम परिवर्तन होने से जहाज को बचाना कठिन हो जाएगा। देखते ही देखते सहसा भयकर तूफान उठा। वह जहाज तूफान के उत्ताल थपेडो से टूट गया। उसमे बैठे अनेक खलासी समुद्र मे डूबने लगे। जो अच्छी तरह तैरना जानते थे, उनके प्राण बचने की तो कुछ आशा थी, पर जिन्होने अभी हाथ-पैर चलाना सीखा था, वे समुद्र मे तैरकर किनारे तक आ सकेंगे, इसका किसी को विश्वास न था।

उस जहाज पर एक हब्शी गुलाम भी सवार था। वह अपने प्राणो की परवाह किये बिना तुरत समुद्र के अथाह जल मे कूद पडा। उसने सोचा कि मनुष्य भी अगर मनुष्यो पर सकट के समय सहयोगी नही बनेगा तो क्या पशु-पक्षी उसकी सहायता करने आएँगे ? उसके मन मे एक बार भी यह विचार नही आया कि क्यो जान-बूझकर अपने जीवन को सकट मे डाला जाये। उसका विवेक रह-रहकर उसे इस धर्मकार्य के लिए प्रेरित कर रहा था कि दूसरो की सहायता के लिये अपने जीवन को खतरे मे डालना पडे, तो भी चिन्ता नही करनी चाहिये। और एकाएक समुद्र मे कूदकर उसने कठोर परिश्रम से एक-एक करके पाँच खलासियो को जीवित बचा लिया। अब उसका शरीर थककर चूर-चूर हो गया था। हाथ-पैर काम नही करते थे, फिर भी उसमे साहस की किरणें विद्यमान थी। छठी बार वह कूदना ही चाहता था कि जहाज का कप्तान बोल उठा—"बस, भाई! अब रहने दो। तुमने तो कमाल कर दिया। जाओ, अब तुम गुलामी से मुक्त हुए।" उसने कहा—"मेरी मुक्ति को अभी थोडी देर और प्रतीक्षा कर लेने दो, तब तक एक व्यक्ति की जान और बचा लूँ।" यो कहकर वह गुलाम पुन पानी मे कूद पडा और सचमुच वह सदा के लिए जीवन-मुक्त हो गया।

मैं आपसे पूछता हूँ, क्या उस अनपढ, शास्त्रज्ञान से रहित हब्शी गुलाम के इस सद्-असद्विवेक-प्रेरित मानवरक्षा-कार्य को आप धर्मकार्य नहीं कहेंगे ? उस हब्शी ने यह कार्य किसी फलाकाक्षा, इनाम या अन्य किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर नही किया था।

धर्मपोषक सभी कार्य, धर्मकार्य हैं—जिस तरह निष्कामभाव से की गई उपर्युक्त जीवदया, जीवरक्षा, सेवा, सहायता आदि के कार्य धर्मकार्य है, उसी तरह निष्कामभाव से किये गये अहिंसादि धर्म के पोषक अन्य कार्य भी धर्मकार्य हैं। निष्कर्ष यह है कि सद्धर्म की वृद्धि के लिये, धर्म को सुरक्षा के लिए, धर्म से विचलित होते हुए किसी व्यक्ति को स्थिर करने के लिए, अधर्मी या पापी व्यक्ति को उपदेश, सहयोग आदि से धर्मपरायण बनाने के लिए जितने भी प्रयत्न हैं, वे सब धर्मकार्य हैं, बशर्ते कि वे किसी मूढ़स्वार्थ, यशकीर्ति, प्रसिद्धि या साम्प्रदायिकता-पोषण आदि की दृष्टि न किये गये हो।

प्राचीनकाल से लेकर आज तक कई जैन आचार्यों, जैन साधु-साध्वियो द्वारा अधर्मी एव हिंसक व्यक्ति को या दुर्व्यसनी को उस अधर्म या पापकर्म से हटाकर सद्धर्म मे लाने के हजारो प्रयत्न हुए है, वे प्रयत्न अगर साम्प्रदायिकता से मुक्त हो तो धर्मकार्य मे ही परिगणित होगे। जहाँ तक मेरा ख्याल है, ये सब प्रयत्न किसी यशकीर्ति, तुच्छ स्वार्थ या साम्प्रदायिकता-पोषण के न होकर एकमात्र अधर्मी या पापी को धर्मपथ पर लाने के ही रहे है। इसलिए इन अहिंसादि को धर्मकार्य कहें तो कोई अत्युक्ति नही होगी। एक सच्ची घटना द्वारा इसे स्पष्ट कर दूँ—

प्रसिद्धवक्ता जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज ने अनेको शराबी, मासाहारी आदि दुर्व्यसनियो एव हत्याकर्म करने वाले पापियो तक को उपदेश, प्रेरणा और मार्गदर्शन देकर सद्धर्मपथिक बनाया था। एक बार की घटना है—वे आगरा से मालवा की ओर पधार रहे थे। जब वे कोटाशहर के निकट पहुचे तो रास्ते मे एक खटीक को सोये हुए देखा। उसके पास दो बकरे बँधे हुए थे, इससे उन्होने अनुमान लगाया कि यह कोई वधिक होगा। जब वह उठा तो जैनदिवाकरजी महाराज ने उसे उपदेश दिया—"भाई ! यह पाप तुम किसलिए करते हो ? तुम्हें पता है मनुष्य को अपने बुरे कर्मों का फल स्वय भोगना पडता है। जैसी पीडा तुम्हें होती है, वैसी ही पीडा इन मूक प्राणियो को मारने पर इन्हें भी होती है। और फिर हिंसा करने से मनुष्य कभी सुखी नही हो सकता। अत तुम इस क्रूर धधे को छोडो। आजीविका के लिए और भी तो सात्त्विक धधे है।"

जैन दिवाकर जी म० के उपदेश का उस खटीक पर जादू-सा असर हुआ। उसने कहा—"गुरु महाराज ! आपका कहना बिलकुल सच है। मैं आज से परमात्मा को सर्वव्यापी मानकर सूर्य-चन्द्रमा की साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक जीऊँगा तब तक कभी इस धधे को नही करूगा। परन्तु आपके साथ जो भक्त है, उनसे मेरी प्रार्थना है कि इस समय मेरे पास घर पर ३२ बकरे हैं। इन्हें ये खरीद लें और मुझे रुपये दे दें तो मैं दूसरा कोई सात्विक धधा अपना लूँ।"

विवेकी एव धर्मश्रद्धालु श्रावको ने तुरत उस खटीक से वे बकरे खरीद लिए और कुछ रुपये ऊपर से उसे भेंट के रूप मे दे दिये। इस प्रकार एक हिंसापरायण व्यक्ति को हिंसा छुडाकर धर्ममार्ग पर लगाना पवित्र धर्मकार्य है।

धर्म मे स्थिर करने के लिए बिना किसी तुच्छ स्वार्थ के दी गई सहायता भी धर्मपोषक या धर्मवृद्धिकारक है। अगर धार्मिक व्यक्ति अर्थसकट मे हो तथा विवश होकर अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए धर्मान्तर का मार्ग अपनाने को तत्पर हो, अथवा धर्ममार्ग को तिलाजलि देकर चोरी, डकैती अथवा अन्य अनैतिक धधा अपनाने को तैयार हो, ऐसी स्थिति मे उसे अहिंसादि शुद्ध धर्म मे स्थिर करने के लिए जो भी सहायता नि स्वार्थभाव से दी जाती है, वह धर्मकार्य है। एक उदाहरण लीजिए—

मारवाड मे उस वर्ष भयकर दुष्काल के कारण जालौर (मारवाड) का एक युवक—ऊदा मेहता गुजरात के एक प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर मे पहुँच गया। यौवन की मादकता गरीबी और फटेहाल दशा मे फीकी पड गई थी। उसकी आस्था जैनधर्म मे थी। पर्युषणपर्व के दिन थे। अत वह स्थानीय जैन उपाश्रय के बाहर दरवाजे पर बैठ गया ताकि आने-जाने वाले जैन भाई-बहन मेरी हालत देखकर तात्कालिक सहायता कर दें तो मै कुछ दिनो मे कोई स्वतत्र व्यवसाय करके अपने पैरो पर खडा हो सकूँ। परन्तु उसे बैठे-बैठे तीन घटे होगए, इसी बीच कई बहन-भाई आये-गये लेकिन किसी ने उससे नही पूछा कि तू कौन है ? कहाँ से आया है ? क्या चाहता है ? उसके मन मे रह-रहकर विचार आ रहे थे, अगर मुझे कोई भी नही पूछेगा तो फिर इस धर्म को छोडना पडेगा, नीति या अनीति किसी भी तरीके से पेट तो भरना ही होगा। इसी दौरान एक बहन जिसका नाम लच्छी (लक्ष्मी) बहन था, उधर से निकली। उसने उसे खिन्न और उदास देख पूछा—"भाई तुम कौन हो ? यहाँ खिन्न और उदास क्यो बैठे हो ?" 'भाई' शब्द सुनते ही ऊदा मेहता के हर्षाश्रु उमड पडे। वह बोला—"बहन ! तुम्ही एक बहन ऐसी निकली, जिसने 'भाई' कहकर मुझ से मेरी व्यथा पूछी। मैं मारवाड का जैन हूँ। वहाँ भयकर दुष्काल के कारण मैं किसी धधे की तलाश मे गुजरात आया हूँ। मगर यहाँ आने पर निराश हो गया। दो दिन से भूखा हूँ। सोचा था—उपाश्रय के द्वार पर बैठूँ, वहाँ तो कोई न कोई साधर्मी बहन या भाई मेरी दशा पूछकर शायद सहायता के लिए तैयार हो जाय। मै तो निराश होकर लौट रहा था, लेकिन इसी बीच तुमने मुझे पूछ लिया।"

लच्छी बहन उसे आश्वासन देकर अपने घर ले गई, भोजन कराया, पहनने के लिए वस्त्र दिये, रहने के लिये मकान दिया और व्यापार के लिए अर्थराशि दी। ऊदा मेहता, जिसका मन एक दिन धर्म मे विचलित हो गया था, लच्छी बहन की सहायता से पुन धर्म मे सुस्थिर हो गया। उसे सद्धर्म पर दृढ विश्वास हो गया। आगे चलकर यही ऊदा मेहता अपनी प्रतिभाशक्ति से गुजरात के चौलुक्य सम्राट के शासनकाल मे महामन्त्री बना।

क्या लच्छी बहन के द्वारा बिना किसी पूर्व परिचय के एक अज्ञात व्यक्ति को स्वार्थभावना से रहित होकर धर्म मे स्थिर करने हेतु सब प्रकार का सहयोग-प्रदान करना धर्मकार्य नही है ?

सेवा : धर्मकार्य का उत्तमांग—सेवा—नि स्वार्थ एवं निष्काम सेवा मानव-जीवन को उत्कृष्ट एवं पूर्ण बनाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण धर्मसाधना है। जो फल अनेक प्रकार की बाह्य तपश्चर्या से, विविध धार्मिक क्रियाकाण्डो से, धर्मानुष्ठानो, धार्मिक उपासना विधियो से प्राप्त होता है, वह नि स्वार्थ सेवा द्वारा अनायास ही मिल जाता है। स्व० वल्लभभाई पटेल ने कहा—पिछडे लोगो की सेवा ईश्वर-सेवा है। जैन धर्म-ग्रन्थ मे भी एक जगह उल्लेख है—**जे गिलाण पडियरइ, से मम पडियरई'**—अर्थात् भगवान महावीर ने फरमाया—जो ग्लान (रुग्ण एव अशक्त) की सेवा परिचर्या करता है, वह एक तरह से मेरी ही सेवा करता है। तथागत बुद्ध ने भी कहा था—'**जिसे मेरी सेवा करनी है, वह पिछड़े हुए पीडितों की सेवा करे।**' राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था—'मैं इन लाखो पीडितो की सेवा के द्वारा भगवान् की सेवा करता हूँ।'

महात्मा गाधीजी के आश्रम मे एक सस्कृत के विद्वान थे—परचुरे शास्त्री, जिन्हें दुर्दैव से कुष्टरोग ने आ घेरा। आश्रमवासी कुष्टरोगी के निकट जाने से डरते थे, कि कही हमे यह चेपी रोग न लग जाय। महात्मा गाधी को पता लगा तो वे स्वय शास्त्रीजी की सेवा मे पहुँच गये। स्वयं गाधीजी गर्म पानी से उनका घाव धोने लगे। शास्त्रीजी सकोचवश इन्कार करते रहे, परन्तु गाधीजी स्वय उनकी सेवा मे जुट गए। घाव धोकर दवा लगाना, दवा पिलाना, पथ्य-परहेज का ध्यान रखना आदि सब सेवाएँ गाधीजी प्रतिदिन नियमित रूप से करते थे। क्या यह रुग्ण-सेवा धर्मकार्य नही है ?

इसी प्रकार पिछड़े, पददलित, पीडित, बाढ-पीडित, भूकम्प-पीडित, महामारी-पीडित या आफत से घिरे, जल मे डूबते, कुँए मे गिरते, या अन्य किसी भी प्रकार की विपदा मे फँसे हुए सकटग्रस्त व्यक्ति या वर्ग की नि स्वार्थ सेवा धर्मकार्य की कोटि मे ही परिगणित की जाएगी। इसी प्रकार अनाथ, किसान वर्ग, दीन-दु खी, विधवा, पीडित महिला, अस्पृश्य कही जाने वाली जाति आदि की सेवा करना भी धर्मकार्य है उन्हें व्यसनमुक्त और न्यायनीति युक्त बनाना भी।

धर्ममय या अहिंसक-समाज रचना का प्रयोग भी धर्म-सेवा कार्य—समाज की हर प्रवृत्ति को धर्म (अहिंसा, सत्य, नीति, न्याय आदि) से अनुप्राणित करने का प्रयोग इसमे जाति-पाँति के, या साम्प्रदायिक, प्रान्तीय या भाषा सम्बन्धी भेदभाव के बगैर सार्वजनिक सेवाभाव से करना भी धर्म-सेवा का कार्य है। ऐसे प्रयोग की प्रत्येक प्रवृत्ति लोक सस्था या व्रतबद्ध लोकसेवक सस्थाबद्ध होती है, तथा सप्त कुव्यसनो का त्याग करके नीति, न्याय, अहिंसा आदि की तराजू पर तौलकर ही महाव्रती साधु-साध्वियों के मार्गदर्शन से सारे कार्य होते हैं। लेन-देन के मसले, या अन्य कोई पारस्परिक झगड़े भी आंशिक ढग से परस्पर समाधान से निपटाये जाते हैं। महात्मा गांधीजी और सन्त विनोबा ने ऐसे कई प्रयोग हमारे देश मे किये हैं।

दान, शील, तप और भावरूप धर्म का आचरण भी धर्मकार्य—जैनाचार्यों ने दान, शील, तप और भाव इन चारो को धर्म का—व्यावहारिक धर्म का अंग माना

है। जो व्यक्ति इहलौकिक या पारलौकिक किसी भी स्वार्थ, भय, प्रलोभन, विषयसुख, धन, सन्तान, स्वर्ग आदि की कामना और वाछा का त्याग करके केवल निर्जरा—आत्मशुद्धि—कर्मक्षय की वृद्धि से या वीतरागता प्राप्त करने की दृष्टि से इन चारो का आचरण करता है, इस धर्मचतुष्टय के आचरण के पीछे किसी प्रकार की बदले की भावना सौदेबाजी, नामबरी, प्रसिद्धि, यश-कीर्ति या स्वार्थ की भावना नही है, तो समझना चाहिए यह धर्मकार्य है।

धर्मकार्य की कसौटी—जैनशास्त्र दशवैकालिक सूत्र मे तप और आचार (धर्माचरण) के सम्बन्ध मे बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है—

> नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो परलोगयट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो कित्तिवन्न-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नन्नत्थ णिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ॥
> नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
> नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
> नो कित्तिवन्न-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
> नन्नत्थ आरहतेहि हेऊहि आयारमहिट्ठिज्जा ॥

अर्थात्—किसी इहलौकिक प्रयोजनवश तपश्चर्या न करो, न किसी परलोक के प्रयोजनवश तप करो, न कीर्ति, वर्ण (यश), शब्द (प्रशसादि शब्द) या श्लोक (प्रशस्ति आदि) के लिए तपश्चरण करो, केवल एकमात्र निर्जरा (कर्मक्षय द्वारा आत्मशुद्धि) के लिए तपश्चरण करो।

इसी प्रकार इहलोक के किसी स्वार्थवश ज्ञानादि पच आचार का पालन न करो, न परलोक की किसी आकाक्षावश ज्ञानादि पचाचार का पालन करो, न कीर्ति, यश, प्रसिद्धि, नामबरी प्रशसा आदि के लिए आचार का पालन करो, किन्तु एकमात्र वीतरागता प्राप्ति के प्रयोजन से आचार का पालन करो।

यह है तपश्चरण और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के पालन के पीछे शुद्ध धर्मदृष्टि का स्पष्टीकरण।

तात्पर्य यह है कि दान, शील, तप, भाव या पाँचो आचार तभी धर्मकार्य होगे, जबकि ये उपर्युक्त कसौटी पर पूरे उतरे। जहाँ दान, शील, तप और भाव के पीछे देखादेखी, शर्मा-शर्मी, दबाव, भय, लोभ, आदि की प्रेरणा होगी, जहाँ अर्थप्राप्ति का प्रयोजन होगा, जहाँ यश, कीर्ति, प्रसिद्धि, प्रशसा, अहकार, गौरव आदि की स्पृहा होगी या इस लोक या परलोक से सम्बन्धित कोई विषयभोगेच्छा होगी, या किसी प्रकार की फलाकाक्षा होगी, वहाँ ये सब धर्मकार्य की कोटि मे परिगणित नही होगे।

एक व्यक्ति अहिंसा का पालन करता है, किन्तु करता है, केवल दिखावे के लिए, इसलिए जब कोई देखता है, तब बहुत ही फूंक फूंककर चलता है, किन्तु जब कोई

नही देखता, तब वह अन्धाधुन्ध चलता है। इसी प्रकार सत्यव्रत तो ग्रहण कर लिया है, पर बहुत-सी बाते माया-कपट से इस प्रकार बोलता है, जिससे सुनने वाला समझता है, यह सत्य बोलता है, परन्तु होता है, वह झूठ ही। आत्मा की वफादारी से बोला जाने वाला सत्य ही वस्तुत धर्मकार्य हो सकता है। इसी प्रकार अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह भी प्रदर्शन न हो या वे इहलौकिक-पारलौकिक आकाक्षा से ओतप्रोत न हो, तभी धर्मकार्य की कोटि मे आ सकते हैं।

जैनशास्त्रो मे सम्यग्दर्शन को एव सम्यग्ज्ञान को धर्म बताया गया है क्योंकि ये मोक्षमार्ग के अग है। परन्तु सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन धर्मकार्य तभी कहलाएँगे, जब वे आचार (दर्शनाचार और ज्ञानाचार) मे परिणत हो, क्रियान्वित हो। कोई व्यक्ति देव, गुरु, धर्म का पाठ गुरु से पढ़ या सुनकर यह मान बैठता हो कि मेरे म सम्यग्दर्शन आ गया है तो यह भ्रान्ति है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन की (निश्चय और व्यवहार से) बडी-बडी बाते बघारता हो, किन्तु जीवन मे सम्यग्दर्शन न आया हो, वहाँ साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, कट्टरता हो, सापेक्षदृष्टि या समन्वय दृष्टि (अनेकान्तवाद) का अश न हो, दूसरो को मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि तथा अज्ञानी या मिथ्याज्ञानी कहने मे शूरवीर हो, जीवन मे भौतिक दृष्टिपरायणता हो, बाते आध्यात्मिकता की बघारता हो लेकिन दृष्टि मे पौद्गलिक पदार्थों, भौतिक सुख-सुविधाओ की आकाक्षा हो, तो ऐसा कागजी या पुस्तकीय सम्यग्दर्शन धर्मकार्य नही हो सकता। इसी प्रकार जैनागमो या धर्मशास्त्रो की भाषाज्ञान की दृष्टि से व्याख्या लम्बी-चौडी कर लेता हो, तथा आजीविका, प्रसिद्धि या अन्य सासारिक प्रयोजनवश शास्त्र का उपदेश देता हो, पर जीवन मे शास्त्रीय ज्ञान का अश भी उतरा न हो तो वह सम्यग्ज्ञान, धर्मकार्य नही होगा।

इसी प्रकार अहिंसादि तथा तपश्चर्या आदि चारित्राचार या तप-आचार केवल प्रदर्शन के लिए हो, अन्तरग मे आत्मसाक्षी से ये दोनो आचार निष्ठापूर्वक जीवन मे न उतरे हो तो ये धर्मकार्य मे कैसे समाविष्ट होगे ?

बन्धुओ! इन सब कसौटियो पर कसकर धर्मकार्य को ही जीवन मे प्राथमिकता दीजिए। वही सब कार्यों म श्रेष्ठ है। अभी धर्मकार्य के सम्बन्ध म कई अन्य पहलुओ से विचार करना अवशिष्ट है, अगले प्रवचन मे उस पर प्रकाश डाला जायेगा। ❋

६४. धर्मकार्य से बढ़कर कोई कार्य नहीं—२

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले प्रवचन मे मैंने आपके समक्ष धर्मकार्य के सम्बन्ध मे काफी स्पष्टीकरण किया है, फिर भी कुछ पहलू और अवशिष्ट रहे हैं, जिनके विषय मे आज विश्लेषण करना आवश्यक समझता हूँ। अत इस प्रवचन मे पुन उसी ५१वे जीवनसूत्र पर विवेचन करूँगा। विषय कोई गूढ़ नही है, परन्तु जब सैद्धान्तिक दृष्टि से उस पर चिन्तन-मनन किया जाता है, तो गहराई मे उतरना पडता है। मेरा विश्वास है कि अगर आप ध्यान से सुनेगे तो इस विषय को सूक्ष्मता से हृदयगम कर सकेंगे।

अन्य कार्यों से पहले धर्मकार्य क्यो ?

जगत् मे अगणित ऐसे कार्य है, जिन्हे न तो हम धर्मकार्य कह सकते है और न ही पापकार्य। शरीर-सम्बन्धी जितने भी कार्य है, जैसे कि नीद, भोजन, चलना-फिरना, सोना-जागना, पीना, उठना-बैठना आदि न तो अपने आप मे धर्मकार्य है, न ही पापकार्य, इन क्रियाओ से सम्बन्धित भाव के अनुसार ही उनके धर्म, पुण्य या पाप होने का अनुमान लगाया जाता है। इसलिए इतना कहना होगा कि सेवा, दया, करुणा आदि जैसे सीधे धर्मकार्य है, वैसे ये सीधे धर्मकार्य नही है। इसके अतिरिक्त ससार मे और भी कार्य है, जिन्हे हम धर्मकार्य नही कह सकते—जैसे विवाह के रीति-रिवाज, मृतक के सस्कार कर्म, जातकर्म, नामकरण, वस्त्रपरिधान, व्यापार, धधा, नौकरी, कल-कारखाना चलाना, खेती करना, बगीचा लगाना, वृक्षारोपण, मजदूरी, नौका चलाना, कार चलाना, मकान बनवाना, दवा बनाना, पतग उडाना, रखवाली करना आदि अगणित क्रियाएँ। ये सब क्रियाएँ धर्म, पाप या पुण्य तभी कहलाती हैं, जब इनके साथ धर्म, पाप या पुण्य की वृत्ति या मर्यादा सलग्न हो। यदि कोई क्रिया धर्ममर्यादा मे आती है, कर्तव्यभावना से की जाती है, सेवा की दृष्टि से की जाती है, या दया, करुणा, सहानुभूति आदि की दृष्टि से की जाती है, तो वह धर्म करार दे दी जाती है, यदि उस क्रिया के पीछे अपनी नामबरी, प्रसिद्धि, यशकीर्ति या मामूली स्वार्थ की भावना है तो वह पुण्यजनक क्रिया हो जाती है, और जहाँ दूसरो को हानि पहुँचाने, सताने, दूसरो का हक छीनने, हिंसा, झूठ या बेईमानी करने आदि की दृष्टि से कोई क्रिया की जाती है, वहाँ वह क्रिया पापजनक हो जाती है।

अब रहा धर्मक्रियाओ का प्रश्न। वे ही धर्मक्रियाएँ धर्मकार्य मे गिनी जा सकती हैं, जिनके पीछे शुद्ध धर्मतत्त्व (अहिंसा, सत्य, न्याय, नीति आदि) का पुट हो,

जो शुद्ध धर्म भावना (साम्प्रदायिकता, सम्प्रदायवृद्धि की भावना नहीं) से ओतप्रोत हो। जो धर्मक्रियाएँ यन्त्रवत् की जाती हों, जिन्हें तोता-रटन की तरह रट-रटाकर धड़ाधड़ बोलकर या मशीन की तरह क्रियाएँ करके पूरी की जाती हो, जिनका न तो अर्थ समझा जाता हो, न ही उसका प्रयोजन, वे धर्मक्रियाएँ धर्मकार्य की कोटि मे कैसे आ सकती हैं ?

जो क्रियाएँ सामाजिक रीति-रिवाज या रूढ़ि-रस्म के तौर पर की जाती हो, जैसे वैवाहिक भोज, मृतभोज आदि वे धर्मकार्य की कोटि मे नही आती।

विवेकवान् धर्मनिष्ठ पुरुष धर्मकार्य के अतिरिक्त अर्थ-काम सम्बन्धी कार्यों को गौण मानता है। धर्मज्ञ व्यक्ति एक ओर अर्थकार्य या कर्मकार्य हो, उसे गौण समझकर धर्मकार्य को पहले करता है। धर्मकार्य को प्राथमिकता देने के पीछे कारण यह है कि अर्थकार्य, कर्मकर्य या सासारिक रीतिरिवाज आदि से सम्बन्धित स्वार्थपोषक कार्य तो अनन्तकाल से होते आ रहे है, परम्परागत सस्कारवश मनुष्य उन्हें करता आया है, उनके करने का अवसर फिर भी मिल सकता है, लेकिन धर्मकार्य को करने का अवसर बहुत ही मुश्किल से मिलता है। जब कभी धर्मकार्य से धर्मोपार्जन करने का अवसर आता है, तब पूर्वकुसस्कारवश मनुष्य या तो उसके प्रति अरुचि, अनुत्साह या अश्रद्धा प्रदर्शित करता है, या फिर वह उसे टाल-मटूल करने का प्रयत्न करता है, शरीर की रुग्णता, असामर्थ्य, समय का अभाव आदि का बहाना बनाता है। इस प्रकार धर्मकार्य का अवसर आता है तो भी मनुष्य नही कर पाता। इसलिए कविश्री धर्म-प्रेरणा देते हुए कह रहे है—

धर्म की पूजी कमाले, कमाले जीवा, जीवन बन जायेगा ।।ध्रुव।।
बागे जहाँ मे अपना जीवन-पुष्प सुगन्ध बनाले, बनाले जी जी ब ।।१।।
अखिल विश्व के दलित वर्ग की सेवा (का) भार उठाले २, जी जी. ब ।।२।।
मोहपाश के दृढ बन्धन से अपना पिण्ड छुडाले २, जी जी ब ।।३।।
राग-द्वेष का जाल बिछा है, दूर से राह बचाले २, जी जी. ब ।।४।।

कितनी सुन्दर प्रेरणा है कवि की! पचतत्रकार ने भी धर्मविहीन दिवस बितानेवाले को मृतवत् घोषित किया है—

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकार भस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति ॥[1]

जिस व्यक्ति के दिन धर्मकार्य के बिना व्यतीत होते है और आते-जाते हैं, वह लोहार की धोकनी की तरह श्वास लेता हुआ भी जीवित नही है।

उत्तराध्ययनसूत्र मे धर्मकार्य करते हुए रात्रि व्यतीत करने को जीवन की सफलता बतायी गई है, इसके विपरीत जो व्यक्ति अधर्मकार्य मे अपनी रात्रि बिताता है, उसका जीवन असफल बताया गया है—

---

१. पंचतन्त्र ३/९७

" धम्मं च कुणमाणस्स सफला जंति राइओ।
अहम्म कुणमाणस्स अफला जंति राइओ ॥

—धर्मकार्य करने वाले व्यक्ति के दिनरात सफल होते है और अधर्मकार्य करने वाले व्यक्ति के दिनरात असफल व्यतीत होते है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य जैसा जो कुछ धर्म, पुण्य या पापकार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य ही भोगना पडता है चाहे वह फल इसी जन्म मे मिल जाये या अगले जन्म मे। अत धर्मकार्य को प्राथमिकता देने से यहाँ और वहाँ सर्वत्र उसका जीवन सुख-शांतिसम्पन्न बनेगा।

एक बात और विचारणीय है कि बुढापा आने पर इन्द्रियाँ क्षीण होने पर या रोगाक्रान्त होने पर मनुष्य धर्मकार्य नही कर सकता, इसलिए भी धर्मकार्य का अवसर नही चूकना चाहिए।

धर्मज्ञ व्यक्ति धर्मकार्य को कैसे प्राथमिकता देता है ? इसका उदाहरण लीजिए—घटना सन् १९५९ की विदर्भ के एक जैन श्रावक की है। प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष की आषाढी पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा तक वहाँ बहुत धार्मिक प्रवृत्तियाँ हुईं। उक्त जैन श्रावक के घर म भी किसी ने ८ उपवास किये थे। इस लम्बी तपस्या के उपलक्ष मे धर्मप्रभावना की दृष्टि से पारणे के दिन अपने समाजवालो को उसने प्रीतिभोज देने का निश्चय किया। भोज या तपोमहोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए उसने अपने परिचित सज्जनो को पोस्ट द्वारा आमत्रणपत्र भी भिजवा दिया। पारणे से पहले दिन मिष्टान्न आदि बनाकर तैयार कर लिये गये। लगभग दो हजार मनुष्यो की भोजन सामग्री बना ली गई। परन्तु पूर्वरात्रि को अकस्मात् भीषण वर्षा होने के कारण स्थानीय नदी म भयकर बाढ आ गई। गरीबो के कई झोपडे उसके प्रवाह मे बह गये। बाढपीडित गरीब लोग बे-घरबार हो जाने से आसू बहा रहे थे। यह सब दृश्य देखकर उस जैन श्रावक का हृदय करुणा से भर आया। फलत मानवता के नाते उसने बाढ-पीडित दु खितो के आँसू पोछ डालने का सकल्प किया। अपना यह विचार आगन्तुक अतिथियो और निमत्रित सज्जनो के समक्ष प्रस्तुत किया—"भाइयो ! यद्यपि मैंने यह रसोई आप ही के लिए बनवाई है, तथापि गतरात्रि को अकस्मात् आई हुई बाढ के कारण बहुत-से लोग बेघरबार हो गये है तथा भूख से तडफ रहे है। मेरी इच्छा है कि यह भोजन उन्हे खिला दिया जाये। जिस प्रकार हम भाई-भाई है, उसी प्रकार वे भी तो हमारे भाई है। आपकी सेवा के मौके तो मुझे और भी मिलते रहेंगे, किन्तु उन भाइयो की सेवा-सहायता करने का इतना श्रेष्ठ मौका भला और कब मिलेगा ?"

आगन्तुको ने उक्त श्रावक के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इतना ही नही, किन्तु उस रसोई को बाढपीडित लोगो मे वितरित करने के काम मे भी सहर्ष सहयोग दिया।

बन्धुओ ! देखा आपने, धर्मज्ञ व्यक्ति किस प्रकार लौकिककार्य को गौण करके धर्मकार्य के अवसर का लाभ उठा लेता है।

कई बार मनुष्य के सामने एक ओर सासारिक कार्य के लिए जोर दिया जाता है, दूसरी ओर उसे धर्मकार्य के प्रति रुचि रहती है। ऐसी स्थिति मे धर्मनिष्ठ मनुष्य सासारिक कार्य के साथ लगे हुए प्रलोभनो सासारिक विषयभोगो के आकर्षणो या भयो को तिलाजलि देकर एकमात्र धर्मकार्य को ही स्वीकार करता है।

सौराष्ट्र के एक गांव मे उसका पीहर था। अचानक ससुराल से तार आया " भाई चल बसे।" परन्तु माता-पिता ने अपनी पुत्री को इस आघातजनक समाचार से वज्राघात-सा लगेगा, इसलिए उसे बताया नही, परन्तु उसे किसी तरह पता लग गया। शोकमग्न तो हुई, परन्तु साथ ही उसने भावी जीवन को भी पूर्ण ब्रह्मचर्यमय और सयमपूर्ण बिताने का सकल्प कर लिया। सहज ही मिले हुए इस धर्मकार्य के अवसर को वह क्यो खोती ? कुछ ही दिनो बाद जब अपने दामाद की मृत्यु का शोक कम हो गया, तब उसके माता-पिता ने अपनी पुत्री के सामने प्रस्ताव रखा—"बेटी ! अब तेरा क्या विचार है ?" सुसस्कारी धर्मशीला युवती पुत्री ने कहा—"एक भव मे दो भव करने का मेरा विचार कतई नही है।"

माता-पिता ने उसकी हमजोली सहेलियो के द्वारा विचार जानने चाहे, परन्तु इस लडकी ने दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया—"अब मेरी इच्छा पुनर्विवाह करने की नही है। मैं आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करूंगी, जब अनायास ही मेरे बन्धन टूट गये हैं और मुझे धमकार्य करने का सुनहरा अवसर मिला है तो मै पुन सासारिक भोगो के कीचड मे क्यो पड़ू ?" कुछ महीने व्यतीत होने के बाद एक दिन पिता ने कहा—"बेटी ! आवेश मे आकर कोई निणय करना अच्छा नही होता। पूर्ण ब्रह्मचर्य का मार्ग बहुत ही कठिन है। अभी तेरी उम्र ही कितनी है ! तू अगर स्वीकार करे तो मैं तेरे श्वसुर को मना लूंगा और अपनी बिरादरी म ही किसी अच्छे वर की खोज कर लूंगा। बस, तेरे हाँ भरने की देर है।" पुत्री ने स्पष्ट शब्दो म इन्कार कर दिया कि "पिताजी ! मेरे लिए अब धर्म (ब्रह्मचर्य) कार्य को छोडकर अधर्म (अब्रह्मचर्य रूप सासारिक) कार्य की ओर मुडना बिलकुल असम्भव है। आप तो इस धर्मकार्य को निष्ठापूर्वक पार लगाने मे मुझे सहयोग दें।" माता-पिता समझ गये कि लडकी स्वय समझदार है। इसने समझ-बूझकर अपनी इच्छा से सारे सासारिक प्रलोभनो या आकर्षणो को छोडकर ब्रह्मचर्यमूलक धर्मकाय का स्वीकार कर लिया हे तो उन्होने अधिक कहना उचित न समझा। लड़की ने पति-वियोग के समाचार मिलने के दूसरे ही दिन से अपना जीवन सादगी और सयम से ओतप्रोत बना लिया। ब्रह्मचर्य पालन करते हुए अनाथ, दीन-दु खी, पीडित महिलाओ की सेवा मे अपना समय व्यतीत करने लगी। माता-पिता ने भी अपनी विधवा पुत्री का सयम और सादगी से पूर्ण जीवन देखकर स्वय भी, केवल ३२-३३ वर्ष की उम्र मे आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ले ली और लडकी के धर्मकार्य मे सहयोग देने लगे।

यह है—सासारिक (अधर्म) कार्य के प्रलोभन को ठुकराकर धर्म (ब्रह्मचर्य और सेवा के) कार्य मे अपने जीवन को ओतप्रोत करने का ज्वलन्त उदाहरण।

धर्मकार्य से विमुखता—परन्तु आजकल अधिकाश लोगो का झुकाव सासारिक कार्य और धर्मकार्य दोनो के उपस्थित होने पर प्राय सांसारिक कार्य की ओर ही होता है। वे धर्मकार्य को तुच्छ और महत्त्वहीन समझकर यो कहने लगते हैं—"धर्मकार्य तो फिर कर लेंगे। अभी क्या जल्दी है? बुढापे मे कर लेंगे। अभी तो जवानी है, कमाने-खाने और ऐश-आराम करने के दिन है।" फिर पारिवारिक जनो की ओर से भी इसी बात पर जोर दिया है, सासारिक बातो का ही समर्थन किया जाता है। साधु-साध्वियो या दृढधार्मिको के सम्पर्क मे ऐसे लोग कम ही आते हैं। तथा वातावरण भी सर्वत्र प्राय इसी प्रकार का मिलता है। एक कवि ने इसी पर व्यग कसा है—

चल रही, चल रही, चल रही हो,
पछवाँ[1] चल रही आज जगत् मे ॥ध्रुव॥
धर्म कर्म घटता जाता है, स्वार्थ, दम्भ बढता जाता है।
पाप मे दुनिया ढल रही हो ॥ चल रही ॥१॥
प्रेम स्नेह का नाम फना है, घर-घर मे कुरुयुद्ध ठना है।
द्वेष की अग्नि जल रही हो ॥ चल रही ॥२॥
भीमार्जुन-से वीर कहाँ है?, मात्र शिखण्डी सभी यहाँ है।
भोग मे काया गल रही हो ॥ चल रही ॥३॥

कवि ने वर्तमान भारतीय जन-जीवन की धर्मकार्य से विमुखता का स्पष्ट चित्रण किया है। क्या ही अच्छा होता, लोग महर्षि गौतम के सकेत के अनुसार धर्म-कार्य की ही पहल करते।

चाणक्यनीति मे तथा विभिन्न स्मृतियो मे पद-पद पर धर्मकार्य करने के लिए सावधान किया है—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत।
नित्य सन्निहितो मृत्यु कर्त्तव्यो धर्म-सग्रह.॥[2]
"धर्मं कुरुत यत्नेन, सोऽवश्य सह यास्यति॥[3]

अर्थात्—'शरीर अनित्य है, धन-सम्पत्ति स्थिर नही है मृत्यु सदा सन्निकट है, अत धर्म-सग्रह (धर्मकार्य करके) करना चाहिए।

"महानुभावो! यत्नपूर्वक धर्मकार्य करो, धर्म ही परभव मे तुम्हारे साथ चलेगा।"

---

१ पश्चिमीय देशो की हवा
२ चाणक्यनीति १२/१२
३. कात्यायन-स्मृति

अफसोस है, आज शरीर को हृष्टपुष्ट रखने के लिए खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा सोने-उठने आदि का पूरा ध्यान रखा जाता है, पुत्रादि के जन्म तथा विवाहादि प्रसगों पर वाहवाही लूटने के लिए अनाप-शनाप धन खर्च करने मे कोई कजूसी नही दिखाई जाती, वृद्ध माता-पिता के मरने पर दुख न होते हुए लोक दिखावे के लिए शोक मनाया जाता है, और भी अनेक प्रकार के व्यावहारिक कार्य शर्माशर्मी, देखादेखी, जाति और समाज के दवाब से, लिहाज से या भय और प्रलोभन से किये जाते हैं, ऐसे कामो मे समय और धन न होने का कोई बहाना नहीं होता, परन्तु धर्मकार्य करने मे अनेक प्रकार के बहाने किये जाते हैं, सुन्दर अवसर हाथ से चले जाने की कोई परवाह नही होती।

धर्मकार्य से धर्म का पलड़ा भारी रखो—किन्तु याद रखिये, जैसे काटे जितनी सूई अन्दर जाने से ही काटा निकलता है, भूख के अनुसार ही रोटी खाने से भूख मिटती है, नीव की गहराई के अनुसार ही मकान बनाया जाता है, बीमारी के वेग के अनुपात मे ही दवा की मात्रा दी जाती है, आय के अनुसार ही व्यय किया जाता है टकी की ऊँचाई के अनुरूप ही पानी ऊँचा चढ़ाया जाता है इसी प्रकार अधर्म या पाप के पलडे की अपेक्षा धर्म का पलडा अधिक वजनदार होना चाहिए, अन्यथा, आप इतजार करते रहेंगे बुढ़ापे तक और पापो या अधर्मों का पलडा भारी भरकम होकर जीवन-तुला को ही असतुलित करके गिरा देगा। इसलिए अधिकाधिक धर्मकाय करके धर्म का पलडा भारी रखना चाहिए।

सुखी धर्मकार्य से ही, अधर्मकार्य से नहीं—कई लोग कहा करते है कि बेईमानी, अन्याय, अनीति, लूटखसोट आदि अधर्मकार्यों से आज अधिकाश लोग सुखी एव सम्पन्न दिखाई देते हैं, परन्तु धर्मकार्य करने वाले लोग प्राय दुखी, निर्धन या विपन्न नजर आते है। इसलिए मालूम होता है, धर्मकार्य का फल प्रत्यक्ष मिलता नही।

इसका समाधान यह है कि आज भले ही अधर्मी या पापी लोग बाहर से सुखी दिखाई दे रहे हो, परन्तु उनकी अन्तरात्मा से पूछो तो मालूम पड़ेगा कि उन्हें उनका पाप या अधर्म कचोट रहा है, रह-रहकर अन्तर् मे पछतावा होता है, प्रतिक्षण उन्हें भय रहता है कि कही कोई गिरफ्तार न करले, उनकी नीद हराम हो जाती है, न वे सुख से खा-पी सकते है और न ही सुख से निश्चित होकर सो सकते है।

कई बार तो ऐसे पापात्मा या अधर्मी लोग किसी साधु-साध्वी का जरा-सा उपदेश सुनते ही बदल जाते है।

उल्लासनगर (बम्बई) मे सिन्धी नारायणदास थडाणी को श्री चन्दन मुनिजी के उपदेश से बोध प्राप्त हुआ। वह मास, रक्त, शराब आदि के दुर्व्यसन मे फँसा हुआ था। किसी की कुछ नही सुनता था। जितने पैसे दूध बेचकर कमाता प्राय सब के सब इन्ही व्यसनो मे खर्च कर देता था। उसकी दुकान के पड़ौस मे ही एक जैन श्रावक श्री वकीलवाला की दुकान थी। उन्होने उसे बहुत समझाया, पर न माना। आखिर

श्री चन्दनमुनिजी के दर्शनार्थ उसे साथ ले गये। वहाँ एक ही उपदेश में नारायणदास बदल गया। उसने मुनिश्री से शराब, मास, रक्त आदि का त्याग कर लिया। उसने सभा मे अपनी सारी रामकहानी सुनाई और अन्य सिन्धी भाई बहनो को भी इन दुर्व्यसनो के त्याग की प्रेरणा दी।

जो नारायणदास एक दिन स्वय इन दुर्व्यसनो का अगुआ था, वह आज अपने सिन्धी भाइयो-बहनो का दुर्व्यसन त्याग करवाने मे अग्रणी बन गया। उसका जीवन पवित्रता के पथ पर—धर्ममार्ग पर चल पडा। नारायणदास को दुर्व्यसनो के सेवन से कोई सुख नही था, वह बेचैन रहता था, परन्तु अब उसके जीवन मे सुख-शान्ति थी। अगर पापमय जीवन म सुखशान्ति या अमन-चैन होती तो जैन, वैदिक, बौद्ध आदि धर्मशास्त्रो से जो चोर, डाकू, हत्यारे, पापी आदि के जीवन-परिवर्तन की रोमाचक घटनाएँ मिलती है, वे अपने कुत्सित जीवन को क्यो छोडते और क्यो पापमय जीवन छोडकर धर्मकृत्य करके धर्ममय जीवन जीते? नारायणदास की तरह हजारो व्यक्ति ऐसे है, जो पापमय जीवन जीते-जीते ऊब गये है, उन्हें उक्त जीवन मे कोई तृप्ति, सन्तोष या आनन्द नही।

वर्षो पहले समाचारपत्र मे एक सच्ची घटना पढी थी—एक व्यक्ति ने सुबह सुबह स्थानीय थानेदार साहब के यहाँ पहुँचकर आवाज दी—थानेदार साहब!

थानेदार साहब का दुमंजिला मकान था। थानेदार साहब अभी सो रहे थे। बार-बार आवाजे आने से उनकी पत्नी ने उन्हे जगाया और बाहर बैठे आदमी के आने की सूचना दी। थानेदार ने कहा—"कान्स्टेबल से पुछवाना—क्या चाहता है?"

पत्नी—"अजी! वह दो बार पूछ गया है। तब तक आप सोये रहे। उसे बाहर बैठे-बैठे एक घटे से ऊपर होगया। अधीर हो, आवाजे देने लगा है। तनिक देखो न, वह किसी मुसीबत का मारा मालूम होता है। चेहरे पर हवाइयाँ उड रही हैं, आवाज मे चिन्ता है, खिन्न दीखता है।" थानेदार साहब खिडकी मे नीचे झाककर बोले—"अच्छा बैठो, मैं नीचे आ रहा हूँ।" वह आदमी कुछ सन्तुष्ट-सा चबूतरे पर बैठ गया। कान्स्टेबल ने यह कहकर जब उसे अन्दर नही जाने दिया कि रिपोर्ट लिखानी हो तो मु शीजी को लिखा दो, तब भी वह बोला—"थानेदार साहब से ही एक काम है।"

डेढ घटे और प्रतीक्षा करने के बाद थानेदार साहब की नीद खुली। बैठक का दरवाजा खुला। कान्स्टेबल आगन्तुक को अन्दर ले गया। थानेदार तने हुए बैठे थे, उन्होने कडकती हुई आवाज मे कहा—"क्यों क्या बात है? तुमने मु शीजी को रिपोर्ट क्यो नही लिखाई? मुझे व्यर्थ क्यो परेशान किया?"

वह विनय के स्वर मे बोला—"माफ करें, सरकार! गलती हो गई। कुछ ऐसी गुप्त बाते है, जो सिर्फ हजूर से ही अर्ज करनी थी।"

थानेदार—"मुझसे ऐसी कौन-सी पोशीदा बातें कहनी है? यहाँ चोर, डाकू, बदमाश आवारा ही आते है, जो हर बात छिपाते रहते हैं, तुम कौन हो, जो आज निर्भय होकर मुझसे अपनी गुप्त बाते कहने आये हो?"

वह व्यक्ति कुछ आश्वस्त और उत्साहित होकर ठडे लहजे मे बोला—"यही तो अर्ज करना है, हजूर ! उसे कहकर ही तो मन का भार हलका करना है, खास तौर से आप ही को सुनाना चाहता हूँ।"

थानेदार ने दिलचस्पी लेते हुए कहा—"मुझसे ही कहनी हैं ? अच्छा कहो, क्या कहना है तुम्हे ? क्या किसी की शिकायत है, जिसे स्पष्ट करने को, तुम यहाँ दो घटे से बैठे हो ? वरना यहाँ से तो लोग दूर-दूर भागते है।"

आगन्तुक—"एक टाइम था, जब मैं भी थाने से ऐसे ही दूर भागता था, जैसे अपराधी, फरार या डकैत भागा करते है ?"

थानेदार—"तो क्या तुमने भी अपराध किया था, कभी ?"

आगन्तुक—"जी हाँ, मैंने अपराध किया था।"

थानेदार—"तो जेलखाने की मार भी पडी होगी। हटरो के निशान भी कमर पर उभरे होंगे ? एक बार जेलखाने जाकर कौन भूल सकता है ?"

आगन्तुक—"अपराध तो किया था, मगर जेलखाने नही गये। कानून की निगाह से बच रहे।"

थानेदार—"वाह, खूब चालाक निकले तुम ! सरकार की आँखो मे धूल झोंक दी तुमने।"

आगन्तुक—"पुलिस को तो चकमा दिया, पर खुद को धोखा न दे सका उसी का पछतावा है। उसी की माफी माँगने आया हूँ, सरकार।"

थानेदार—"अभियुक्त को पश्चात्ताप ! हमने तो कभी अभियुक्तो को अपनी करनी पर पछताते नही देखा। आज पहली बार तुमसे ऐसा सुन रहे है। स्पष्ट बताओ कैसे क्या अपराध हुआ और तुम क्या चाहते हो ?"

आगन्तुक—"जी ! मैं अपने बुरे कार्य पर लज्जित हूँ और प्रायश्चित्तस्वरूप आज अपना अपराध आपके सामने कबूल करने आया हूँ। जब से मैंने डाकेजनी मे भाग लिया था, तब से ही मेरी आत्मा अन्दर ही अन्दर पापकर्म के लिए कचोटती रही है। मैं अपराध को दबा नही पा रहा हूँ। अन्दर से कोई आवाज आरही है कि अपने पाप को कह दे, सबके सामने कबूल कर ले, उसकी जो भी सजा मिले, भुगत ले तो तेरे मन का भार हलका हो जाएगा। हजूर ! मुझे माफी दी जाये।"

थानेदार—"तुम कौन हो ? जरा तफसील दो कि क्या-क्या और कैसे हुआ ?"

आगन्तुक रोते हुए बोला—"जी ! मैं जुम्मन नामक फरार अभियुक्त हूँ। मेरा सम्बन्ध नौ मास पूर्व कानपुर जिले के ग्राम बारा (ककवन थाना क्षेत्र) निवासी मोहन लाल नामक ग्रामीण के घर मे हुई सशस्त्र डकैती से है। मेरे नेतृत्व मे वह डकैती

हुई थी। मैंने कई जगह और भी छोटी-मोटी चोरी करवाई है। पर अब मुझे ऐसा लग रहा है कि यह सब पापकर्म था। मेरी अपराध वृत्ति का कुफल था। एक अच्छे नागरिक को चोरो-डकैती जैसा पापकर्म कभी नही करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि साहसी मनुष्य वही है, जो अपने अज्ञान मे की गई भूल के लिए प्रायश्चित्त करने मे सकोच न करे। आप इसकी जो भी उचित सजा हो, मुझे दिलवाइये।"

थानेदार साहब डकैत का आत्मसमर्पण देखकर चकित रह गये। उन्होने जिज्ञासावश पूछा—"अब आगे तुम्हारा क्या करने का विचार है?"

आगन्तुक—"मैं अब धार्मिक बनकर अपने जीवन मे अच्छाई अपनाना चाहता हूँ। जितनी भी बन सके, मै भलाई करना चाहता हूँ। अब तक डकैत बने रहने मे मैं गर्व अनुभव करता था, अब सज्जन कहलाने की इच्छा रखता हूँ। मैंने टक्करें खाकर यही सीखा है कि शराफत का जीवन ही स्थायी और शान्तिमय जीवन है। परोपकार, सेवा आदि धर्मकार्य ही मनुष्य के सहज कर्त्तव्य है। उसी से आत्मा को शान्ति मिलती है। अपराधो और पापकार्यों से नही।"

थानेदार—"तब तो मैं तुम्हे अदालत से माफी दिलवाऊँगा। एक गिरे हुए व्यक्ति को ऊँचा उठाना और सज्जन बनाना भी तो धर्म का काय है।"

थानेदार साहब ने कोशिश भी की और अन्त मे वे अपने शुभ मनोरथ मे सफल होकर रहे।

इस प्रकार एक पापकार्य-परायण व्यक्ति पापी जीवन मे ऊबकर धर्ममय जीवन के पथ पर आया, तभी उसे सुखशान्ति मिली। सचमुच, धर्मकार्यनिष्ठा का चामत्कारिक परिणाम आये बिना नही रहता।

धर्मकार्य का प्रत्यक्ष फल—कई बार मनुष्य यह मोचना है कि धर्मकार्य का फल तो अभी प्रत्यक्ष मिलता नही है, इस कारण वह धर्मकार्य से विमुख, निरुत्साहित होकर झटपट किसी न किसी अधर्मकार्य या पापकार्य मे फँस जाता है। परन्तु जिनके हृदय मे धर्म के प्रति दृढ निष्ठा है, वे धर्मकार्य से विचलित नही होते। कई बार मनुष्य केवल बाहरी दिखावे के लिए बहुत-सी धर्मक्रियाएँ कर लेता है या करता रहता है, वह न तो उस धमक्रिया के अनुसार अपना आचरण बनाता है, और न ही उस धर्मक्रिया को भी समझबूझकर, श्रद्धा और निष्ठा से करता है, वह लकीर का फकीर बनकर उस धर्मक्रिया को करता है। स्थूल दृष्टिवाले लोग समझते है कि यह बहुत-सी धर्मक्रियायें करता है, इसलिए धर्मकार्य-परायण है, धर्मात्मा है, परन्तु वास्तव मे वह वैसा होता नही है। इस कारण भी तथाकथित धर्मकार्य का फल वास्तविक धर्मकार्य के फल से विपरीत आता है। जो लोग किसी प्रकार की फलाकाक्षा के बिना श्रद्धा, धैर्य एव निष्ठापूर्वक धर्मकार्य करते जाते है, उन्हें उसका वास्तविक फल देर-सबेर मिले बिना नही रहता।

एक पत्र मे पढ़ी हुई सच्ची घटना बताता हूँ—एक धर्मकार्यनिष्ठ व्यापारी बहुत मुसीबत में था। अत उसकी धर्मपत्नी ने सलाह दी—"हम इस समय बहुत ही विपत्ति

मे है। सब सामान तो कल कुर्क हो जायेगा। जेल भी हो सकती है। ऐसी अवस्था मे यदि एक बार भाईजी ' के रुपये बरत लिए जाये, तो क्या हर्ज है? यह तो आपद्धर्म है। दो-तीन महीने बाद जब रुपये आएँगे, तब वापस जमा रख दिये जायेंगे, या उनकी पत्नी को ही दे देंगे।" बात यह थी कि उस व्यापारी के व्यापार मे घाटा लग गया। हाथ तग हो गया। ईमानदार होने पर भी वह कर्ज ली हुई रकम का भुगतान न कर सका। एक फर्म ने उस पर नालिश करके दो लाख रुपयो की डिग्री ले ली। उसकी वसूली के लिए कुर्की तथा वारट का आदेश निकल चुका था। इस व्यापारी के पास एक मित्र के ढाई लाख रुपये के नोट रखे थे। उनकी मृत्यु को १० ही दिन हुए थे। रुपये उनकी पत्नी को देने थे। इस व्यापारी के खुद के रुपये २-३ महीने के बाद विदेश से आने वाले थे। इसी से इसकी पत्नी ने उपर्युक्त बात कही थी।

परन्तु धर्मनिष्ठ पति ने उससे कहा—"ऐसा नही होगा। हमारे रुपये अगर विदेश मे न आये तो हम भाईजी की पत्नी को कहाँ से देंगे? मित्र की इस धरोहर को छूने का हमारा अधिकार नही है। यदि कल सोमवार को कुर्की मे ये नोट भी चले गये तो हम मुँह दिखाने लायक नही रहेंगे, नरक मे जायेंगे। मैं तो यह अमानत की रकम आज ही उन (मित्र) की पत्नी को देकर आऊँगा। यद्यपि उसे इसका पता नही है तथापि हम और सर्वज्ञ प्रभु तो सब कुछ जानते ही है।" उसकी सरल हृदय पत्नी आगे कुछ न बोली। वह व्यापारी उसी दिन ही वह रकम अपने स्वर्गीय मित्र की पत्नी को दे आये। दूसरे दिन कुर्की आने वाली थी, परन्तु धर्मनिष्ठा का चमत्कार ऐसा हुआ कि पहले से ही सुरक्षा व्यवस्था हो गई। जो चार लाख की राशि विदेश से आने वाली थी, उसकी टी०टी० आफिस मे जाते ही मिल गई। जहाँ कुर्की की आशका थी, वहाँ अनायास ही सब रुपयो का भुगतान हो गया। जो डेढ़ लाख असल थे, वे व्यापारी को मिल गये शेष रकम से सब का भुगतान हो गया।

यह है धर्मकार्य पर दृढ़निष्ठा का चमत्कार!

कर्त्तव्य भी धर्मकार्य मे ' कब और कब नहीं—कर्त्तव्य और धर्मकार्य इन दोनो पर जब हम विचार करते है तो ऐसा मालूम होता है—कर्तव्य का दायरा धर्म से छोटा भी हो सकता है। जैसे—परिवार के प्रति कर्त्तव्य होता है, इसी प्रकार जाति, धर्मसम्प्रदाय, नगर या ग्राम, प्रान्त, देश और विश्व के प्रति कर्त्तव्य भी होता है। कर्त्तव्य का दायरा उत्तरोत्तर विशाल होता है, जबकि धर्म का दायरा सार्वत्रिक और सार्वजनिक होता है। वहाँ जो धर्म एक व्यक्ति के प्रति होता है वही समाज, राष्ट्र या विश्व के सभी प्राणियो के प्रति होता है, धर्म मे कोई अन्तर या विरोध नही पडता, वह शाश्वत होता है। कर्त्तव्य में परस्पर विरोध आ सकता है। एक राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य से प्रान्त के प्रति कर्त्तव्य मे विरोध आ सकता है। प्रान्तीय कर्त्तव्य का राष्ट्रीय कर्त्तव्य के साथ विरोध हो सकता है। परन्तु अहिंसा, सत्य आदि प्रान्तीय धर्म और राष्ट्रीयधर्म मे कोई विरोध नही आता। एक उदाहरण द्वारा कर्त्तव्य और

धर्म के अन्तर को स्पष्ट कर दूँ—विभीषण रावण के मंत्रिमण्डल का एक सदस्य था। विभीषण का कर्त्तव्य था—रावण और उसके राज्य के प्रति वफादारी रखना और उसके राज्य की नीति-रीत से सम्मत होना। किन्तु जब रावण नैतिकता को छोड़कर सीता का जबर्दस्ती अपहरण करके ले आया। राम के बार-बार सीता को लौटाने के सन्देश आने पर भी रावण ने सीता नही सौंपी। ऐसी अनीति पर जब रावण उतर आया, तब विभीषण ने रावण को समझाया—सीता को लौटा देने के लिए तथा उस अनैतिक कार्य का विरोध भी किया, तब रावण ने उसे कहा—"विभीषण! तू अपने कर्त्तव्य का पालन कर। तुझे मैंने मत्री पद दिया है, सब तरह की सुविधाएँ भी दी है फिर मेरे व्यक्तिगत मामले म तू क्यो बोलता है? चुपचाप रह।" परन्तु विभीषण ने कहा—"कर्त्तव्य मे धर्म बडा है। धर्म कहता है—राम का पक्ष न्याय-नीति एव धर्म से युक्त है जबकि आपका पक्ष अन्याय-अनीति और अधर्म से युक्त है।" रावण जब नही माना बल्कि राज्य की सेना को अपने व्यक्तिगत, अनैतिक कार्य के लिए लडाई मे झौंकने को उद्यत हो गया, तब विभीषण ने रावण का विरोध किया, मन्त्रिमण्डल म से वह निकल गया। श्रीराम के धर्मयुक्त पक्ष मे चला गया। यह है कर्त्तव्य और धर्म म सघर्ष या विरोध हो, वहाँ सकुचित कर्त्तव्य को छोडकर धर्म को अपनाने का ज्वलन्त उदाहरण।

फिर भी एक बात का निर्णय हम कर सकते है—यदि कर्त्तव्य धर्म से अनुप्राणित हो, धर्म के साथ उसका विरोध न हो तो वह धर्मकार्य म परिगणित किया जा सकता है। असल मे तब वह कर्त्तव्य न रहकर धर्मकार्य बन जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

एक किसान था। उसने अपने खेत मे उत्पन्न अन्न का एक बोरा अगली सीजन मे बोने के लिए रखा था। किन्तु अचानक उसका गाँव दुष्काल की चपेट मे आ गया। किसान का चिन्तन चला इस समय खाने के लिए अन्न तो सभी दुष्काल-पीडितो को सरकार देती है। परन्तु आगामी फसल के लिए बोने को अनाज मेरे गाँव के किसानो के पास नही रहेगा तो वे बोयेंगे क्या? नही बोयेंगे तो अगले वर्ष फिर अन्न की भीख मागकर परिवार को जिलाने की नौबत आयेगी। इससे तो अच्छा है मैं अपने पारिवारिक कर्त्तव्य को छोडकर सारे गाँव के प्रति कर्त्तव्य की ज्योति जलाऊँ। मुझे अकेले को बोने को अन्न न मिले तो भी कोई परवाह नही। फलत उस किसान ने बोने के लिए सारे गाँव को अन्न दिया। दूसरो को जिलाकर जीने का सूत्र धर्म-कार्य का ही तो है।

जो तथ्य कर्त्तव्य और धर्मकार्य के अन्तर का ऊपर बताया गया है, वही नैतिक कार्य और धर्मकार्य मे समझ लेना चाहिए। नीति और कर्त्तव्य ये दोनो धर्म से अविरोधी या धर्म से अनुप्राणित हो, तब तो ये धर्मकार्य के अन्तर्गत है। यदि ये दोनो धर्मकार्य के विरोधी या धर्म से वियुक्त हो, तो फिर ये धर्मकार्य मे परिगणित नही होगे।

साम्प्रदायिक कर्त्तव्य और धर्मकार्य में अन्तर—प्राय: साम्प्रदायिक कार्य व्यापक धर्म के विरुद्ध होता है, अनुकूल नही। साम्प्रदायिक कर्त्तव्य से व्यापक धर्म-कार्य का दायरा भी विशाल होता है। साम्प्रदायिक कर्त्तव्य तो सिर्फ अपने सम्प्रदाय की नीति-रीति, नियमोपनियम, सविधान आदि तक ही सीमित होता है, लेकिन धर्म (सत्य, अहिंसादि) तो मानवमात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के हित तक व्यापक होता है। इसलिए नीति या कर्त्तव्य की तरह साम्प्रदायिक कर्त्तव्य के सम्बन्ध मे भी निर्णय किया जा सकता है कि जो साम्प्रदायिक कर्त्तव्य व्यापक सद्धर्म का पोषक हो, सत्य-अहिंसादि का पालन करने मे सहायक हो या पूरक हो, व्यापक धर्म का विरोधी न हो, उसे धर्मकार्य मे परिगणित किया जा सकता है। जैसे कि किसी सम्प्रदाय ने यह विधान किया कि दूसरे सम्प्रदाय वालो के साथ किसी भी प्रकार का सहयोग नही करना चाहिये, क्योंकि इसमे मिथ्यात्व का पोषण होगा। या एक सम्प्रदाय वाले 'धर्म खतरे मे है' कहकर दूसरे सम्प्रदाय के लोगो को मारने-काटने का आदेश दे देते है तो ऐसा करना अहिंसा-धर्म के विपरीत होने मे तथा मानवता-विरुद्ध होने से वह धर्मकार्य नही बल्कि हिसा (पाप) कार्य समझा जाएगा। इसी प्रकार धर्मकार्य के नाम पर साम्प्रदायिकता फैलाई जाती हो, या धमकार्य की ओट मे जहाँ पोपलीला (अनुयायियो से धन ऐठने की कला) चलती हो, व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार, अन्याय, अनैतिक धन्धा आदि चलते हो, वहाँ तो वह सरासर अधर्मकार्य या पापकार्य है।

पुण्यकार्य और धर्मकार्य का घपला

जैनधर्म मे एक बात खासतौर से समझाई गई है कि पुण्य और धर्म दोनो एक नही है। पुण्य शुभकर्मबन्धजन्य है, जबकि धर्म शुभ-अशुभ दोनो प्रकार के कर्मों (पुण्य-पाप) का क्षयरूप होता है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि पुण्यकार्य और धर्मकार्य मे अन्तर रहे। वैदिक-धर्म के विशिष्ट धर्म-ग्रन्थो मे पुण्यकार्य और धर्मकार्य को एक मान लिया गया है। जैसे कि महाभारत का एक श्लोक, जो पचतत्र मे उद्धृत है—

सक्षेपात् कथ्यते धर्मो, जना' किं विस्तरेण व.।
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

अर्थात्—हे मनुष्यो! सक्षेप मे ही धर्म कह रहा हूँ, तुम्हें विस्तार से क्या मतलब? वह है—परोपकार पुण्य के लिए है, और परपीडम पाप के लिए। यानी परोपकार से पुण्य और परपीडन से पाप होता है।

यहाँ धर्म का वर्णन करते हुए परोपकार रूप पुण्य को ही धर्म माना है, और परपीडन को पाप। इसी प्रकार और भी ऐसे राहत के कार्यों को धर्म माना है, इसका क्या कारण है?

बात यह है—वैदिक-धर्म की मीमासक परम्परा मे कामनामूलक धर्म को ही धर्म माना गया है। वहाँ स्वर्गादि कामनाओ से प्रेरित जितने भी विधान हैं, वे वस्तुत.

पुण्यकोटि के हैं। मीमासक पुण्य को ही धर्म कहते हैं। मोक्ष और यथार्थ निष्काम-धर्म की कल्पना ही वहाँ नही है। मीमासक परम्परा का अनुसरण स्मृतियो ने किया है। इसलिए वापी, कूप, तालाब आदि निर्माण कराने, अतिथि सत्कार करने तथा अन्य अनेक लौकिक व्यवहारो को वहाँ धर्म का रूप दिया गया है। लेकिन जैनधर्म उन्ही को धर्मकार्य या धर्म कहता है, जिन कार्यों या प्रवृत्तियो के साथ वासना, कामना, स्वार्थ, लोभ, भय, प्रलोभन, यशकीर्तिलालसा, फलाकाक्षा आदि न जुडी हुई हो। अगर कोई परोपकार का कार्य इस कसौटी पर ठीक उतरता है तो वह धर्म या धर्म-कार्य मे गिना जा सकता है, अगर सत्कार्यों के साथ वासना, कामना आदि जुडे हुए हैं तो वे शुभयोग के कारण पुण्यकार्य कहे जा सकते है। पुण्यकार्यों से देवायु का बन्ध मुख्यतया होता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—

"सरागसयमसयमासयमाकामनिर्जरा-बालतपासि देवस्य।"

—सरागसयम (कामनामूलक धर्माचरण), सयमासयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये देवायुबन्ध के कारण हैं।

प्राय यह देखा गया है कि लौकिक परोपकार रूप कार्यों के पीछे व्यक्ति की नामबरी, प्रसिद्धि, परलोक मे सुखभोगेच्छा, इहलोक मे सुखकामना, साधारण स्वार्थ आदि फलाकाक्षा प्राय रहती है इसलिए परोपकार के कार्यों —दान, पुण्य, आदि कार्यों को पुण्यकार्य ही मुख्यतया माना गया है।

धर्माजित व्यवहार ही धर्मकार्य की कोटि मे—अब रहे अनेकविध व्यावहारिक कार्य वे प्राय नैतिक कर्त्तव्यो मे परिगणित होते है। जो व्यवहार एकान्त धर्म से अर्जित—युक्त हैं, वे ही धर्मकार्य मे परिगणित होते है। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है—

धम्मज्जिय च ववहार बुद्धेहाऽयरिय सया।
तमायरतो ववहार गरह नाभिगच्छइ॥

—जो व्यवहार धर्माजित है, बुद्ध—तत्त्वज्ञ पुरुषो द्वारा सदैव आचरित है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ साधक गर्हा—लोकनिन्दा का भाजन नही होता।

जैसे—कोई धर्म यह कहता हो कि कोई तेरा एक दात तोडे तो तू उसके दो दात तोड, अथवा 'शठे शाठ्य समाचरेत्—दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करो,' ये और इस प्रकार के व्यवहार धर्माजित नही है, न तत्त्वज्ञ पुरुषो द्वारा आचरित है, इसलिए ऐसे व्यवहार धर्मकार्य म शुमार नही हो सकते। वे ही व्यवहार धर्मकाय मे शुमार है जो अहिंसा, सत्य आदि धर्मों से अनुप्राणित हो, तत्त्वज्ञपुरुषो द्वारा आचरित हो। जैसे—कोई व्यक्ति किसी के साथ सत्यतापूर्वक व्यवहार करता है, अहिंसायुक्त व्यवहार करता है, तो वह व्यवहार धर्म हो सकता है।

क्या ये धर्मकार्य हैं?

प्रश्न होता है कि धर्म के साथ जो विविध परम्पराओ का जाल बिछा हुआ

है या अन्ध-विश्वासो का मैल जमा है क्या वह सब धर्मकार्य है या और कुछ ? जैसे—किसी स्त्री का पति मर जाये तो उसे अपने पति के साथ चिता मे जलकर सती हो जाना चाहिए, स्त्री को पर्दा करना चाहिए, ऋतुकाल मे ही स्त्रीसंगम करना विहित है, मुर्दे को जलाना या दफनाना चाहिए, अमुक के हाथ का पानी पीना चाहिए अमुक के हाथ का नही, छुआ-छूत, पक्तिभेद, आदि मानना चाहिए, कल का आटा और नल का पानी धर्मविरुद्ध है, ब्राह्मण को पक्की रसोई खानी चाहिए या कच्ची ? खडे-खडे पेशाब करना चाहिए या बैठकर ? शौचादि क्रिया कब और कहाँ करनी चाहिए ? गले मे जनेऊ डालना धर्म है, तिलक लगाना धर्म है ? मूर्ति के सामने एक-दो पैसा फेंकना या किसी भिखमगे को एकाध पैसा दे डालना धर्म है ? गगा मैया मे नारियल या पैसा फेंकना धर्म है ? किसी दीन-दुखी को फटा कपडा या झूठा अन्न दे डालना धर्म है ? पीपल को जल पिलाना या उसके चारो ओर दो-चार चक्कर लगाने या उसके दो चार पत्ते चबा लेने से धर्म होता है। तुलसी का एकाध पत्ता चबा लेना अगडम-बगडम कुछ भी जाप कर लेना, गगा, गोमती आदि नदियो मे दो चार गोते लगा लेना, मनो घी अग्नि मे फूंक देना धर्म है ? चीटियो को आटा तथा बन्दरो को पकौडे तथा किसी गाय आदि को एकाध आटे का पिण्ड खिला देने से धम होता है ? मैं पूछता हूँ—क्या धर्म इतना सस्ता सौदा है ? जरा-सा कुछ कर देने से धर्म हो जाता हो, तब तो जितने भी दुनिया मे पापात्मा हैं, वे सब धर्मात्मा कहलाने लगेंगे। परन्तु ये सब धर्मकार्य नही, धर्म का मजाक है। अविवेक और अन्धविश्वास मे कही धर्म होता है ? परन्तु अधिकाश धर्मध्वजी लोगो ने अपने स्वार्थ के लिए ऐसी-ऐसी तुच्छ बातो मे धर्मकार्य बताकर भोले-भाले लोगो का गुमराह किया है। इसीलिए एक कवि ने व्यगोक्ति कसी है—

धर्म को तो आज दुनिया ने खिलौना कर दिया।
दूध के बदले मे पानी का बिलौना कर दिया।।

ऐसे सब कार्यों मे अपनी विवेकबुद्धि से ही धर्मकार्य-अधर्मकार्य या पुण्य-पाप कार्य का निर्णय करना चाहिए।

कई धर्मसम्प्रदाय पशुबलि मे धर्म मानते हैं, कई स्मृतिग्रन्थो ने ब्राह्मणो के लिए चोरी कर लेना धर्म माना है। ऐसे-ऐसे बहुत हिंसा-असत्यादिमूलक विधान जहाँ धर्म माने जाते हो वहाँ सामान्य मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है इसीलिए बृहत् कल्पभाष्य मे एक निर्णय दिया गया है—

ज इच्छसि अप्पणतो, ज च न इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि एत्तियग जिणसासणय।।

—जो अपने लिए चाहते हो, वही दूसरो के लिए चाहना चाहिए, और जो अपने लिए नही चाहते, तो वह दूसरो के लिए भी नही चाहिए, बस इतना-सा जिनशासन—वीतराग-धर्मोपदेश है।

निष्कर्ष यह है कि जो हिंसादि अपने लिए प्रतिकूल हैं, अपने साथ कोई वैसा (हिंसादि का) व्यवहार करे तो व्यक्ति तुरन्त कह उठता है, यह तो सरासर पाप है, अधर्म है, असह्य आचारहीनता या अनैतिकता है, उसी गज से उसे दूसरो के साथ व्यवहार करते समय मापना चाहिए तभी धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप का निर्णय हो सकेगा ।

इसीलिए धर्मकार्य को श्रेष्ठ कार्य कहा

बन्धुओ ! इसीलिए धर्मकार्य के सम्बन्ध मे पूरी तरह से ऊहापोह और छान-बीन करने के बाद गौतम महर्षि ने धर्मकार्य को आचरण मे लाना परम श्रेष्ठ कार्य कहा है ।

आप सब इस सम्बन्ध मे सभी पहलुओ से गहराई से चिन्तन करें और धर्मकार्य को पहचानकर जीवन मे पहला स्थान दें । इसी से आपका कल्याण होगा, आप मोक्ष के निकट पहुँच सकेंगे । ❋

६५. प्राणिहिंसा से बढ़कर कोई अकार्य नहीं

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले दो प्रवचनो मे इसी बात पर जोर दिया था कि 'धर्मकार्य से बढ़कर श्रेष्ठ कोई कार्य नही है", तब सवाल होता है कि अकार्य कौन सा है ? यो तो दुनिया मे बहुत से अकार्य हैं, जिन्हें मनुष्य कु-सस्कारवश करता आ रहा है, परन्तु उन सबमे सबसे निकृष्ट अकार्य है—'प्राणिहिसा'। इसीलिए गौतम महर्षि ने गौतम-कुलक के ५२वे जीवनसूत्र मे स्पष्ट बता दिया है—

"न पाणिहिंसा परम अकज्जं।"

'प्राणिहिंसा से बढकर ससार मे कोई अकार्य नही है।'

प्रश्न होता है—प्राणिहिंसा क्या है ? उसके मुख्य-मुख्य कितने रूप हैं ? वही सबसे बढकर अकार्य क्यो है ? इस प्रवचन मे हम इन सभी मुद्दो पर गहराई से चर्चा करेगे।

प्राणिहिंसा क्या है ?

हिंसा के स्थान पर जैनशास्त्रो मे यत्र-तत्र प्राणातिपात शब्द अधिकाश रूप मे प्रयुक्त है। प्राणातिपात का सीधा-सा अर्थ है—प्राणो का अतिपात—विनाश करना। प्राण का अर्थ केवल श्वासोच्छ्वास ही नही है, जैनधर्म का यह पारिभाषिक शब्द है। जैनशास्त्रो मे १० प्राण माने गये है, वे इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण,
(२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण,
(३) घ्राणेन्द्रियबलप्राण,
(४) रसनेन्द्रियबलप्राण,
(५) स्पर्शेन्द्रियबलप्राण,
(६) मनोबलप्राण,
(७) वचनबलप्राण,
(८) कायबलप्राण,
(९) श्वासोच्छ्वासबलप्राण,
(१०) आयुष्यबलप्राण।

इन दस प्राणो मे से जितने जिस प्राणी के नियत हैं उतने प्राणो को धारण करने वाला 'प्राणी' कहलाता है। प्राणियो के उक्त १० प्राणो मे से किसी भी प्राण

का विघात या वियोजीकरण करना प्राणो से रहित कर देना प्राणातिपात या प्राणि-हिंसा है।

बहुत-से स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति यह सोचते है कि किसी का श्वास बन्द कर दिया—रोक दिया अथवा किसी का आयुष्य खत्म कर दिया—इतना ही प्राणातिपात या हिंसा का अर्थ है। लेकिन यह अर्थ अधूरा और एकागी है। किसी प्राणी का दम घोट देना या श्वास रोक देना या आयुष्य खत्म कर देना तो प्राणातिपात या हिंसा है ही। इसके अलावा भी पाँच इन्द्रियाँ और मन, वचन और काया ये तीन बल भी प्राण है, इनका विघात या वियोग कर देना भी हिंसा है।

जैसा कि शीलाकाचार्य ने सूत्रकृतागवृत्ति मे कहा है—

पचेन्द्रियाणि त्रिविध बल च,
उच्छ्वास-नि श्वासमथान्यदायु ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्
तेषा वियोजीकरण तु हिंसा ॥[1]

अर्थात्—पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल (मन, वचन और काया), श्वासोच्छ्वास एव आयु, ये दस प्राण तीर्थ कर भगवान ने कहे है। उनका वियोग करना—उनसे प्राणी को रहित कर देना ही हिंसा है।

हाँ, तो मै कह रहा था कि केवल एक-दो लोकप्रसिद्ध प्राणो का ही नही, दस प्राणो मे से किसी भी प्राण से जीव को रहित कर देना हिंसा है।

बहुत-से लोग किसी प्राणी का दम घोट देने या श्वास रोक देने को हिंसा नही मानते। प्राचीन काल मे एक खारपिटक मत था, जो किसी को तलवार, बदूक, लाठी आदि शस्त्र से मार डालने को ही हिंसा मानता था। किसी दु खी या पीडित व्यक्ति के श्वास बद कर देने को वह हिंसा नही मानता था बल्कि इसे '**घटचटकमोक्ष**'[2] कहा जाता था। जैसे घडे मे चिडिया को बद करके चारो ओर से उस घडे का मुँह बन्द कर देने पर चिडिया अपने आप ही जीवन से मुक्त हो जाती है उसी तरह इस मत वाले लोग इस जीवन से मुक्त होने के इच्छुक व्यक्ति को एक ऐसे कमरे मे बद कर देते थे, जिसमे कही से भी हवा का प्रवेश नही होता था। फलत वह व्यक्ति दो-चार मिनट मे ही श्वास बद होने से मर जाता था। परन्तु यह सरासर प्राणविघात है। इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है ! किसी का कान फोड देना, उसकी श्रवण शक्ति को नष्ट कर देना, अथवा दण्ड देने हेतु कानो मे गर्म शीशे का रस डाल देना,

---

१ सूत्रकृतागसूत्रवृत्ति १।१।३

२ **धनलवपिपासिताना विनेयविश्वासनायदशयताम् ।**
झटितिघटचटकमोक्ष श्राद्धेय नैव खारपिटकानाम् ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८८

कान काट लेना, यह श्रोत्रेन्द्रियबलरूप प्राण का विघात है। इसी प्रकार किसी की आँख फोड़ देना, आँखो की देखने की शक्ति नष्ट कर देना, आँखो मे सलाई भोककर उन्हे खत्म कर देना, यह चक्षुरिन्द्रियबलरूप प्राण का विनाश है। घ्राणेन्द्रिय (नाक) काट लेना, नाक की घ्राण (गन्ध) ग्रहण की शक्ति विनष्ट कर देना भी घ्राणेन्द्रियबलप्राण से रहित करना है। रसनेन्द्रिय (जीभ) काट लेना, या जीभ की चखने या बोलने की शक्ति नष्ट कर देना रसनेन्द्रियबलप्राण से रहित करना है, इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय (खास तौर से जननेन्द्रिय) को काट लेना या उसकी शक्ति नष्ट कर देना स्पर्शेन्द्रियबल-प्राणातिपात है। किसी की मानस शक्ति को नष्ट कर देना, उसके मन की मनन-चिन्तन करने की शक्ति को समाप्त कर देना, उसे पागल या विक्षिप्त कर देना, मनोबलप्राण का अतिपात है। इसी प्रकार किसी की वाचिक शक्ति को—बोलने की शक्ति को नष्ट कर देना, गूंगा बना देना, वाचिकबल को विपरीत कर देना वचनबल प्राणातिपात है। इसी प्रकार किसी के शरीर को क्षत-विक्षत (घायल) कर देना, शस्त्र से मारपीट देना, शरीर को तीखे नोकदार शस्त्र से गोद देना, शरीर के अगोपागो को काट डालना, शरीर को हानि पहुँचाकर बेडौल कर देना, ऐसा कर देना जिससे शरीर से उठा-बैठा न जा सके, यह सब कायबल-प्राण का अतिपात (विघात) है। इसी प्रकार किसी का श्वासोच्छ्वास रोक देना, तथा किसी को आयुष्य से रहित कर देना, ये दोनो प्राणातिपात (हिंसा) के प्रकार तो प्रसिद्ध ही हैं।

प्राणियो के ये १० प्राण एक प्रकार से बल है, जीवनी शक्तियाँ हैं। इन प्राणो के सहारे प्राणी अपनी निर्धारित या पूर्वबद्ध आयुष्यबन्ध तक जीवित रहता है। परन्तु प्राणिहिंसा करने वाला उसे अकाल मे ही—समय से पहले ही—नष्ट कर देता है, यही हिंसा है। पूर्वकर्मोदयवश किसी प्राणी के इन १० प्राणो मे से किसी भी प्राण का स्वत (किसी भी निमित्त से) नष्ट हो जाना, हिंसा नही है। इसी प्रकार प्राणायाम करने के लिए स्वय रेचक-पूरक-कुभक करना, श्वास रोकना, बाहर निकालना, अदर लेना प्राणातिपात या हिंसा नही है, और न ही कायोत्सर्ग, मौन, त्राटक या अन्य ध्यान, योगाभ्यास या योगासन करते समय पाँचो इन्द्रियो तथा मन, वचन, काया को स्वय रोकना, स्थिर एव एकाग्र करना प्राणातिपात नही है। और न ही सकाम निर्जरा एव कर्मक्षय हेतु किये जाने वाले अनशन, अवमौदर्य, कायक्लेश आदि किसी भी तप द्वारा स्वेच्छा से शरीर को कृश करना, इन्द्रियो को मन्दविषय बनाना या शरीर को मन्दकषाय बनाना, प्राणातिपात है। यह शरीर, इन्द्रियो आदि, पर अत्याचार नही है, स्वेच्छा से स्वीकृत तप है, आत्मविकास के अनुकूल शरीर इन्द्रियो और मन को बनाने की एक सयम प्रक्रिया है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

इसलिए हिंसा होना और हिंसा करना, इन दोनो मे महदन्तर है, इन दोनो के पीछे परिणामो मे अन्तर है। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—एक डॉक्टर

बहुत ही सहृदय, नामी और परोपकारी है। उससे पास एक दिन ऐसा रोगी आया, जिसका रोग दु साध्य था। डाक्टर ने उसके स्वास्थ्य की जाँच करके कहा—"इसका आपरेशन होगा। आपरेशन बडा जोखिमी है।" रोगी और उसके घर वाले आपरेशन कराने के लिए सहमत हो गये। डाक्टर ने विधिवत् आपरेशन करना शुरू किया। पहले तो आपरेशन ठीक चला। किन्तु सावधानी से आपरेशन करते हुए भी अकस्मात रोगी की एक नस कट गई, इससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई। डाक्टर ने रोगी को जान-बूझकर मारा नही, उसके हृदय मे रोगी की मृत्यु के लिए बहुत पश्चात्ताप है। रोगी के रिश्तेदारो को उसने अश्रुपूर्ण आँखो मे यह समाचार सुनाया, इससे डाक्टर की प्रेक्टिस को भी थोडा धक्का लगा। मगर डाक्टर ने रोगी की हिंसा की नही है, उसकी हिंसा हो गई है।

अब एक और दृष्टान्त, इससे ठीक विपरीत समझ लीजिए। एक ऐसा डॉक्टर है, जिसे मालूम हो गया कि रोगी के पास काफी धन है, साथ मे लाया है, नौकर के सिवाय इसका कोई रिश्तेदार साथ मे आया नही है। डॉक्टर ने रोगी को ऑपरेशन की सलाह दी। रोगी सहमत हो गया। डॉक्टर ने रोगी का ऑपरेशन करते-करते ही एक नस जान-बूझकर काट दी, जिससे रोगी की तत्काल मृत्यु हो गई। लोभी डॉक्टर ने रोगी की वह थैली तुरत अपने कब्जे मे कर ली और झूठे आँसू बहाते हुए नौकर को रोगी की मृत्यु की सूचना दी। वह बेचारा क्या कर सकता था? यहाँ डॉक्टर ने रोगी की हिंसा की है, हुई नही है।

अब एक तीसरा दृष्टान्त लीजिए, एक लोभी डॉक्टर का। उसने देखा कि रोगी अपने साथ बहुत पूँजी लाया है। रोगी से उसने कहा कि तुम्हारा रोग दु साध्य है, इलाज कर रहा हूँ, भगवान् करेगा तो ठीक हो जाएगा। इलाज करते-करते डॉक्टर के मन मे लोभ जागा। एक दिन उसने रोगी की दवा मे जहर की पुडिया घोलकर कहा—"लो यह दवा पी जाओ, इससे तुम्हारा रोग समूल नष्ट हो जाएगा।" डाक्टर पर विश्वास करके रोगी वह दवा पी गया। भाग्यवश वह जहर ही उसके लिए अमृत बन गया। कहावत है—**'विषस्य विषमौषधम्'** विष का निवारण करने हेतु विषमय औषध होता है। रोगी एकदम स्वस्थ हो गया। रोग नष्ट हुआ जानकर रोगी और उसके रिश्तेदारो ने डॉक्टर को बहुत धन्यवाद और इनाम दिया। किन्तु डॉक्टर का मनोरथ सफल न हुआ। वह मन से और कर्म से रोगी की हत्या कर चुका था, यह तो रोगी का आयुष्यबल प्रबल था कि वह जिंदा रह गया। इस दृष्टान्त मे डाक्टर ने जान-बूझकर हिंसा करने की चेष्टा की है। अत हिंसा करने का अपराधी डाक्टर हो चुका।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की चौभगी इस प्रकार बताई है—

१—एक मे द्रव्य से हिंसा होती है, भाव से नही।

२—दूसरा द्रव्य से भी हिंसा करता है, भाव से भी ।

३—तीसरा भाव से हिंसा करता है, द्रव्य से नही ।

४—चौथा न द्रव्य से हिंसा करता है, न भाव से ।

पूर्वोक्त तीन दृष्टान्त क्रमश प्रथम, द्वितीय और तृतीय भग के स्वामी के हैं। चौथा भग शून्य है ।

एक व्यक्ति मच्छीमार है, वह घर से मछली पकडने का जाल लेकर चला है। नदी मे जाल डालने पर चाहे वह एक भी मछली न पकड सका हो, फिर भी भाव से उसने मछलियो की हिंसा कर दी है, इसलिए वह हिंसा का भागी हो गया, भले ही उसने एक भी मछली न पकडी हो या न मारी हो। अथवा एक व्यक्ति ऐसा है जिसने स्वय हिंसा नही की है, दूसरा ही व्यक्ति उसके किसी दुश्मन को मार रहा है, किन्तु जिस समय वह दूसरा व्यक्ति उसके शत्रु को मार रहा है, उस समय वह खडा-खडा कह रहा है—"अच्छा हुआ, इसको तो ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए थी। यह इसी दण्ड के योग्य है।" इसमे मारने वाले को तो फल मिलता ही है, किन्तु जिस व्यक्ति ने बिलकुल प्रहार नही किया है, केवल दूसरे के द्वारा की जाने वाली हिंसा का जोरशोर से समर्थन—अनुमोदन करता है इसलिए हिंसा न करने पर भी ऐसा व्यक्ति हिंसा के फल का भागी हो गया।

एक अप्रमत्त साधु या वीतरागी साधु है, नदी पार करते है, किन्तु बहुत ही यतनापूर्वक, फिर भी कई जल-जन्तु उनके पैर के नीचे आकर (कुचल कर) मर जाते हैं, इतना होने के बावजूद भी उनके हिंसाजन्य पापकर्म का बन्ध नही होता और न ही उस हिंसा का फल मिलता है ?[1]

हिंसा का लक्षण

निष्कर्ष यह है कि हिंसा का—विशेषत सकल्पजा हिंसा का—जब तक व्यक्ति त्याग नही करता, तब तक चाहे वह हिंसा न कर सके, किन्तु हिंसाजन्य पाप तो उसे लगता ही रहेगा। इसीलिए पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे बताया गया है कि व्यक्ति बाहर मे हिंसा चाहे कर सके या न कर सके, किन्तु अगर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि के वश हिंसा का परिणाम मन मे आ गया तो हिंसा हो जाती है। जैसे—दियासलाई जलती है, तब वह चाहे दूसरो को जला सके या व्यक्ति सावधान हो तो न भी जला सके, परन्तु उसका अपना मुँह तो जल ही जाता है, उसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरो को हानि पहुँचा सके या न पहुँचा सके, दूसरो को मार सके या न मार सके। खुद अपने आप मे आत्महिंसा तो कर ही लेता है। जब भी रागादि या कषायादि का भाव उत्पन्न हुआ कि स्वहिंसा हो जाती है।

---

१ अविधायापि हिंसा, हिंसाफलभाजन भवत्येक. ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा, हिंसाफलभाजन न स्यात् ॥—पुरु० सि० ५१॥

इसलिए हिंसा से विरत न होना अर्थात्—हिंसा करने का त्याग न करना, तथा हिंसा करने का परिणाम ये दोनो ही हिंसा के रूप हैं। इसीलिए हिंसा का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र मे बताया गया है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा'

'मद, विषय, कषाय, निद्रा (असावधानी) एव विकथा आदि प्रमादयुक्त मन-वचन-काया के योग से किसी प्राणी का प्राणघात करना[1] हिंसा है।

जहाँ भी व्यक्ति के मन मे, वचन मे और काया मे प्रमाद आया और उसके आश्रित हिंसा करने का परिणाम आया, वही हिंसा है।

हिंसा के विविध विकल्प

इससे पूर्व मैं हिंसा के अनेक विकल्प बता आया हूँ। और भी अनेक विकल्प है—हिंसा के।

कभी-कभी ऐसा होता है कि तीव्र (क्रूर) परिणामो मे एक व्यक्ति के द्वारा की गई थोडी-सी हिंसा, विपाक (फलभोग) के समय बहुत अधिक फल देती है, जबकि दूसरे व्यक्ति द्वारा मन्द परिणामो से की गई महाहिंसा भी विपाक के समय स्वल्प फल देकर रह जाती है। जैन इतिहासकारो का कहना है कि मैतार्य मुनि ने पूर्वभव मे एक काचर को बहुत ही क्रूर भावो से छीला था, जिसके फलस्वरूप मैतार्य मुनि के भव मे उन्हे सुनार के द्वारा मरणान्तक यातना भोगनी पडी। काचर एकेन्द्रिय वनस्पति है, उसको हिसा वैसे तो स्वल्प ही होती ह, लेकिन क्रूरतापूर्वक उसे छीला गया था, इसी कारण उस हिंसा का महाफल मैतार्य मुनि को चमडी उधडवाने के रूप मे मिला। चेडा महाराज का हल्लविहल्लकुमार को न्याय दिलाने तथा शरणागत-सुरक्षा के कारण कोणिक क साथ भयकर युद्ध लडना पडा, जिसमे एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्यो का सहार हुआ। इतन पचेन्द्रिय मनुष्यो का वध तीव्र कषायवश जान-बूझकर कोई दूसरा करता तो उसका नरक के सिवाय कोई गति न होती, परन्तु चेडा महाराज को न्यायनीति और धर्म की दृष्टि से वह युद्ध करना पडा। युद्ध उन पर लादा

---

१ व्युत्थानावस्थाया रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियता जीवो मा वा, धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥४६॥
यस्मात् सकषाय. सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चात् जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥
अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप. ॥४४॥
हिंसायामविरमण हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम् ॥४८॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

गया था। उन्होने स्वय चलाकर युद्ध नही किया था। इसलिए चेडा राजा को उस महाहिंसा का भी मन्दफल मिला।[1]

दो आदमी एक साथ एक ही प्रकार की हिंसा कर रहे हैं, उनमे से एक के परिणाम अन्यन्त तीव्र (क्रूर) है, उसे उसका फल तीव्र मिलता है, जबकि दूसरे के परिणाम मन्द हैं, तो उसे उसका फल मन्द मिलता है।[2]

उदाहरण के तौर पर—दो जल्लाद हैं। उन्हे किसी अपराधी को फाँसी पर चढाने का आदेश मिला। उनमे से एक ने अपना कर्तव्य समझकर अपराधी के प्रति मन मे दुर्भाव न लाते हुए मन्दभाव से फासी लगाने की पूर्व तैयारी की, लेकिन दूसरे ने कर्तव्य भावना को ताक मे रखकर अपराधी के प्रति दुर्भाव लाकर क्रूरतापूर्वक फासी लगाई। दोनो जल्लादो के एक ही हिंसा कार्य में प्रवृत्त होते हुए भी दोनो के भावो मे अन्तर होने के कारण दोनो के फल मे अन्तर पडा। पहले जल्लाद को मन्द-भावो के कारण हिंसा का मन्दफल मिला, जबकि दूसरे जल्लाद को तीव्र एव क्रूर भावो के कारण तीव्रफल।

इसी प्रकार कई दफा हिंसा करने से पहले ही (हिंसा के भाव आ जाने से) फल मिल जाता है, कई दफा हिंसा की जा रही हो, उस समय तत्काल फल मिलता है, कई दफा हिंसा कर लेने के बाद फल मिलता है, कई बार हिंसा प्रारम्भ करना चाहते हुए भी न करने (कर पाने) पर भी हिंसा के परिणामो के कारण फल मिलता है। इन चारो के क्रमश उदाहरण लीजिए—

(१) एक आदमी ने अपने शत्रु को देखकर मन ही मन उसे मार डालने का विचार किया। जब शत्रु नजदीक आया तो उसने मारने के विचार वाले व्यक्ति को देखते ही छुरा निकाल कर उसके पेट मे भोक दिया। वही उसका काम तमाम हो गया। यह है हिंसा करने से पहले ही (दूसरे का मारने के दुर्भाव आते ही) स्वय की हत्या फल मिल जाने का उदाहरण ? (वर्तमान पत्रो मे पढी घटनाएँ।)

(२) एक सिक्ख ने बस मे चढते समय एक खरगोश को भागते देखा, उसने खरगोश को मारने के लिए छुरा निकाला। ज्यो ही वह खरगोश के छुरा मारने जा रहा था। तभी सहसा छुरा खरगोश के न लगकर उस सिक्ख के अपने हाथ पर पडा। हाथ कट गया। खून की धारा बह चली। यह है—हिंसा करते हुए तुरन्त हाथोहाथ फल मिलने का उदाहरण।

---

१ एकस्याल्पाहिंसा ददातिकालेफलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

२ एकस्य सैव तीव्र दिशति फल सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोऽपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

३ प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति, फलति कृतापि च।
आरभ्यकर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

(३) मेरठ जिले के दादरी गाँव मे एक पहलवान रहता था। वह रोज दूध हडिया मे डाल कर गर्म करने हेतु चूल्हे पर चढाकर अखाडे मे चला जाता था। दो-तीन दिन से एक कुत्ता थोडा-सा दूध पी जाया करता था। जब वापस आकर देखता तो उसने सोचा—यह दूध कम कैसे ? हो न हो कोई न कोई पी जाता है। आज मैं देखूँगा कि कौन यह दूध पी जाता है। वह एक कोने मे छिपकर बैठ गया। कुछ ही देर बाद एक कुत्ता आया, वह दूध की हडिया के पास पहुँचकर ज्यो ही हडिया मे मुँह डालने लगा, त्यो ही पहलवान ने दरवाजा बन्द कर दिया, उस कुत्ते को रस्सी से बाँधा और लोहे की नोकदार सलाइयाँ गर्म करके उसकी आँखो मे घुसेड दी। अब क्या था, कुत्ता असह्य पीडा के कारण छटपटाता रहा और दो-तीन दिन मे ही मर गया। इस घटना के ठीक सात दिन बाद उस पहलवान की आँखो मे शूल भोकने जैसी असह्य पीडा उत्पन्न हुई और ७ ही दिन मे वह पहलवान उस पीडा से छटपटा-कर मर गया। यह है—हिंसा करने के बाद फल मिलने का उदाहरण ! कई बार फल देर से भी मिलता है। पर मिलता जरूर है।

(४) मेरठ मे ५ मील दूर पाचली गाँव का एक उदाहरण है। दो किसान किसी दूसरे गाँव से बैल खरीदने पाचली गाँव मे आए। पाचली के ही एक किसान परिवार मे वे ठहरे। किसान परिवार मे दो भाई थे। उन्होने बैलो की जोडी दिखाई। दोनो आगन्तुको को बैलो की जोडी पसद आ गई। बारह सौ रुपये मे बैलो की जोडी तय हो गई। परन्तु रात पड जाने के कारण आगन्तुको ने उस समय किसान बन्धुओ से कहा—"इस समय रात पड गई है। हमारा गाँव यहाँ से काफी दूर है। अत रात को हम बैल लेकर समय पर नही पहुँच सकेगे। अत रात भर हम आपके यहाँ ही ठहरेगे। सुबह १२००) देकर बैल ले जाएँगे।"

दोनो किसान भाइयो ने कहा—"बहुत अच्छी बात है। आप रात भर यही ठहरिये। आपके खाने-पीने, सोने आदि की सब व्यवस्था यही हो जाएगी।" ठीक समय पर दोनो आगन्तुको को भोजन करवा दिया। बाहर की बैठक मे दोनो के सोने के लिए चारपाई लगवा दी गई, उस पर बिछौना बिछवा दिया गया। दोनो आगन्तुक थोडी बातचीत करके सो गये। कुछ ही देर बाद दोनो किसान भाइयो के मन मे दुर्भाव पैदा हुआ—क्यो नही इन दोनो का सफाया कर दिया जाए, यहाँ हमारे सिवाय और तो कोई जानता ही नही है। १२००) रुपये तो इनके पास है ही, और भी होगे। बैलो की जोडी भी नही देनी पडेगी। परन्तु इन दोनो की गर्दनो पर छुरा फेरने का कार्य उन्होने अपनी-अपनी पत्नियो को सौपा और स्वय दोनो ने गड्ढे खोदने का जिम्मा लिया अपनी-अपनी पत्नियो से दोनो भाइयो ने कह दिया—'जब हम इशारा करे कि अब गड्ढे खुद गये है, तब तुम चुपचाप मौका देखकर इनकी गर्दनो पर छुरा फेर देना। फिर हम सब मिलकर इन्हे उन गड्ढो मे डालकर जमीन को ऊपर से एक-सी कर देंगे, ताकि किसी को सन्देह न हो।" दोनो भाई रात को लगभग ११ बजे निकटवर्ती गन्ने के खेत मे गड्ढे खोदने गए। गड्ढे खोदते समय पत्तो की खडखडाहट होने लगी। ठीक उसी समय पाचली का

ही एक किसान उधर ही शौचक्रिया करने गया। किन्तु पत्तो की खड़खड़ाहट तथा दोनो भाइयो की बातचीत साफ-साफ सुनाई दे रही थी। उसने कान लगाकर दोनो की बात सुनी तो शका हुई कि इनके यहाँ कोई व्यक्ति आज आए हुए हैं, उन्हे ही '। वह किसान झटपट शौचक्रिया से निवृत्त होकर उन किसान भाइयो के यहाँ पहुँचा और बैठक मे सोए हुए दोनो आगन्तुको के हाथ लगाकर धीरे से जगाया तथा एक के कान मे कहा—"यहाँ से अभी का अभी चलो, आपको दूसरी जगह सोना है।" उन दोनो आगन्तुको के अन्तर् मे कोई दैवी प्रेरणा हुई कि कुछ न कुछ दाल मे काला है। वे दोनो झटपट उठकर अपना सामान लेकर उक्त ग्रामीण के साथ चल दिये। उसने उन्हे अन्यत्र ले जाकर सुला दिया। सयोगवश उस दिन उन दोनो कृषक भाइयो के दो पुत्र गाँव मे आई हुई नाटक मडली का नाटक देखने गये हुए थे। उनको नीद के झौंके आने के कारण वहाँ से उठकर घर आ गए। बैठक मे दो खाटो पर बिछौना किया हुआ देखकर सोचा—हमारे लिये ही हमारी माताओ ने यह किया होगा। वे दोनो कुछ समय तक बातचीत करके अपनी-अपनी कमीज खूँटी पर टागकर सो गए। उधर गड्ढे खुद जाने के बाद दोनो कृषक भाइयो ने अपनी पत्नियो को सकेत किया कि मामला तैयार है, अब तुम शीघ्र ही इनका काम तमाम करो। दोनो महिलाओ ने खाट के पास जाकर देखा कि और समझी कि दोनो गहरी नीद मे सोये हुए है। बस चट से एक-एक ने एक-एक की गर्दन पर तेज छुरा फेर दिया। दोनो बच्चे थोडी ही देर मे समाप्त। फिर उन महिलाओ ने दोनो की कमीजे टटोली तो आश्चर्य हुआ कि उनमे १२००) या १५००) रुपये के बदले आठ-दस आने ही निकले। बुरा काम भी किया और पल्ले भी कुछ नही पडा, इसका उन्हे अफसोस हुआ। पर अब क्या था। दोनो कृषक-भाई भी घर पर आगए। और दोनो की लाशे लेकर गड्ढे मे डालने पहुँचे। गड्ढे मे डालकर निश्चिन्त होकर जब सोने लगे तो उक्त दोनो महिलाओ की बात सुनकर चिन्ता मे पड गए। किसी तरह रात काटी। सबेरे जब एक भाई गाँव मे जा रहा था, तो एक कुए पर दोनो आगन्तुको को हाथ-मुँह धोते देखकर वह भौचक्का-सा रह गया। उलटे पैरो घर लौटकर उसने अपनी स्त्री से पूछा—"तुम ने किन का सफाया किया है ? उन दोनो को तो मै कुँए पर हाथ-मुँह धोते जीवित देखकर आया हूँ। जरा ठीक से देखो, कही अपने बच्चो को तो ?" महिलाओ को भी वहम हुआ। दोनो भाई गन्ने के खेत मे गड्ढे खोदकर पुन देखने पहुँचे। उधर उक्त ग्रामीण की रिपोर्ट पर पुलिस घटनास्थल पर पहुँच गई। गड्ढा खोदकर देखा तो दोनो भाइयो के अपने ही लडके ! सारे घर मे कुहराम मच गया। पुलिस दल उन दोनो भाइयो तथा उनकी पत्नियो को गिरफ्तार करके ले गया। चारो पर मुकदमा चला। कई वर्षों की जेल हुई, आर्थिक दण्ड भी हुआ। इस तरह वे बर्बाद हो गए।

यह घटना हिंसा के चतुर्थ विकल्प की द्योतक है कि जिनकी हिंसा करना चाहते थे, उनकी हिंसा की तैयारी कर लेने पर भी न कर सके, किन्तु उसका दुष्फल कुछ ही समय बाद भोगना पडा।

कभी-कभी एक व्यक्ति हिंसा करता है, किन्तु उस हिंसा के फलभागी बहुत-से होते हैं, अथवा इसके विपरीत कभी-कभी बहुत-से लोग मिलकर सामूहिक रूप से हिंसा करते हैं, लेकिन उस हिंसा का फलभागी एक ही व्यक्ति होता है।[१]

इन दोनो विकल्पो के भी उदाहरण लीजिए—वाल्मीकि रामायण के रचयिता वाल्मीकि ऋषि बनने से पहले सारे परिवार की ओर से स्वय अकेले ही लूटपाट, हत्याकाण्ड आदि करते थे। इस हिंसाकाण्ड मे जो कुछ भी प्राप्त होता उसे वाल्मीकि घर ले जाकर सबको दे देते थे। वाल्मीकि यही समझते थे कि जब परिवार के सभी मेरे हत्याकाण्ड से प्राप्त समान का उपभोग करते है तो इस हत्याकाण्ड के फल मे भी सबका हिस्सा है। वास्तव मे सिद्धान्त की दृष्टि से था भी ऐसा ही। वाल्मीकि की आँखे तो तब खुली, जब नारदजी ने उनसे पूछा कि "यह जो तुम हिंसाकाण्ड करके सामग्री ले जाते हो, उसका फल किसको भोगना पड़ेगा ?" वाल्मीकि बोले—"मेरे हिंसा-काण्ड से प्राप्त सामग्री का उपभोग तो मेरे सारे परिवार वाले करते है, फल भी सबको भोगना पडेगा ?" नारदजी—"परिवार वालो से तुमने पूछा ह या यो ही अपने मन से कह रहे हो ? मेरे खयाल मे परिवार वाले तुम्हारे इस हिंसाकाण्ड के फलभागी नही होगे।" वाल्मीकि बोले—"इसमे क्या पूछना है ? फिर भी आप कहते हो तो मैं आपको पेड से बाँधकर फिर जाकर परिवार वालो से पूछ आऊँगा।" नारदजी—"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

वाल्मीकि ने नारदजी को एक पड से कसकर बाँध दिया और घर की ओर दौडे। घर जाकर अपनी मा से पूछा—"मैं जो हिंसा, लूटमार आदि करके सामग्री लाता हूँ। उसका उपभोग तो आप सब करते है, तब उस हिंसा आदि के फल मे भी हिस्सेदार सब होगे न ?" माँ ने कहा—"हम क्यो उस बुरे कर्म के हिस्सेदार होगे। हमने तुमसे कब कहा था कि तू हिंसादि करके ला।" इसके बाद उसने क्रमश पिता, पत्नी, भाई, भाभी, पुत्र-पुत्री आदि सबसे वही प्रश्न किया, तुरन्त सबका उत्तर यही रहा—"हम तुम्हारे हिंसादि पाप कर्म के हिस्सेदार नही है। इस प्रकार पापकर्म के जिम्मेदार तुम अकेले हो।" यह सुनकर वाल्मीकि की आँखे खुली—"ओह ! मैं कितना भ्रम मे था।" आखिर वाल्मीकि ने वापस नारदजी के पास आकर उन्हे बन्धनमुक्त किया, चरणो मे पडे, माफी मागी और उनसे अपने उद्धार का—राम नाम मन्त्र लिया। तब से उन्होने उस हिंसादि पापकर्म को सर्वथा छोड दिया।

यह है—प्रथम विकल्प का उदाहरण, जिसमे हिंसादि करता एक है, किन्तु उसके फलभागी अनेक होते हैं।

---

१ एकः करोति हिंसा भवति फलभागिनो बहव ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येक ॥५५॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

इसी प्रकार युद्ध मे शासक की ओर से अनेक लोग लड़ते है, शत्रुपक्ष की सेना के लोगो को मारते हैं, लेकिन युद्ध के फलस्वरूप हार या जीत शासक को मिलती है। यह है—अनेक द्वारा हिंसा किये जाने पर एक के फलभागी बनने का उदाहरण।

ये और इस प्रकार के अनेक विकल्प हिंसा के होते हैं। आत्मकल्याणकामी व्यक्ति को इस प्रकार की सभी हिंसाओ से बचना चाहिए।

प्राणिहिंसा के विविध प्रकार

प्राणिहिंसा की परिभाषा मे बताया गया था, १० प्रकार के प्राणो मे से किसी भी प्राण की हिंसा—विघात या क्षति प्राणातिपात है। परन्तु इन दस प्राणो की क्षति भी मानव किस-किस रूप मे करता है ? यह जान लेना बहुत ही आवश्यक है। 'इरिया-वहिया' के पाठ मे अभिहया आदि १० भेदो का जो क्रम बताया गया है, उसी क्रम से मैं आपके समक्ष चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूँ—

अभिहया—सामने से आते हुए प्राणी को धक्का देना, उससे टकराना।

वत्तिया—उस पर धूल ढक देना अथवा उसकी आँखो मे धूल झौंक देना।

लेसिया—परस्पर एक दूसरे से चिपका देना, बेमेल गठबन्धन कर देना।

संघाइया—एक पर एक ढेर कर देना, बेतरतीब से इकट्ठे कर देना।

संघट्टिया—कठोरता से, द्वेषवश छूना, अथवा मर्मस्पर्श करना।

परियाविया—परितापना देना—दूसरे को पीडा देना।

किलामिया—दूसरे को थका देना, हैरान कर देना।

उद्दविया—भयभीत कर देना, आतंकित कर देना, उपद्रव खडा कर देना।

ठाणाओ ठाणं संकामिया—हैरान करने की दृष्टि से एक जगह से दूसरी जगह रखना, जमे हुए स्थान को उखाडकर दूसरी जगह रख देना, बार-बार स्थान परिवर्तन करने के लिए बाध्य करना।

जीवियाओ ववरोविआ—जीवन से रहित कर देना अथवा जीविका से वञ्चित कर देना।[1]

इसी प्रकार अहिंसाणुव्रत के ५ अतिचार है, वे भी हिंसा के ही प्रकार है—

बधे—ऐसे गाढ बंधन से प्राणी को बाँधना कि वह खुल न सके।

वहे—जैसे—मारना-पीटना, इस प्रकार से मारना कि मर्मस्पर्शी चोट लगे।

छविच्छेए—द्वेषरोषवश चमडी उधेड लेना, भयंकर डाम लगा देना, जिससे घाव हो जाए।

अइभारे—मनुष्य अथवा पशु पर इतना वजन लाद देना कि सहन न हो सके।

---

१ आवश्यक सूत्र, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण सूत्र

भत्त-पाण-विच्छेए—द्वेषरोषवश आहार-पानी बन्द कर देना, उसमें अन्तराय डालना ।[१]

हिंसा : क्यों और किसलिए

हिंसा किसी भी प्रकार की हो वह त्याज्य है, निन्द्य है और दुःख-दुर्गतिजनक हैं । अहिंसा अमृत है, वही आचरणीय और उपादेय है, फिर भी न जाने क्यों मनुष्य हिंसा को अपनाता है ? जगत् के जीवो मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है । यदि वही अहिंसा के अमृत को छोडकर हिंसा का विष पीने लगे, अहिंसा के कार्य को तिलांजलि देकर हिंसा के अकार्य को करने लगे तो इसमे उसकी श्रेष्ठता कहाँ रही ? यही कारण है कि महर्षि गौतम ने हिंसा को मनुष्य के लिए सबसे बढ़कर अकार्य बताया है । फिर भी मानव विविध प्रसगो पर विविध कारणो को समुपस्थित करके हिंसा की दानवी भावना और राक्षसी शक्ति का पिण्ड नही छोडता ।

आचाराग सूत्र मे हिंसा को मनुष्य क्यो अपनाता है, इसके प्रमुख कारणो का उल्लेख करते हुए कहा है—

वंदण-माणण-पूयणाए

मनुष्य अपने सामने दूसरो को झुकाने, नतमस्तक करने और अभिवादन एव स्तुति-श्रवण करने के लिए, अपने अह को दाना-पानी देने के लिए तथा ससार मे अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए हिंसा को अपनाता है ।[२]

इन्ही तीन प्रमुख कारणो की छाया मे लोगो ने अगणित कारण हिंसा के प्रस्तुत किये है । ईसाई धर्म के प्रमुख धर्मग्रथ मे हिंसा का निषेध होने के साथ-साथ दो शब्द ऐसे जोड दिये हैं, जो ईसाईधर्मी लोगो के हिंसा की खुली छट के कारण बने हुए है । वह वाक्य यो है—

Thou shalt not kill, without cause[३]

"तुझे किसी भी प्राणी को नही मारना चाहिए, बिना कारण के ।"

इस वाक्य मे without cause ये दो शब्द बहुत ही अनर्थ के कारण बन गए। जहाँ भी हिंसा करने वाले ईसाई से कोई पूछेगा तो उसके मुँह से यही उद्गार निकलेगा—"देखो क्या लिखा है, अन्त मे—without cause बिना कारण के मत मारो ।" हमने किसी को मारा है या मारते हैं तो कारण से मारते हैं ? अपने अह के या रगभेद-जनित जातीय अह के कारण वहाँ केनेडी जैसे राष्ट्रपति की हत्या की गई । कारण तो उचित भी हो सकता है, अनुचित भी । इसीलिए कही धर्मसम्प्रदायाभिमानवश, कही रग, राष्ट्र, प्रान्त, जाति आदि घटको के कारण हिंसा का ताडव हुआ । आज

---

१ आवश्यक सूत्र, प्रथम अणुव्रत के पांच अतिचार

२ आचारांग प्रथम श्रुत०, अ० १

३ बाइबिल—गिरि प्रवचन

यहाँ तक नौबत आ गई है, जरा-सा कोई राष्ट्रीय स्वार्थ भग हुआ, कि युद्ध के बादल गरजने लग जाते हैं। आजकल के युद्ध पहले की तरह के सीमित दायरे के, पुराने शस्त्राशस्त्री युद्ध नही रहे, आज तो महायुद्ध—विश्वयुद्ध होते हैं, उसमे परमाणु बम या उद्‌जन बम का ही सहारा लिया जाता है। दूसरे राष्ट्र को झुकाने, अपने राष्ट्र की विजय-पताका फहराने और अपने राष्ट्रीय या जातीय अह को प्रोत्साहन देने हेतु यह युद्धजनित हिंसा होती है।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमत्री प० जवाहरलाल नेहरू ने इस पारस्परिक युद्धों को टालने के लिए सारे विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय पचशील का नारा बुलन्द किया था, तथा सभी राष्ट्रो को शान्ति से जीने के लिए नि शस्त्रीकरण की प्रक्रिया की बात समझाई थी। लेकिन युद्धोन्मादी राष्ट्र और खासकर महाशक्तियाँ इसे माने तब न ? अगर वे इसे मान जाएँ और अपने-अपने राष्ट्र मे क्रियान्वित करे तो हिंसा—युद्ध-जनित महाहिंसा सारे विश्व से निर्वासित हो सकती है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि हिंसा के लिए मुख्यतया तीन कारण प्रस्तुत किये जाते है। इन्ही की छाया मे प्राचीनकाल मे धर्म के नाम से, देवीदेवो के नाम से, गुरुओ के नाम से हिंसाएँ की जाती थी। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे उनकी थोडी-सी झाकी मिलती है। उनका भावार्थ इस प्रकार है—

कई लोग यो मानते है कि भगवद् धर्म समस्त पदार्थों से सूक्ष्म है, श्रेष्ठ है, इसलिए धर्म के लिए (धर्मरक्षार्थ) किसी की हिंसा करने मे कोई दोष नही, परन्तु धर्ममूढ हृदय लोगो को भूलकर भी इस प्रकार से प्राणियो की हिंसा नही करनी चाहिए।[1] प्राचीनकाल मे यज्ञो की धूम मची रहती है, और प्रत्येक यज्ञ मे हजारो मूक पशुओ की बलि दी जाती है। जब उनसे यह पूछा गया कि यह हिंसा धर्म कैसे हो सकती है ? जैसाकि पूर्वमीमासा मे स्वीकार किया गया है—**"हिंसानाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति।"**

'भला हिंसा मे धर्म होता है, ऐसा तो न कभी हुआ है, और न कभी होगा।' तब उसका उत्तर दिया जाता है—

या वेदविहिता हिंसा सा हिंसा न निगद्यते।

वेदविहित हिंसा हिंसा नही होती। क्योकि धर्म का लक्षण पूर्व-मीमासा मे किया **'वेदविहित जो भी आदेश-निर्देश हैं, वे धर्म हैं।'** परन्तु वेदविहित होने से हिंसा धर्म हो जाती है, यह बात तर्क, युक्ति, अनुभूति, प्रमाण आदि से सगत नही बैठती, न ही निष्पक्ष मानव-बुद्धि इसे धर्म स्वीकार कर सकती है।

इसके अतिरिक्त कही-कही यह मान्यता है कि धर्म देवो से प्रादुर्भूत होता है

---

१ **सूक्ष्मोभगवद्धर्मो, धर्मार्थंहिंसने न दोषोऽस्ति।**
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥७९॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

इसलिए उन देवो को बलि प्रदान करनी चाहिए। इस प्रकार की दुर्विवेक से युक्त बुद्धि से प्रेरित होकर भी प्राणियो की हिंसा नही करनी चाहिए। बगाल मे आज भी काली, दुर्गा आदि के आगे हजारो बकरो की बलि दी जाती है। इसी प्रकार नेपाल मे पशुपतिनाथ के आगे हजारो भैसो की बलि दी जाती है।

क्या इस प्रकार की निर्दोष पशुओ की हिंसा कल्याणकारिणी हो सकती है? जो बकरो को बलि देकर उन्हे स्वर्ग पहुँचाने का कहते है, उन्हे पहले अपने माता-पिता की बलि देकर उन्हे स्वर्ग मे पहुँचाना चाहिए। ऐसी अकाट्य युक्ति के आगे वे निरुत्तर हो जाते हैं। व्यासजी ने महाभारत मे पशु-बलि की कडे शब्दो मे भर्त्सना की है—

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्यनेन गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते?[1]

'वृक्षो को काटकर, पशुओ की हत्या करके, रक्त का कीचड बनाकर ऐसे पशुहिंसामूलक यज्ञ से मनुष्य यदि स्वर्ग मे चला जाता है तो फिर नरक मे कौन जाएगा?' सभी धर्मशास्त्र एक स्वर से पशुहिंसा का निषेध करते हैं। कोई भी धर्म हिंसा मे धर्म नही बताता। बौद्ध धर्मग्रन्थ थेरीगाथा मे स्पष्ट कहता है—

अघमूल भय वधो[1]

—भय और वध (हिंसा) दोनो पाप के मूल है।

महाभारत शान्तिपर्व मे भी इसे अधर्म बताया गया है—

'अधर्म प्राणिनाम् वध।'[2]

इससे आगे चले। किसी अतिथि या पूज्य पुरुष के आगमन पर या उनके नाम से कोई उत्सव मनाने पर उनके निमित्त से बकरे आदि का वध करने मे कोई दोष नही है, इस प्रकार विचार करके किसी भी अतिथि या पूज्य के लिए प्राणिहिंसा नही करनी चाहिए।

आज भी विदेशो मे और भारत मे यह मान्यता प्रचलित है कि वे किसी भी नेता, बडे आदमी या पूज्य अतिथि के सम्मान मे जब दावत देते है तो बकरे, मुर्गे आदि का मास, शराब आदि वस्तुओ का उपयोग करते है। परन्तु जो व्यक्ति अहिंसा-धर्मी है, वे स्वय भी शराब मास आदि हिंसाजनक वस्तुओ का उपयोग नही करते और न अपने अतिथियो को ही देते है।

श्री चोइथराम गिडवानी उन दिनो राज्यपाल थे। वहाँ कोई विशिष्ट विदेशी सज्जन अतिथि के रूप मे आने वाले थे। उनके सम्मान मे प्रतिभोज देना था। अहिंसा-प्रधान इस देश के विदेशी अतिथि के भोज मे उन्होने शराब और मास का प्रबंध न

---

१ महाभारत
२ थेरीगाथा

किया, देशी मिठाइयो, शर्बत आदि पेय पदार्थों का ही उपभोग आगन्तुक अतिथि को कराया, तथा शराब-मास का प्रबन्ध न कर सकने का कारण बताकर क्षमायाचना की। विदेशी अतिथि ने उनके इस आतिथ्य की प्रशसा की और कहा कि मुझे भारतीय खाद्य पदार्थ बहुत अच्छे लगे।

एक और अन्ध परम्परा भारतीय तापसो मे प्रचलित थी। वह यह कि वे यह मानते थे क अनाज आदि के दानो मे अनेक जीव होते है, इन अनेक प्राणियो का घात करके भोजन प्राप्त करने की अपेक्षा एक बडा प्राणी मारकर उससे ४-६ महीनो काम चला लो।[1] सूत्रकृतागसूत्र मे ऐसे हस्तीतापसो के मत का वर्णन है, जो एक हाथी मारकर उससे ४-६ महीने भोजन का काम चला लेते थे। परन्तु भगवान् महावीर ने इस भ्रान्त मत का खण्डन किया है। उनका मन्तव्य यह है कि इस प्रकार का गलत विचार करके किसी महाप्राणी की हिंसा करना कथमपि उचित नही है। इसका कारण है कि हिंसा का आधार हिंस्य प्राणियो की गिनती पर निर्भर नही है, अपितु प्राणियो के प्राण इन्द्रिय आदि के विकास के आधार पर निर्णय किया जाता है। एकेन्द्रिय प्राणी की अपेक्षा द्वीन्द्रिय का, द्वीन्द्रिय की अपेक्षा त्रीन्द्रिय का, त्रीन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय का और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पचेन्द्रिय और उसमे भी मनुष्य का, मनुष्यो मे भी राजा तथा साधु-साध्वी-आचार्य आदि का विकास उत्तरोत्तर अधिक है। इसी दृष्टि से हिंसा का नाप-तौल होता है। एकेन्द्रिय की हिंसा और पचेन्द्रिय की हिंसा मे, उसके फल मे बहुत तारतम्य है। यह मान्यता भी यथार्थ नही है कि एक जीव के घात से अनेक जीवो की रक्षा होती है। इसे मानकर भी हिंस्र प्राणियो की हत्या नही करनी चाहिए।[2]

'ये प्राणी जिंदा रहेगे तो बहुत-से जीवो की हत्या करके भयकर पापोपार्जन करेगे, इस प्रकार की अनुकम्पा करके उन हिंस्र प्राणियो की हिंसा नही करनी चाहिए।'

बहुत से लोग साप, सिंह, बिच्छू बाघ आदि जीवो को देखते ही मार बैठते है अथवा पहले से ही पता लगाकर उन निरपराधी जीवो को मारते रहते है। चाहे वे जीव बिना छेडे किसी को न मारते हो।[3]

---

१ बहुसत्त्वघातजनितादशनाद् वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

२ रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्य न हिंसन हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

३ बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया शरीरिणो हिंस्रा ॥८४॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

बेचारे ये प्राणी जिन्दा रहेगे तो बहुत-सा पाप कर्म करेंगे, इसीलिए इन्हे मार दें तो ये भयकर पाप नही कर सकेंगे, ऐसा सोचना ही गलत है। पापकर्म का आधार किसी प्राणी के भावो पर है, न कि किसी प्राणी का न रहना।

उस युग मे एक दु खमोचक मत प्रचलित था, जिसकी यह मान्यता थी कि जो प्राणी किसी न किसी दु ख से पीडित है, अगर वे चिरकाल तक जिंदा रहगे तो बेचारे बहुत ही दुखी रहेगे। इसीलिए इन्हे मार डालने से शीघ्र ही इनके दु खो का अन्त आ जाएगा। इस प्रकार कुवासना रूपी तलवार लेकर दु खी जीवो को नही मारना चाहिए।[१] बात यह है कि प्राचीनकाल मे इस प्रकार दु खमोचक लोगो का बाहुल्य था, जिन्हे पैसे देकर दुखी लोग अपनी हत्या करवाते थे, किन्तु आजकल स्वय आत्महत्या कर लेते है, कोई विष खाकर, कोई तालाब या नदी मे डूबकर, कोई कुँए मे गिरकर तो कोई रेलगाडी से कटकर। आत्महत्या के कारण प्राय ये होते है—(१) गृह-क्लेश से तग आकर, (२) किसी के साथ अनबन हो जाने से, (३) आर्थिक सकट से ऊबकर, (४) कर्जदारी हो जाने से, (५) घर से निकाल देने से। चाहे दूसरे से अपनी हत्या कराए, चाहे स्वय हत्या करे, कोई भी व्यक्ति इस प्रकार अकाल मे ही अपना प्राण छोडे, उसे सुगति प्राप्त नही होती और न ही वह सुखी हो सकता है। बल्कि आत्म-हत्या करने-कराने से घोर हिसा होती है, जिससे भयकर कर्मबन्ध होकर अनेक बार दुर्गतियो मे भटकना पडता है, इसीलिए ऐसी हिसा भूलकर भी न करे।

इसी प्रकार की एक मूढता उस जमाने मे और प्रचलित थी, वह यह कि पता नही कब दु ख की घडी आ जाए, बडी कठिनाई से तो सुख की घडी मिली है। सुखी अवस्था मे मरने से आगे भी सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सुखी मनुष्यो को झटपट सुखी करने या भविष्य मे शीघ्र सुख दिलाने के लिए उनका वध करना कथमपि हितावह नही है।[२] यह सकल्पी हिंसा हो जाएगी, जिसका भयकर परिणाम भोगना पडेगा। अगर इस प्रकार सुखी अवस्था मे मरने से आगे सुखी हो जाता तो प्रत्येक देवता अपना आयुष्य पूर्ण होने से पहले ही सुखी-अवस्था मे ही मर जाता या दु खी को मार डालने से उसको दु ख से छुटकारा मिल जाता हो तो नरक मे सभी नारकी जीव दुखी और त्रस्त है, उन्हे परमाधर्मी देव मार-मारकर क्यो नही दु ख से मुक्त कर देते? परन्तु यह स्वार्थ ऐठने की कपोलकल्पित मान्यता है। यह भी एक प्रकार की पापलीला है, जैसे पोप लोग स्वर्ग की हुडी, चाहे जिसको लिखकर दे देते और उससे धन ऐठ लेते थे उससे मिलती-जुलती यह मान्यता है।

---

१ बहुदु खा सज्ञपिता प्रयान्तित्वचिरेण दु खविच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीमादाय न दु खिनोऽपि हन्तव्या ॥८५॥

२ कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हता सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्र सुखिना घाताय नादेय ॥८६॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

'मेरे गुरुजी ने बहुत वर्षों तक साधना की है, समाधि का बहुत अभ्यास किया है, उसकी उपलब्धि सुगति के सिवाय और कोई हो नही सकती।' ऐसा सोचकर शिष्य के द्वारा अपने गुरु का सिर काट लेना भी बहुत बडी हिंसा है।[1] अथवा गुरु के द्वारा स्वय जीते-जी समाधि लेकर अपने को मिट्टी मे दबवा देना या अपने पर मिट्टी का डलवा लेना और मर जाना भी आत्महिंसा है। सद्धर्म के अभिलाषी साधक को ऐसा कदापि न करना चाहिए।

आजकल भी कई बाबा, सन्यासी इस प्रकार से जीवित समाधि ले लेते हैं, अपने पर मिट्टी का ढेर डलवाकर उस मिट्टी मे दबकर मर जाते है। यह समाधि नही, असमाधि है, जान-बूझकर शरीर को इस प्रकार छोड देने से कोई भी सुखी नही होता। हिंसाजनित महापाप क कारण दुर्गतियो मे भटकता रहता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पहलुओं से हिंसा के कारण बता दिये गये है। और भी अनेक प्रकार के कारण हो सकते है। प्राणिहिंसा किसी भी रूप मे हो, वह अकार्य ही है।

प्राणिहिंसा किन-किन की ?

हिंसा जब अकार्य है तो इसी प्रसग मे यह भी विचार कर लेना चाहिए कि जीव किस-किस प्रकार के प्राणी की हिंसा करता है ? स्थूल दृष्टि वाले लोग प्राय पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा को ही हिंसा मानते है। कई उनसे थोडी सूक्ष्म बुद्धि वाले लोग द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो की हिंसा को हिंसा मानते है किन्तु जैनधर्म से परिचित लोग एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा को हिंसा मानते है। यह बात दूसरी है कि गृहस्थ के लिए एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा का सर्वथा त्याग अशक्य है। परन्तु हिंसा तो हिंसा ही है। वह अहिंसा कैसे हो सकती है ? एकेन्द्रिय जीव ये हैं—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। ये जीव इतने सूक्ष्म होते है कि स्थूल नेत्रो से नही दिखाई देते, परन्तु इनमे चेतना अवश्य है, यह बात अनुभव से, अनुमान से, आगम से और जीव वैज्ञानिको द्वारा सिद्ध हो चुकी है। इसलिए इन प्राणियो की हिंसा से भी जितना बचा जा सके, बचना चाहिए। किन्तु द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक की हिंसा से तो अवश्य बचना चाहिए। हाथीदात, चमडा, सीग, नख, मास, हड्डी, खून, दवाई, वस्त्र, फर, जूते, टोपी, आदि के लिए निर्दोष पशु-पक्षी बहुधा मारे जाते है। अत विवेकी और अहिंसापरायण व्यक्ति को इन जीवो की हिंसा से निष्पन्न वस्तुओ का त्याग करना आवश्यक है।

---

१ उपलब्धि सुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरो शिष्येण शिरो न कर्तनीय सुधर्ममभिलषिता ॥ ८७ ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

हिंसा प्राणातिपात करना, कराना और अनुमोदन भी

कई लोग कहते है कि हम स्वय तो हिसा करते नहीं, दूसरे के द्वारा की हुई हिंसा से निष्पन्न दवा, चमडा, वस्त्र एव मासादि का उपयोग करते हैं। परन्तु यह थोथा तर्क है। स्वय प्राणातिपात करना जैसे हिंसा है, उसी प्रकार दूसरे से कराना या दूसरे के द्वारा की हुई हिंसा से निष्पन्न वस्तु का इस्तेमाल करना भी हिंसा है। यह दावा तो तभी किया जा सकता है कि जब सर्वथा आरम्भ-परिग्रह छोडकर अहिंसा महाव्रती साधु बन जाए, अन्यथा गृहस्थावस्था में आरम्भ करना-कराना खुला रखकर दूसरे के द्वारा किये हुए आरम्भ (हिंसाजन्य) से निष्पन्न वस्तु का स्वय उपयोग करने पर भी अपने आपको निर्दोष मानना यथार्थ नहीं है। अत जैसे हिंसा करने मे दोष है, वैसे ही हिंसा कराने या हिंसा करने वाले का अनुमोदन करने, समर्थन करने या उसके द्वारा निष्पन्न वस्तुओ को बेचने या उपयोग करने से व्यक्ति हिंसा-फलभागी बनता है। कृत, कारित और अनुमोदित तीनो प्रकार से होने वाली हिंसा त्याज्य और अकार्य समझनी चाहिए।

हिंसा के मुख्य भेद

हिंसा के भेदो को समझकर ही पहले कौन-सी हिंसा त्याज्य है, बाद मे किस क्रम से हिंसा का त्याग करना चाहिए? इसका विवेक हो सकता है। आवश्यक सूत्र मे मुख्यतया दो प्रकार की हिंसा बताई गई है--

पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते त जहा—सकप्पओ य आरभओय।

प्राणातिपात दो प्रकार का कहा गया, जैसे कि सकल्पज और आरम्भज। मास, हड्डी, चर्म आदि के लिए द्वीन्द्रिय आदि जीवो की हिंसा करना सकल्पजा है और हल, दताल, आदि से पृथ्वी को खोदते समय, भोजन आदि बनाते समय, चीटी आदि का मर जाना आरम्भजा[1] हिंसा है। बाद मे इसी आरम्भजा हिंसा को तीन विभागो मे आचार्यो ने विभक्त कर दिया है-- आरम्भी, उद्योगिनी और विरोधिनी। गृहस्थ के लिए सकल्पजा हिंसा तो सर्वथा त्याज्य है, शेष तीन मे भी विवेक करना आवश्यक है। साधु के लिए तो ये सभी हिंसाएं त्याज्य है ही।

प्राणिहिंसा परम अकार्य, अधर्म एव निषिद्ध क्यो ?

मैने आपके समक्ष विविध पहलुओ से हिंसा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, इस विश्लेषण के प्रकाश मे प्राणहिंसा को अकार्य एव अधर्म समझकर उसका त्याग करना चाहिए।

प्रश्न यह होता है कि महर्षि गौतम ने हिंसा को किस अपेक्षा से सबसे बढ-कर अकार्य—अकरणीय—माना है?

---

१ आवश्यक सूत्र, हारिभद्रीया वृत्ति

जैनशास्त्रो का मंथन करने पर हिंसा को परम अकार्य मानने मे निम्नलिखित कारण मालूम होते है—

(१) असत्य आदि सब पाप हिंसा मे गतार्थ होने से हिंसा का दायरा बहुत व्यापक है, इसलिए ।

(२) हिंसा का सोधा फल हिंस्य जीव और हिंसक पर पड़ता है इसलिए ।

(३) सभी जीव सुखपूर्वक जीना चाहते है, कोई भी दुःखी होना या मरना नही चाहते, इसलिए हिंसा वर्जनीय है ।

(४) कटुफल की दृष्टि से हिंसा अकार्य है ।

(५) समत्वदृष्टि मे बाधक होने से ।

(६) आत्म-विकास मे विघ्नकारक होने से ।

(७) मनोवृत्तियाँ क्रूर हो जाने से ।

(८) जीवन-निर्माण मे बाधक होने से ।

(९) असामाजिक तत्त्व प्रविष्ट हो जाने से ।

हम क्रमश इन सब कारणो पर सक्षेप मे विचार करेंगे—

(१) आचार्य हरिभद्रसूरि ने असत्य, चोरी, मैथुन सेवन (अब्रह्मचर्य), परिग्रह आदि सब पापो को हिंसा के अन्तर्गत—हिंसा के पर्यायवाची माने हैं । इस दृष्टि से हिंसा का दायरा दूसर सब पापो की अपेक्षा विस्तृत है । इसी कारण हिंसारूप महा-पाप परम अकार्य-कुकृत्य, अधर्म और निषिद्ध हो जाता है ।

(२) दूसरे पापो (असत्य आदि) के फल का सीधा और सर्वागीण वैसा कुप्रभाव जीव पर नही होता, जैसा हिंसा का होता है । हिंसा की सर्वप्रथम चोट हिंस्य जीव के शरीर और मन पर होती है, प्राणो पर होती है । साथ ही हिंसक के मन पर भी अन्तर्मन मे हिंस्य जीव के द्वारा होने वाली प्रतिक्रिया, राजदण्ड एव लोकनिन्दा का भी भय व्याप्त हो जाता है, प्रतिक्रिया होने पर हिंसक के शरीर पर भी सीधी चोट हिंस्य जीव द्वारा होती है । असत्य, परिग्रह आदि का प्रभाव दूसरे या स्वय के शरीर पर नही होता, न वाणी पर होता है, मन पर होता है ।

(३) भगवान् महावीर से पूछा गया कि निर्ग्रन्थ प्राणातिपात—हिंसा को क्यों छोड़ते है ? इसके उत्तर मे कहा गया—

सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउ न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर निग्गथा वज्जयति ण ।।[1]

---

१ दशवैकालिक अ० ६, गा० ११

—सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ साधु घोर पापरूप जीवहिंसा (प्राणिवध) का सर्वथा त्याग करते है। जीवो को सताना, मारना, वध कर देना आदि कोई नही चाहता।

आचाराग सूत्र मे स्पष्ट कहा गया है—"**तू वही है, जिसे तू मारना, सताना, कैद करके या गुलाम बनाकर बधन मे रखना, आतकित करना और डराना-धमकाना चाहता है।**"[1] इसका आशय यही है कि हिंसा करने वाला व्यक्ति अपने जीवन के दर्पण मे देखे कि वास्तव मे क्या मुझे स्वय को दूसरे के द्वारा मारा जाना, सताया जाना आदि अभीष्ट है? नही है, तब जैसा तेरा स्वरूप है, सुख-दुख का हाल है, वैसा ही दूसरे प्राणियो का है। इसलिए हिंसा किसी भी प्रकार से करणीय नही है। अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरे जीवो पर कहर बरसाना, उनके प्राणो को सकट मे डालना, उन्हे गुलाम बनाकर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करना आदि हिंसा सर्वथा अकार्य समझना चाहिए।

(४) जो व्यक्ति जीवहिंसा करता है, दूसरे के प्रति निर्दयतापूर्वक व्यवहार करता है, उसे उसका फल देर-सबेर भोगे बिना छुटकारा नही होता। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे स्पष्ट कहा है—

पगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफल सुधी।
नीरागस्त्रसजन्तूना हिंसा सकल्पतस्त्यजेत्॥

लगडापन, कोढीपन, कुणित्व (टूटा या कुबडा आदि होना), आदि सब हिंसा के फल है, ऐसा देखकर बुद्धिमान सद्गृहस्थ निरपराध त्रस जीवो की सकल्पी हिंसा का त्याग करे।[2]

ज्ञानार्णव मे समस्त दुखो का कारण हिंसा को बताते हुए कहा गया है—

यत्किंचित् ससारे शरीरिणा दुख-शोक-भय-बीजम्।
दौर्भाग्यादिसमस्त तद्धिंसा-सम्भव ज्ञेयम्॥

'ससार मे प्राणियो के दुख, शोक और भय के कारणभूत जो दौर्भाग्य (विपन्नता, अभागापन, सकटग्रस्तता, चिन्ता) आदि है, उन सबको हिंसा से उत्पन्न होने वाले समझो।'[3]

हिंसैव दुर्गतेर्द्वार हिंसैव दुरितार्णव।
हिंसैव नरक घोर, हिंसैव गहन तम॥

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पाप का समुद्र है, हिंसा ही घोर नरक है और हिंसा ही सघन अन्धकार है।[4]

हिंसा के इन सब कटुफलो या दुष्परिणामो को देखते हुए उसे अकार्य और निषिद्ध बताना उचित ही है।

---

१ **तुमसि नाम सच्चेव ज चेव हतव्व त्ति मन्नसि** इत्यादि पाठ। —आचा० १।१
२ योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लो० १९ ३ ज्ञानार्णव पृ० १२० ४ ज्ञानार्णव पृ० ११३

(५) हिंसा करने वाला व्यक्ति इतना क्रूर, निर्दयी और स्वार्थी बन जाता है कि वह हर समय दूसरो को दबाने, दबाए रखने, सताने, आज्ञाधीन रखने, गुलाम बनाकर रखने, डराने-धमकाने की फिराक मे रहता है। इस कारण वह प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्य या समत्व के व्यवहार से कोसो दूर पड जाता है। वह दूसरो के सुख-दुख की उपेक्षा कर देता है। दूसरो के साथ सह-अस्तित्व की भावना मे भी उसके रुकावट आ जाती है। वह मानवता को भी तिलाजलि दे बैठता है। ये हानियाँ बहुत बडी हानियाँ है। इसीलिए प्रश्नव्याकरणसूत्र मे बताया गया है—

'एसो सो पाणवहो, चडो, रुद्दो, खुद्दो, अणारिओ, निग्घिणो, निस्ससो, महब्भओ।'

यह प्राणिवध (जीवहिसा) चण्ड (प्रचण्ड क्रोधजनक) है, रौद्र (भयकर) है, क्षुद्र (अति स्वार्थी) है, अनार्य (श्रेष्ठ पुरुषो द्वारा हेय) है, निर्घृण (दयारहित) है, नृशस (अमानुषिक) है, और महाभयजनक है।[1]

भला, हिंसा कितना घाटे का सौदा है, स्व-परकल्याणशील भव्य जीव के लिए। इसीलिए इसे परम अकार्य बताया गया है।

(६) हिंसा आत्म-विकास मे उतनी ही बाधक है, जितनी फसल को उगाने मे बजर भूमि। आत्मौपम्य, आत्मीयता, दया, करुणा, वत्सलता, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सेवा, सहानुभूति आदि आत्म-विकास के लिए उपयुक्त जो भी गुण है, हिंसा उन पर तुषारपात का काम करती है। आत्मा का विकास होता है, दूसरी आत्माओ के निकट आने से, दूसरी आत्माओ को अपने समान समझकर उनमे घुल जाने से, सर्व-भूतात्मभूत बनने से। परतु हिंसा दूसरी आत्माओ को दूर धकलती है, वह मारक है, पास ही नही फटकने देती। इस सच्चाई (सम्यक्त्व) के प्रकाश को वह मार भगाती है। इसीलिए आचाराग (१।२) मे कहा है—

"त से अहियाए, त से अबोहियाए, एस खलु गथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।"

यह प्राणिहिंसा आत्मा का अहित करने वाली है, एव अबोध (मिथ्यात्व) का कारण है, निश्चय ही ८ कर्मों की गाठ है, यह मोह है, यह मारक है, यह साक्षात् भाव-नरक है।[2]

भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक (६३) मे भी कहा है—

'जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।'

जीवहिंसा आत्महिसा है, जीवदया अपनी आत्मदया है।[3]

महात्मा गाँधी ने भी बहुत मन्थन करके कहा है—"जीवहिंसा आत्मघाती है।"

इन सब कारणो से आत्म-विकासघातक होने से जीवहिंसा अकार्य है।

---

१ प्रश्नव्याकरणसूत्र प्रथम आस्रव द्वार

२ आचाराग श्रुत० १, अ० २

३ भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक ६३

(७) मनोवैज्ञानिको का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य का जैसा मन और मानसिक विचार होता है, वैसी ही उसकी प्रकृति बनती है, सन्तति बनती है, और वैसी ही उसकी जीवनधारा बनती है। हिंसा क्रूरतम विचारो की जननी है। दया, करुणा, आत्मीयता और सहानुभूति का विचार तो हिंसक मे सहसा आ नही सकता। फलत हिंसा से मानव की प्रकृति, क्रूर, निदय, नृशस, आत्मघातक और असहिष्णु बनती है। क्रूर प्रकृति वाला मानव क्रोधी, अहकारी, स्वार्थी, स्वसुखार्थी और कलहप्रिय हो जाता है। हिंसाप्रिय व्यक्ति बात-बात मे क्रोधी, तुनुकमिजाज और चिडचिडा हो जाता है। इस तरह हिंसा से मनुष्य की मनोवृत्तियाँ क्रूर हो जाती है। इसी कारण हिंसा अकार्य, त्याज्य और निषिद्ध है।

(८) मानव-जीवन का निर्माण यद्यपि छोटी-छोटी बातो का, छोटे-छोटे गुणो का जीवन मे बार-बार अभ्यास से होता है। वे छोटी बाते विनय, नम्रता, अनुशासनप्रियता, सेवा, श्रद्धा, दया, क्षमा आदि से सम्बद्ध होती है और वे गुण अहिंसा आदि से सम्बद्ध। हिंसा तो उन छोटी-छोटी बातो और सद्‌गुणो के आग लगाने का काम करती है। हिंसा शान्ति स्थापित नही कर सकती, हिंसा से युद्ध, कलह, सघर्ष, मनमुटाव आदि दूर नही हो सकते। प्रसिद्ध पाश्चात्य साहित्यकार शेक्सपीयर (Shakespeare) ने कहा है—'Violent delights have voilent ends' हिंसा की खुशियाँ हिंसाजनक अन्त लाती है। इसलिए हिंसा मानव-जीवन का निर्माण करने मे विघ्नकारक है, अहिंसा से ही यह कार्य सुचारु रूप से हो सकता है। हिंसा विध्वस का काम करती है। इसी कारण हिंसा को अकार्य और अहिंसा को कार्य—आचरणीय बताया गया है।

(९) समाज का ढाचा हिंसा के आते ही अस्त-व्यस्त और तितर-बितर हो जाता है। समाज को व्यवस्थित, सुखी और शान्तिपूर्ण रखने के लिए अहिंसा की आवश्यकता है। हिंसा समाज को अव्यवस्थित, दुखी, भयभीत और अशान्त बना देती है। जिस समाज मे क्रोध, क्षुद्रता, रुद्रता, मारकाट, आपाधापी, सकीर्ण स्वार्थ, क्रूरता आदि हिंसा की सन्तति व्याप्त है, वह समाज चिरस्थायी नही रह सकता। हिंसा से मनुष्य मे सामाजिकता नही आती है। वह समाजविनाशकारी तत्त्व है। अत हिंसा से असामाजिक तत्त्व प्रविष्ट होने के कारण समाज-निर्माण नही हो सकता।

इन सब कारण कलापो के कारण हिंसा अकार्यकारिणी है, अधर्म है, पाप का द्वार है, साधक के लिए अनाचरणीय है।

बन्धुओ! मैने काफी विस्तार से विभिन्न पहलुओ से हिंसा के स्वरूप, प्रकार तथा हिंसा की अकार्यता पर प्रकाश डाला है। आप इस पर गहराई से मनन-चिन्तन करिये और महर्षि गौतम के इस जीवनसूत्र को याद रखते हुए आप अपने जीवन से हिंसा का अन्धकार दूर करिये—

न पाणिहिंसा परम अकज्जं □

६६. प्रेमराग से बढ़कर कोई बन्धन नहीं—१

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष एक चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करना चाहता हूँ, जिसका मुमुक्षुजीवन म प्रतिक्षण ध्यान रखना आवश्यक है। गौतम-कुलक का यह श्रेपनवाँ जीवनसूत्र है, जिसमे इस सत्य का प्रतिपादन महर्षि गौतम ने किया है—

न पेमरागा परमत्थि बधो ।

—प्रेम-राग से बढकर कोई बन्धन ससार मे नही है।

प्रेमराग क्या है ? बन्ध क्या और कौन-सा है ? तथा ससार के अन्य बन्धनो के मुकाबले मे यह बन्धन क्यो अधिक तीव्र है ? इन सब मुद्दो पर चिन्तन किये बिना इस जीवनसूत्र का रहस्य समझ मे नही आ सकता। अत मैं क्रमश: इन सब मुद्दों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा।

प्रेमराग क्या, क्यो, कैसे ?

प्रेम-राग मे 'प्रेम' शब्द के साथ राग जुडा हुआ है। आप जानते हैं कि निखालिस प्रेम मे किसी प्रकार का बन्धन नही होता। आजकल प्रेम शब्द भी बहुत विकृत अर्थ मे प्रयुक्त होता है। दाम्पत्य प्रेम, प्रणयराग अथवा मोह या आसक्ति को भी आजकल प्रेम कहने लगे हैं। उर्दू मे जिसे 'इश्क' कहते है, या मुहब्बत भी कहते है। ये दोनो ही विकृत प्रेम है। इसीलिए जैन धर्मशास्त्रो मे शुद्ध प्रेम शब्द का प्रयोग न करके वात्सल्य या मैत्री शब्द का प्रयोग किया है। वात्सल्य को सम्यक्त्व का एक अग बताया गया है और मैत्री को चार भावनाओ म स्थान दिया है। यही कारण है कि जैनशास्त्रो म जहाँ भी प्रेम, या 'पेज्ज' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह राग, अप्रशस्त राग या मोह, स्नेहराग अथवा आसक्ति के अर्थ मे किया गया है।

यहाँ भी प्रेम शब्द का अर्थ है—मोह, स्नेह, आसक्ति, इश्क, मोहब्बत या वासनामय प्रेम।

प्रेम के साथ राग शब्द जुड जाने से और भी स्पष्ट हो गया कि यह प्रेम-रूप राग है, शुद्ध प्रेम नही।

राग शब्द का अर्थ है—सयमहीन पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा अथवा वैषयिक सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला मानसिक क्लेश।[1]

---

१. (क) असयममयसुखाभिप्रायो राग । —जैन सिद्धान्त दीपिका ६/१२

(ख) सुखानुशयी राग । —पातंजल योगदर्शन २/७

एक आचार्य ने राग के पर्यायवाची शब्दो का निरूपण करके राग का स्वरूप अभिव्यक्त कर दिया है—

इच्छा मूर्च्छा काम स्नेहो गार्ध्यममत्वमभिनन्द ।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्याय वचनानि ।।

अर्थात्—इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष ये अनेक शब्द राग के पर्यायवाची है। तात्पर्य यह है कि इच्छा से लेकर अभिलाष तक जितने शब्द है, वे राग के अर्थ को प्रस्फुटित करते ह, ये राग के ही विभिन्न रूप है।

प्रेमराग वस्तुत प्रेम का एक रग है, एक बार जिसके जाल म फंस जाने पर मनुष्य का निकलना अत्यन्त कठिन होता है। फिर भी यह कहा जा सकता है, कि अधिकाश प्रेमराग नकली प्रेम का रग होता है, जो रहस्य खुलने पर उतर जाता है। मासारिक एव पौद्गलिक सुखासक्त मानव प्राय इसी प्रेमराग के यान मे बैठकर अपनी जीवनयात्रा प्रारम्भ करते ह, लेकिन वह यान अधबीच मे ही धोखा दे देता है। मुख्यतया यह प्रेमराग पति-पत्नी मे हुआ करता ह। पति अपनी पत्नी म अनुरक्त रहता है और पत्नी म अपने पति म। इस प्रेमराग म दोना ओर स्वार्थ पलता है। पति सोचता हे, पत्नी मरे प्रति अनुरागिणी बनकर मेरी पुजारिन हो जाये, मेरी आज्ञा मे चले, मेरे इशारे पर नाचे, मै कहूँ वहाँ जाये आये, मेरे रागरग मे बाधक न बने, मेरी सुख-सुविधाओ के लिए अपना श्रमरस निचोये, मेरे प्रति पूणत वफादार रहे। इसी प्रकार पत्नी सोचती है कि पति मरे प्रति पूर्ण अनुरक्त रहे, वह कही किसी और के प्रेम म न पड जाये, वह मरी माँगे पूरी करे, मेरी फरमाइशो की पूर्ति करे, मरी इच्छाओ मे बाधक न बन, मरी गृहस्थी को सुखी बनाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे, हम अच्छा खाये, अच्छा पहने, अच्छ रहन-सहन से रहे। इतना ही नही, पति मरे प्रति कभी अनमन-स न रह, मरे किसी कार्य म बाधक न बन।

जहाँ दोनो म स किसी का प्रेमराग कच्चा होता है, या सीमा का अतिक्रमण कर देता है, वहाँ वह गृहक्लेश, अविश्वास एव द्वेष-घृणा आदि म परिणत होता है। यह एक जाना-माना सिद्धान्त हे कि जहाँ राग होगा, वहाँ उतने ही अनुपात मे द्वेष प्रच्छन्न या सुषुप्त होगा। जब रागभाव पलायन करन लगता है, तब उसके रिक्तस्थान की पूर्ति के लिए द्वेष, घृणा या वैर-विरोध आदि भाव आ धमकते है, और राग के आसन पर वे जम जाते है।

पत्नी का पति के प्रति प्रेमराग

मुझे एक रोचक दृष्टान्त इस सम्बन्ध म याद आरहा है—एक सेठ अपनी पत्नी के प्यार मे इतना बावला हो रहा था कि उसके सिवाय उसे कुछ सूझता ही नही था। उसका दृढविश्वास था कि मेरा क्षण-दो क्षण का वियोग भी इसके लिए असह्य है। किसी ने उसे कर्त्तव्यबोध कराते हुए कहा—"पत्नी के प्रति आप इतने रागान्ध मत बनिये, आप चाहें तो इसकी परीक्षा कर लीजिए, आपको उसकी असलियत का पता लग जायेगा।" उस मित्र के परामर्शानुसार उक्त व्यक्ति ने

एक बार रात को पेट दर्द का बहाना बनाकर श्वास को ऊपर चढ़ा लिया। अब तो उसकी पत्नी घबराई—यह क्या हुआ ? पति की अपमृत्यु, वह भी आधीरात मे ? अब मेरा सहारा गया। परन्तु अभी से रोना शुरू कर दूंगी तो आस-पास की सभी महिलाये इकट्ठी हो जायेगी। ऐसे म न तो घर के अस्त-व्यस्त पडे सामान को व्यवस्थित कर सकूंगी, न ही कुछ खा-पी सकूंगी। भूख और थकान के मारे मेरे बुरे हाल हो जायेंगे। अत उस गृहिणी ने मारे कमरो को व्यवस्थित किया, फिर बिलौना करना, दही जमाना, भैंस दुहना आदि सब काम निपटा लिया। फिर सोचा—घी तो ताजा तैयार है ही, पडे-पडे उसमे बदबू आने लगेगी, इससे तो अच्छा है कि मैं इसका उपयोग कर लू। उसने चूल्हा जलाया, खूब घी डालकर चूरमा बनाया, उसके ६ बडे-बडे लड्डू तैयार किये, साथ मे दाल भी बनाई। दो बडे-बडे लड्डू और दाल खाकर उसने पेट भर लिया। सेठ अपनी पत्नी का यह सारा नाटक वही लेटे-लेटे देख रहा था। सेठ को अपनी आँखो पर विश्वास नही हो रहा था, किन्तु था सब प्रत्यक्ष। सूर्योदय होने मे थोडी सी देर थी कि सेठानी ने दो बडे लड्डू एक कपडे मे बाँधकर अपनी गोद मे रख लिए, और दो छीके मे रख दिये। फिर उसी छीके के नीचे बैठकर रोने लगी—

स्वर्ग सिधाता साह्यवा ! काइक कहता जाज्योजी।

अर्थात्—पतिदेव ! आप तो स्वर्ग मे जा रहे है, मुझे भी कुछ कहते जाइये।

सेठ ने सोचा—अभी अच्छा मौका है, इसे कहने का। बाद मे तो पडौसी इकट्ठे हो जायगे। अत उसने उस दोहे की पूर्ति इस प्रकार की—

खोला माह्यलो खूट जावे तो छीके परलो खाज्योजी ॥

—यदि गोद में रखे लड्डू समाप्त हो जाये तो छीके पर रखे हुए खा लेना।

सेठानी ने जब यह सुना तो चुप होकर लज्जा के मारे वह धरती मे गडी जा रही थी। यह नकली प्रेमराग सेठ के लिए विरक्ति का कारण बन गया। इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् म तो स्पष्ट बताया है—

पति-पत्नी और पुत्र अपने स्वार्थ के लिए ही एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, न कि उनके हित के लिए।[1]

'रागान्ध मनुष्य अपने हिताहित को नही देखता।' पति को अपनी पत्नी के प्रति राग सुखकर मालूम होता है, परन्तु राग के समान ससार मे कोई दुःख नही है। किसी शहद मे लिपटी हुई तलवार को चाटने वाला मनुष्य जैसे—उसके परिणाम को नही सोचता, वैसे ही राग मे लिप्त अविवेकीजन उसके दुःखद परिणाम का विचार नही करता। योगशास्त्र की भाषा मे कहूँ तो—

"पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः।"

—रागादि पाप पिशाच की तरह आत्मा को बार-बार धोखा देते है।

---

१. बृहदारण्यक २/४/५

एक रागान्ध पति का ऐतिहासिक उदाहरण लीजिये—

एक बादशाह अपनी बेगम के प्रति प्यार में बहुत अन्धा था। एक दिन बात ही बात में बादशाह ने बेगम से कहा—"प्यारी! मैं तुम पर जान कुर्बान करने को तैयार हूँ। तुम मर जाओगी तो मैं कैसे जिन्दा रहूँगा।" इस पर बेगम ने एक शेर के द्वारा उत्तर दिया—

मुझ पे तुम मरते नहो, मर रहे इन चार पर।
'नाज'[1] पर, अन्दाज[2] पर, रफ्तार[3] पर, गुफ्तार[4] पर ॥

—अर्थात् तुम मुझ पर नही मरते हो, मरते हो मेरी इन चार बातो पर—(१) मेरे नखरे पर, (२) मेरे कटाक्ष पर, (३) मेरी चाल पर और (४) मेरी वाणी पर। बादशाह अब क्या बोलता! बेगम ने उसे खरी-खरी सुना दी थी।

पुत्र के प्रति माता का प्रेमराग—इसी तरह पुत्र के प्रति माता का प्रेमराग भी अपने स्वार्थ का होता है। स्वार्थ सिद्ध होने पर न तो माता पुत्र को चाहती है और न ही पुत्र माता को। दोनों एक दूसरे से किनाराकसी करने लग जाते हैं।

हिन्दू महाभारत का एक प्रसंग है। जब सारे कौरव महाभारत युद्ध में एक-एक करके समाप्त हो गये, तब गान्धारी शोकाकुल हो उठी। वह रोती-चिल्लाती, छाती कूटती युद्धस्थल में पहुँची। कहते है, वहाँ ऐसी माया फैलाई गई कि अंधेरी रात में चारों ओर शव ही शव पड़े दीख रहे थे। गान्धारी अपने पुत्रों को पहचान-पहचानकर छाती से लगा-लगाकर विलाप कर रही थी। इतने में उसे असह्य भूख लग आई। देवमाया से उसे सामने ही एक आम का पेड़ दिखाई दिया, जिस पर पके हुए आम लगे थे। आमों की सुगन्ध से गान्धारी का मन प्रसन्न हो उठा। खुशी की बात यह थी कि आम के फल भी नीचे झुके हुए थे। गान्धारी पुत्रवियोग का दुःख तो भूल गई, भूख मिटाने के लिये आम खाने को उद्यत हुई। वह ज्योंही आम के पेड़ के पास पहुँची और फल लेने को हाथ ऊपर उठाया तो फल थोड़ा-सा दूर रह गया। इधर-उधर देखा कि यदि कहीं पत्थर पड़ा मिल जाये तो उस पर चढ़कर आम तोड़ ले। पर वहाँ पत्थर कहाँ मिलता? अपने पुत्रों के मृत शरीर वहाँ अवश्य पड़े थे। गान्धारी ने आव देखा न ताव। चट से एक शव को वहाँ डाला और उस पर खड़ी होकर आम तोड़ने लगी। फिर भी थोड़ी-सी दूरी रह गई तो दूसरे पुत्र का शव डाला, फिर तीसरे का, यों एक-एक करके सब पुत्रों के शवों को एक पर एक रखकर उनकी छाती पर खड़ी होकर फल लेने के लिये हाथ बढ़ाया, फिर भी थोड़ी-सी दूरी रह गई। 'हर बार आम का पेड़ ऊपर क्यों उठ जाता है? मेरी आँखों पर पट्टी बँधी हुई है, फिर भी मुझे आम क्यों दिखाई दे रहे हैं?' ये सारे विकल्प उस समय

---

१. नखरा २ कटाक्ष ३ चाल ४. बोली

गान्धारी के दिमाग मे नही आये। उसकी तीव्रतम अभिलाषा आम खाने की हो रही थी। कहते हैं—श्रीकृष्णजी उस समय पास ही खडे थे, उन्होंने गान्धारी का यह झूठा पुत्र-प्रेम का नाटक देखा तो वे हँसी को रोक न सके। श्रीकृष्ण का उन्मुक्त हास्य जब सुनाई दिया तब गान्धारी को अपना भान हुआ। पर अब वह बोले भी क्या? वह अपने प्राणप्रिय नौनिहालो की छाती पर जो खडी थी।

यह है—पुत्रो के प्रति माता के प्रेमराग के नाटक का ज्वलन्त उदाहरण।

दाम्पत्य प्रेममूलक राग दुखजनक—कभी-कभी राग दाम्पत्य प्रेममूलक होता है, कभी होता है किसी भी सुन्दर स्त्री के प्रति कामवासनामूलक अथवा यह किसी स्त्री का अपने पति के प्रति वैसा राग न होकर अपने प्रेमी के प्रति होता है। बादशाह शाहजहाँ का मुमताजमहल के प्रति ऐसा ही प्रेमराग था। उसी प्रेमराग के नशे मे उसने ताजमहल बनवाया। यद्यपि यह दाम्पत्यप्रेममूलक राग था। परन्तु इस प्रेमराग का अन्त दुखद होता है। ऐसा व्यक्ति अपनी प्रेमिका के वियोग मे झूरता रहता है, आर्त्तध्यान करता रहता है। ऐसे राग से पल्ले कुछ नही पडता, उलटा मन मे सक्लेश होता रहता है। जिस पत्नी के प्रति ऐसा राग होता है, उसके चरित्र के प्रति उसका पति सदैव शकाशील रहता है, और उसके मोह मे पागल होकर अपने दैनिक कर्त्तव्यकर्मों को भी भूल जाता है।

इसीलिये चाणक्यनीति मे कहा गया है—

यस्य स्नेहो भय तस्य, स्नेहो दुखस्य भाजनम्।
स्नेहमूलानि दुखानि तत्त त्यक्त्वा वसेत् सुखम्॥

—जिसका किसी मे स्नेह (प्रेमराग) होता है, उसी को भय होता है। अत स्नेह दुख का भाजन है। जितने भी दुख होते है, उनके मूल म स्नेह होता है। इसलिये स्नेह को छोडकर सुख से रहना चाहिए।[1]

एक ऐसे ही पत्नी-प्रेमरागान्ध पति का उदाहरण लीजिए—

एक ठाकुर था। वह अपनी पत्नी पर इतना मुग्ध था कि जब देखो तब अपनी पत्नी की लोगो के सामने प्रशसा किया करता था। उसकी पत्नी भी ठाकुर के समक्ष यही कहा करती थी—मै आपके बिना जिन्दा नही रह सकती। मुझे आपके बिना भोजन जरा भी अच्छा नही लगता। ठाकुर के मित्रो ने ठाकुर से कहा—"हमे तो लगता है, आपकी पत्नी झूठे प्रेम का स्वाग करती है। आप एक-बार परीक्षा करके देखिये। असलियत सामने आ जायेगी।" ठाकुर ने एक दिन ठकुराइन के प्रेम की परीक्षा लेने का विचार किया। ठकुराइन से कहा—"मैं आज घोडे पर सवार होकर लडाई मे जा रहा हूँ, मुझे कुछ महीने लग जायेंगे, तुम अच्छी तरह रहना।" ठकुराइन बोली—"आपके वियोग मे मुझे एक-एक दिन काटना भारी पडेगा। परन्तु आपको युद्ध मे अवश्य जाना है, इसलिए मैं रुकावट भी नही डालती, पर जल्दी ही

१. चाणक्यनीति १/५

आना।" ठाकुर ने घोडा अपने मित्र के यहाँ बाँध दिया और रात को ही चुपके से पिछले दरवाजे से घर मे प्रवेश करके छिपकर बैठ गया। उधर रात पडते ही ठकु-राइन ने दासी से कहा—

ठाकुर गया गाँव, मने नही भावे धान।
ला तो जरा गन्ने के साठे।

दासी गन्ने ले आई, तब ठकुरानी ने गन्ने चूसे। फिर दासी से खिचडी बनवाई, उसमे खूब घी डालकर खाने लगी। उसके बाद बाटी बनवाई और अन्त मे मुँह साफ करने के लिये मक्की के फूले बनवाकर खाए। ठाकुर यह सब देख रहा था। वह घर मे से प्रकट हो गया। उसने ठकुराइन का प्रेमराग का नाटक देख लिया था। अत ठकुराइन द्वारा इतनी जल्दी लौट आने का कारण पूछने पर ठाकुर ने कहा—"मैं घोडे पर बैठकर जा रहा था कि रास्ते मे गन्ने जैसा मोटा और लम्बा साँप मिला। वह साप इस तरह चल रहा था, जैसे खिचडी म घी चलता है, उसका फन ठीक बाटी जैसा था। वह ऐसी आवाज कर रहा था, जैसे मक्की के फूले सेके जा रहे हो। इसलिए मैं जल्दी ही लौट आया।" ठकुराइन समझ गई कि ठाकुर मेरी चालाकी एव त्रियाचरित्र को समझ गया है। अत लज्जित होकर अपने अपराध के लिये क्षमा मागी।

यह है—पत्नी का पति के प्रति प्रेमराग का नाटक। सचमुच लौकिक प्रेम मे ऐसा प्रेमराग का नाटक अनेक बार होता है। मनुष्य जान-बूझकर मोहाविष्ट होकर ऐसे नाटक कई बार करता है बार-बार ठगाता भी है। परन्तु फिर फँसता है। कई बार स्त्री-पुरुष को अपने प्रेमराग के जाल मे फँसाती है, कई बार पुरुष स्त्री को फँसाता है। कई चालाक स्त्रियाँ तो ऐसी सफाई से यह नाटक करती है कि उनके पति भी उस प्रेमराग को विशुद्ध प्रेम समझकर ठगा जाते है। वास्तव मे ऐसा नाटक होता है—काममूलक ही।

एक स्त्री ने अपने पातिव्रत्य की एव पतिभक्ति की छाप अपने पति के हृदय पर ऐसी अकित कर दी कि पति समझ गया कि मेरी पत्नी पूर्ण पतिव्रता है, परन्तु थी वह व्यभिचारिणी। एक दिन उसके पति के मित्र ने उसकी शिकायत की। फलत पति रात को चुपके से आकर उस स्त्री की पलग के नीचे छिप गया। सदा की भाँति जब उस कुलटा का प्रेमी आया तो पलग के हिलने से उस छिनाल को पता चल गया कि हो न हो, आज मेरे पति पलग के नीचे छिपे हुए है। प्रमी को सकेत से सारी बात बताकर सतीत्व का नाटक करती हुई वह बोली—"खबरदार! आगे मत बढना, नही तो सतीत्व के तेज से भस्म कर दूगी।" उसने गुस्सा दिखाते हुए कहा—"तब मुझे बुलाया ही क्यो था?"

वह बोली—"कल एक ज्योतिषी ने मेरे पति की जन्मकुण्डली देखकर कहा यदि तुम अन्य पुरुष का आलिगन कर लो तो उसकी आयु घट जायेगी, और तुम्हारे

पति की आयु बढ जायेगी। बस, मुझे तो अपने पति की आयु बढवानी थी, सो बढ़वा ली। चलो, हटो यहाँ से।"

यो झिडकते हुए उसे द्वार खोलकर बाहर निकाल दिया। अब तो उसके पति का विश्वास उस पर और भी बढ गया कि यह तो एक महासती है, जो मेरे हित के लिये न जाने क्या-क्या करती है।

वास्तव मे राग मधुमिश्रित जहर है, जबकि द्वेष है—खालिस जहर। जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष अवश्य छिपा होता है। उत्तराध्ययनसूत्र मे राग और द्वेष दोनो को कर्मबीज और पाप तथा पापकर्म मे प्रवृत्ति कराने वाले बताया है। मरणसमाधि प्रकीर्णक मे बताया गया है कि "ससार मे यदि राग-द्वेष न हो, तो कोई भी दुखी न हो, और न कोई सुख पाकर ही विस्मित हो, बल्कि सभी मुक्त हो जाएँ।" सूत्रकृतागमसूत्र मे भी बताया गया है कि "अज्ञानी जीव राग-द्वेष के आश्रित होकर विविध पाप किया करते है।"

परिवार के सभी लोग प्रेमरागवश—परिवार के लोग भी प्राय मिथ्याप्रेमवश होकर सक्लेश पाते रहते है। एक उदाहरण लीजिये—

एक नवयुवक था। वह एक महात्मा के सत्सग मे जाया करता था। महात्मा ने एक दिन उससे कहा—"वत्स! आत्मकल्याण ही मनुष्य-जीवन का सच्चा लक्ष्य है। इसे ही पूर्ण करना चाहिये।" यह सुनकर युवक ने कहा—"महाराज! वैराग्य धारण करने पर मेरे माता-पिता कैसे जीवित रहेगे? साथ ही मेरी युवा पत्नी मुझ पर प्राण देती है, वह मेरे वियोग मे मर जाएगी।"

महात्मा बोले—"कोई नही मरेगा। यह सब दिखावटी प्रेम है। तू नही मानता हो तो परीक्षा कर ले।"

युवक राजी हो गया तो महात्मा ने प्राणायाम करना सिखाया और आदेश दिया कि बीमार बनकर सास रोक लेना।

युवक ने घर जाकर वही किया। बडे-बडे वैद्यो की चिकित्सा हुई, परन्तु दूसरे दिन भी उसने सास रोक ली। घर वाले उसे मरा समझ हो-हल्ला मचाने और रोने-पीटने लगे। पडौस के बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये। तभी वहाँ महात्मा भी जा पहुँचे। युवक को देखकर उसकी गुणगरिमा का बखान करते हुए बोले—"हम इस लडके को जीवित कर देंगे, पर तुम्हें कुछ त्याग करना पडेगा।"

घर वाले बोले—"आप हमारा सारा धन, घरबार, यहाँ तक कि प्राण भी ले लें, परन्तु इसे जीवित कर दें।"

महात्मा बोले—"एक कटोरा दूध लाओ।" तुरन्त एक कटोरा दूध आ गया। फिर महात्मा ने उसमे एक चुटकी राख डालकर कुछ मन्त्र-सा पढा और बोले—"लो, यह दूध पी लो। जो इस दूध को पीयेगा, वह मर जायेगा और यह लडका जीवित हो जायेगा।"

अब समस्या यह थी कि दूध को कौन पीये ? माता-पिता बोले—"कहीं लड़का न जीया तो एक जान और जायेगी। यदि हम रहे तो पुत्र तो और भी हो जायेगा।"

पत्नी बोली—"इस बार जीवित हो जाएँगे तो क्या है, फिर कभी तो मृत्यु आयेगी ही। इनके न रहने पर मैं अपने मायके में सुख से जिन्दगी काट लूँगी।"

इस तरह सभी रिश्तेदार बगलें झाँकने लगे। पड़ौसी तो पहले से ही नौ दो ग्यारह हो गये थे। आखिर महात्मा ने कहा—"अच्छा, तो फिर मैं ही इस दूध को पी लेता हूँ।" सभी प्रसन्न होकर कहने लगे—"हाँ, महाराज! आप धन्य हैं। साधु-सन्तों का जीवन तो परोपकार के लिये होना ही है।"

महात्मा ने दूध पी लिया और युवक को झकझोरते हुए बोले—"उठो वत्स! अब तो तुम्हें पूरा ज्ञान हो गया है कि कौन तुम्हारे लिये प्राण देता है।"

युवक फौरन उठ गया और महात्माजी के चरणों में गिरकर बोला—"गुरुदेव! मेरी भ्रान्ति दूर हो गई है।"

घरवालों के बहुत रोकने पर भी वह महात्मा के साथ चला गया और सांसारिक मोह (प्रेमराग) का त्याग करके स्व-पर-कल्याण के पुनीत पथ पर अग्रसर हो गया।

यह है, कौटुम्बिक जनों के प्रति प्रेमराग का ज्वलन्त उदाहरण!

पद्मपुराण में स्पष्ट कहा है—

पुत्रदारा कुटुम्बेषु, सक्ता सीदन्ति जन्तवः।
सरः पंकार्णवे मग्ना, जीर्णा वनगजा इव॥

—तालाब के कीचड़ में फँसे हुए बूढ़े जंगली हाथियों की तरह पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि में आसक्त प्राणी दुःखी हो रहे हैं।

प्रेमराग का दायरा बहुत व्यापक—प्रेमराग का दायरा केवल मनुष्य या सचेतन प्राणी तक ही सीमित नहीं है, वह जड़ पदार्थों के प्रति भी होता है, यहाँ तक कि जो पदार्थ विद्यमान नहीं है उनके प्रति भी मनुष्य का आसक्तिमय प्रेमराग हो जाता है। और आसक्ति ही अनर्थ का मूल है। जहाँ तक आसक्ति का त्याग नहीं होता, वहाँ तक काम, क्रोध, नामना कामना, वासना आदि से पिण्ड छूटना कठिन है। चन्दचरित्र में रागान्धता की विशेषता इस प्रकार बताई गई है—

पशु-मानव-देवाश्चाऽनुरज्यन्ते सुरागके।
तथैवाऽमी विशेषेण मृगस्त्रीसर्पभूभुजः॥[1]

—पशु, मनुष्य और देवता, ये सभी राग में अनुरक्त होते हैं, लेकिन इनमें विशेष रूप से मृग, नारी, सर्प और राजाओं का स्नेह (प्रेम) राग माना गया है।

प्रेमराग : परम बन्धन क्यों ?

यह हुआ प्रेमराग के स्वरूप का विभिन्न पहलुओं से वर्णन। अब मूल प्रश्न

---

१. चन्दचरित्र, पृ० ७२

पर आइए। महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र मे बताया है कि प्रेमराग सबसे बढकर बन्धन है, सवाल यह होता है कि यह कौन-सी किस्म का बन्धन है ? दूसरे बन्धन तो आँखो से दिखाई देते हैं। कोई किसी को रस्सी से बाँध देता है, लोहे की जजीर से बाँध देता है या पैरो मे बेडियाँ और हाथो मे हथकडियाँ डालकर बाँध देता है अथवा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाता है या किसी को कोठरी आदि मे बन्द कर देता है तो इन स्थूल बन्धनो से तो मुद्दत पूरी होने पर छूट भी सकता है, इन बन्धनो से युक्ति एव उपायो से छुटकारा भी पाया जा सकता है, परन्तु प्रेमराग का बन्धन अनोखा है, इसके बन्धन मे एक बार पड जाने पर व्यक्ति सहसा इसे तोड नहीं सकता है, बल्कि इसमे अधिकाधिक जकडता जाता है। यह बन्धन स्थूल आँखो से नही दिखाई देता है। इस बन्धन मे पड जाने पर मोह और आसक्ति के कारण मनुष्य की सही सोचने की दृष्टि पर पर्दा पड जाता है। यह भावबन्धन है, द्रव्यबन्धन नही। इसीलिए नीतिकार कहते है—

> बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि,
> प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।
> दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि-
> र्निष्क्रियो भवति पकजकोषे ॥

—ससार मे बहुत से बन्धन है, लेकिन प्रेमरूपी रस्सी का बन्धन अनोखा ही है। तभी तो काष्ठ का भेदन करने मे निपुण भौंरा कमल के कोष मे (प्रेमरागवश) निष्क्रिय हो जाता है, उसे तोडकर बाहर नही निकलता। वास्तव मे भौंरा इतना शक्तिशाली है कि वह चाहे तो कमल तो क्या सख्त लकडी को अपने नुकीले मुँह से काट सकता है, लेकिन कोमल कमल-कोष मे स्वय बद पडा रहता है, क्यो ? केवल कमल के प्रति प्रेमरागवश। कविवृन्द के शब्दो मे—

> जैसो बन्धन प्रेम को, तैसो बन्ध न और।
> काठहि भेदे, कमल को, छेद न निकले भौर ॥

प्रेमराग के बन्धन को कठोरतम तथा तथा दृढ बताते हुए एक कवि कहता है—

> मुच्यते शृखलाबद्धो, नाडीबद्धोऽपि मुच्यते।
> न मुच्यते कथमपि प्रेम्णा बद्धो निरर्गल' ॥

—साँकलो से बँधा हुआ मुक्त हो जाता है, नाडी से बद्ध भी छुटकारा पा जाता है, किन्तु जो प्रेम-बन्धन से निरर्गल बद्ध है, वह किसी भी प्रकार से मुक्त नही होता।

कितनी मार्मिक बात कह दी है, कवि ने। वास्तव मे प्रेमरूपी राग का बन्धन बहुत ही जटिल और कठिनतर है। बडे-बडे मनीषी, तत्त्वचिन्तक, साधु-सन्यासी तक के लिए भी इस प्रेम राग-रूप बन्धन मे फँस जाने पर निकलना दुष्कर है।

प्रेम-रागकृत बन्धन कितना मोहक, कठोर और जटिल होता है ? इस सम्बन्ध मे सूत्रकृतागसूत्र की टीका मे एक कथा दी है—

समुद्र पार आर्द्रकपुर नाम का नगर था। वहाँ के राजा और रानी का नाम आर्द्र और आर्द्रा था। उनके एक सुपुत्र था, जिसका नाम उन्होने आर्द्रककुमार रखा था। एक बार राजगृह स मगधसम्राट् श्रेणिक ने मन्त्री के साथ उपहार भेजा। उस उपहार को देख आर्द्रककुमार ने पूछा—"पिताजी ! यह उपहार किसने भेजा है ?"

राजा ने कहा—"भारतवर्ष मे मेरा मित्र श्रेणिक राजा है, उसने यह उपहार भेजा है।"

राजकुमार ने आगन्तुक मन्त्री से पूछा—"आपके राजा के मेरी आयु का कोई गुणवान पुत्र भी है ?"

मन्त्री बोला—"हाँ, है क्यो नही ? अभयकुमार है।"

आर्द्रककुमार ने अपनी ओर मे अभयकुमार के योग्य उपहार पत्र सहित मन्त्री को सौपते हुए कहा—"यह उपहार अभयकुमार को देना।" उक्त मन्त्री ने राजगृह पहुँचकर वह उपहार तथा पत्र अभयकुमार को दिया। बुद्धिनिधान अभयकुमार ने सोचा—यह मेरे साथ मैत्री करना चाहता है। प्रभु महावीर ने एक बार कहा था—"तेरे साथ जो भी मैत्री करेगा, वह अवश्य ही सम्यक्त्व प्राप्त करेगा।" अत मालूम होता है कोई आसन्न सिद्धिक लघुकर्मा जीव है यह ! पिछले जन्म मे किसी व्रत की विराधना करके आया लगता है, इसी कारण अनार्य देश मे जन्म लिया है। यह सब सोचकर अभयकुमार ने सामायिक-साधना के सभी उपकरण एक पेटी मे बन्द करके आर्द्रककुमार को प्रतिबोध देने हेतु भेजे। आर्द्रककुमार ने अपूर्व उपहार समझकर एकान्त म ले जाकर पेटी खोली। धर्मोपकरण देखकर बार-बार ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके कारण उसने अपना पूर्वजन्म इस प्रकार देखा—

वसन्तपुर नगर मे सामायिक नामक गृहस्थ था। उसकी पत्नी का नाम बन्धुमती था। एक दिन पति-पत्नी दोनो ने धर्मोपदश सुनकर भागवती दीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर दोनो अलग-अलग विचरण करने लगे। एक बार मुनि और साध्वी दोनो एक नगर म मिले। अपनी गृहस्थपक्षीय पत्नी को साध्वी के रूप मे देखकर मुनि को कामराग उत्पन्न हुआ। आचार्य ने जब यह बात जानी तो उन्होने प्रवर्त्तिनी (साध्वी प्रमुखा) को कहलवाया कि बन्धुमती आर्या को अधिक बाहर न निकलने देना। बन्धुमती साध्वी को जब उसका कारण मालूम हुआ तो विचार करने लगी—धिक्कार हो मेरे इस रूप को, जिसे देखकर मेरे ससारपक्षीय पति—सामायिक मुनि का मन विचलित हुआ। यो चिन्तन करके साध्वी ने अनशन कर लिया। क्रमश आयुष्य पूर्ण करके देवलोक मे पहुँची।

सामायिक साधु को भी जब यह ज्ञात हुआ तो उसने भी अनशन किया और

देहावसान के बाद वह भी स्वर्ग मे पहुँचा। वही सामायिक साधु मैं था, मैं देवलोक से च्यवकर इस अनार्य देश मे जन्मा हूं। यो अपने जातिस्मरणज्ञान के प्रकाश मे देखकर सोचा—सचमुच अभयकुमार के अलावा मुझे अनार्य देश में कौन प्रतिबोध देता? यो अभयकुमार को बहुत उपकारी मानकर उससे मिलने की उत्कट इच्छा प्रदर्शित की लेकिन उसके पिता ने उसको भारतवर्ष जाने की अनुमति नही दी। पिता ने सोचा—इसे ससार से कही विरक्ति न हो जाए, यह सोचकर पिता ने ५०० सुभट उसकी रखवाली के लिए नियुक्त कर दिये। उन्हें यह हिदायत दे दी कि कुमार कही भी घूमने-फिरने या खेलने जाए, साथ-साथ रहो। अत कुमार के साथ ५०० सुभट रहने लगे। पर कुमार अपना घोडा प्रतिदिन आगे कुछ न कुछ दूर भगा ले जाता, इससे कभी एक घडी और दो घडी बाद लौटता। यो उन सब को विश्वास जमाकर एक दिन वहाँ से चम्पत होकर समुद्र तट पर आ गया। वहाँ से जहाज पर बैठकर अन्य जहाजो के साथ समुद्र के उस पार पहुँचा। वहाँ से उतरकर आर्य क्षेत्र मे आया। वहाँ उसने मन ही मन दीक्षा लेने का निश्चय किया। देवो ने उसे रोका कि अभी तुम्हारे भोगावली कर्म बाकी है, इसलिए दीक्षा न लो। परन्तु विरक्त आर्द्रक-कुमार ने सोचा, महापुरुषो ने कहा है—

अस्ततन्द्रैरत पुम्भिर्निर्वाणपदकाक्षिभि।
विधातव्य समत्वेन राग-द्वेषद्विषज्जय ॥

—मोक्ष पद के अभिलाषी साधको को तन्द्रा (आलस्य) रहित होकर समत्व के द्वारा राग-द्वेषरूप शत्रुओ पर विजय प्राप्त करना चाहिए। अत मुझे भी रागरूप शत्रु को परास्त करने के लिए अभी से ही प्रयत्न करना चाहिए। यो सोचकर आर्द्रककुमार ने स्वय ही मुनिदीक्षा ले ली।

ग्राम-ग्राम विचरण करते हुए वह मुनि वसन्तपुर पहुँचा। नगर के बाहर यक्षालय म कायोत्सर्ग मे स्थित होकर रहा। ठीक इसी समय उसकी पूर्वजन्म की पत्नी (जो देवलोक से च्यवन करके नगर के एक श्रेष्ठी की पुत्री बनी) श्रीमती नाम की कुमारी अपनी सखियो के साथ विहार-क्रीडा करने आ गई। 'आँखे मूंद कर जिस खम्भे को जो लडकी पकड ले, वही खम्भा उसके पति का प्रतीक माना जाएगा,' इस प्रकार का खेल वे लडकियाँ खेल रही थी। आँखे मूंदी हुई श्रीमती ने आर्द्रक मुनि के पैर को खभा समझकर पकड लिया। सहसा उसके मुँह से निकल पडा—"यह मेरा पति है।" देवो ने इसकी साक्षी रूप मे स्वर्णमुद्राओ वृष्टि की।

मुनि तो अपने पैर छुडाकर वहाँ से अन्यत्र चले गए। वह द्रव्य राजा लेने लगा तो देवो ने रोका। देवो के कथनानुसार वह सारा द्रव्य श्रीमती के पिता (श्रेष्ठी) के यहाँ अमानत के रूप मे रखा गया। श्रीमती ने कहा—इस जन्म मे तो मेरा यही पति रहेगा, दूसरा नही। परन्तु अपने पति (आर्द्रक मुनि) का पता लगाने हेतु उसने पिता से कहकर दानशाला खुलवा दी, जहाँ वह स्वय अपने हाथो से दान देती थी। परन्तु

बारह वर्ष यो दान करते-करते हो गए आर्द्रक मुनि नही आये। इसके पश्चात् मुनि विच-रण करते-करते दैवयोग से उसी नगर मे पधारे। सोचा—'नगर तो वही है, पर अब मुझे कौन पहचानेगा ? सब भूल गये होगे।' यो सोचकर नगर मे भिक्षा के लिए घूमते-घूमते अनायास श्रीमती के यहाँ ही पहुँच गये। श्रीमती भी आर्द्रकमुनि के पैर में पद्मचिह्न देखकर पहचान गई कि हो न हो, यही मेरे पतिदेव है। उसने अपने माता-पिता से कहा। श्रीमती के माता-पिता और राजा आदि प्रमुख लोगो ने आर्द्रक मुनि को उनकी पतिभक्ता पत्नी को स्वीकार करने का बहुत आग्रह किया। पहले तो उन्होने आनाकानी की, लेकिन फिर सोचा कि अगर मै इसे स्वीकार नही करूँगा तो यह (कन्या) मृत्यु का आलिंगन कर लेगी, तथा देवो ने भी मुझे दीक्षा लेते समय रोका था। अत इसे स्वीकार कर लेना ही उचित है। यह समझकर आर्द्रक ने श्रीमती के साथ पाणिग्रहण कर लिया। कुछ ही अर्से बाद एक पुत्र हुआ। कुछ सयाना होने पर उसे पाठशाला मे पढने भेजा।

अब आर्द्रककुमार को पुन दीक्षा लने को उद्यत हुए जान श्रीमती चर्खा लेकर सूत कातने लगी। जब बालक पाठशाला से आया तो उसने अपनी माँ को चर्खा कातते देख पूछा—"मा ! यह क्या कर रही हो ?"

श्रीमती ने कहा—"बेटा ! तू अभी छोटा बच्चा है। तेरे पिता हम सब को छोडकर दीक्षा लेने जा रहे है। अत मेरे लिए अब यह चरखा ही आजीविका का एकमात्र सहारा है।"

बालक ने कहा—"मा ! तुम चिन्ता न करो। मैं अपने पिताजी को जाने नही दूँगा, बाधे रखूगा।" यो कहकर मा ने सूत की जो आटी बनाई थी, उसे लेकर वह पिता के पैर के चारो ओर सूत लपेटता जाता और कहता जाता—"देखो मा ! मैं पिताजी को बाधे रखता हूँ। जाने नही दूगा।"

बालक के रहस्यमय वचन सुनकर आर्द्रककुमार ने सोचा—'यदि मै इस बच्चे को बिलखता एव निराधार छोडकर चला जाऊँगा तो इसके कोमल हृदय को आघात पहुँचेगा, इसे बहुत दुख होगा। अत सूत के जितने तार होगे, उतने वर्ष और गृहस्थी मे रहूँगा।' किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

इश्क के घाट किसी को न सभलते देखा।
अच्छो अच्छो का यहा पाव फिसलते देखा॥

सूत के तार गिने तो पूरे बारह निकले। अत आर्द्रककुमार ने श्रीमती से कहा—"मैं अभी बारह वर्ष और रहूँगा।" एक-एक करके १२ वर्ष पूर्ण हो गये। अत. उसने पुन दीक्षा ले ली।

आर्द्रककुमार के साथ जो ५०० सुभट थे, उन्होने भी धर्मदेशना सुनकर ससार विरक्त होकर दीक्षा ले ली। तत्पश्चात् उन ५०० मुनियो सहित आर्द्रक मुनि ने राज-

गृही नगरी मे प्रभु महावीर का पदार्पण सुनकर उस ओर विहार किया। रास्ते मे गोशालक मिला। उसके साथ आर्द्रकमुनि की चर्चा हुई। उसमे गोशालक को उन्होने निरुत्तर कर दिया। आगे बढ़े तो एक हाथी आर्द्रकमुनि को देखकर साँकल तुडाकर भागा। लोगो मे भगदड मच गई। अन्त मे हाथी आर्द्रकमुनि के चरणो मे सू ड से नमस्कार करके जगल मे चला गया। यह चमत्कार देखकर सभी लोगो मे मुनि की प्रसिद्धि होने लगी। राजा श्रेणिक तथा अभयकुमार मत्री आदि राजदरबारियो सहित मुनि के वन्दनार्थ आये। वे नमस्कार करके मुनि से पूछने लगे—"मुनिवर! हाथी बन्धन से कैसे मुक्त हुआ?"

मुनि ने अपने पूर्वानुभव के आधार पर कहा—हाथी को जजीर तोडनी दुष्कर नही लगी, लेकिन मुझे सूत के बारह तार तोडने बहुत दुष्कर लगे।"

इस पर राजा ने पूछा—"यह कैसे?" मुनि ने अथ से इति तक अपना सारा वृत्तान्त कहा जिसे सुनकर राजा और अभयकुमार दोनो को बहुत ही प्रसन्नता हुई। आर्द्रक मुनि वहाँ से भगवान् महावीर के पास पहुँचे। उन्हें वन्दना नमस्कार करके उनकी सेवा म रहकर उग्र तपस्या की और कर्मक्षय करके रागद्वेषमुक्त होकर एक दिन वे मोक्ष पहुँचे।

यह है प्रेमराग के बन्धन मे पडने और उससे मुक्त होने का ज्वलन्त उदाहरण! इसीलिए बधन दो प्रकार का बताया गया है—

पडिक्कमामि दोहि बधणेहि—रागबधणेहि दोसबधणेहि।

—भगवन्! दो प्रकार के बन्धनो से प्रतिक्रमण करता हूँ—राग के बन्धन से और द्वेष के बन्धनो से।[1]

प्रेमराग कहें या स्नेहराग दोनो के बन्धनो की तासीर एक सरीखी होती है।

योगी का प्रेमरागविहीन हृदय जहाँ अपने अधीन होता है, वहाँ वह रागादि शत्रुओ द्वारा आक्रान्त होने पर पराधीन हो जाता है।

वस्तुत देखा जाये तो आसक्ति, मूढस्नेह, मोह, मूर्च्छा इत्यादि के कारण ही प्रेमराग गाढबन्धनकारक बन जाता है। इससे बडे-बडे योगी लोग भी पराधीन और दु खी बन जाते है, अपनी वर्षों की साधना को चौपट कर देते है।

कई लोग यह मानते है कि गृहस्थ मे रहने से प्रेमराग के बन्धन बहुत दृढ हो जाते है, इसलिए साधु बन जाना या गृहत्याग कर देना चाहिए, ताकि ये बन्धन नष्ट हो जाये, परन्तु यह भ्रम है। साधु बन जाने मात्र से या वेष परिवर्तन कर डालने अथवा गृहत्याग कर देने मात्र से ही प्रेमराग के बन्धन कम हो जायेंगे, ऐसी बात नही है। अगर व्यक्ति गृहत्याग के साथ-साथ राग, स्नेह, आसक्ति, मोह-ममता आदि का त्याग कर लेता है या उसने गृहपरित्याग के गम्भीर अर्थ को हृदयगम कर लिया है,

---

१. आवश्यकसूत्र, श्रमणसूत्रपाठ।

पारिवारिक बन्धनो को तोडकर समस्त ससार को अपना कुटुम्ब मानते हुए भी उससे अनासक्त, निर्लिप्त, तटस्थ रह सकता है, वही प्रेमराग के बन्धन को तोडने मे समर्थ हो सकता है।

केवल परिस्थितियो के परिवर्तन से प्रेमराग नष्ट नही हो जाता, उसके लिए मन और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। जैसाकि नीतिकार कहते हैं—

वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणा,
गृहेऽपि पचेन्द्रियनिग्रहस्तप ।
अकुत्सिते कर्मणि य प्रवर्त्तते,
निवृत्तरागस्य गृह तपोवनम् ॥

—जिनके मन म राग होगा उनके मन म वन म रहन पर भी दोष प्रादुर्भूत होगे और पचेन्द्रियनिग्रह (मनोविजय) करने पर घर मे भी तप हो जायेगा। जो अनिन्दित (शुभ) कार्य म प्रवृत्त होता है, उस रागरहित व्यक्ति के लिए घर ही तपोवन बन जायेगा।

महाभारत म भी रागादि बन्धन का अचूक प्रभाव बताते हुये कहा है—

तिष्ठेद् वायुर्द्रवेदग्निर्ज्वलेज्जलमपि क्वचित् ।
तथापि ग्रस्तो रागाद्यैर्नाप्तो भवितुमर्हति ॥[1]

—हवा अगर सर्वत्र सचरण करना छोडकर एक जगह स्थिर हो जाये, अग्नि जलाने के बदले स्वय पिघलकर पानी बन जाय, अथवा जल भी शीतल होने के बदले स्वय जलने लग जाय, तो भी राग आदि बन्धनो (विकारो) के रहते कोई भी व्यक्ति आप्त (वीतराग—सर्वज्ञ महापुरुष) नही हो सकता।

जडभरत की मृगशावक पर आसक्ति, बन्धन बनी—उत्तराध्ययन सूत्र म बताया गया है कि राग का कारण समनोज्ञ (पदार्थ) होता है और द्वेष का कारण अमनोज्ञ पदार्थ।[2] अज्ञानी जीव तो राग और द्वेष के वश होकर विविध पाप किया करते ही है,[3] ज्ञानी और गृहत्यागी भी कभी-कभी अज्ञानी जीवो की तरह राग-बन्धन या आसक्ति बन्धन म अथवा स्नेहपाश[4] म बुरी तरह जकड जाते है।

श्रीमद्भागवत् पुराण म जडभरत का आख्यान आता है कि वे गडकी नदी के किनारे जगल मे एक कुटी म रहते थ। आसपास चारो ओर जगल था। प्रकृति की छटा और छवि अनोखी थी। एक दिन जब वे नदी मे स्नान करके वापस लौट रहे

---

१ महाभारत शान्तिपर्व
२ रागस्स हेऊ समणुन्नमाहु दोसस्स हेऊ अमणुन्नमाहु। —उत्तरा० ३२/३६
३ रागदोसस्सिया बाला पाप कुव्वति ते बहु। —सूत्रकृताग ८/८
४. 'नेहपासा भयकरा' —उत्तराध्ययन २३/४३

थे तो एक हिरन के बच्चे को नदी के पास ही एक नाले मे छटपटाते देखा। वह मृगशावक अकेला था, उसकी मा या और कोई हिरन उसके पास नही था। जडभरत ने उसे ऐसी दुर्दशा मे देखा तो उन्हे उस पर दया आगई। वे उसे उठाकर अपनी कुटी पर ले आये। यहाँ तक तो ठीक था। परन्तु अब वे उसकी कोमल पीठ पर हाथ फिराते, उसे नहलाते-धुलाते, उसे खिलाते, उसकी क्रीडा देखते। जडभरत का उस मृग-छौने पर इतना अधिक स्नेह हो गया कि रात-दिन वे उसी उधडेबुन मे रहने लगे। आसक्तिमूलक प्रेमराग का बन्धन उन्हें बन्धन नही मालूम होता था। जडभरत की उस पर इतनी अधिक ममता-मूर्च्छा या आसक्ति हो गई कि उन्होने अपनी सब साधना—सन्ध्या, उपासना, जप-तप, परमात्म-वन्दना आदि ताक मे रख दी। इस प्रकार जडभरत ने मृगासक्त होकर अपना पतन कर लिया। कहते है, वे मरकर मृग की योनि मे पैदा हुए। महाभारत मे स्पष्ट बताया है—

कृपयाऽपि कृत सग पतनायैव योगिनाम्।
इति सदर्शयन्नाह भरतस्यैण-पोषणम्॥[1]

—दयावश की हुई आसक्ति भी योगियो के लिए पतनकारक ही होती है। जडभरत का मृग-पोषण भी इसी बात को सिद्ध करता है।

आसक्ति छोडे बिना सुख नहीं—श्री शुभचन्द्राचार्य ने आसक्ति को समस्त अनर्थों की जड माना है। वे कहते है—

सग एव मत सूत्रे, नि शेषानर्थमन्दिरम्।

—धर्मशास्त्रो मे सग (आसक्ति) को ही समस्त अनर्थों का घर माना है।

भागवत मे एक दृष्टान्त देकर इसे समझाया गया है कि एक कुरर पक्षी मास का टुकडा लेकर उडा। उसके पीछे कौए आदि कई पक्षी लग गये। अन्त मे हार-थककर उसने वह मासपिण्ड छोडा और शान्ति स एक वृक्ष पर बैठा। दत्तात्रेयजी ने उसे गुरु मानते हुए यह शिक्षा ली है कि जब तक आसक्तिरूपी मास का टुकडा नही छूटेगा, वहाँ तक क्रोध आदि कौए पिण्ड नही छोडेगे और सुख-शान्ति प्राप्त नही होगी।

आसक्ति का बन्धन आत्मज्ञान को ले डूबा—श्री शकराचार्यकृत एक प्रश्नोत्तरी भी इस सम्बन्ध मे प्रकाश डालती है—

कस्मात् सौख्य भवति भगवन्? शान्तित सा च कस्मात्,
चेत स्थैर्यात्, स्थितिरजनि मन कस्य? य स्यान्निराश।
नैराश्य वै मिलति च कथ? यत्र नासक्तिरन्त,
साऽनासक्तिर्विलसति कुतो? यस्य बुद्धौ न मोह.॥

भगवन्! सुख किससे मिलता है? शान्ति से। शान्ति किससे प्राप्त होती

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व २१५/४ टीका

है ? चित्त की स्थिरता से। मन किसका स्थिर होता है ? जिसके आशा नहीं है। आशा से छुटकारा कैसे मिलता है ? अन्तर् में आसक्ति न होने से। अनासक्ति कैसे—कहाँ से मिलती है ? जिसकी बुद्धि में मोह नहीं होता।

वैदिकपुराण की एक कथा है—एक बार काकभुशुण्डि के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि क्या संसार में ऐसा कोई दीर्घजीवी व्यक्ति है, जो विद्वान् तो हो, पर उसे आत्मज्ञान न हुआ हो ? वे इस बात का पता लगाने महर्षि वशिष्ठ से आज्ञा लेकर चल पड़े।

ग्राम, नगर, वन, कन्दरा और आश्रमों की खाक छानी तब कहीं विद्याधर नामक ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई। जिनकी आयु ४ कल्प की हो चुकी थी, तथा जिन्होंने सम्पूर्ण वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया था। शास्त्रों के श्लोक उन्हें ऐसे कण्ठस्थ थे, जैसे तोते को राम-नाम। किसी भी शंका का समाधान वे झटपट कर देते थे।

काकभुशुण्डि को उनसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। पर उन्हें आश्चर्य हुआ कि इतने विद्वान् होने पर भी लोग उन्हें आत्मज्ञानी क्यों नहीं कहते ? यह जानने के लिए काकभुशुण्डि चुपचाप विद्याधर के पीछे घूमने लगे। एक दिन विद्याधर नीलगिरि पर्वत पर वन विहार का आनन्द ले रहे थे, तभी उन्हें कण्वद राजा की राजकन्या आती दिखाई दी। नारी के सौन्दर्य से विमूढ विद्याधर प्रकृति के उन्मुक्त आनन्द को भूल गये। कामावेश ने उन्हें इस तरह दीन कर दिया, जैसे मणिहीन सर्प। वे इस सूत्र को भूल गये कि **स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्**[1]—एकमात्र स्नेहबन्धन (आसक्ति) का क्षय करने से ही शान्ति प्राप्त होती है। कामासक्ति ने उनकी मानसिक शान्ति भंग कर दी। वे राजकन्या के पीछे इस तरह चल दिये जैसे मृत पशु की हड्डियाँ चाटने के लिए कुत्ता। उस समय उन्हें न शास्त्र का भान रहा और न ही पुराण का। उनकी बुद्धि में मोह ने डेरा डाल दिया था। श्री अमृत काव्यसंग्रह इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रेरणा देता है—

इण मोहजाल माही बीत्यो है अनन्तकाल,
नाना योनि माही कष्ट सह्या है अपार रे।
क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेषवश जीव,
पायो दुःख अनन्त न छोडत गँवार रे॥
आपा को विसार पर-गुण में मगन होय,
बांधत करम नहीं करत विचार रे।
अमीरिख कहे छोड सकल जंजाल भव्य !
धार सीख वेगा जाग, हो हुश्यार रे॥

---

१ उपदेशमाला

२, श्री अमृत काव्यसंग्रह, शिक्षा बावनी, घनाक्षरी छन्द

भावार्थ स्पष्ट है। मोहावृत होने के कारण विद्याधर विप्र को यह भान ही न रहा कि राजकन्या मुझसे उपेक्षा कर रही है, और मैं आसक्ति मे बधा उसके पीछे-पीछे भागा ही जा रहा हूँ।

वर्तमान युग मे भी अनेक प्रेमी मजनू इकतरफा प्रेम (प्रणय) की उत्कटता मे भीगे रहते हैं, दूसरी तरफ से प्रेम का छींटा भी नही होता, पर वे इस भ्रम मे रहते है कि मैं जिसे प्रेम (मोह) करता हूँ वह भी मुझसे प्रेम करती है। वह प्रेमरागान्ध व्यक्ति मानी हुई प्रेमिका के हर व्यवहार, वाणी और हावभाव को प्रणय का चिह्न समझता है। वह प्रेम का इकरार समझकर भयकर भूल कर बैठता है। वर्तमान युवामानस मे प्रेमराग का उन्माद, प्रणय की मिथ्या भ्रान्ति और प्रणय चिह्न का भ्रम तेजी से फैलता जा रहा है। जब उसे धक्का लगता है, तभी वह चेतता है, अन्यथा मोहान्ध बना हुआ युवक बुद्धिभ्रष्ट हो जाता है।

विद्याधर को भी प्रणय भ्रम हो गया और पागल बने उस राजकन्या के पीछे जब बेधडक राजमहल के द्वार तक पहुँच गये, तब सिपाहियो ने उन्हें विक्षिप्त समझकर कारागृह मे डाल दिया।

कारागृह के बन्धन मे पडे हुए विद्याधर से काकभुशुण्डि ने पूछा—"विप्रवर! आप इतने विद्वान् होकर भी यह न समझ सके कि आसक्ति ही आत्मज्ञान का बन्धन है। यदि आप कामासक्त न होते तो आपकी ऐसी दुर्दशा क्यो होती।" यह सुनकर विद्याधर विप्र के ज्ञाननेत्र खुले, मोह का नशा उतरा और उन्हे सच्चा आत्मज्ञान हो गया। उत्तराध्ययन मे स्पष्ट कहा है—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो।[1]

—जिसके मन मे मोह नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो गया समझो।

प्रेमराग का बन्धन तोड डालो—साधुओ को पचेन्द्रिय-विषयो के राग-द्वेष से मुक्त रहने का जगह-जगह उपदेश दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट निर्देश है—

> **विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहिंचि कुव्विज्जा।**[2]
> **वोछिंद सिणेहमप्पणो, कुमुअं सारइयं व पाणियं।**[3]
> **असिणेह सिणेहकरेहिं।**[4]

—'अर्थात् पूर्वसयोग का त्याग कर चुकने पर किसी भी वस्तु पर स्नेह (आसक्ति) न करे।'

'कमलपत्र की भाँति तू निर्लेप बन, यहाँ तक कि अपने शरीर और अपनो के प्रति भी स्नेह (आसक्ति) का त्याग कर दे।'

'जो तेरे साथ स्नेह करे उनके साथ भी निःस्नेह भाव से रह।'

---

१ उत्तरा० ३२/८
२ उत्तरा० अ० ८/२
३. उत्तरा० १०/२८
४ उत्तरा० ८/२

परन्तु एक बात प्राय देखने मे आती है, जो श्रीमद्भागवत मे अभिव्यक्त है—

स्नेहानुबन्धो बन्धूना मुनेरपि सुदुस्त्यज[1]

—स्वजनो का स्नेहबन्धन तोडना मुनियो के लिये भी अत्यन्त दुष्कर है।

परन्तु कुछ एसे सुदृढ धातु के साधक होते है, जिन्हें मोह, प्रेमराग, आसक्ति, स्नेह या ममता-मूर्छा का बन्धन बिलकुल जकड नही सकता।

प्रसेनजित राजा की पुत्री राजकुमारी विपुला राजोद्यानभ्रमणार्थ निकली थी। केसरिया वस्त्र के साथ सुनहरी चोली पहन राजकुमारी का सौन्दर्य कुमुदिनी को भी हतप्रभ कर रहा था। कानो म कणशोभन, वक्षस्थल पर मणिमाला और ग्रीवा मे रत्नजटित स्वणहार, ये सब मिलकर उसकी रूपराशि मे वृद्धि कर रहे थे। राजकुमारी के सौन्दर्य का चर्चा उस सारे जनपद मे फैल गई थी।

इधर प्रात काल की पीयूष वेला म राजोद्यान मे स्थित भिक्षु नागसमाल सरस्वती वन्दना म निमग्न थ। वीणा की झकार से सारा राजोद्यान भाव-विभोर हो रहा था। भरवीराग सुनन के लिये राजकुमारी भी स्वर-मुग्ध होकर उसी तरह निकट चली आ रही थी, जिस तरह स्वरप्रेमी मृग आ जाता है। विपुला स्फटिक शिला पर बैठकर उन अमृतमय स्वर लहरिया का पान करती-करती भावविभोर हो उठी। उसस पैरो म बिजली की-सी चपलता आ गई, वे मचलने लगे, वीणा के स्वर के साथ पायला की ध्वनि न एकाकार होकर सबको मत्रमुग्ध कर दिया।

न रुकती थी वीणा की सगीतधारा प्रवाहित करने वाली नागसमाल की उँगलियाँ और न थमना चाहते थ राजकुमारी के थिरकते पाव। सूर्य एक बास ऊपर चढ आया। महाराज प्रसेनजित भी रानी मल्लिका के साथ वहाँ आ पहुँचे। महापण्डित नागसमाल, जो अब तक सच्चिदानन्द की रसानुभूति म डूबे थे, महाराज प्रसेनजित का सामने देखते ही रुक गये। वीणा की तान टूटते ही पाँवा की थिरकन बन्द हो गई। भावविभोर विपुला ने आगे बढकर वक्षस्थल पर पडी माला निकाली और चीवरधारी भिक्षु नागसमाल के गले म डाल दी।

भिक्षु ने स्थितप्रज्ञ की भाँति वह माला गले मे से निकालकर एक ओर रख दी। राजा की ओर देखकर वे बोले—"आर्य! कुशलमगल तो है न?" "सब कुशल-मगल है, स्वामिन्! किन्तु आपने राजकुमारी द्वारा आपके गले मे डाली हुई वरमाला क्यो निकाल फेंकी? आप जानते हैं, भारतीय कन्या जिसके गले मे वरमाला डाल देती हे फिर उसके लिए वही आजीवन पति रहता है। फिर वह किसी और को नही वरण करती। इसलिये अब तो आपको मरी रूपवती कन्या के साथ विवाह करना ही पडेगा।"

---

१. श्रीमद्भागवत १०/८७/५

नागसमाल ने हँसकर कहा—"महाराज ! साधु-सन्यासी और लोकसेवक के लिये जनता ही पति है। मैंने स्वपरकल्याण एवं लोकहित के लिये यह वेष धारण किया है। क्या आप चाहते है कि मैं अपने स्वीकृत पथ से भ्रष्ट हो जाऊँ ?'"

"सोच लो, महात्मन् !" राजा के स्वर मे कुछ तीखापन और कुछ याचना का भाव भी था—"हम आपको आधा राज्य भी देगे। आपको राजकुमारी के भरण-पोषण के लिये कुछ भी चिन्ता नही करनी पडेगी।"

सौन्दर्य का प्रलोभन और धमकी भरा भय—दोनो ही नागसमाल को विचलित न कर सके।

बन्धनो से प्रीति कैसी ? बन्धनो से प्रीति कैसी ?
हम शलभ जलने चले है, अस्तित्व निज खोने चले है।
दीप पर जलना हमे है, दाह की फिर भीति कैसी ?
सिन्धु से मिलने चले है, सर्वस्व निज देने चले है।
अतल से मिलना हमे है, शून्य तट पर दृष्टि कैसी ?
दीप बन जलना हमे है, विश्व-तम हरना हमे है।
ध्येय तिल-तिल जलन का है, कालिमा से भीति कैसी ?

नागसमाल राजा को अपने जाने का सकेत करके वीणा उठाकर उसी तरह चल पडता है, जैसे मृगो के बीच मे से सिह निकलता है। धीरे-धीरे कदम वह बढाता हुआ राजोद्यान से बाहर निकल गया।

यह है, प्रेमराग के बन्धन से दूर रहकर रागबन्धन तोडने की प्रेरणा देने वाला ज्वलन्त उदाहरण !

रागमुक्त भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा राजीमती को प्रेमराग बन्धन तोडने की प्रेरणा देने का भी ज्वलन्त उदाहरण प्रसिद्ध है।

बन्धुओ ! इसीलिये उत्तराध्ययनसूत्र (२६/३०) मे इस बन्धन को तोडने से विशिष्ट फल-प्राप्ति का निर्देश किया गया है—

"अप्पडिबद्धयाए ण जीवे निस्सगत्त जणयइ, निस्सगत्तेण जीवे एगे एगग्ग-चित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ।"

—अप्रतिबद्धता से नि सगभाव आता है। नि सगभाव से जीव एकाकी, एकाग्रचित्त तथा अहर्निश अनासक्त रहता हुआ अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है।

आप भी महर्षि गौतम की पवित्र प्रेरणानुसार प्रेमराग को परमबन्धन समझ-कर इससे दूर रहने का प्रयत्न कीजिये, गृहस्थ मे रहते हुए भी अनासक्त, रागरहित बनने का अभ्यास कीजिये। *

६७. बोधिलाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं—१

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

इस विश्व मे आज लगभग तीन अरब मनुष्य होगे । उनमे से अधिकाश लाभ-दृष्टि वाले लोग होगे । चारो ओर नजर डालते है तो प्राय 'फायदावादी' लाग दृष्टि-गाचर होते है । फायदावादी लोगो की एक नीति होती है कि वे अच्छी उपलब्धि के लिए पुरुषार्थ चाहें करे या न करे, पर पहला सवाल उनके दिमाग मे यही उठता है कि इस काम से क्या फायदा होगा ? जैसे रोगी के मन मे वैद्य या डॉक्टर की दवा लेने के साथ ही यह विकल्प उठा करता है कि इस दवा से लाभ होगा या नही ? वैसे ही फायदावादी या लाभाकाक्षी लोगो की सबसे पहली दृष्टि लाभ पर ही पडती है । आपको भी शायद व्यापारी होने के नाते लाभ की बात ही सुहाती होगी । बिना लाभ के कौन सी बात और कौन-सा व्यापार ?

हाँ, तो महर्षि गौतम भी आपको इस जीवनसूत्र मे सबसे बडे लाभ की बात बता रहे है । गौतमकुलक का यह ५८वाँ जीवनसूत्र है । इसका अक्षरशरीर इस प्रकार है—

न बोहिलाभा परमत्थि लाभो

—बोधिलाभ से बढकर ससार मे कोई लाभ नही ।

बोधिलाभ के मुख्य अर्थ

व्यापक दृष्टि से बोधिलाभ के कई अर्थ प्रतिफलित होते है । जैन शास्त्रो का मथन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बोधिलाभ जैनधर्म का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है । इसी सन्दर्भ मे बोधिलाभ के यहाँ पाँच अर्थ प्रतिफलित होते है—

(१) सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लाभ
(२) आत्मबुद्धि (निश्चय सम्यग्दृष्टि) का लाभ
(३) सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि का लाभ
(४) व्यवहार सम्यग्दृष्टि का लाभ
(५) सद्बोध (सच्ची समझ) का लाभ

अब हम क्रमश इनके अर्थ और साथ ही इनकी दुर्लभता का वर्णन कर रहे है ।

रत्नत्रय-लाभ की दुर्लभता : क्यों ?

बोधिलाभ का प्रथम अर्थ है—रत्नत्रय का लाभ। जीवन का आध्यात्मिक विकास बोधि या सम्बोधि की प्राप्ति के बाद सहज ही होने लगता है। बोधि की प्राप्ति के बिना कोई भी व्यक्ति यह चाहे कि मैं वास्तविक आत्मोन्नति या आध्यात्मिक विकास कर लूँ, यह असम्भव है। इस दृष्टि से बोध शब्द से यों तो सम्यक्त्वसहित सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनो ही सम्यक् रूप मे गृहीत होते है। इन्ही को जैनशास्त्रो मे रत्नत्रय कहा गया है, मोक्षमार्ग भी। इसलिए बोधि को हम मोक्षमार्ग या मोक्षद्वार कह सकते है। मोक्ष मे प्रवेश करने या मोक्ष तक जाने के लिए यदि द्वार या मार्ग न मिले तो साधक कितना भटक सकता है, हैरान हो सकता है ? इसकी कल्पना सहज ही आप कर सकते है। आध्यात्मिक विकास का लाभ मानवजीवन मे सबसे बडा लाभ है।

क्या आप बता सकते है कि इस जीव (आत्मा) को रत्नत्रयरूप बोधि कब प्राप्त होती है ? कितनी योग्यता हो, तब ऐसा बोधिलाभ होता है ? जैसे—किसी व्यक्ति को एम०ए० या एल-एल० बी० की डिग्री प्राप्त करनी हो तो उसके लिए पाठ्यक्रमानुसार उतना अध्ययन करना और परीक्षा देकर उत्तीर्ण होना आवश्यक है वैसे ही रत्नत्रयरूप बोधिलाभ के लिए भी उतनी योग्यता हासिल करना आवश्यक है। जैन सिद्धान्त की भाषा मे कहूँ तो विभिन्न गतियो और योनियो मे भटकते-भटकते एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर विकास करते जब पचेन्द्रिय और उसमे भी सज्ञी पचेन्द्रिय, साथ ही मनुष्य योनि म आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, पचेन्द्रियपूर्णता, नीरोगता, दीर्घायुष्कता, आदि सब घाटियाँ पार होने के बाद भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, फिर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति। कितना दुष्कर है, बोधि को पाना। आकाश के तारे तोड लाने की अपेक्षा भी बोधि पाना दुर्लभतर है।

'कार्तिकेयानुप्रक्षा' नामक ग्रन्थ मे बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा (भावना) का वणन करते हुए रत्नत्रयरूप बोधि क्यो दुर्लभ है, यह स्पष्ट रूप से बताया गया है—

यह जीव (सर्वप्रथम) अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक तो निगोद[1] (अनन्तकायिक) जीवो मे रहता है। वहाँ से निकलकर कदाचित् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय जीव का पर्याय प्राप्त करता है।

निगोद से पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव-पर्याय प्राप्त करना भी दुर्लभ है। वहाँ पृथ्वीकाय आदि मे भी सूक्ष्म और बादर कायो मे असख्येय काल तक जीव

---

१ नित्यनिगोद मे अनादिकाल से अनन्तकाल तक जीव का वास होता है। वहाँ एक ही शरीर में अनन्तानन्त जीव एक साथ ही आहार, श्वासोच्छ्वास और जीवन-मरण करते हैं। उनका आयुष्य एक श्वास के १८वे भाग जितना है। —सम्पादक

भ्रमण करता है। वहाँ मे निकलकर (स्थावरत्व से मुक्त होकर) त्रसत्व (त्रसपर्याय) अत्यन्त कष्ट से प्राप्त होने के कारण चिन्तामणि प्राप्त करने की तरह दुर्लभ है।[१]

स्थावर पर्याय मे से निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त करने पर भी कदाचित् वहाँ भी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियरूप विकलेन्द्रियत्व को प्राप्त करले तो भी वहाँ उत्कृष्टत करोड पूर्व तक जीव रहता है। वहाँ (विकलेन्द्रिय) मे निकलकर पञ्चेन्द्रियत्व प्राप्त करना महाकष्टकारक होने मे अत्यन्त दुलभ है, क्योकि विकलेन्द्रिय म से फिर स्थावर काय मे उत्पन्न हो जाये तो वह जीव वहाँ फिर बहुत काल तक उस पर्याय म रहता है, इस दृष्टि से पचेन्द्रियत्व की प्राप्ति अति दुर्लभ बताई है।[२]

विकलेन्द्रियत्रय म मे निकलकर कदाचित् जीव पचेन्द्रिय हो जाये तब भी वह असज्ञी—मन से रहित—होता है, असज्ञी जीव स्व पर का भेद नही जानता यानी सज्ञीपन दुर्लभ होता है। कदाचित् सज्ञी—मनसहित—भी हो जाये तो वह तिर्यंच होता है अर्थात् सिंह, सर्प, मत्स्य, उल्लू आदि होता है जिसके परिणाम निरन्तर पापरूप रहते है।[३]

क्रूर तिर्यंच होता है तो वह जीव तीव्र अशुभ परिणामवश अशुभलेश्या सहित मरकर नरक म—महादुखदायक एव भयानक नरक मे जाता है, जहाँ शारीरिक एव मानसिक प्रचुर तीव्रतर दुख भोगता है।[४]

वह नरक म से निकलकर तिर्यंचगति म उत्पन्न होता है। वहाँ भी पापकर्म के उदय मे जीव अनेक प्रकार के दुख सहन करता है।[५]

तिर्यंच म से निकलकर मनुष्य गति पाना अतीव दुलभ है जैसे चौराहे (चतुष्पथ) के बीच म किसी का रत्न गिर जाए तो महाभाग्य हो तभी वह हाथ मे आता है, इसी प्रकार चार गतियो के बीच म मनुष्यत्व (मनुष्यजन्म) रूपी रत्न हाथ आना दुर्लभ है। फिर ऐसा दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी जीव मिथ्यादृष्टि होकर पापकम उपार्जित करता है। अर्थात्—कदाचित् वह जीव मनुष्य भी हो जाय, तब म्लेच्छखण्ड (अनार्य क्षेत्र) म जन्म लेकर मिथ्यादृष्टियो का सग पाकर फिर वह पापकर्म करता है।[६]

कदाचित् मनुष्य-पर्याय पाकर आर्यक्षेत्र भी पा जाये फिर भी उत्तम गोत्र एव कुल प्राप्त नही कर पाता। कदाचित् पुण्य की प्रबलता से उत्तमकुल म जन्म ले भी ल तो भी निर्धन (दरिद्र) होता है, उसके हाथ से कोई भी सुकृत्य नही होता, इस कारण पाप मे ही जीवन बिताता है।[७]

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक २८४
२. वही, श्लोक २८६
३ वही, २८७
४ वही, २८८
५ वही, २८९
६ वही, श्लोक २९०
७ वही, श्लोक २९१

कदाचित् धनाढ्य भी हो जाये तब भी इन्द्रियो की परिपूर्णता पाना अतीव दुर्लभ है। अगर इन्द्रियाँ भी परिपूर्ण मिल जाये तो भी शरीर का नीरोग रहना दुर्लभ है, किसी न किसी रोग से शरीर ग्रस्त रहेगा।[१]

कदाचित् शरीर नीरोग भी रहे तो भी दीर्घायु प्राप्त नही कर पाता। अथवा कदाचित् दीर्घायु भी पा जाये, तब भी शील (भद्रस्वभाव) नही प्राप्त कर पाता, इस कारण उत्तमचरित्र बनना कठिन होता है।[२]

कदाचित् उत्तमशील (सदाचार) से युक्त हो भी जाये, तब भी साधुपुरुषो की सगति नही प्राप्त कर पाता। उसे भी कदाचित् पा ले तो भी वहाँ सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन पाना अतीव दुर्लभ है।[३]

कदाचित् सम्यक्त्व प्राप्त हो भी जाये, किन्तु फिर भी यह जीव चारित्र ग्रहण नही कर पाता। कदाचित् चारित्र भी ग्रहण कर ले तो भी उसका निरतिचार (निर्दोष) रूप से पालन नही कर सकता।[४]

कदाचित् वह जीव रत्नत्रय भी प्राप्त कर ले, किन्तु उसे पाकर भी तीव्र कषाय करे तो उसका रत्नत्रय नष्ट हो जाता है। इस कारण वह दुर्गति मे जाता है।[५]

जैसे महासमुद्र म गिरा हुआ रत्न पुन प्राप्त होना दुर्लभ होता है, वैसे ही यह मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ है, यह दृढ विचार करके मिथ्यात्व और कषाय को छोडो।[६]

कदाचित् कोई जीव दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर शुभ भावो से देवत्व भी प्राप्त कर ले, तो भी वहाँ चारित्र और तप प्राप्त नही कर सकता, तथा देशव्रत—श्रावकव्रत तथा शीलव्रत (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) को लेशमात्र भी प्राप्त नही कर पाता।[७]

हे भव्यजीव! इस मनुष्यगति मे ही तपश्चरण हो सकता है, मनुष्यगति मे ही समस्त महाव्रत-पालन हो सकता है, इस मनुष्यगति मे ही धर्मध्यान-शुक्लध्यान होता है तथा मनुष्यगति मे ही निर्वाण-मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[८]

इस प्रकार का दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर जो मनुष्य इन्द्रिय-विषयो मे रमण करता है, वह इस दिव्य अमूल्य रत्न को पाकर भस्म (राख) के लिए इसे जला डालता है।[९]

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २९२
२. वही, २९३
३. वही, २९४
४. वही, २९५
५. वही, २९६
६. वही, २९७
७. वही, २९८
८. वही, २९९
९. वही, ३००

इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय (बोधि) को दुर्लभातिदुर्लभ जानकर तथा इन सब दुर्लभताओ को समझकर इस संसार मे रत्नत्रयरूप बोधि का महान् आदर करो, उसका आचरण करो।[1]

ये हैं रत्नत्रयलाभ की दुर्लभता मे कारण। सासारिक भौतिक पदार्थों का मिलना इतना दुर्लभ नही है, जितना रत्नत्रय की प्राप्ति मे निमित्तभूत मानवजन्म आदि का मिलना दुर्लभ है।

आत्मबुद्धि की दुर्लभता क्या और कैसे?

बोधिलाभ का दूसरा अर्थ—आत्मबुद्धि का लाभ है। आत्मबुद्धि के दो अर्थ हो सकते है—

(१) विश्व के सभी प्राणियो को आत्मीयता—आत्मौपम्य दृष्टि से देखने की बुद्धि।

(२) अपनी आत्मा को ही सर्वस्व समझकर उसे ही सभी पहलुओ से देखने की बुद्धि। अर्थात्—"मैं कौन हूँ? क्यो हूँ? कहाँ से आया हूँ? किसका हूँ? किसलिए हूँ? किस पर आधारित हू? मेरा लक्ष्य क्या है? मुझे कहाँ पहुँचना है? मेरी आत्मा अभी कैसी परिस्थिति मे है? विषय और कषाय का घेरा कितना तोडा है, मेरी आत्मा ने? मेरी आत्मशुद्धि म साधक-बाधक कौन-कौन-से तत्त्व है? शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि मेरे आत्मविकास म कहाँ-कहाँ कितनी मात्रा मे बाधक बनते है, उन्हे साधक कैसे बनाया जा सकता है? हर्ष-शोक, हानि-लाभ, सुख-दु ख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वो मे आत्मावबोध या स्वरूपरमणता म मैं कितना टिक पाता हूँ?" इस प्रकार की आत्मबुद्धि होना वस्तुत बोधिलाभ है।

ऐसी आत्मबुद्धि इसलिये दुर्लभ है कि पहले बताये गये कारणो की दुर्लभता के साथ-साथ आत्मबुद्धि प्राप्त होने मे राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, पूर्वाग्रह, हठाग्रह, घृणा, ईर्ष्या आदि बाधक कारण आडे आ जाते है, जिनके कारण आत्मबुद्धि की प्राप्ति, और प्राप्ति के बाद स्थिरता अत्यन्त दुर्लभ है। कई बार साधक बहिरात्मा बनकर अपने शरीर, मन, इन्द्रियविषयो, भौतिक पदार्थों मे अत्यधिक लुब्ध हो जाता है। इसी कारण आत्मबुद्धि दुर्लभ है। मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, पचेन्द्रिय-परिपूर्णता, दीर्घायुष्कता, उत्तम सत्सग आदि कई दुर्लभ घाटियो को पार करने के बाद आत्मबुद्धि का पाना और उसे टिकाना कितना दुर्लभतर है? यह आप समझ सकते है।

आत्मबुद्धि जीवन की सबसे बडी उपलब्धि है। इससे बडी उपलब्धि ससार मे और कोई नही हो सकती। आज अधिकाश लोगो को मानव-जीवन की अन्य सामान्य

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक ३०१

उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तब वे वहीं अटककर रह जाते हैं। अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों की मोहमाया मे, ममता-मूर्च्छा मे अटककर, अपने जीवन को विषयभोगो, सयोगो-वियोगो, महत्त्वाकाक्षाओ, प्रदर्शनचेष्टाओ, सुख-सुविधाओ को पाने की योजनाओ, और ऐसी ही अन्य गतिविधियो या विडम्बनाओ मे नष्ट कर देता है। आत्मबुद्धि की सम्प्राप्ति तक नही पहुँच पाता।

आत्मबुद्धिलाभविहीन व्यक्ति शरीर की साज-सज्जा वस्त्राभूषण, स्वादिष्ट भोजन, ठाठ-बाट, सुख-सामग्री, डिग्री, पद, सत्ता, धन-सम्पत्ति, महल, प्रसिद्धि और वाहवाही की चकाचौंध मे अपना अमूल्य समय, श्रम, शक्ति और मनोयोग बर्बाद करता रहता है। आत्मबुद्धि के बोध से हीन मानव अपने आपको शरीर मानकर सासारिक सुख-दु ख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, मान-अपमान आदि द्वन्द्वो मे उद्विग्न हो उठता है। उसकी हर परिस्थिति आशका, असन्तोष, अशान्ति और उद्विग्नता से भरी रहती है। वह आत्मबुद्धि की दृष्टि से सही सोचकर सही निर्णय नही कर पाता। आत्मबुद्धि के अभाव मे जीवन कितना उन्मार्गगामी हो जाता है, यह बात किसी से छिपी नही है।

आत्मबुद्धि के होने पर ही आत्मबोध होता है। आत्मबोध से लाभान्वित व्यक्ति लोकमूढता मे नही फँसता। वह अन्धकार का परित्याग करके प्रकाश को वरण करता है। वह अपने आपको आत्मा के रूप मे अनुभव करता है, और शरीर को एक उपकरण मात्र। उसे सासारिक पदार्थो का लोभ और मोह, मूर्खता ही नजर आती है। आत्मबोधयुक्त विवेकी गृहस्थ अपने परिवार को सुसस्कारी, सुविकसित, धर्मिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण बनाने के लिये प्रयत्नशील रहता है। शरीर और मन को वह इन्द्रियो की दासता और तृष्णापूर्ति मे न लगाकर, शरीर को आत्मगौरव बढाने मे और मन को आत्मकल्याण और आत्मचिन्तन मे लगाये रखता है।

आज हम दावे के साथ कह सकते है कि पहले बताई हुई दुर्लभताओ की घाटियाँ पार कर लेने के बावजूद भी आत्मबुद्धि का अभाव प्राय सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है, अन्यथा जनता मे इतनी अशान्ति, बेचैनी, उद्विग्नता, शरीरासक्ति, धन-मोह, सुख-सुविधाओं की वृद्धि का राग, त्याग-वैराग्य की कमी आदि न होती। वर्त-मान युग के मानव का हृदय भी आत्मबुद्धि के अभाव मे अन्धकाराच्छन्न है, उसे कोई यथार्थ स्थायी मार्ग नही सूझता। 'आत्मबुद्धि सुखायैव' जो कहा है, वह बिलकुल यथार्थ है। आज का मानव प्राय भौतिकबुद्धिपरायण हो रहा है। आत्मबुद्धि उसके लिए हिमालय की चोटी पर चढ़ने की तरह अत्यन्त दूरातिदूर और दुर्लभतर होती जा रही है।

ऐसी दुर्लभ आत्म-दृष्टि प्राप्त न होने पर कैसी स्थिति हो जाती है, इसे आचार्य बताते हैं—

वपुर्गृह धन दारा पुत्रमित्राणि शत्रव.।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि मूढ. स्वानि प्रपद्यते ॥

—शरीर, गृह, धन, पत्नी, पुत्र, मित्र, शत्रु—ये सब निश्चयत सर्वथा अन्य स्वभाव के होते हैं, परन्तु आत्मबुद्धिहीन मूढ इन्हें अपने समझता है। जिनकी दृष्टि मे आत्मबुद्धि बस जाती है, वे सारे ससार का धन दे देने पर भी इस बोधिलाभ को नही छोडते। क्योकि वे जानते है—

धन भवेदेकभवे सुखार्थं, भवे-भवेऽनन्तसुखी सुदृष्टि ।
धनेन हीनोऽपि धनी मनुष्यो यस्यास्ति सम्यक्त्वधन महार्घ्यं ॥

—अर्थात् धन कदाचित् एक भव मे सुख दे सकता है, परन्तु सुदृष्टि (आत्म-बुद्धिरूपी बोधि) धन जिसके पास है, वह जन्म-जन्म मे अनन्तसुखयुक्त है। जिसके पास सम्यक्त्व (बोधि) रूपी बहुमूल्य धन है, वह भौतिक धन से रहित होने पर भी महाधनिक है।

महात्मा गाधीजी के पास कौन-सा धन था ? उनसे भी बढकर वैभवशाली तब भी दुनिया मे थे, अब भी है, लेकिन महात्मा गाधीजी के पास सत्यनिष्ठा थी, जिसे प्राप्त करना हर एक के लिये दुष्कर, दुर्लभ है। महात्मा गाधीजी के लिये विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—"गाधीजी मे सबसे बडी विशेषता सत्य-निष्ठा है।" जिसे हम जैनपरिभाषा मे सुदृष्टि (बोधि) कह सकते है। वे भौतिक वैभव के प्रति अनासक्त थे। "अगर अमेरिका की सारी सम्पत्ति उनके समक्ष रख दी जाये और उनसे सत्य का परित्याग करने के लिए कहा जाये तो गाधीजी उस विशाल सम्पत्ति को ठुकरा देगे, मगर सत्य का परित्याग नही करेगे।"

कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ के इन उद्गारो से सम्यग्दृष्टि के विचार और आचार की दृढता की स्पष्ट झलक मालूम हो जाती है।

आत्मबुद्धिरूप बोधि की दुर्लभता के लिए जैन इतिहास के प्राचीन पृष्ठ मैं आप सामने खोल रहा हूँ—

भगवान् ऋषभदेव जब मुनिदीक्षा लेने लगे थे, उससे पूर्व उन्होने जनता को असि, मसि, कृषि—ये तीन मुख्य कर्त्तव्य सिखाये। उसे स्वावलम्बी बनने का यथार्थ पाठ सिखाया। अपने सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत को उन्होने अयोध्या का राज्य दिया और दूसरे पुत्र बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौपा। शेष ९८ पुत्रो को उन्होने विभिन्न प्रदेशो का राज्य सौप दिया। सबको राजनीति और राज्य-व्यवस्था सिखाई और कहा—"राज्य प्रजा की विशिष्ट सेवा के लिए स्वीकार किया जाता है, न कि भोग-विलास के लिए। राजा प्रजा की रक्षा के लिए होता है।" इस प्रकार भगवान् ने राज-पाट तथा धन-धाम, कुटुम्ब-कबीला आदि सबका परित्याग करके स्व-परकल्याण के लिए सयम ग्रहण किया।

भगवान ऋषभदेव के सयम ग्रहण करने के बाद उनके सबसे बडे पुत्र भरत के यहाँ चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। भरत समग्र भारतवर्ष को एक ही शासन के अन्तर्गत करना चाहते थे। अतएव उन्होने अन्यान्य राजाओ पर तो अपना शासन स्थापित कर

लिया। उनका विचार अपने भाइयो पर शासन चलाने का नही था, किन्तु अपने प्रधान के कहने से और आयुधशाला मे चक्ररत्न के प्रवेश न करने से भरत को विवश होकर अपने भाइयो पर भी शासन करने का विचार करना पडा। तदनुसार भरत ने पहले अपने ६८ भाइयो के पास अपने शासन की अधीनता स्वीकार करने के लिए सन्देश भेजा।

सदेश मिलते ही ६८ भाई सोचने लगे—'राज्य हमे पिताजी ने दिया है। भरत हमे अपने शासन के अधीन बनाना चाहता है। भरत का शासन स्वीकार करना उचित है या युद्ध करना उचित है? इस प्रकार की अनिश्चयात्मक स्थिति मे हम पिताजी (भगवान्) के पास चले और उनसे निर्णय करा लें। अगर वे युद्ध करने की सलाह देंगे तो वैसा किया जायेगा। अगर वे कहें कि भरत तुम्हारा बडा भाई है, समग्र देश को एक सूत्र मे बाँधने के लिए ही वह तुम पर शासन चलाना चाहता है तो हमे भरत की शासनाधीनता स्वीकार करने मे भी कोई आपत्ति न होगी।'

ऐसा सोचकर ६८ भाई मिलकर भगवान् ऋषभदेव के पास पहुँचे। उन्हें वन्दना नमस्कार करने के पश्चात् वे जब उनके सान्निध्य मे बैठे तो भगवान् ने उनकी सारी परिस्थिति जानकर जो उपदेश दिया था, वह बहुत ही सक्षेप मे सूत्रकृताग सूत्र मे तथा भागवत पुराण मे वर्णित है। सूत्रकृताग सूत्र मे भगवान् ऋषभदेव के उद्‌गार इस प्रकार अकित हैं—

सबुज्झह, किं न बुज्झह, सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हुवणमति राइओ, नो सुलभ पुणरावि जीविय ॥

इसका भावार्थ यह है—"हे पुत्रो! सम्बोध प्राप्त करो, समझो, बोध क्यो नही प्राप्त करते। परलोक मे सम्बोधि-प्राप्त करना निश्चय ही दुर्लभ है। जो समय व्यतीत हो चुका है, वह पुन लौटकर नही आता। मनुष्य-जीवन बार-बार सुलभ नही है।"

भगवान् ऋषभदेव के कथन का तात्पय यह था कि तुम यह समझो कि तुम्हें भौतिक राज्य चाहिए या आध्यात्मिक राज्य? भौतिक राज्य मैंने तुम्हें सौपा था, परन्तु वह पूर्ण स्वाधीन राज्य नही है, इसी कारण भरत तुम्हे अपने शासन के अधीन करना चाहता है। अगर तुम आध्यात्मिक राज्य (आत्मिक स्वतत्रता) प्राप्त कर लो तो वह पूर्ण स्वाधीन होगा, उस पर किसी का शासन नही चल सकेगा, वह पूर्ण स्वतत्र होगा। पूर्ण स्वाधीनता वाले आध्यात्मिक राज्य को प्राप्त करने का दृढ विचार ही बोधि प्राप्त करना है—जो मुक्ति के राज्य मे मनुष्य को पहुँचा देता है। अत' मेरी तुमसे यही सलाह है कि उस भौतिक राज्य को छोडकर आध्यात्मिक राज्य को प्राप्त करने का दृढ बोध समझ लो, जिससे उस राज्य को प्राप्त करने पर दूसरा कोई तुम पर शासन न कर सके।

यदि तुम यह कहो कि इस जन्म मे तो इसी भौतिक राज्य को ही प्राप्त कर लें, अगले जन्म मे आध्यात्मिक राज्य पाने की बोधि प्राप्त कर लेंगे, यह बहुत ही दुर्लभ है। कोई निश्चित नही है कि तुम्हें पुन मनुष्य जन्म ही मिले, ऐसा बोधि पाने

का उत्तम संयोग ही मिले। फिर जो अवसर या समय बीत जाता है, वह कभी लौट कर नही आता। इसलिए मनुष्य-जीवन पुन प्राप्त होना सुलभ नही है।

श्रीमद्भागवत मे भगवान् ऋषभदेव के उपदेश का सार यह है—

नाय देहो देहभाजां नृलोके,
कष्टान् कर्मान् नार्हते विड्भुजाय।
तपो दिव्य पुत्र! कायेन सत्त्व,
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्य त्वनन्तम्॥

"पुत्रो! मनुष्य लोक मे शरीरधारियो का यह नृदेह (मनुष्य-शरीर) कष्टदायी कर्मों से प्राप्त भोग भोगने के लिए नही है। इस मनुष्य-शरीर से उत्तम दिव्य तप करने से सत्त्व (अन्त करण) की शुद्धि होगी और उससे फिर अनन्त ब्रह्मसौख्य प्राप्त होगा।

भगवान् ऋषभदेव के कथन का तत्पर्य यह है कि मनुष्य-शरीर भौतिक पदार्थों के उपभोग से प्राप्त सुख के लिए नही है, अपितु इस शरीर से दिव्यतप (रत्नत्रय-साधनारूप तप) करके अनन्त ब्रह्मसुख (आत्मसुख) प्राप्त करने के लिए है।

कहना न होगा, भगवान् ऋषभदेव के उपदश से उनके ९८ पुत्रो ने अनन्त जन्मो मे दुर्लभतम सम्बोधि-लाभ (आत्मबुद्धि) का लाभ प्राप्त किया, और विरक्त होकर भगवान ऋषभदव के चरणो म पूण स्वाधीनता का आध्यात्मिक राज्य प्राप्त करने हेतु दीक्षा ले ली।

इससे आप अनुमान लगा सकते है कि आत्मबुद्धिरूप बोधि की प्राप्त कितनी मूल्यवान और दुर्लभ है।

सम्यग्दृष्टि की दुर्लभता क्या और क्यो ?

बोधिलाभ का तीसरा अथ है—सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन का लाभ। यह प्राप्त होना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

तत्त्वार्थसूत्र म सम्यग्दर्शन का अर्थ किया गया है—

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्

—तत्त्वरूप जो पदार्थ (जीव, अजीव आदि) है उन पर सम्यक्श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।

इसका विशद अर्थ यो किया जा सकता है, जिस पदार्थ का जो वास्तविक स्वरूप है, उसे उसी रूप म समझना और मानना तथा उस पर दृढ विश्वास करना। अर्थात्—जो हेय है, उसे हेय समझना, जो ज्ञेय है उसे ज्ञेय और जो उपादेय है, उसे उपादय समझना। जो जैसा है, उसे उसी रूप मे ग्रहण करने की तत्परता या जागृति रखना।

सम्यग्दृष्टि न हो तो उस व्यक्ति का ज्ञान, चारित्र (आचरण) तप, जप या कोई भी क्रिया सम्यक् नही हो सकती। सम्यग्दृष्टि के अभाव मे सारा ज्ञान मिथ्या

ज्ञान है, सारा तप अज्ञान (बाल) तप है, सारा चारित्र कोरा क्रियाकाण्ड है। उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक विचारक कहते हैं—

विनैकक शून्यगणा यथा वृथा,
विनार्कतेजो नयने यथा वृथा।
विना सुवृष्टिं कृषिर्यथा वृथा,
विना सुदृष्टिं विपुल तपस्तथा ॥

—जैसे एक के अक बिना केवल शून्यो का कोई मूल्य नहीं है, वृथा है; जिस प्रकार वर्षा के बिना खेती व्यर्थ हो जाती है, आँखे होते हुए भी सूर्य के प्रकाश के बिना उनकी कोई कीमत नही है, अमावस्या से अन्धेरे मे क्या आँख वाला भी देख सकता है? इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के बिना विपुल तपश्चरण क्रियाकाण्ड, ज्ञान, ध्यान, आचरण सब निष्फल हैं, वे मोक्षरूप फलदायक नही हैं। कोई व्यक्ति प्रचुर तप करता है, ग्रन्थो का अध्ययन करने से ज्ञान भी खूब है, और आचरण भी लोक-व्यवहार मे ठीक प्रतीत होता है, परन्तु दृष्टि सम्यक् (सम्यग्दर्शन) हुए बिना कर्मक्षय नही होता, सिर्फ पुण्यबन्ध हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि प्राप्त करना इसीलिए दुर्लभ है कि पहले तो सासारिक लोगो को अथवा भौतिक पदार्थों या विषय-भोगो मे रुचि वाले लोगो को सम्यग्दृष्टि प्राप्त करने की रुचि ही नही होती, कदाचित् रुचि भी हो जाये तो उसके प्रति श्रद्धा नही होती।

इसीलिए कहा गया है—**'सद्धा परम दुल्लहा'** श्रद्धा परम दुर्लभ है। पुण्य की प्रबलता हो तो इहलौकिक या पारलौकिक सभी सामग्री मिल सकती है, परन्तु श्रद्धा झटपट नही मिलती।

आप मन मे ऐसा विचार करे कि मुझे मत्री (मिनिस्टर) बनना है, आप मे योग्यता भी है, साथ ही आपका पुण्य प्रबल हो तो मत्री के रूप मे आपका चुनाव भी हो सकता है। पुण्य प्रबल हो तो कोई उच्च पद भी प्राप्त हो सकता है। किसी शत्रु पर विजय प्राप्त करना भी कठिन नही है। कई बार एक ही योद्धा दस हजार सैनिको के साथ लडता है और प्रबल पुण्य योग से वह विजय प्राप्त करके लौटता है। तप के द्वारा इन्द्रादि का वैभव प्राप्त करना भी सुगम है। देवलोक प्राप्त करना यहाँ तक कि नवग्रैवेयक पहुँचना पुण्यबल से कोई दुर्लभ नही है। परन्तु बोधिरत्न—सम्यग्दृष्टि प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। दशवैकालिक सूत्र मे बताया है—

तत्तोवि से चइत्ताण लब्भइ एल-मूयग।
नरक तिरिक्खजोणिं वा बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

—वह मिथ्यादृष्टि किल्विषिक देव-भव से च्यवन करके बकरे की या मूक तिर्यञ्च योनि को प्राप्त करता है अथवा नरकयोनि या किसी अन्य तिर्यग्योनि को प्राप्त करता है, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ है।

मिथ्यादृष्टि जीव चाहे देवलोक चला जाये, पर वहाँ भी उसे सुख नही है, वह देवो के भोगविलास मे आनन्द मानता है, परन्तु उसे भान नही होता कि इस

क्षणिक सुख का परिणाम कितना भयंकर आयेगा ? कदाचित् मिथ्यात्व के कारण उसे कई बार नरक मे भी जाना पडे, क्योंकि मिथ्यात्व के कारण देवभव मे भी वह दूसरे देवो के सुखो, परिग्रह, दिव्यद्युति, ऋद्धि-सिद्धि, देवागना आदि को देख-देखकर ईर्ष्या, रोष, कलह, द्वेष, मोह, आसक्ति वगैरह करता है, जिसके फलस्वरूप अनेक पापकर्मों का जत्था इकट्ठा हो जाता है ।

सम्यग्दृष्टि जीव यदि नरक मे भी होता है, तब भी मिथ्यादृष्टि देव की अपेक्षा सुखी रहता है, क्योकि नरकगति मे गया हुआ सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि मैंने अपने अशुभकर्मोदयवश नरकगति पाई है । अब यदि मैं इन कष्टो को सम-भावपूर्वक सहन नही करूंगा, हाय-हाय करके सहूँगा तो और नये अशुभकर्मों का बन्धन कर लूंगा, पुराने अशुभकर्मों का भी क्षय नही होगा, इसके फलस्वरूप मुझे पुन नरक मे आना पडेगा । इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि जीव चाहे नरक मे हो या तिर्यञ्च मे, कैसी भी परिस्थिति मे हो, अपने को दु खी नही मानता, न ही कष्ट भोगते समय दु ख महसूस करता है ।

सुख और दु ख दोनो ही प्रत्येक मानव के जीवन मे धूप-छाया की तरह आते-जाते हैं । सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनो का जीवन सुख और दु ख की राह से गुजरता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि दु ख मे व्याकुल और सुख म प्रफुल्ल हो जाता है, जबकि सम्यग्दृष्टि दु ख म निराकुल और सुख मे सम रहता है । सम्यग्दृष्टि पर असातावेदनीय कर्म क उदय से दु ख आता अवश्य है, लेकिन निराकुलता होने के कारण वह दु ख को दु ख वा महसूम नही करता । इस कारण दु ख भी उसके लिए कर्मक्षय का साधन बन जाने के कारण सुखमय बन जाता है ।

एक उदाहरण मे इसे समझाना ठीक रहेगा । एक मनुष्य भूल से दवा के बदले जहर पी गया । डॉक्टर को बुलाया गया । डॉक्टर ने कहा—"यह बच जायेगा, बशर्ते कि पीया हुआ सारा जहर वमन द्वारा निकल जाये । मै वमन होने की दवा देता हूँ ।" रोगी ने डॉक्टर के द्वारा दी गई वमन की दवा ले ली । यद्यपि वमन करने मे उसे बहुत कष्ट होता है, आँतो को बहुत जोर पडता है । गले और नाक म से जब वमन द्वारा जहरीला तरल पदार्थ निकलता है, तब असह्य हो जाता है । आँखो की पुतलियाँ भी बाहर निकल-सी पडती है । फिर भी रोगी कहता है कि जितनी अधिक कै हो उतना ही अच्छा । भला वह रोगी ऐसा क्यो मानता है ? वह इसलिए कै होना अच्छा समझता है कि कै होने के दु ख की अपेक्षा पेट म जहर के रह जाने का दु ख कई गुना घातक तथा प्राणनाशक हो जायेगा । इस कारण उसे आकुल-व्याकुल करने वाला वमन का दु ख दु खरूप नही लगता । वह चलाकर मुँह मे उगली डालकर अधिक वमन करने का प्रयत्न करता है । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है कि असातावेदनीय कर्मरूपी जहर निकल रहा है । इस कारण उसे वह दु ख वमन की तरह दु ख नही, सुखरूप लगता है । क्योंकि वह मानता है कि सुख और दु ख दोनो मन की ही माया है, मन ही इनका उद्भव स्थान है ।

आपमे से बहुत-से लोगो ने अनेक बार सुना होगा कि महामुनि स्कन्दक के देह की चमडी मृतपशु की चमडी की तरह जीवित दशा मे ही उतारी जाती रही, किन्तु उनके मुखमण्डल पर प्रसन्नता अठखेलियाँ करती रही। तरुणतपस्वी मुनि गजसुकुमार के मस्तक पर धधकते अगारे रखे गये किन्तु वे समत्व के सागर मे गहरा गोता लगाते रहे। उनके मुख पर वही शान्ति विरामजान रही, वे क्षमाशील बने रहे।

मैं आपसे पूछता हूँ कि इतनी असह्य पीडा होने पर भी उन्हें क्यो नही महसूस हो रही थी। उनका शरीर भी हमारी तरह हड्डी, मास, चर्म आदि का था। शारीरिक दु ख-दर्द तो उन्हे भी हुआ होगा ? फिर क्या कारण है कि उनके चेहरे पर शान्ति, प्रसन्नता और क्षमा विराजमान रही ? इसका समाधान यह है कि उन्हें वह दुर्लभातिदुर्लभ बोधि (सम्यग्दृष्टि) प्राप्त हो गई थी। उनका वीतरागवाणी मे अडिग एव अटल विश्वास था—**नत्थि जीवस्स नासोत्ति**—जीव (आत्मा) का कभी नाश नही, होता, नाश होता है शरीर का। शरीर तो मैं नही हूँ, मै तो शरीरी (देही) हूँ। शरीर के नष्ट होने से मेरा कुछ भी नष्ट नही होता '**देह विनाशी, मै (आत्मा) अविनाशी अजर-अमर पद मेरा**' ऐसी सम्यग्दृष्टि उन्हें प्राप्त हो चुकी थी। इसी कारण उन्होने देह-दु ख को दु ख नही माना।

दूसरी बात यह है कि उन्होने दु ख का कारण बाहर मे नही, अपने अन्दर ही देखा। उन्होने बाह्य निमित्तो को कोई भी दोष नही दिया, अपने ही उपादान को देखा कि मै जो कुछ भी दु ख भोग रहा हूँ उसका मूल कारण मैं ही हूँ, दूसरा कोई नही। मेरे ही द्वारा कृतकर्मो का फल मे भोग रहा हूँ। यह ठीक है कि अनायास ही मुझे कर्मों का कर्ज चुकाने का अवसर आ गया है। तब मुझे कर्ज चुकाने मे घबराना क्यो चाहिए ? सम्यग्दृष्टि के चिन्तन मे यही तो जादू है। वह विष को भी अमृत बना लेता है।

मिथ्यादृष्टि आत्मा इस ससार को सत्य और यहाँ के पदार्थों को शाश्वत समझकर उन्ही की प्राप्ति म अहर्निश सलग्न रहता है। धन और अभीष्ट जन के सयोग से वह हर्षावेश मे आकर फूल उठता है और उनके वियोग मे व्याकुल होकर तडफता है। धन और अभीष्टजन के नाश को वह अपना नाश समझकर विलाप और शोक करता रहता है। देह की दीवार को भेदकर वह अन्त स्थित देही (आत्मा) के तेज, बल और वीर्य को नही पहचान पाता। वह शुभ को देखकर प्रसन्न और अशुभ को देखकर खिन्न हो उठता है। शुभ और अशुभ यानी पुण्य और पाप से ऊपर उठकर शुद्ध (धर्म) को वह नही पकड पाता। वह पुण्य-पाप के घेरे से निकल नही पाता। जहाँ भी जीवन मे स्थूलदृष्टि से सुन्दर दृश्य आया वह फूलने लगेगा, और असुन्दर (बुरा) दृश्य आया कि रोने-चिल्लाने लगेगा। उसके जीवन मे आत्मिक सुख—निराकुलतायुक्त सुख, शान्ति और सन्तोष नही। वह सदैव अशान्त, उद्विग्न और परेशान बना रहता है। यह उसकी मिथ्यादृष्टि का ही प्रभाव है।

इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि आत्मा इस विराट् विश्व को सत्य तथा यहाँ के पदार्थों को शाश्वत नही मानता। वह यहाँ के सभी पौद्गलिक पदार्थों को क्षणभंगुर एव नाशवान समझता है। वह न तो धन और अभीष्ट जन के सयोग से हर्षावेश मे आकर फूलता है और न ही इनके वियोग से व्यथित होकर तडफता है। धन-जन के विनाश को वह अपना विनाश कदापि नही समझता। शुभ और अशुभ भावो—यानी पुण्य और पाप के घेरे से ऊपर उठकर वह शुद्धभाव (धर्म) की उपासना करता है। शुद्धोपयोग की साधना ही उसके जीवन मे मुख्य होती है। वह हर्ष और विषाद के प्रसगो पर हर्ष विषाद का अनुभव नही करता। वह अपने आत्मभावो मे मस्त होकर समता की पगडडी पर चलता है। इसी कारण उसके जीवन मे सुख, सन्तोष और शान्ति की लहर व्याप्त होती है।

सम्यग्दृष्टि कदाचित् ससार मे भटक भी जाये फिर भी पुन अपनी असली स्थिति को प्राप्त कर लेता है। एक बार गिरकर भी वह सदा के लिए नही गिर जाता वह पुन उठ जाता है। जैन सिद्धान्त कहता है एक बार सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर उसका एक दिन इस ससार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना अवश्यम्भावी है।

परन्तु इस प्रकार की सम्यग्दृष्टि प्राप्त होना ससार की सर्वोत्तम उपलब्धि है। आज अधिकाश लोग धन वैभव एव सासारिक नाशवान पदार्थों को प्राप्त करने मे अहर्निश जुटे रहते है, उन्हे धन, सासारिक सुखोपभोग सामग्री तथा सुख-सुविधायें दुर्लभ लग रही है, जबकि सम्यग्दृष्टि इन्हे बिलकुल तुच्छ समझता है। मिथ्यात्वी लोग जब गजसुकुमार मुनि, स्कन्दक मुनि आदि की कष्ट-कथा सुनते है तब या तो यो कहते है कि यह तो देवी चमत्कार था, या कहते है—ईश्वर की लीला थी। परन्तु इनकी घटना के पीछे न तो कोई दैवी चमत्कार था, न ही ईश्वर की लीला थी। यह तो सम्यग्दृष्टि आत्मा का स्वय का पुरुषार्थ था। सम्यग्दृष्टि को नही पाये हुए व्यक्ति सम्यग्दृष्टि के चमत्कार देखकर यो कहने लगते है—ऐसी कठिन दुर्लभ सम्यग्दृष्टि का प्राप्त करना हमारे वश की बात नही है। वे साहस और धैर्य खोकर अपनी आत्मशक्ति की अनभिज्ञता प्रकट करते है। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होना कठिन और दुर्लभ है, परन्तु जिज्ञासा, श्रद्धा और पुरुषार्थनिष्ठा हो तो ऐसी दुर्लभ वस्तु भी मनुष्य प्राप्त कर लेता है। परन्तु सुविधावादी लोग इस सम्यग्दृष्टि (बोधि) को कठिन और विषयभोगो मे अरुचि पैदा करने वाली समझते है, इस कारण इसे प्राप्त करने मे उनकी दिलचस्पी नही होती।

इन सब कारण-कलापो को देखते हुए, नि सन्देह कहना पडेगा कि सम्यग्दृष्टि-रूप बोधि का लाभ अन्य सब लाभो की अपेक्षा उत्कृष्ट है। ससार की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि सम्यग्दृष्टि का लाभ है, जो अत्यन्त दुर्लभ भी है।

बन्धुओ! बोधिलाभ के दो अर्थों पर विवेचन करना अभी अवशिष्ट है। प्रस्तुत तीन अर्थो के विवेचन से आप समझ गये होगे कि बोधिलाभ कितना दुर्लभ और परमलाभ है?

*

६८. बोधिलाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं—२

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष पिछले जीवनसूत्र पर ही प्रकाश डालूँगा। पिछले प्रवचन मे बोधिलाभ के तीन अर्थों पर विश्लेषण करके मैंने बताया था कि बोधिलाभ क्यो दुर्लभ है ? तथा वह परमलाभ क्यो है ?

अब बोधिलाभ के अवशिष्ट दो अर्थों पर भी सागोपाग चिन्तन कर लें, ताकि साधक जीवन का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र भली-भाँति हृदयगम हो जाये।

व्यवहारसम्यग्दृष्टि का लाभ भी दुर्लभ

व्यवहारसम्यक्त्व को भी बोधि कहते हैं। तथारूप बोधि का लाभ भी दुर्लभ है। यह बोधिलाभ का चौथा अर्थ है।

व्यवहारसम्यक्त्व का दूसरा नाम श्रद्धा भी है। देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढश्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जैसा कि सम्यक्त्वग्रहण के पाठ मे कहा गया है—

> अरिहतो मह देवो, जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो।
> जिणपणत्त तत्त, इअ सम्मत्त मए गहिय ।।

—अर्थात् अरिहन्त (वीतराग सर्वज्ञ) मेरे देव है, यावज्जीवन सुसाधु मेरे गुरु है, जिन प्रज्ञप्त जो तत्त्व है—वह धर्म है। इस प्रकार मैंने सम्यक्त्व का ग्रहण—स्वीकार किया।

उत्तराध्ययनसूत्र मे सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए कहा है—

> तहि आणतु भावाण, सब्भावे उवएसण।
> भावेण सद्दहतस्स, समत्त त वियाहिय ।।

—जीव, अजीव आदि जो नौ तथ्यरूप तत्त्व है, उन तथ्य (तत्त्व) रूप भावों—सद्भाव से उपदिष्ट पदार्थों पर भाव से जो श्रद्धा करता है, उस श्रद्धा को ही सम्यक्त्व कहा गया है।

अरिहन्त उक्त तत्त्वो के प्ररूपक है, सुसाधु उन तत्त्वो के उपदेशक है, और तत्त्व (पूर्वोक्त नौ) हे ही, अथवा अरिहन्तो द्वारा प्ररूपित रत्नत्रयात्मक धर्म है। इन तीनो पर दृढ श्रद्धा रखना व्यवहारसम्यक्त्व है। व्यवहारसम्यक्त्व भी इसलिए दुर्लभ है कि इसके साथ भी पाच अतिचार (दोष) मिलकर इसे दूषित और व्यर्थ बना डालते हैं, वे पाँच अतिचार ये है—शका, काक्षा, विचिकित्सा, विपरीत-दृष्टि प्रशसा, विपरीत-

दृष्टि लोगो के साथ अतिपरिचय (ससर्ग)। अपरिपक्व साधक शीघ्र ही इन तीनो परम तत्वो पर से फिसल जाता है। इसीलिए तो महर्षि गौतम ने ससार के सभी पदार्थों के लाभ से बढ़कर लाभ सम्यक्त्व-प्राप्ति (बोधिलाभ) को माना है।

एक आचार्य ने इसका माहात्म्य बताते हुए कहा है—

जह चितामणि मणिण, कप्पतरु तरुवराण जह पवरो।
तह सम्मत्त वृत्त, पवर सव्वाण वि गुणाण ॥१॥
पक्खीण पक्खीराओ, सुराण इदो, गहण्ण जह चदो।
तह सम्मत्त पवर भणिय सव्वाण वि गुणाण ॥२॥
अमय सव्वरसाण, नरवराण चक्की मुणीण गणनाहो।
तह दसण पसत्थ जाणह सव्वाण वि गुणाण ॥३॥

जैसे रत्नो मे चिन्तामणिरत्न उत्कृष्ट होता है, वृक्षो मे कल्पवृक्ष श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही सभी गुणो मे सम्यक्त्वगुण श्रेष्ठ है। पक्षियो मे जैसे पक्षिराज (हस), देवो म इन्द्र और ग्रहो मे चन्द्र श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही सम्यक्त्व को सभी गुणो मे श्रेष्ठ कहा गया है। सभी रसो म अमृत और सभी मनुष्यो मे श्रेष्ठ चक्रवर्ती तथा मुनियो मे गणनाथ श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही सभी गुणो मे प्रशस्त सम्यग्दर्शन समझो। सम्यक्त्वरहित निरवद्य क्रिया का पालन करके जीव नौग्रैवेयक (देवलोक) तक जाकर भी पुन अपार ससार मे परिभ्रमण करता है। नरक आदि गतियो म जीव अतिदु सह दु ख सहन करते है, किन्तु उन्हे सम्यक्त्व सम्पत्ति प्राप्त हुए बिना मोक्षगति प्राप्त नही होती। सम्यक्त्व प्राप्त व्यक्ति, अन्तर्मुहूर्त म मोक्ष चले जाते है। अत वे व्यक्ति धन्य है, जो निरतिचार सम्यक्त्व का पालन करते है, परन्तु वे पुरुष धन्यो म भी धन्यतर है, जो दूसरो को सम्यक्त्व प्राप्त कराते है।

सम्यक्त्व-प्राप्त व्यक्ति कैसे उस पर दृढ रहता है, और दूसरो को भी सम्यक्त्व प्राप्त कराता है? इस सम्बन्ध म एक प्राचीन उदाहरण लीजिए—

चम्पकमाला विशालानगरी के राजा ललिताग की इकलौती पुत्री थी। राजा की अनुमति से कुमुदचन्द्र उपाध्याय उसे पढाते थे। कुछ ही वर्षों मे वह साहित्य, न्याय, लक्षणशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि विद्याओ म पारगत हो गई। एक दिन राजसभा मे कुणालानरेश अरिकेसरी अमरगुरु नामक प्रधानपुरुष के साथ आए। उस समय राजकुमारी चम्पकमाला की ज्योतिष विद्या की परीक्षा हुई, जिसमे वह पूर्णतया सफल हुई।

कालान्तर म अरिकेसरी राजा के साथ चम्पकमाला का खूब धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ। राजा चम्पकमाला के प्रति अत्यन्त अनुरागी था। एक दिन राजा अरिकेसरी अमरगुरु को साथ लेकर रानी चम्पकमाला के पास गया। अमरगुरु ने चर्चा छेडी—"महारानीजी! कला के सम्बन्ध मे कुछ कहिए।"

रानी चम्पकमाला—विभिन्न धर्म हैं, उनमे से आपको कौन-सा धर्म मान्य है ?

अमरगुरु—"आप प्रसगरहित बात कैसे कह रही हैं ?"

रानी—"मैंने प्रसगोपात्त बात ही कही है, क्योकि सभी कलाओ मे प्रधान और इहलोक-परलोकसाधक कला तो धर्मकला है।"

अमरगुरु—"धर्म के सम्बन्ध मे क्या विचार करना है ? जिसके पूर्वपुरुष ने जिस धर्म का पालन किया है, वही उसका धर्म समझिये। माता दु शील है या सुशील, इसका विचार करने से क्या प्रयोजन है ? इसी प्रकार रोगी को औषध से मतलब है, उसे वैद्य से क्या प्रयोजन ? वह चाहे जैसा हो, उससे मतलब नही, इसी प्रकार अपने गुरुप्रमुख ने यज्ञप्रमुख धर्म का जैसा प्रतिपादन किया है वही तो हमारे लिए प्रमाण है। दूसरी चिन्ता करने की हमे क्या जरूरत ?"

रानी चम्पकमाला—"आपने जो कुछ कहा, वह आपकी दृष्टि से ठीक होगा, परन्तु आप जैसे पण्डित का इस प्रकार बोलना उचित नही। देखिये, धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों मे धर्म परम पुरुषार्थ है, क्योकि धर्म से ही अर्थ और काम निष्पन्न होते है। इस कारण धर्म का विचार तो अवश्य ही करना चाहिए। आपने जो पूर्वपुरुषक्रमागत को धर्म कहा, वह भी युक्तिसगत नही, क्योकि पूर्वपुरुष दरिद्र या रोगी हो तो क्या उनके पुत्र भी दरिद्रता और बीमारी को पकडे रहेंगे, छोडेगे नही ? इसी प्रकार माता का दृष्टान्त दिया, वह भी युक्तिसगत नही है। माता दु शील हो और उसका पुत्र उसका त्याग न करे तो वह माता अपने पुत्र को प्राय मरवा डालती है। औषध का दृष्टात भी यहाँ अयुक्त है। यहाँ वैद्यस्थानीय गुरु का ग्रहण करना चाहिए। गुरु भी वह, जो रागद्वेषरहित हो, परमार्थ का ज्ञाता हो। वैसे गुरु तो स्वय अरिहत है। उनकी आज्ञानुसार चलने वाले, कालोचित यतनापूर्वक विचरण करने वाले, मत्सररहित गुरु सुसाधु (निर्ग्रन्थ) है। अथवा रागादि से रहित स्वय अरिहत भगवान् देव हैं, उनके जैसा कोई दूसरा देव नही है।"

राजा—"इस विषय मे कोई प्रमाण भी है ?"

रानी—जैनशास्त्रो के सिवाय अन्य सभी शास्त्रो म देव का वर्णन जो बताया गया है, वह यो है—पहले वे सृष्टि का सहार करते है, फिर नई सृष्टि उत्पन्न करते हैं, स्त्री पास मे रखते है, शस्त्र हाथ मे धारण करते है, जाप के लिए हाथ मे माला रखते है, इत्यादि, ये सब लक्षण रागद्वेषयुक्त के हैं। इसलिए वैसे देव वीतराग नही हो सकते।"

इत्यादि युक्तियो से चम्पकमाला रानी ने सबको निरुत्तर कर दिया। राजा और अमरगुरु दोनो ने सम्यक्त्व प्राप्त किया। दोनो निश्चल चित्त हुए।

एक बार अमरगुरु ने दु स्वप्न देखकर सोचा कि अब मेरी उम्र थोडी ही मालूम होती है। अमरगुरु राजा के साथ रानी चम्पकमाला से इसका निर्णय करने हेतु आये। चम्पकमाला ने कहा—आपकी आयु अब दस महीने की और है। अमरगुरु ने यह

सुनकर कहा—हे धर्ममाता ! मेरे धर्मगुरु कहाँ हैं ? चम्पकमाला ने कहा—यहाँ से सौ योजन दूर पुराणपुर नगर मे है। अमरगुरु जब गुरु के पास दीक्षा ग्रहण करने हेतु जाने को उद्यत हुए, तब राजा अरिकेसरी ने अमरगुरु के पुत्र को बुलाकर उनके पद पर स्थापित किया। अमरगुरु भी दानधर्म करके समयजलधि नामक केवली के पास पहुँचे और उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण की। चारित्र पालन करके वे केवलज्ञानी बने व मोक्ष पधारे।

एक बार रानी चम्पकमाला के सम्यक्त्व की परीक्षा हुई। राजा अरिकेसरी की पहली पटरानी दुल्लहदेवी ने चम्पकमाला के प्रति द्वेषवश कलक लगाने तथा राजा द्वारा परित्यक्ता कराने हेतु सुलसा परिव्राजिका को लालच देकर तैयार किया। परिव्राजिका ने चम्पकमाला को धर्मभ्रष्ट करने का उपाय सोचा। उसे एक उपाय सूझा कि रानी चम्पकमाला के कोई पुत्र नही है, अत उसे पुत्रप्राप्ति का उपाय बताऊँ। परिव्राजिका सुबह ही सुबह चम्पकमाला के आवासभवन मे पहुँच गई और आशीर्वाद देकर कहने लगी—'रानीजी ! आपके कोई पुत्र नही है। और पुत्र के बिना पति का प्रेम कम हो जाता है तथा पुत्र के बिना सद्गति भी नही होती। अत पुत्र-प्राप्ति के लिए मैं उपाय बताती हूँ, उसे कीजिए, उससे अवश्य ही पुत्र-प्राप्ति होगी। इस मूली तथा मत्र से रक्षा पवित्र करके उसे लेकर स्नान करो। फिर तर्पण करके काली देवी की पूजा करो और उससे पुत्र की याचना करो।"

परिव्राजिका की कथा सुनकर सम्यक्त्व मे दृढचित्त चम्पकमाला बोली—"धूर्ते ! तेरी बातो से दूसरे ही लोग ठगा सकते है। जिन्होने धर्म को जीवन मे रमाया तथा ससार को दुखरूप जाना है, वे तेरी बातो मे नही आ सकते। पुत्र के बिना पति का प्रेम कम हो जाता है, यह तुम्हारा कथन मूर्खताभरा है, क्योंकि चक्रवर्ती की रानी के पुत्र नही होता, फिर भी उसका स्नेह जीवनपर्यन्त रहता है। अपुत्र को सद्गति प्राप्त नही होती, यह कथन भी अज्ञानतायुक्त है। पुत्रोत्पत्ति अब्रह्मचर्य (अधर्म) का फल है, जबकि ब्रह्मचर्य धर्म है और धर्म से ही सद्गति है। यदि पुत्र से ही सद्गति होती हो तो सूअर, कुत्ता, बिल्ली, मुर्गी आदि सब की सद्गति हो जानी चाहिए। तथा रक्षा आदि से पुत्र हो जाता हो फिर तो जगत् मे कोई भी पुत्रविहीन नही रहना चाहिए। काली देवी कौन है ? जो मास-मदिरा मे गृद्ध हो, उसे देवी मानना मूर्खता है। अत वीतरागदेव और उनके सिद्धान्तो पर चलने वाले परमेष्ठी देवो के सिवाय मैं तो किसी और को वन्दन नही करती।" इतना कहने पर भी जब वह धूर्त परिव्राजिका उठी नही, तब फटकार कर बाहर निकाली। क्रोध से आगबबूला होकर सुलसा परिव्राजिका ने अपनी पूर्वसाधित विद्या का स्मरण करके उससे प्रार्थना की—"चम्पकमाला पर कुशीलवती होने का कलक चढाओ, जिससे राजा उसकी अवज्ञा करके त्याग करे, तथा वह जिन्दगी भर शारीरिक-मानसिक दुख से सतप्त रहे।" विद्या ने वैसा करना मजूर किया।

तत्पश्चात् ज्यो ही राजा ने रानी चम्पकमाला के आवास भवन मे प्रवेश किया त्यो ही विद्या ने वहाँ एक पुरुष दिखाया। राजा उसे गौर से देखने लगा, इतने मे ही वह पुरुष अदृश्य हो गया। राजा सहसा विस्मित होकर सोचने लगा—'मालूम होता है, इसके रूप पर मोहित किसी विद्याधर के द्वारा प्रार्थना करने पर इसने उसे स्वीकार कर लिया है। धिक्कार है स्त्री-स्वभाव को! स्त्री को किसी भी तरह वश मे नही किया जा सकता। जिन-प्रवचन मे अनुरक्त, निर्मल कुलोत्पन्न, धैर्यधारिणी स्त्री भी जब कुशील-सेवन करती है, तब दूसरी स्त्रियो की तो बात ही क्या।' अत राजा चम्पकमाला रानी से विरक्त होकर सोचता है—'यह अब भोगयोग्य तो नही है, किन्तु इसने मुझे जैनधर्म प्राप्त कराकर महान् उपकार किया है, उसका प्रत्युपकार लाखो जन्मो तक नही किया जा सकता, अत इसके साथ प्रतिदिन वार्तालाप तो करना, परन्तु सहवास नही।'

यो राजा अब प्रतिदिन अनमना-सा होकर रानी चम्पकमाला के पास जाता है, थोडी बहुत इधर-उधर की बाते करता है, कुछ क्षण शय्या पर बैठता है और वापस लौट आता है, सहवास की बात तक नही करता।

रानी ने राजा के मन्दस्नेही होने के कारण का चूडामणि ग्रन्थ से पता लगाया तो मालूम हुआ कि यह सब उस परिव्राजिका की करतूत है, फिर भी उसने परिव्राजिका पर लेशमात्र भी क्षोभ नही किया—'अपने ही भोगान्तराय कर्म ६ महीने तक है। यह बेचारी तो उन कर्मों को भुगवाने म निमित्त बनी है। फिर इसमे अन्तराय ही क्या है? अज्ञानी जीव मोहवश अनादिकाल से विषयभोग म रचा-पचा रहता है। मुझे अनायास ही धर्माचरण का अवसर मिला है, इसलिए मुझे धर्म म पुरुषार्थ करना चाहिए। धर्म ही समस्त सुखो का कारण है।' यो सोचकर वह विशेषरूप से धर्मक्रियाएँ व धर्मध्यान करती हुई समय व्यतीत करने लगी। महर्द्धिक आदि दासियो ने उसके प्रति राजा के नि स्नेह होने का कारण पूछा तो उसने विषयभोगो से सहज विरक्ति की बात समझाई।

एक दिन राजा से चम्पकमाला रानी ने कहा—"हे नरचूडामणि, आप कितने गुणग्राही है कि आपने प्रत्यक्ष दोष देखकर भी मेरे प्रति इतना स्नेह रखा, और भोग का परित्याग कर दिया। चूडामणि ग्रन्थ के आधार से मैंने जान लिया कि आपने मेरे शयनकक्ष म एक पुरुष को देखा, ससार मे मेरी अपकीर्ति हुई। अत आप लोक प्रतीति कराने हेतु, मेरी कोई कठोर अग्नि परीक्षा करवाइये। जिससे मेरा अपयश दूर हो।" राजा ने परिजनो तथा पौरजनो के समक्ष रानी के अपवाद का जिक्र किया, साथ ही अग्निपरीक्षा का भी। पौरजनो ने कहा—"पामरजनो के कहने मात्र से ऐसा न कीजिए।" राजा ने कहा—"किस-किसका मुँह बन्द किया जाये। अत: अग्निपरीक्षा से वह शुद्ध हो जाये तो अच्छा है।" अत. राजा ने रानी को बुलाने भेजा। वह भी पौषध पार कर विधिपूर्वक जाप करके शिविकारूढ होकर दिव्य स्थान पर आई। सारा अन्तःपुर तथा पौर-नर-नारीगण रानी की अग्निपरीक्षा देखने के लिए वहाँ जमा हो गये।

इधर कारणिक पुरुषो ने आग सुलगाई। उसमे प्रचुर तेल डालते ही आग की लपटें उठने लगी। कडाह चढाया, उसमे ज्योही उडद डाले त्यो ही प्रलयकाल की अग्नि के समान विशाल अग्निज्वालाएँ भभक उठी। लपटें आकाश को छूने लगी, महलो के शिखर तडतड करके टूटने लगे। लोगो मे भगदड मच गई। सर्वत्र लोग हाहकार मचाने लगे। मती से रो रोकर, भयभीत होकर पुकार करने लगे—"हे माता ! हे सती ! हे देवी ! इस अनाथ नगरी को बचाओ, अविनीत लोगो के प्रति महान् पुरुष उपेक्षा नही करते।" इस पर शासनदेवता ने आकाशवाणी की—"यह तो बहुत थोडा है। तुम लोगो ने चन्द्रकला के समान निर्मलचरित्र स्त्री की बदनामी की, उसका फल तो भोगना ही पडेगा। तुम सब अपनी आत्मा के शत्रु बने हो।"

यह कोलाहल सुनकर राजा बोला—"रानी ! तुम्हारा शील स्फटिक-सम उज्ज्वल है, उस पर मूढ लोगो ने कलक चढाया, उसी पापरूप वृक्ष का फल भोग रहे है। अब तो तुम्हारी कृपा के सिवाय और कोई शरण नही है।" यह सुनकर रानी चम्पकमाला ने कहा—"यदि अरिकेसरी राजा के सिवाय और कोई पुरुष मेरे मन मे न बसा हो तो यह अग्नि बुझ जाये तथा ये सभी लोग जो जलने से घबरा रहे है, वे स्वस्थ हो।" यो कहते ही शासनदेवता ने ऐसा ही किया। जो देवता कुतूहलवश भक्तिभाववश आये थे, उन्होने भी रानी का जय-जयकार किया। पुष्पवृष्टि की, देवदुन्दुभि बजाई। चन्दन की माला के तोरण बँधाए। आबालवृद्ध हर्षित होकर कहने लगे—चम्पकमाला चिरजीवी हो। देवो ने उत्सव किया।

नगर का अद्भुत कौतुक देखकर भयभीत परिव्राजिका पश्चात्ताप करने लगी—'हा ! मै ही इस अनर्थ का मूल हूँ। अत अब तो मरण ही श्रेयस्कर है। मै इस भयकर पाप को करने वाली हूँ। मुझे अपने पाप का फल अप्रतिष्ठान नरक मे भोगना पडेगा।' यो सोचकर वह अग्नि-परीक्षास्थल पर आई और दोनो भुजाएँ ऊँची करके कहने लगी—"मै महापापिनी दुश्चरित्रा हूँ। मुझे जो कुछ दण्ड देना चाहें, दे। जिन-शासन की जय हो, महासती की जय हो, जिनके प्रताप से प्रत्यक्ष दिव्य चमत्कार हुआ।" यो कहकर चम्पकमाला के चरणो मे पडकर कहने लगी—"देवो ! आपका शील विजयी हो। आप सम्यक्त्व मे दृढ है। आज से आपकी कृपा से मुझे भी सम्यक्त्व प्राप्त हो गया। आपके जो देव, गुरु और धर्म है, वे ही मेरे रहेगे।" यो सम्यक्त्व ग्रहण करके उसने चम्पकमाला पर चढाए हुए कलक के सम्बन्ध मे अपना अपराध स्वीकार किया।

राजा ने जब उससे पूछा कि 'तुम्हें यह दुष्कृत्य क्यो करना पडा ?' तो उसने कहा—"मैने चम्पकमाला को नीचा दिखाने के लिए ऐसा किया था। मै ही कूट-कपट की खान हूँ। जो भी दण्ड दें, मैं भोगने को तैयार हूँ।" राजा ने जब सुभटो को पापिनी परिव्राजिका पर गर्मागर्म तेल छीटने को कहा और सुभट इसके लिए उद्यत हुए तो चम्पकमाला ने राजा को रोकते हुए कहा—"स्वामिन् ! रोको, रोको इन्हें।

ऐसा कार्य न करें। दयावान् पुरुष का यह काम नही है। लोगो के समक्ष अपने पाप-कर्मों को प्रकट करना कितना दुष्कर है, जिसे यह परिव्राजिका कर रही है, दूसरो को बचाने के लिए यह अपना प्राणत्याग करने को तत्पर है। फिर इसने तो सम्यक्त्व अगीकार कर लिया है, अत आपकी सार्धमिक बहन हुई, इसके प्रति वात्सल्य रखना चाहिए।" यो राजा को शान्त करके चम्पकमाला अपने स्थान पर आई। परिव्राजिका भी अब नियमित रूप से चम्पकमाला से धर्मश्रवण करने लगी।

इधर चम्पकमाला को चूडामणि ग्रन्थ से पता लगा कि राजा की भूतपूर्व पटरानी दुल्लहदेवी अपना प्राणत्याग करना चाहती है तो चम्पकमाला स्वय उसके पास गई, उसे सान्त्वना दी और धर्मध्यान मे दिवस व्यतीत करने को कहा। दुल्लह-देवी ने भी चम्पकमाला के चरणो म नमनकर उमका अत्यन्त आभार माना। राजा भी अब चम्पकमाला के प्रति विशेष प्रीति रखने लगा। उसके परामर्श के अनुसार दान, धर्म, साधर्मी वात्सल्य, धर्मश्रवण, धर्माराधन आदि करने लगा। रानी चम्पक-माला के क्रमश भुवनानन्द और करसिंह नामक दो पुत्र हुए तथा प्रियवदा नाम की एक पुत्री हुई।

एक दिन अवसर देखकर रानी चम्पकमाला ने राजा से कहा—"स्वामिन्! अब आपको महापुरुषो के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।"

राजा ने कहा—"तुम्हारी बात युक्तियुक्त है, परन्तु अभी मोहकर्मवश मे तुम्हारे मुखकमल के दर्शन का प्यासा हूँ।'

रानी—"ऐसा न कहिये। मैं बताऊँ उस प्रकार से अपनी आत्मा को प्रति-बोध दीजिए—'हे आत्मन्! तू दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर स्त्री के मोह मे पडकर क्यो हार रहा है? स्त्री के शरीर मे कौन-सी सुन्दरता देख रहा है? जो इस शरीर के बाहर है उसे अन्दर करे और जो अन्दर है, उसे बाहर कर दें तो इसे कौए, कुत्ते चूंथें, ऐसा है। फिर स्त्री शरीर मे है क्या? हड्डी, मास, चर्म, रक्त, मल, मूत्र से यह महादुर्गन्धित व घिनौना है! जैसा तेरा चित्त स्त्री मे अनुरक्त है, वैसा ही जैनधर्म मे अनुरक्त हो तो उसी भव मे ससार का क्षय कर सकता है। स्त्री के प्रति स्नेह विद्युत के समान चचल है। रे आत्मन्! अति कठिनता से प्राप्त जिनशासन को क्यो व्यर्थ हार रहा है? मदोन्मत्त हाथी की तरह क्यो विषयो के बीहड बन मे भटककर सुशीलता रूपी वनराजि नष्ट कर रहा है? धिक्कार है, तेरी महानता को! धर्मामृत पाकर भी हलाहल विषय विष पी रहा है। अज्ञान-मोहवश मारक विषय-सुख को सुख मान रहा है!' इस प्रकार आप आत्मा को समझाकर जन्म-जरा मृत्युदुखहारक सवेग रसायन पीजिए।"

चम्पकमाला के वचन सुनकर राजा विरक्त हो गया। चम्पकमाला से कहने लगा—तुमने मुझे मिथ्यात्व के कीचड से निकाला, जिससे मुझे सर्वत्र सुख का कारण-रूप धर्म प्राप्त हुआ। अब मैं शीघ्र ही स्वपरकल्याण के लिए उद्यम करूँगा।

इसी अवसर पर श्रुतजलधि नामक आचार्य अपनी शिष्य मण्डली सहित पधारे। राजा ने उनकी देशना सुनी और भुवनानन्द कुमार को राजपाट सौंपकर दीक्षा ली। चम्पकमाला ने भी अपने पुत्र को धर्मपुनीत उपदेश देकर आनन्दश्री आर्या के पास भागवती दीक्षा ले ली। उसके साथ अनेक रानियो ने भी दीक्षा ली। यो अरिकेसरी राजर्षि और चम्पकमाला साध्वी ने क्रमश घातीकर्म क्षय करके मोह समुद्र पार करके केवलज्ञान पाया और अन्त मे दोनो मुक्ति को प्राप्त हुए।

बन्धुओ ! यह है देव, गुरु और धर्म के प्रति दृढश्रद्धारूप बोधिलाभ के लिए सासारिक प्रलोभनो और आकर्षणो का तुच्छ लाभ छोडने का चम्पकमाला का ज्वलन्त उदाहरण !

देखिये अमृतकाव्य सग्रह मे बोधिबीज का महत्त्व—

पामिवो सुलभ जग, पुद्‌गलजनित सुख,
दुरलभ एक बोधिवीज समकित है।
या के विन क्रिया सब, अक बिन शून्य सम,
छार पर लीपन ज्यो जानिये अहित है॥
ये ही भव बास ते निकासी शिव-वासी करे,
हरे दुखदोष भरे कोष निज वित्त है।
भाई शुद्ध भावना यो ऋषभजिनन्दनन्द,
पाए अमीरिख शिव सम्पत्ति अमित है॥

भावार्थ स्पष्ट है। इससे व्यवहार सम्यक्त्व (बोधि) लाभ की महत्ता और दुर्लभता का अनुमान लगा सकते है।

इसमे भी श्रद्धा के दीप को अखण्ड प्रज्वलित रखना बहुत कठिन है। कितनी ही कसौटी, अग्नि परीक्षा तथा एव कष्टो के उतार-चढाव की घाटियो मे से गुजरना पडता है तब कही सम्यक्त्वरत्न सुरक्षित रहता है। सम्यक्त्व को निर्दोष एव निशल्य रखने के लिए तथा उसका उत्तरोत्तर विकास करने के लिए इसके आठ अगो का पालन करना आवश्यक है। वे आठ अग ये हे—(१) निशकता, (२) निष्काक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपबृहण, (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना।

इन सब के अर्थ आप जानते ही है। जिसे सम्यक्त्व प्राणो से भी बढ़कर प्रिय है, बाह्य अमृत से भी बढकर आभ्यन्तर अमृत-सम है। इस लाभ को पाकर यो ही फेक देना कितनी मूढता है। योगीराज आनन्दघनजी सम्यक्त्व-लाभ की परम मस्ती मे गाते हैं—

अब हम अमर भए न मरेंगे।
या कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्योंकर देह धरेंगे ? ध्रुव ॥

राग-द्वेष जग-बंध करत है, इनको नाश करेंगे।
मर्यो अनन्तकाल ते प्राणी, सो हम काल हरेंगे ॥१॥
देह विनाशी मैं अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी-नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निकरेंगे ॥२॥
मर्यो अनन्तबार बिन समझे, अब सो सुख बिसरेंगे।
आनन्दघन, निपट निकट अक्षर दो, नहिं सुमरे सो मरेंगे ॥३॥

कितनी मार्मिक बात कह दी है आनन्दघनजी ने। मिथ्यात्व के कारण अब तक अनेक योनियो मे जन्म लेकर मरते आये लेकिन जब सम्यक्त्व का लाभ मिला तो मृत्यु पर प्रतिबन्ध लग गया। सीमा बँध गई। अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल तक ही मृत्यु पीछा कर सकती है। इसी बीच म ही जन्म-मरण का अन्त होकर सम्यक्त्व के जरिये अमरत्व—सदा के लिए अविनाशीपन प्राप्त हो जाता है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो सम्यक्त्व मोक्षमन्दिर की नीव है, जिसके आधार पर अन्त तक जीव स्थिर होकर अन्तिम शिखर—सर्वज्ञता तक पहुँच जाता है।

वास्तव मे बोधि (सम्यक्त्व) परमात्मदशा का बीज है। जिस आत्मा मे बोधि-रूप बीज पड गया, वह आत्मा धन्य-धन्य हो गया। एक दिन उसे परमश्रेष्ठ फल—मोक्ष या परमात्मपद—अवश्य ही प्राप्त होता है जिसे पाकर फिर कुछ भी पाना शेष नही रहता।

कितना माहात्म्य है—बोधि—सम्यक्त्व-लाभ का। जिसे इसकी एक पल के लिए भी झलक प्राप्त हो जाती है, वह जीव निहाल हो जाता है—धन्य बन जाता है। सम्यक्त्व ही आत्मा के उत्थान का परमश्रेष्ठ हेतु है।

सम्बोधि या सम्यक्त्व जीव के उत्थान मे जितना प्रबल और प्रमुख हेतु है, उतना ही दुर्लभ है—उसे प्राप्त करना। कदाचित् यत्किञ्चित् आन्तरिक पुरुषार्थ के बल पर बोधि प्राप्त भी हो जाती है तो उसे सभालकर—सहेजकर रखना बहुत मुश्किल है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद विकास साधने के लिए सतत साधना की जरूरत रहती है।

यद्यपि कोई-कोई जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् तुरन्त ही अन्तरग-पुरुषार्थ को प्रबल-प्रबलतम करके साध्य को सिद्ध कर लेते है, तथापि सभी जीवो के लिए ऐसा क्रम नही है। अधिकाश जीवो को सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद विशेष साधना करनी पडती है। यदि साधना के पुरुषार्थ की जागृति से पहले ही तद्रूप कर्मों के उदय होने से बोधि (सम्यक्त्व) विलीन हो गई तो अनन्त काल तक के लिए उसका वियोग हो सकता है। हाँ, यह बात अवश्य निश्चित है कि जिसने पलभर के लिए भी बोधि पा ली, वह अधिक से अधिक देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन जितने काल मे परमात्म-पद प्राप्त करेगा ही।

इसीलिए 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' मे सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का माहात्म्य बताते हुए कहते है—

विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदया ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

न सम्यक्त्वसम किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनुभृताम् ॥३४॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक तिर्यङ् नपु सकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका ॥३५॥

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथा ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता ॥३६॥

अर्थात्—जैसे बीज के अभाव मे वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल-सम्पत्ति नही होती, वैसे ही सम्यक्त्व बीज के अभाव मे ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलनिष्पत्ति नही होती ।

जीवो के लिए सम्यक्त्व के समान तीन काल और तीन लोक म कोई भी श्रेयस्कर नही है और मिथ्यात्व के समान कोई अश्रेय नही है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध मानव (यदि पहले आयुबन्ध न हुआ हो तो) नारक, तिर्यञ्च, नपु सक, स्त्री, दुष्कुली, विकलाग, अल्पायु, दरिद्र या दुश्चरित्र नही होने, बल्कि वे ओजस्वी, तेजस्वी, विद्यावान्, वीर्यवान, यशस्वी, वृद्धियुक्त, विजयी, वैभवशाली, महाकुलीन, धनाढ्य एव मानवो मे श्रेष्ठ होते है ।

सद्बोध-लाभ दुर्लभ क्यो और कैसे ?

बोधिलाभ का पाँचवाँ अर्थ सद्बोधलाभ है। सद्बोधलाभ भी जिसे अपने जीवन मे प्राप्त हो गया समझ लो, उसके सभी सकट कट गये। वह अपनी जीवन-नैया को आसानी से खेकर ससार समुद्र पार कर सकेगा । सद्बोध का तात्पर्य है—प्रबोध या प्रतिबोध, आत्मजागृति, जिसे पाकर व्यक्ति हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करने की तत्परता दिखाता है । इस प्रकार सद्बोध आत्मोत्थान के मार्ग म गति-प्रगति करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है ।

ऐसा सद्बोधलाभ दुर्लभ क्यो है ? क्या आपने कभी सोचा है, इस पर ? वह इसलिए दुर्लभ है कि लोग असली बोध के बदले नकली बोध को पाकर अहकार मे फटे पडते है। आज का बी० ए०, एम०ए० पढ़ने वाला कॉलेजियन विद्यार्थी अपने-आप को बहुत ही अधिक बुद्धिमान्, समझदार और ज्ञानी समझने लगता है। बातचीत के प्रसग मे वह कहता है—"क्या मुझे बुद्धू समझ रखा है ? मैं सब जानता हूँ। मुझे सब मालूम है। मैं तो पहले ही यह सब जानता था। क्या मैं बुद्धिहीन हूँ। मेरी जानकारी के बाहर कोई बात नही है।"

इस प्रकार अधकचरे पण्डितो के कहने का ढग ऐसा रहता है, मानो वे सर्वज्ञ ही हो। व्यक्ति की ऐसी अहकारी मनोवृत्ति भी सद्बोध के दरवाजे बद कर देती है।

किन्तु एक बात आज आप अनुभव करते होगे कि मनुष्य जिस प्रकार अक्ल मे अपने को अधूरा नही मानता है, इसी प्रकार धन मे कभी अपने आपको पूरा नही मानता। चाहे जितना वैभव बढ़ जाये, चाहे जितनी साधनो की विपुलता हो जाये तो भी वस्तु की अल्पता का रोना नही मिटता। कभी-कभी तो वह यो कहने लगता है—इतने साधन और जुट जाये तो मै धर्मसाधना मे समय लगाऊंगा। पर विचार करिये कि वर्तमान युग मे प्रत्येक नगर और गाँव मे, प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी-अपनी हैसियत अनुसार साधन बढे ही हैं, घटे नही हैं। मगर क्या साधन बढ़ने के साथ-साथ धर्म की रुचि या धर्म साधना बढी है ? आप कहेंगे ऐसा तो नही हुआ है।

सोचिये, आपके पूर्वज धर्मसाधना अधिक करते थे या आप अधिक करते हैं ? अत यह समझना भूल है कि साधनो की वृद्धि से धमरुचि म वृद्धि होती है। इसके विपरीत वैभववृद्धि या सुख-साधनवृद्धि मनुष्य मे अधिकाधिक धनलिप्सा जगाकर उसे धर्मसाधना मे दूर हटा दती है। इसी कारण आज का धनलिप्सु मानव साधु-साध्वियो के पास भी आता है तो प्राय कोई न कोई भौतिक साधन की प्राप्ति की सम्भावना से आता है। कोई मत्र, तत्र या यत्र मिल जाये तो बस बेडा पार हो जाये, मैं मालामाल हो जाऊं तो फिर, दान, पुण्य या धर्म करूंगा। ऐसा कहते देखे गये हैं, बहुत से लोग। ऐसे लोग धन को दुलभ समझते है, किन्तु ज्ञानी और बोधिप्राप्त व्यक्ति की दृष्टि मे धन दुर्लभ नही है, दुर्लभ है—बोधि यानी सम्यक्त्व। जिसने बोधि पा ली, समझ ला, उसे अनन्त जन्मो का सुख का खजाना मिल गया।

मैं आपसे पूछता हूँ कि आजकल लोग जितना भौतिक पदार्थों को पाने के लिये प्रयत्न करते है, क्या उसका शताश जितना भी प्रयत्न बोधि प्राप्त करने के लिए करते है ? इसका कारण है कि लोग भौतिक पदार्थों, धन, मकान, कार, कोठी आदि जड साधनो का मूल्य बाधि की अपेक्षा अधिक समझते है। बोधि देने वाला कोई नि स्पृह व्यक्ति आयेगा भी तो उसकी बात का नही सुनेंगे, या सुनी-अनसुनी कर देंगे। सम्बुद्ध व्यक्ति की दृष्टि मे सासारिक पदार्थों की कीमत एक कोडी की भी नही है, जबकि स्थूल दृष्टि वाले अज्ञानी लोग उसी को जीवन-सर्वस्व मानते हैं। जिस सम्बोध से जीव कृतकृत्य हो सकता है, उसकी ओर से वह आँखे मूद लेता है, पीठ फिरा लेता है और कौडी के मूल्य का समझकर ठोकरो से उडा देता है। इसीलिए ज्ञानीजन उसे जगाने के लिए पुकार-पुकार कर कहते है—

जागरह णरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।
जो सुवति ण सो धण्णो, जो जागति सो सया धण्णो ॥

मनुष्यो ! सदा जागते रहो। जागृत रहने वाले की बुद्धि बढती है। जो सो जाता है, वह धन्य–ज्ञानादि धन के योग्य–नही है, जो जागता है, वह सदा धन्य है।

भरत चक्रवर्ती के पास अतुल सम्पत्ति थी। हीरे, पन्ने, माणक, मोती, सोना, आदि सब थे, अपार सुख-साधन थे। फिर भी वे निर्लेप निरासक्त रहते थे। यही नही, भगवान् ऋषभदेव के दीक्षा लेने के बाद तथा बाद मे अपने ९८ छोटे भाइयो के मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होने समझ लिया था कि पिताजी और मेरे भाई जिस धर्ममार्ग पर चल रहे है, वही सारभूत है, मगर कार्यव्यस्त होने के कारण वे इस बात को प्राय भूल जाते थे। अपनी आत्मजागृति के लिए उन्होने एक सेवक नियुक्त कर दिया था, जो हर समय भरत को स्मरण कराता रहता था। उस सेवक का सिर्फ एक ही कार्य रहता था। भरत चक्रवर्ती चाहे सिंहासन पर बैठे हो, चाहे अन्त पुर मे हो, चाहे स्नान, भोजन आदि कार्य पर रहे हो, थोडी-थोडी देर बाद उसे इस आशय का जागृतिसूचक मत्र सुनाना पडता था—

चेत चेत रे भरतकुमार, विश्व मे है चारित्र सार[1]

इस मत्र को सुनकर भरत चक्रवर्ती को हर समय यह भान रहता था कि मुझे भी एक दिन जागृत होकर उस चारित्र (मुनिधर्म के आचरण) को अपनाना है, जो जगत् का सार (उत्तम पदार्थ) है।

प्रतिक्षण सम्बोध के लिए भरत चक्रवर्ती का यह कार्य कितना सूझ-बूझभरा है। क्या आप ऐसे आदमी को पसद करेंगे, जो हरदम आपको जागृत व सावधान करता रहे या समय-समय पर आपको प्रतिबोध देता रहे ? आप ही क्या अधिकाश सम्पन्न व्यक्ति ऐसे कार्य को कतई पसद नही करेंगे।

मनुष्य आज जिस धन-सम्पत्ति, वैभव एव भौतिक पदार्थों के पीछे हाथ धोकर पडा है, जिसके लिए वह दूसरो के साथ झगडा करता है, भाइयो के साथ मुकदमे-बाजी करता है, कैसे-कैसे दु ख सहता है ? कितनी तिकडमबाजी करता है ? कितने-कितने अनैतिक कार्य करता है ? उसकी सुरक्षा के लिए कितना प्रबन्ध करता है ? कितना जागता है ? कितनी उखाड-पछाड करता है ? क्या यह सब उधेडबुन करने के बाद भी, यहाँ से परलोक जाते समय वह सब साथ मे ले जाता है ? कदापि नही, बल्कि परलोक जाते समय वह अश्रुपूर्ण नेत्रो से निराश बनकर देखता रह जाता है। फिर यह सब कर्मबन्धन के काम क्यो करता है ?

एक अनाथ लडका था। उसके माता-पिता बचपन मे ही चल बसे थे। धन नष्ट हो चुका था। रहने के लिए छोटा-सा मकान था, वह भी खण्डहर-सा। पढा-लिखा कुछ था नही। कुछ पागल था, कुछ पागलपन उसने जान-बूझकर ओढ लिया था। लोग उसे 'पगला' कहकर पुकारते थे। परन्तु उसमे एक आदत बहुत अच्छी थी। गाँव मे कोई भी साधु-साध्वी पधारते तो वह उनके दर्शन करने, धर्मोपदेश सुनने एव सेवा

१, कई आचार्य लिखते है—वह वाक्य था—'जितो भवान् वर्द्धते, अस्मिन् माहन माहन।

करने अवश्य पहुँच जाता । उनकी प्रेरणा बडे ध्यान से सुनता और आचरण मे लाने का प्रयत्न करता था । वैसे वह किसी भी दु.खी, अपग, अधे और वृद्ध आदि की सेवा करने को तत्पर रहता था । एक दिन नगर के एक प्रतिष्ठित सेठ की उस पर दृष्टि पडी। अपना जातिभाई एव सहधर्मी समझकर उन्होने उसे अपने पास बुलाकर पूछा—"भाई ! तुम रोटी कहाँ खाते हो ? कहाँ रहते हो ? कहाँ सोते हो ?"

वह बोला—"जहाँ भी मिलती है, वहाँ खा लेता हूँ, अपने मकान मे रात को सोता हूँ, वहीरहता हूँ ।"

सेठजी ने उसे हितशिक्षा देते हुए कहा—"देखो ! तुम मेरे यहाँ आया करो । घर के कुछ काम कर दिया करो । भोजन, वस्त्र आदि जिस वस्तु का जरूरत हो, मेरे से ले लिया करो ।

दूसरे दिन से वह सेठजी के घर मे काम करने लगा । पानी भरना, अनाज साफ करना, बर्तन मलना, सफाई करना, गाये दुहना आदि सब कार्य करता और सख्त मेहनत से काम करता । उसके बदले मे वह पैसा लेता । दिनभर मे कितने ही पैसे कमा लेता था, पर वह सग्रह करके नही रखता था । रोज की कमाई रोज ही खर्च कर देता था । अच्छा खाता-पीता पहनता, फिर जो भी पैसे बचते उन्हें किसी जरूरतमद या अत्यन्त गरीब को दे देता । उसका ऐसा ही स्वभाव बन गया था । लोग उसे पैसे बचत करके रखने का कहते तो वह 'ऊह' करके टाल देता था । लोग उसे पगला समझकर छोड देते थे ।

एक दिन सेठजी ने फिर उसे बुलाकर कुशल-मगल पूछा और कहा—"कहो भाई ! प्रतिदिन कितना कमा लेते हो ?" वह बोला—"सेठजी ! मैं तो कोई हिसाब नही रखता । जो भी मिला, ले लेता हूँ, उसमे से कुछ अपने लिए खर्च कर देता हूँ और शेष जरूरतमदो को दे देता हूँ ।"

सेठ—"मेरी समझ से रोजाना दो-चार रुपये तो कमा ही लेता होगा ?"

पगला (हसकर)—"हाँ उससे ज्यादा ही हो जाता होगा, मेरे पास तो कोई हिसाब नही रहता, सेठजी !"

सेठ ने उसका हाथ पकडकर समझाया—"देख ! इतना पागलपन मत रख । कुछ रुपये बचत भी किया कर । सारे ही एकदम खर्च क्यो कर डालता है ?"

पगला—"बचत करने से क्या होगा ?"

सेठ—"उन रुपयो से छोटी-सी दूकान खोल लेना । व्यापार बढेगा तो आमदनी भी ज्यादा होगी और काफी रुपये तेरे पास हो जायेंगे । लोग तेरी इज्जत करेंगे ।"

पगला—"यह तो अब भी करते है । सभी मुझ से प्रसन्नता से बोलते हैं ।"

सेठ—"अरे । इज्जत करेंगे तो कोई तुझे अपनी लडकी भी दे देगा । तेरी शादी भी हो जायेगी ।"

पगला—"शादी होने से क्या होगा, सेठजी !"

सेठ—"तुझे हाथ से रोटियाँ नही बनानी पड़ेंगी। गर्म भोजन मिलेगा।"

पगला—"गर्म भोजन तो अब भी करता हूँ। लोग मुझे बनी-बनाई रोटी दे देते हैं। ज्यादा गर्म खाने से तो हाथ-मुँह जल जायेगा न ! हाथ-मुँह जलाने के लिए कौन इतना प्रपच करे।"

सेठ—"अरे पगले ! इतना भी नही समझा। शादी हो जायेगी तो बच्चे होगे, वे बुढ़ापे मे तेरी सेवा करेगे।"

पगला—"सेठजी ! कैसी सलाह दे रहे हैं आप ! मैं क्यो किसी से सेवा लूं ? और क्यो बूढा होऊँ ? देख लो, वह निर्मला की मा, पाच-पाच बेटे तथा कई पोते होते हुए भी अकेली रहती है, हाथ से रोटियाँ बनाकर खाती है।"

सेठ—"सब के बेटे ऐसे थोडे ही होते है ?"

पगला—"किसके पुत्र कैसे होगे, क्या पता ? मुझे तो यह सौदा बहुत घाटे का मालूम होता है, इसलिए मै तो ऐसा झझट मोल नही लूंगा।"

सेठ झुँझलाकर कहने लगे—"आखिर तो तू पगला ही ठहरा ! क्या बतायें तुझे !" पगला यह सुनकर हँसता हुआ चला गया।

एक बार सेठजी बीमार पड गये। बुढापा तो था ही। अब उन्हे स्वस्थ होने की आशा नही थी। रुग्णशय्या पर पडे-पडे वे मौत से जूझ रहे थे। घर के लोग अपने-अपने काम मे लगे रहते। सेठ चुपचाप लेटे-लेटे अनेक विचारो की उधेड-बुन मे लगे रहते। वे अकेले ऊब जाते। कभी-कभी पगला उनके पास मन बहलाने को पहुँच जाता तो सेठ उससे दो-चार बात कर लेते थे। एक दिन पगले ने सेठजी से पूछा—"आज बहुत उदास लगते ह, सेठजी ! क्या हाल है ?"

सेठ—"भाई ! अब तो यमराज के घर का बुलावा आ गया है। अब यहाँ से डेरा कूच करना पडेगा।"

पगला—"तो इसमे उदास होने की क्या बात है, सेठजी ! अगर आपका जाने का मन न हो तो खबर भेज दो, कि अभी मै नही आ सकूँगा।"

सेठ—"अरे भाई ! न तो इसको खबर भेजी जा सकती है और न ही यमराज का बुलावा टाला जा सकता है। वहाँ तो जाना ही पडेगा।"

पगला—"ऐसी बात है, फिर चिन्ता क्या है ? भैया से कह दो—वे सब तैयारी करवा देगे। डेरा, तम्बू, सवारी, सेवक सेविकायें और यात्रा का सब प्रबन्ध वे कर देगे। कहने पर वे भी साथ चले चलगे।"

सेठजी—"अरे ! इतना भी नही समझता। यह सब प्रबन्ध नही हो सकता और न कोई साथ म जा सकता है।"

पगला—"तो फिर चेकबुक, गहने-कपडे अपने साथ ले लीजिये। वहाँ आगे काम आयेगे।"

सेठ—"मेरे भाई ! वहाँ तो एक धागा भी साथ नही जा सकता।"

पगला—"अच्छा, धागा न सही, आपकी अपनी कमाई का धन तो आपके साथ जायेगा न।"

सेठ—"तू पागल है। समझ नही रहा है। मरने के बाद कोई भी चीज परलोक को साथ मे नही जाती। तू ही तो भजन गाया करता है न—

डेहली तक तिरिया का नाता, पोली तक माता।
मरघट तक ही चले सगाथी, जीव अकेला जाता॥
देखो रे लोको! भूलभुलैया का तमाशा!

"सौ बात की एक बात, परलोक मे जीव अकेला ही जाता है। सारे सजीव-निर्जीव पदार्थ जिन्हे अपने माने थे, वे सब यही रह जाते है।"

यह सुनकर पगला तो पहले तो हंसता रहा। फिर गंभीर होकर बोला—"सेठजी! एक बात कहूँ, बुरा मत मानना। आपने जिंदगीभर तक ऐसे पदार्थों का सग्रह किया और ऐसे लोगो के साथ मोह-ममता रखी, जो साथ मे कदापि चल नही सकते। क्या इन्हे छोडकर जाने का दुःख ही आपके पल्ले पडेगा। तब तो सेठजी! मै आपसे अधिक जीत म रहा। मैं वैसे पागल नही हूँ। लोगो ने मुझे पागल कहा, तो मैंने पागलपन ओढ लिया। मै बचपन से साधु-साध्वियो की वाणी सुनता आ रहा हूँ। साधु बनने की योग्यता तो मुझ मे थी नही, किन्तु मैं अपनी मस्ती मे जीता रहा हूँ, जी रहा हूँ, कमाता हूँ तो अपने शरीर के लिए खर्च करने के अलावा मैं दान देता हूँ, परलोक की बैंक मे जमा करने लिए। बताइये, आप अधिक सुखी रहे या मैं?"

सेठ आश्चर्य से एक दार्शनिक की-सी वाणी सुन उसकी ओर देखने लगे। फिर धीरे से दुःखित स्वर म बोले—"भाई! तुम जीत मे रहे, मैं हार मे रहा। तुमने जिंदगी की बाजी जीत ली, इसीलिए तुम मुझ से अधिक सुखी रहे। सचमुच, तुम्हारा जीवन-दर्शन सत्य है। विषय-भोगो मे ग्रस्त लोगो को तुम्हारा यह सत्य कटु लगता है। पर तुमने तो बचपन से ही इस सत्य का अभ्यास जीवन म कर लिया, इसे मधुर बनाकर जीवन मे उतारा है। तुम्हारा वास्तविक रूप तो आज ही मैंने देखा है।"

पगला—"सेठजी! आप मृत्युशय्या पर है, इसलिए मैं आपको चिढ़ाने की दृष्टि से यह सब नही कह रहा हूँ। आप मेरे हितैषी है। आपने कई बार मुझे हितशिक्षा भी दी थी, लेकिन वह मेरे गले नही उतरी, पर आज मैं उसका रहस्य खोल देता हूँ, आपके सामने। मैंने कहा था कि मैं क्यो किसी से सेवा लूं। यह अभिमान की बात नही किन्तु बचपन से साधु-सगति के कारण मैने एक बात गाँठ बाँध ली थी, कि साता-असाता जो भी पूर्वकर्मोदयवश आयेगी, वह तो भोगनी पडेगी। मैं हँसते-हँसते कर्मों का कर्ज चुकाते हुए भोगूंगा। इसीलिए मैं कडी मेहनत करता हूँ, अभावो मे भी आनन्द मानता हूँ। दु.ख मेरी दृष्टि मे सुख का बीज है। मैं समाधिमरण की भावना करता हूँ, मृत्यु के भय को जीतने का अभ्यास करता हूँ तो गफलत मे क्यो मरूगा। जगत् की सारी चीजे नाशवान है, मेरी नही है, यही मानकर मैं इनका सग्रह नही करता और न इनके चले (खर्च हो) जाने का दु.ख करता हूँ।"

सेठजी की आँखों मे पगले की बाते सुनकर चमक आ गई। भ्रान्ति के बादल फट गये। उनके हृदय मे सत्य का सूर्य प्रगट हो गया। अभी तक वे मरणभय से दबे जा रहे थे, अब निर्भय हो गये। इस सत्य के प्रकाश मे उन्हें अपना कर्त्तव्यपथ स्पष्ट दिखाई दिया। उनकी मानसिक व्यथाये रफूचक्कर हो गई। वे एकटक उक्त पगले की ओर देखने लगे। वह सच्चे माने मे एक सत के रूप मे दिखाई दे रहा था। सेठ को अनुभव की आँच म तपा हुआ सत्य मिल गया—अन्तिम समय मे सही समझ-सम्बोधि ही काम देती है, भौतिक पदार्थों की ममता नही।

बन्धुआ ! बोधिलाभ के ये पाँच अर्थ और उसका महत्त्व, उसकी दुर्लभता, उत्कृष्ट लाभता आदि सब पहलुओ से मैंने आपके समक्ष विवेचन प्रस्तुत कर दिया। आप भी महर्षि गौतम के इस सकेत को हृदयगम करके अपने जीवन मे उतारे—

न बोहिलाभा परमत्थि लाभ

"ससार मे बोधिलाभ से बढ़कर कोई लाभ नही है।" *

६६. परस्त्री-सेवन सर्वथा त्याज्य

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं जीवन के एक नैतिक पहलू की ओर आपका ध्यान खीचना चाहता हूँ। नैतिक जीवन अच्छा हुए बिना धार्मिक जीवन कदापि अच्छा नही हो सकता, क्योकि नीति और धर्म दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है, एक के बिना दूसरे का काम नही चल सकता। नीतिविहीन धर्म अन्दर से सडे हुए, किन्तु ऊपर से पालिश किये हुए तख्ते की तरह थोथा है, इसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष नीति राजनीति या स्वार्थनीति बनकर मनुष्य को पतन के गर्त मे डाल देती है। इसीलिए महर्षि गौतम ने यहाँ से आगे क्रमश नीति और धर्म की सापेक्षता बताते हुए प्रेरणात्मक जीवनसूत्र दिय है। गौतमकुलक का यह ५५वाँ जीवनसूत्र है, वह इस प्रकार है—

'न सेवियव्वा पमया परक्का'

—पराई स्त्री का सेवन नही करना चाहिए।

आइए, इस नैतिक जीवनसूत्र पर नैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एव आध्यात्मिक आदि सभी पहलुओ से विचार करे।

परस्त्री-सेवन की व्याख्या

परस्त्री वह कहलाती है, जिसके साथ विधिवत् पाणिग्रहण न हुआ हो। कई लोग यह कहा करते है कि जो स्त्री अभी तक किसी की पत्नी नही बनी है, कुँआरी कन्या है अथवा जो वेश्या है, रखैल है, व्यभिचारिणी है अथवा जिसका पति मर चुका हे, वह परस्त्री कैसे कहलाएगी ? उसके साथ सहवास करने मे क्या दोष है ? परन्तु नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र सभी एक स्वर से यही कहते है, जिसके साथ विधिवत् पाणिग्रहण हुआ हो, वह स्वस्त्री—स्वपत्नी है, उसके अतिरिक्त जितनी भी स्त्रियाँ है, चाहे वे कुमारिकाएँ हो, सधवा हो, विधवा हो, प्रोषितभर्तृका हो, वेश्या हो, रखैल हो, दासी या गोली हो, थोडे समय के लिये किराये पर रखी गई हो, उपपत्नी हो, किसी पुरुष द्वारा परित्यक्ता हो, अथवा और कोई—सभी परस्त्री की कोटि मे परिगणित होती है। ऐसी किसी भी परस्त्री का सेवन करना नैतिक अपराध है, सामाजिक दूषण है, धार्मिक दृष्टि से व्यभिचार है, राजनैतिक दृष्टि से कानूनन गुनाह है।

परस्त्री-सेवन का अर्थ केवल परस्त्री के साथ कुशील-सेवन करना या दुराचार करना मात्र ही नहीं है, अपितु परस्त्री के प्रति किसी भी रूप मे कामवासना-

भरी ललचाई आँखो से देखना, यहाँ तक कि परस्त्री को पाने का मन मे विचार करना भी परस्त्री-सेवन है।

काम-विकार की वृत्ति से परस्त्री से ससर्ग करना, एकान्त मे उससे मिलना, उसके पास घटो बैठना, उससे आँखे लडाना, उसका विकारदृष्टि से स्पर्श करना, उसके साथ अश्लील काम-कथा करना, उसे बार-बार घूर-घूरकर ललचाई आँखो से देखना, उससे भद्दी हँसी मजाक करना, उसका चित्र देखकर या उसे प्रत्यक्ष देखकर मन मे उसे पाने का सकल्प करना, उसे पाने के विविध उपाय अजमाना आदि सब मैथुनाग परस्त्री-सेवन के अन्तर्गत है। स्मृतिकारो आठ प्रकार के मैथुन बताये हैं जैसे कि—

स्मरण कीर्तन केलि. प्रेक्षण गुह्य-भाषणम् ।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाग प्रवदन्ति मनीषिण ।

स्मरण, कीर्तन, क्रीडा, प्रेक्षण, गुप्त-भाषण, सकल्प, अध्यवसाय और क्रिया-निर्वृत्ति—मनीषियो ने इन आठो को मैथुन के अग बताए है। परस्त्रीसेवन का तात्पर्य है—परस्त्री के साथ इन आठो ही प्रकार मैथुनो मे से किसी भी प्रकार का मैथुन-सेवन करना। इन पर क्रमश चिन्तन करना चाहिए—

१ **स्मरण**—परस्त्री का आसक्तिवश बार-बार चिन्तन-स्मरण करना। उसके आलिगन, चुम्बन, दर्शन-स्पर्श, आदि की चिन्ता मे निमग्न रहना। मन ही मन इस प्रकार परस्त्री का स्मरण करना भी परस्त्रीसेवन है, इससे वीर्य उत्तेजित होकर निकल जाता है, कामाग्नि प्रज्वलित हो जाती है। मन मे अस्थिरता और मलिनता पैदा हो जाती है। बार-बार परस्त्री के रूप-रग, हाव-भाव आदि का चिन्तन करने से वे कुत्सित विचार मन मे दृढ कुसस्कार के रूप मे जम जाते है। ऐसे परस्त्रीस्मरण करने वाले लोग अपने दैनिक कर्तव्य कर्मों को छोड बैठते है। रात-दिन इसी उधेडबुन मे लगे रहते है। पता लगने पर उनकी बदनामी और अपकीर्ति फैलती है। जनता का विश्वास उन पर से उठ जाता है। उनके प्रति घृणा हो जाती है।

२ **कीर्तन**—कुछ लोग इससे आगे बढकर जिस परस्त्री के सम्बन्ध मे मन मे स्मरण-चिन्तन किया था, उसके विषय में निर्लज्ज होकर अपने यार-दोस्तो, मिलने-जुलने वालो से चर्चा करत है, उसके अगोपागो, रूप-रग, हाव-भाव आदि का बार-बार वर्णन करते है। उस परस्त्री के विषय मे लज्जायोग्य और गन्दी चर्चा करने के वे इतने आदी हो जाते है कि खुल्लम-खुल्ला सबके समक्ष कहते रहते हैं। जहाँ इस प्रकार की अश्लील चर्चा चल रही हो, वहाँ वे उत्साह से शरीक हो जाते है, और कामुक वृत्ति से परस्त्रियो का वर्णन करते है।

अथवा पराई स्त्रियो को देखकर उनको लक्ष्य करके अश्लील गजले गुनगुनाना, पराई बहू-बेटियो के प्रति अवाच्य शब्द कहना, भद्दी गालियाँ देना, उन पर

आवाजें कसना, सीटी बजाना और फिर इस विषय मे अपनी कुकृत्य कुशलता की डींग हांकना इत्यादि सब कीर्त्तन नामक दुराचरण के अन्तर्गत है। ऐसे परस्त्रीगामी लोगो की मनोदशा के विषय मे महाभारत मे कहा है—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ॥

जैसे मैले वस्त्रो वाला मनुष्य नि सकोच होकर जहाँ-तहाँ—गन्दी जगहो मे बैठ जाता है वैसे ही मलिन विचारो वाला मनुष्य सदाचरण से इतना विचलित हो जाता है कि अवसर-कुअवसर अपने गन्दे भावो को नि सकोच प्रकट कर देता है, वह रहे-सहे सदाचार को भी ताक मे रख देता है। इससे जननेन्द्रिय उत्तेजित होकर वीर्यस्राव कर देती है।

३ **केलि**—पराई बहू-बेटियो के साथ हँसी-मजाक करना, आँखमिचौनी खेलना, गेंद, होली, ताश आदि खेलने के बहाने उनके साथ कुचेष्टा करना, खेल के बहाने अंग-स्पर्श करना केलि है। खेल-कूद या अन्य कामवर्द्धक क्रीडाओ के बहाने परस्त्रियो के साथ बार-बार बैठने तथा विविध विषय वासना की बाते करने का साहस या चाव हो जाता है। इस प्रकार की कामोत्तेजक क्रीडाएँ करने से भोली-भाली कुँआरी कन्या, विधवा या युवतियाँ अनायास ही फँस जाती है।

अथवा कई स्त्रियाँ भी ऐसी होती हैं जो कामक्रीडारसिक पुरुष को अपने इशारे पर नचाती है। वे धीरे-धीरे उस पुरुष को गुलाम बना लेती हैं। फिर वे उस प्रेमी से उचित-अनुचित सभी कार्य करवा लेती हैं। फ्रास के सम्राट १५वें लुई ने एक तुच्छ स्त्री के कहने से हजारो अयोग्य व्यक्तियो को उच्च पद दे दिया और हजारो को मौत के घाट उतरवा दिया। अत परस्त्री के साथ प्रणयलीला करना सर्पिणी से खेलने के समान है। इससे कामोत्तेजना भडक उठती है, वीर्यच्युत हो जाता है।

४ **प्रेक्षण**—परस्त्री को कामवासना की दृष्टि से देखना। बहुत से कामुक लोगो की यह आदत होती है कि वे पराई बहू-बेटियो की ओर बराबर ललचाई आँखो से ताकते रहते है, कई आँखे लडाते है, कई उनके चेहरे और अगोपागो को देखते हैं, कई लोग नग्न नहाती हुई स्त्रियो को देखते रहते हैं, कई लोग स्त्रियो के शृगार, हाव-भाव आदि को बहुत गौर से देखते हैं। सौन्दर्य और शृगार का निरीक्षण जहाँ भी अपवित्र काम वासना की दृष्टि से होता है, वहाँ परस्त्री सेवन का पाप आ जाता है।

विषय-वासना से दूषित मन से जब किसी स्त्री का सौन्दर्य-निरीक्षण होता है तब वह मानसिक व्यभिचार हो जाता है। जिसे इस तरह ऊँट की तरह मुँह उठा कर स्त्रियों को घूरने का चस्का पड जाता है उसकी बुद्धि कामराग के बीहड वन मे चरने चली जाती है, फिर शर्म-लिहाज से उसे कोई सरोकार नही रहता। ऐसे लोग

बहुधा गाली खाते, पिटते और सजा पाते हैं, फिर भी हँसकर अपने पाप को बढाते रहते है।

पापदृष्टि से परस्त्री-प्रेक्षण का कुफल—युवराज युगबाहु के बडे भाई मणिरथ राजा ने एक दिन अपने छोटे भाई की पत्नी मदनरेखा को अपने महल की छत पर केश सुखाते देखा तो उसके रूप-लावण्य एव अग-प्रत्यग को देखकर वह कामविह्वल हो गया। उसी पापदृष्टि से प्रेक्षण का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे मणिरथ मदनरेखा को पाने के लिए तरह-तरह के पैतरे रचने लगा। उसके पति युगबाहु को उसने किसी बहाने से विरोधी राजा के साथ युद्ध करने भेज दिया। फिर उसने मदनरेखा को कुछ कीमती वस्त्राभूषण उपहार मे भेजे। उसने जेठजी के द्वारा प्रेषित उपहार सद्भावपूर्ण समझकर रख लिये। दूसरी बार जब मणिरथ ने एक कुटिटनी के साथ उपहार भी भेजा और अपना कलुषित सन्देश भी। तब मदनरेखा चौकी और उस जेठजी के हृदय की पाप भावना का पता लगा। उसने कुट्टिनी को फटकारकर और धमकाकर दोनो उपहारो के साथ वापस भेज दिया।

क्षुद्राशय मणिरथ ने इसका विपरीत अर्थ लगाया और एक रात को वह स्वय सज-धजकर मदनरेखा के महल की ओर जाने लगा। माता ने उधर जाते देख टोका और कहा—"यह तो युगबाहु का शयनगृह है, यहाँ कहा जा रहा है?" फिर भी कामुक मणिरथ ने थाडी देर रुककर पुन उधर डग बढाए। फिर कामी कुत्ते की तरह मदनरेखा से अपनी हृदयेश्वरी बनने की प्रार्थना करने लगा।

मदनरेखा ने साहस के साथ फटकारा और अनुपम शिक्षा दी। मदनरेखा को पटाने मे असफल मणिरथ क्रोध से आगबबूला होकर लौटा। उसने दृढनिश्चय कर लिया कि जब तक युगबाहु को समाप्त नही किया जाएगा, तब तक मदनरेखा मेरी वशवर्ती नही होगी। युद्ध मे विजयी होकर जब युगबाहु वापस लौटा तो वन-विहार के बहाने युगबाहु को नगर के बाहर ही सुसज्जित पटमण्डप म रखा। एक पटमण्डप मे युगबाहु और मदनरेखा का निवास रखा। अवसर देखकर मणिरथ युगबाहु के पटमण्डप के पास आया। युगबाहु से उसने पीने के लिए पानी माँगा। युगबाहु ज्यो ही पानी लेकर आया, त्यो ही अपनी विषबुझी तलवार से उसने युगबाहु पर प्रहार किया। एक ही झटके मे युगबाहु गिर पडा और अन्तिम श्वास लेने लगा। कोलाहल सुनकर पहरेदार वहाँ पहुचे तब तक मणिरथ घोडे पर चढकर चोर की तरह भागा। रास्ते मे ही उस कामुक पापी मणिरथ को एक सर्प ने डस लिया। वही उसका प्राणान्त हो गया। परस्त्रीसेवन की अपनी दुर्भावना के कारण मणिरथ मरकर सीधा नरक मे पहुचा। इधर युगबाहु मदनरेखा द्वारा चार शरण सुनकर सद्बोध पाकर शुभ भावो के कारण समाधिमरण के फलस्वरूप स्वर्ग मे पहुचा। मदनरेखा ने अपनी शीलरक्षा के हेतु वहाँ से वनप्रस्थान करना ही उचित समझा।

आगे की कथा लम्बी है। उससे यहाँ कोई प्रयोजन नही है। निष्कर्ष यह है कि पापदृष्टि से परस्त्री को देखने के कारण ही आगे की पाप-परम्परा बढी और बढी मणिरथ को ले डूबी।

५ गुह्य भाषण—पराई स्त्री के साथ एकान्त मे गुप्त बातचीत करना, स्त्रियो से सकेत द्वारा एकान्त मे मिलना या मिलने की इच्छा प्रगट करना, मिलने पर काम-सम्बन्धी अभिसन्धि करना, स्त्रियो मे बार-बार आना-जाना और उन्हे गुप्त पत्र लिखकर अपने नीच अभिप्राय को प्रगट करना आदि सब गुह्य भाषण के अन्तर्गत हैं। गुप्त रूप से एकान्त मे किसी स्त्री से बातचीत करने पर लोगो को शका हो जाती है। इन घटनाओ को लेकर मार-पीट एव हत्याकाण्ड तक की नौबत आ जाती है। ऐसा न हो तो भी सीधी-सादी, शान्त, भद्र परस्त्री या कन्या के मन मे काम-वासना की आग भडकाकर उन्हे अपने पति और परिवार से अविश्वासिनी और झूठी बनाना, कितना जघन्य पापयुक्त और निष्ठुरता का कार्य है।

६ **सकल्प**—इसके दो अर्थ होते है—(१) सकल्प करना और (२) रगीन कल्पनाओ मे रचे-पचे रहना। चाहे जो हो मैं अमुक (पर) स्त्री से तो व्यभिचार करूँगा ही। इस प्रकार की धारणा ही सकल्प है।

पूर्वोक्त पाँचो प्रकार के मैथुनाग जब परस्त्री के लिए भीतर ही भीतर जोर पकडते है, तब उनका विरोध नही होता और स्थिति यहाँ तक आ पहुचती है। यह वह स्थिति हे जहाँ आदनी कामान्धता की दशा मे पहुँच जाता है। चोरी-छिपे से काम करना, हत्या मारपीट, नदी-नाले लाँघना, अपनी जान हथेली पर रखना यह सब कामान्ध के लिए नगण्य बाते हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे हजारो बोतलो का नशा चढ जाता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी जवानी मे इसी तरह अपनी पत्नी रत्नावली के प्रति विषयान्ध और आसक्त थे। वे उसके रूप, यौवन और हावभाव पर इतने मतवाले हो गय थे कि एक दिन का वियोग भी उनके लिए असह्य था।

एक दिन वे कही बाजार गये हुए थे। पीछे से उनका साला आया और उनकी पत्नी को ले गया। घर आने पर तुलसीदासजी को पता चला तो वे उसके विरह से व्यथित होकर ससुराल चल दिये। भादो की अँधेरी रात मे उफनती हुई नदी एक मुर्दे की ठठरी पर चढकर पार की। ससुराल के घर के द्वार पर पहुँचकर दरवाजा खटखटाया, नही खुला तो एक सर्प को पकडकर उसके सहारे दीवार फाँदी और अन्दर जा पहुचे। रत्नावली की नीद उड गई थी। उसने तुलसीदासजी को देखा तो कुछ क्षण तक समझ ही नही सकी कि मामला क्या है? ये घर मे कैसे घुस आए? फिर जब उसे पता लगा तो उसने फटकारा कि "जितनी प्रीति आपकी मेरे इस हाड-मास चर्म से आच्छादित इस शरीर (हराम) पर है, उतनी ही अगर राम मे होती तो बेड़ा पार **हो जाता। आपको लज्जा नहीं आती चोर की तरह किसी के घर में घुसते।**"

बस, तुलसीदास जी को वचन का यह तीर लग गया। वे उलटे पैरो लौट गए। कामभक्त से वे रामभक्त बन गए।

यह सच है कि वे अपनी पत्नी पर ही कामान्ध थे, किन्तु कामान्धता के साथ जो पत्नी के पास पहुँचने का उनका सकल्प था, वैसा ही सकल्प परस्त्रीगामी कामान्ध मे हुआ करता है। ऐसी भयानक स्थिति मे सकल्प पूर्ण होना, अथवा न होना, दोनो ही बाते भयकर हैं। पूर्ण होने पर पतन और पाप का कुण्ड है और निष्फल होने पर क्रोध, प्रतिहिंसा, द्वेष और उसके राक्षसी परिणाम।

सकल्प का दूसरा अर्थ है—कल्पनाओ मे डूबे रहना। श्रृगाररसपूर्ण बाहियात उपन्यास पढकर, गन्दे सिनेमा, नाटक आदि या वेश्याओ आदि का नृत्य देखकर या अश्लील नारी चित्र देखकर मन मे कामचेष्टापूर्ण दृश्यो की कल्पना मे निमग्न रहना भी सकल्प है।

७ अध्यवसाय—किसी अप्राप्य स्त्री को प्राप्त करने के लिए पापपूर्ण प्रयत्न करना, सकल्प के अनुसार चेष्टा करना अध्यवसाय है। परस्त्री के प्रति इस प्रकार का अध्यवसाय करने वाले व्यक्ति के ज्ञान, शील, लज्जा और मर्यादा आदि गुणो को फाँसी लग जाती है। इसमे मनुष्य राक्षस बनकर छल से, बल से, युक्ति से, प्रलोभन से, यहाँ तक कि भय दिखाकर पराई नारी को अपने पास बुलाने की पापपूर्ण चेष्टा कर बैठता है। इस पापकार्य मे जो भी रोडे अटकाता है, उसे मार डालने का प्रयत्न किया जाता है, चाहे वह विघ्न डालने वाला उसका लडका ही क्यो न हो अथवा उस स्त्री का पति या अन्य प्रेमी भी क्यो न हो। पापपूर्ण अध्यवसाय करने वाला व्यक्ति राक्षस-सा बन जाता है, वह हिताहित, कार्य-अकार्य नही देखता। मनोनीत परस्त्री को पाने के लिए हर सम्भव चेष्टा करता है।

कई प्रेमी अपनी मनोनीत प्रेमिका को पाने मे असफल होने पर आत्महत्या भी कर बैठते है। कई प्रेमिका के इन्कार करने पर उसे भी गोली का शिकार बना डालते हैं।

कई बार परस्त्रीगामी कामुक व्यक्ति अत्यधिक व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने के बाद जब अत्यन्त शक्तिहीन हो जाते है, तब भी परस्त्रीगमन-सम्बन्धी कलुषित विचार उनके पापी मानस मे मँडराते रहते है।

एक राजा साहब थे। वे अपनी जवानी मे बडे लम्पट थे। परन्तु बुढापे मे उनकी स्वय व्यभिचार करने की शक्ति खतम हो चुकी थी। फिर भी कुछ खुशामदी लोग उनके पीछे लगे रहते थे और अपनी तथा पराई बहू-बेटियो को राजासाहब की सेवा मे ले आते थे। राजा साहब स्वय तो कुछ करने योग्य न थे। वे उन स्त्रियो को अपने उन सेवको को बाँट देते और फिर उन्हे स्वच्छन्दता और निर्लज्जता से व्यभिचार करने की आज्ञा दे देते थे। खुद सामने बैठकर इस तमाशे को देख-देखकर अपनी हवस मिटाते थे।

इस प्रकार अपने सामने मैथुन कराकर तमाशा देखने वाले परस्त्रीकामुक लोग मानसिक व्यभिचार की उन्मत्त अवस्था के नमूने हैं।

८ **क्रिया निर्वृत्ति**—प्राकृत या अप्राकृत किसी ढग से छल, बल, युक्ति और प्रलोभन द्वारा किसी स्त्री को अपने जाल मे फँसाकर उसके साथ प्रत्यक्ष सम्भोग करना या बलात्कार करना क्रिया निर्वृत्ति है।

बहुधा परस्त्रीगामी लोग दासी, मजदूरिन, चमारिन, भगिन और रसोईदारिन आदि नीच जाति की स्त्रियो से फँसे होते है। वे न जाति देखते हैं, न उम्र और न रग-रूप ही। बस, किसी भी तरह अपना व्यसन-पोषण करना ही उनका लक्ष्य होता है। बम्बई मे बहुत-सी ऐसी नर्सें हैं, जो गरीब हैं, परन्तु वे जिन डॉक्टरो के अधीन रहकर रोगी की परिचर्या करती हैं, उनमे से अधिकाश नर्सें डॉक्टरो से लगी हुई होती हैं। परस्त्रीगामी पुरुषो की वृत्ति इतनी नीच हो जाती है कि वे न तो अपनी शक्ति देखते है, न धर्ममर्यादा, लोक लज्जा और समाज-भीति का खयाल करते हैं, अपने मित्र, पडौसी या गुरु तक की स्त्रियो पर डोरे डालते रहते है।

कई व्यभिचारी तो अपनी शक्ति और हेसियत देखे बिना ही परस्त्री को अपने जाल मे फँसाते रहते हैं, फँसाते क्या, स्वय जान-बूझकर फँसते हैं।

ये सब मैथुन के आठवे अग क्रिया-निष्पत्ति के उदाहरण है। क्रियानिष्पत्ति से पहले के सातो अगो मे बहुत-से अगो का प्रयोग परस्त्रीगामी पहले ही कर चुकता है।

यह भी परस्त्रीसेवन ही है—कई लोग यह शका उठाते हैं कि यदि कोई स्त्री (जो स्वस्त्री न हो) किसी को चाहती है, बार-बार सहवास के लिए प्रार्थना भी करती है, इसके लिए उपहार और अन्य प्रलोभन भी देती है, अपना शरीर उसे सौंपने को तैयार होती है, ऐसी स्थिति मे यदि वह पुरुष उसका आलिंगन, चुम्बन आदि करता है, उसके साथ स्पर्शसुख का आनन्द लेता है या उसकी कामेच्छा-पूर्ति करता है तो क्या आपत्ति है। इसका समाधान यह है कि परस्त्री की इच्छा न हो, तब उसके साथ जबर्दस्ती सहवास करना तो बलात्कार है ही, परन्तु परस्त्री की इच्छा हो तब भी उसके साथ सहवास आदि करना भी परस्त्रीसेवन है। सभी धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र तथा समाजशास्त्र इस बात को अनैतिक, व्यभिचार, अधर्म, नैतिक पतन, नीतिमर्यादा का उल्लघन एव परस्त्रीसेवनरूप व्यसन ही मानते हैं।

निष्कर्ष यह है कि परस्त्री के साथ उसकी इच्छा या अनिच्छा से सभोग करना, इतना ही परस्त्री-सेवन नही है, अपितु परस्त्री के साथ वासना की दृष्टि से क्रीडा करना, उसे विकारी दृष्टि से देखना, उससे छेड-छाड करना, प्रेमपत्र लिखना, उसे अपने वश मे करने के लिए वस्त्र-आभूषण, रुपये, नौकरी दिलाने, इनाम दिलाने या किसी भी प्रकार की सुविधा देने का लालच देना, किसी भी तरह से छल बल-कल एव भय से उसे अपने चगुल मे फँसाने का प्रयत्न करना, उसे पटाने के लिए एकान्त में बातचीत करना, उसके सामने कामक्रीडा का प्रस्ताव रखना या कुचेष्टा करना,

उस पर अत्यन्त मोहित होकर रात-दिन मन मे उसके पाने का सकल्प-विकल्प करना, उसके विरह मे सुध-बुध भूल जाना, खाना-पीना छोड देना, मूर्च्छित हो जाना, मन में उसे पाने का निश्चय करना, उसका अपहरण करना, उसे किराये के स्वतन्त्र मकान मे रखकर जब तब उसके साथ व्यभिचार करना, सिनेमा, चल-चित्र या नाटक आदि मे स्त्रियो को देखकर उन पर मोहित हो जाना, आदि सब क्रियाएँ परस्त्रीसेवन के अन्तर्गत है।

परस्त्रीसेवन क्यो त्याज्य ? क्यो निषिद्ध ?

प्रश्न होता है, आखिर परस्त्रीसेवन क्यो निषिद्ध और त्याज्य बताया गया है ? जैसी अपनी स्त्री, वैसी परस्त्री ! यह प्रतिबन्ध क्यो ? आखिर इस वैवाहिक बन्धन के पीछे कौन सा लाभ छिपा हुआ है ?

इसका समाधान यही है कि नीतिकार, समाजशास्त्री, धार्मिक महापुरुष, भारतीय संस्कृति के उन्नायक तथा अनुभवी पुरुष एक स्वर से इस बात को स्वीकार करते है कि परस्त्रीसेवन पाप है, अधर्म है, अपराध है, नैतिक पतन है, भ्रष्टाचार है, गृहस्थ-जीवन की सुख-शान्ति को आग लगाने वाला अनिष्ट है, स्वच्छन्दाचार है, निरकुशता है।

आप कहेगे, कैसे ? लीजिए क्रमश इसका समाधान।

परस्त्री सेवन पापरूप है—जो व्यक्ति परस्त्रीगमन करता है, वह धर्म की किसी मर्यादा को नही मानता, उच्छृ खल होकर धर्म-मर्यादाओ का अतिक्रमण करता है। गृहस्थधर्म की मर्यादा बताते हुए श्रावक प्रतिक्रमण मे कहा है—

'सदारसतोसिए अवसेस मेहुणविहि पच्चक्खाइ जावज्जीवाए'

परस्त्री मे सन्तुष्ट पति प्रतिज्ञा करता है कि "वह यावज्जीवन अपनी विवाहिता पत्नी को छोडकर समस्त स्त्रियो के साथ मैथुन-सेवन का त्याग कर रहा है।" यही कारण है कि परस्त्रीसेवन पापजनक है। वह धर्म-मर्यादाओ को ताक मे रखकर हिंसा, असत्य, चोरी, अपहरण, परिग्रह एव व्यभिचार (अब्रह्मचर्य) रूपी महा-पाप का कारण तो है ही इसके अतिरिक्त क्रोधादि कषाय, राग-द्वेष, वैर-विरोध, कलह, निन्दा आदि पापो का भी कारण है।

परस्त्रीगामी पुरुषो द्वारा आये दिन भ्रूणहत्या, शिशुहत्या तथा अपने पुत्र, प्रेमिका के पति आदि की हत्याएँ धडल्ले से की जाती है।

इसीलिए वाल्मीकि रामायण मे कहा गया है—

'परदाराभिमर्शात् तु नान्यत् पापतर महत्।'

—परस्त्री से अनुचित सम्बन्ध करने से बढकर कोई बडा पाप और कोई नही है।

जो परस्त्री परपुरुष के फदे मे फँसती है, वह भी क्रूर और हत्यारी बन जाती है। स्थानकवासी जैन साधु स्व० मुनि श्री विनयचन्द्रजी ने अपने ग्रन्थ मे कच्छ की एक करुणा घटना का उल्लेख किया है—

एक सेठानी एक भगी से फँसी हुई थी। एक बार सेठानी के दुराचार को उसी के पुत्र ने देख लिया। उसने कहा—"मैं पिताजी से कह दूँगा।" यह सुनते ही तत्काल उस नर-राक्षसी ने अपने पुत्र को छुरे से घायल कर दिया और गला घोट-कर मृत्यु की गोद मे सुला दिया। फिर पुत्र की लाश को भोजनशाला की छत मे छिपा दिया। सेठ बाहर से आकर भोजन करने बैठा ही था कि उसकी थाली मे ऊपर से लडके के रक्त की बूँद गिरी। सेठ भोजन छोडकर ऊपर देखने को जाने लगा। पीछे-पीछे सेठ का बडा लडका भी जाने लगा। सेठानी ने सोचा—अब यह बात छिपी नही रहेगी। मेरी निन्दा भी होगी और मौत की सजा भी मिलेगी। अत उसने तत्काल ही सीढी से नीचे उतरने के द्वार को बन्द कर दिया, और पास के घास वाले कमरे मे आग लगाकर वहाँ मे फरार हो गई।

हाय ! एक पाप को छिपाने के लिए परपुरुषगामिनी व्यभिचारिणी को हिंसा, असत्य, दम्भ, चोरी आदि कितने पाप करने पडे।

परस्त्रीसेवन अधर्म है—परस्त्रीसेवन करने वाले व्यक्ति मे धर्म की कोई मर्यादा नही रहती। परस्त्रीगामी पुरुष अपनी बहन, बेटी, पुत्रवधू, अनुजवधू, भतीजी, चाची, ताई, मित्रपत्नी, गुरुपत्नी, राजपत्नी आदि का कोई विचार नही करता। वह कामान्ध होकर धर्ममर्यादा को तोडकर अपनी बेटी, बहन या माता के समान स्त्री के साथ भी विषय-भोग मे प्रवृत्त हो जाता है। वे बेचारी एक बार फँस जाने के बाद समाज मे इज्जत जाने के डर से कुछ भी बोल नही सकती। परस्त्रीगामी के भाग्य मे स्त्री-जाति को माता और बहन के रूप मे देख सकना बदा ही नही होता। वह प्रत्येक स्त्री को भोग्या की दृष्टि से ही देखता है। ऐसा परस्त्रीलम्पट हर किसी पतिव्रता, सती, सुन्दर स्त्री को फँसाने और उसके साथ अनाचारसेवन करने की धुन मे रहता है।

ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास मे और वर्तमान समाचार पत्रो मे मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि परस्त्रीसेवी कामान्ध व्यक्ति अपनी पुत्री, बहन या माता के तुल्य स्त्री के साथ बलात्कार करने मे नही हिचकिचाता। कई बार तो एक व्यक्ति की परस्त्रीगामिता के कारण कई जन्मो तक लगातार वैर-विरोध चलता रहता है।

भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थंकर बनने से पूर्व दस भवो का वर्णन मिलता है। वह बडा रोचक और बोधप्रद है। तीर्थंकर भव से पूर्व दसवे भव मे भ० पार्श्वनाथ का जीव और कमठ का जीव दोनो सगे भाई थे। इनके पिता राजा अरविंद के पुरोहित थे। पार्श्वनाथ का जीव छोटा भाई था और कमठ का जीव बडा भाई। बडा भाई छोटे भाई की स्त्री पर मोहित होकर उसके साथ दुराचार सेवन करने लगा। बडे भाई की पत्नी को यह सब पता लग गया। उसने अपने देवर (पार्श्वनाथ के जीव) से सारी बाते कह दी। छोटा भाई बहुत ही क्षुब्ध और क्रुद्ध हुआ। उसने जाकर अर-

विद राजा से शिकायत कर दी कि बडा भाई मेरी पत्नी के साथ अनुचित सम्बन्ध रखता है। राजा ने बडे भाई को बहुत समझाया, जब वह किसी भी तरह से न माना, तब राजा ने उसे अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। वह क्रोधाविष्ट होकर इधर-उधर परिभ्रमण करने लगा। एक जगह तापसो का आश्रम था, वहाँ पहुँचकर उसने तापसो से तापस दीक्षा ले ली।

एक बार वही कमठ तापस घूमता-घामता अपनी जन्मभूमि मे आया। वहाँ घोर तप करने लगा। लोगो मे उसकी काफी शोहरत हो गई। कमठ के छोटे भाई (पार्श्वनाथ के जीव) ने जब यह सुना तो सोचा—'अब बडा भाई तापस हो गया है। उसके प्रति मन मे से दुर्भाव निकाल देना चाहिए और वैरभाव न रखकर क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। अत वह कमठ तापस के पास गया और प्रणाम करके क्षमायाचना करने लगा। उसे देखते ही तापस का क्रोध उमडा—'क्षमा माँगने के बहाने यह मुझे और दग्ध करने आया है, इसी के कारण मेरी ऐसी दुर्दशा हुई। मजा चखाता हूँ इसे।' यो क्रोध मे आग बबूला होकर एक बडा पत्थर उठाया, और प्रणाम करने के लिए झुके हुए छोटे भाई (पार्श्वनाथ के जीव) के सिर पर दे मारा। छोटे भाई का सिर फट गया। वह दुर्ध्यानिवश मर कर जगली हाथी बना। आश्रमवासी तापसो के पास कमठ की इस दुष्प्रवृत्ति का समाचार पहुँचा तो उन्होने कमठ को आश्रम से निकाल दिया। वही से भाई के प्रति वैर की गाठ निविड हो गई। वह आगे पार्श्वनाथ के भव तक चली।

कहने का मतलब यह है कि परस्त्रीगमन के कारण वैर की परम्परा कितनी लम्बी चलती है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है। इस कारण परस्त्रीगमन अधर्म नही तो और क्या है? परस्त्रीगमन मनुष्य मे रहे हुए क्षमा, दया, सन्तोष, विनय सत्य, अहिंसा, सेवा आदि धर्मजनक गुणो को नष्ट कर देता है।

परस्त्री-सेवन अपराध है—राजकीय कानून के अनुसार परस्त्री के साथ अनाचारसेवन करना अपराध है, उसका दण्ड उसे मिलता है। बहुत से दुराचारी लोग राजकीय कानून की परवाह नही करते। जैसे-तैसे रिश्वत देकर छूट जाते है। मगर ऐसे लोग कभी न कभी पकड मे आ जाते है, तब बुरी तरह पिटते है, भयकर सजा मिलती है। मृत्युदण्ड तक की सजा उन्हे भोगनी पडती है। कभी-कभी ऐसे लोग बलात्कार करके उस स्त्री की हत्या कर देते है। जब पकडे जाते है, तब उन्हें भयकर सजा यहाँ मिलती है।

सन् ७० की एक सच्ची घटना अखबार मे पढी थी। गुण्डा विरोधी स्टाफ के इन्चार्ज श्री मलिकराय ने मुहल्ला किशनपुर मे छापा मारकर दो नौजवान औरतो—मिंदो और शीला तथा उनके प्रेमियो—दर्शन और मथुरादास को गिरफ्तार कर लिया। ये दोनो औरते व्यभिचार के लिए जालधर लाई गई थी। बाद मे २५) रु० के लेन-देन पर परस्पर झगड़ा हो गया था। पुलिस ने गिरफ्तार करके उन्हे भारी सजा दी।

परस्त्रीसेवन : नैतिक पतन—परस्त्रीसेवन नैतिक पतन के सभी रास्ते खोल देता है। परस्त्रीगामी पुरुष नीति-अनीति का कोई विचार नही करता। वह सामाजिक जीवन मे अत्यन्त निन्दित और घृणित होता है। परस्त्रीगामी पुरुष पर कोई भी स्त्री, यहाँ तक कि उसकी अपनी लडकी या बहन भी, विश्वास नहीं करती। उसकी पत्नी का भी उस पर से विश्वास उठ जाता है।

परस्त्रीगामी को नई-नई स्त्रियो से दुराचार करने का चस्का लग जाता है, तब उसकी पत्नी उसे अच्छी नही लगती। इस प्रकार पति-पत्नी के बीच मन-मुटाव हो जाने तथा पत्नी को परस्त्रीगामी पति से असन्तोष हो जाने के वह भी व्यभिचारणी बन जाती है। प्राय स्त्रियाँ परपुरुषगामिनी नही होती किन्तु जब परस्त्रीगामी पुरुष स्वय विवाह के समय की हुई एकपत्नीव्रत की प्रतिज्ञा पर दृढ नहीं रहता, तब अपनी पत्नी को वह परपुरुषगामिनी बनने के लिए बाध्य कर देता है। इसीलिए नैतिक मर्यादा यह बाँधी गई कि पुरुष अपनी विवाहिता पत्नी मे ही सन्तुष्ट और मर्यादित रहे, इसी तरह स्त्री भी अपने विवाहित पति मे सन्तुष्ट एव अनुरक्त रहे।

उपासकदशाग सूत्र के ८वे अध्ययन मे महाशतक श्रावक का वर्णन आता है। महाशतक की स्त्री रेवती मासभक्षिणी थी, किन्तु महाशतक पर अनुरक्त थी। इस कारण महाशतक ने यह निश्चय किया कि अगर मैं रेवती का त्याग कर दू गा तो सम्भव है वह व्यभिचारिणी बन जाए। इससे मालूम पडता है कि माससेवन की अपेक्षा व्यभिचार महाशतक श्रावक की दृष्टि मे मासभक्षण से अधिक नही तो उसके समकक्ष पाप अवश्य था, बल्कि एक दृष्टि से मासाहार की अपेक्षा व्यभिचार नैतिक पतन का अधिक प्रबल कारण है।

परस्त्रीसेवन पारिवारिक अशान्ति का कारण—व्यभिचार नैतिक जीवन का सर्वनाश कर देता हे। परस्त्रीगामी पुरुष अपने नैतिक जीवन को नष्ट करता है सो करता है, अपनी सन्तति मे भी ऐसे कुसस्कार और दुर्गुणो का चेप लगा देता है। योकि माता-पिता के सदाचार-दुराचार या सद्गुण-दुर्गुण का प्रभाव उसकी सतति पर पडे बिना नही रहता। परस्त्रीगामी पुरुष स्वय तो बदनाम होता ही है, अपने परिवार और पत्नी को भी बदनाम कर देता है, अपने कुल को भी कलकित करता है। उसका अपनी पत्नी से सदा कलह होता रहता है। उसके सतान या तो होती ही नही, होती है तो दुर्बल, रुग्ण और दुराचारिणी होती है। परिवार मे अशान्ति बनी रहती है।

परस्त्रीसेवन स्वास्थ्य का शत्रु—परस्त्रीगामी का जीवन दूषित, भ्रष्ट, कलकित और पापपूर्ण रहता है, इसका प्रभाव उसके मानसिक स्वास्थ्य पर पडे बिना नही रहता। शीघ्र ही उसे भय, क्रोध, दैन्य, शोक, अपमान, हीनभावना, निरुत्साह, अधैर्य, चिडचिडाहट आदि मानसिक रोग घेर लेते है। परस्त्रीगामी की सचित कीर्ति नष्ट हो जाती है। कीर्ति नष्ट होने के साथ ही धन-वैभव भी उसे तिलाजलि दे

देते हैं। वीर्य नष्ट हो जाने के कारण उसके शरीर-बल, स्वास्थ्य, उत्साह, वीर्य (पराक्रम) आदि नष्ट हो जाते है। जैसे गर्म तवे पर पानी की बूँद डालते ही वह नष्ट हो जाती है, वैसे ही व्यभिचार की आग मे उसका सारा सत्त्व जल जाता है। इसीलिए मनुस्मृतिकार कहते हैं—

> दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दित'।
> दुःखभागी च सतत, व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
> नहीदृशमनायुष्य लोके किंचन दृश्यते।
> यादृश पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥

—दुराचारी पुरुष लोक मे निन्दित होता है। वह सदा दु खी, रोगग्रस्त एव अल्पायु होता है। इस ससार मे पुरुष का आयुष्य बल क्षीण करने वाला ऐसा कोई भी कार्य नही है, जैसा कि परस्त्रीसेवन।

परस्त्रीगामी के पास चाहे कितना ही धन हो, उसका तन और मन सदैव अस्वस्थ एव कलुषित बना रहता है। इस कारण उसका इहलौकिक जीवन तो दु ख-मय बनता ही है, पारलौकिक जीवन भी घोर दु खमय बनता है, क्योकि उसे अपने भयकर पाप के फलस्वरूप नरकयात्रा करनी पड़ती है, जहाँ भयकर यातनाएँ सहनी पड़ती है।

महात्मा गांधीजी परस्त्रीसेवन की बुराइयो का वर्णन करते हुए लिखते हैं —"जहाँ परस्त्रीसेवन नही होगा, वहाँ ५० प्रतिशत डॉक्टर बेकार हो जाएँगे।"

परस्त्रीगमन के कारण सुजाक, आतशक, भगदर, टी बी (राजयक्ष्मा), केसर आदि भयकर बीमारियाँ हो जाती है। सारी जिन्दगी भर वह इलाज कराते-कराते थक जाता है, घर का सारा धन स्वाहा हो जाता है। परस्त्रीगमन से होने वाले इन भयकर रोगो की दवाइयाँ भी ऐसी ही विषैली होती है। उन दवाइयो से एक रोग नष्ट होता है, तो दूसरे रोग शरीर मे घर करने लगते है। कई रोग तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते है। कभी-कभी तो परस्त्रीगामी की परस्त्रीगमन करते ही तत्काल मृत्यु भी हो जाती है।

इन सब कारण-कलापो को देखते हुए ही महर्षि गौतम ने, नहीं-नहीं, सभी धर्मों के महापुरुषो ने, नीतिज्ञो ने, सस्कृति के उन्नायको और समाजविज्ञानशास्त्रियो ने परस्त्रीसेवन को एकस्वर से निषिद्ध, त्याज्य और अकार्य बताया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे परस्त्रीसेवन को अनार्य कर्म बताया है। योगशास्त्र मे भी स्पष्ट कहा है—

> प्राणसन्देहजनन परम वैरकारणम्।
> लोकद्वयविरुद्ध च परस्त्रीगमन त्यजेत्॥

—परस्त्रीगमन प्राणनाश के सन्देह को उत्पन्न करता है, परम वैर का कारण है, और इहलोक-परलोक दोनो के विरुद्ध है। इसलिए परस्त्रीगमन को सर्वथा त्याज्य समझना चाहिए।

परस्त्रीसेवन : स्वस्त्रीसेवन से अधिक भयकर

पाश्चात्य देशो मे और उनकी देखा-देखी भारतवर्ष मे भी बहुत से लोग इस विचार के होते जा रहे हैं कि विवाह करके क्यो स्त्री-पुरुष एक दूसरे के बन्धन मे पड़ें ? स्त्री किसी एक पुरुष की होने पर उसे सन्तान के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, सस्कार, विवाह आदि बन्धनो मे जकडे रहना तथा पुरुष की आज्ञाधीनता मे रहना पडता है । इसी प्रकार पुरुष को किसी एक स्त्री के साथ विवाह करने से उसके साथ बँध जाना पडता है । उसके सभी निजी खर्चों को वहन करना पडता है । उसके वस्त्र, आभूषण, फैशन-श्रृ गार तथा अन्य किसी मौज-शौक के लिए खर्च करना पडता है, सतान होने पर उसके जन्म से लेकर विवाहित होने तक का सारा खर्च पुरुष को करना पडता है । अत विवाहित होकर पति-पत्नी के रूप मे बधन को क्यो स्वीकार किया जाए ? विवाहित होकर इन स्थायी खर्चों मे पडने के बजाय जिस समय मन मे कामेच्छा उत्पन्न हो तभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने मनोनीत किसी पुरुष या किसी स्त्री से पैसे फेंककर सहवास कर लिया जाए और कामेच्छा पूर्ति होने के बाद दोनो एक-दूसरे से अलग हो जायँ ।

ऐसे बहुत-से व्यर्थ खर्चों से बचने का क्या यह उपाय सही नही है ? फिर ऐसे लोगो का यह भी कुत्सित विचार है कि स्वस्त्री या स्वपति से विषय-भोग करने और परस्त्री या परपति के साथ करने मे क्या अन्तर है ? रज-वीर्य दोनो मे समान ही तो नष्ट होता है, बल्कि स्वस्त्री स्वपति के साथ तो खुली छूट होने के कारण विषय-भोग पर कोई नियत्रण नही रहता, जबकि परस्त्री या परपति के साथ विषयभोग तभी सेवन किया जाएगा जब कामेच्छा प्रबल होगी ।

लाटी-सहिता मे भी[1] इसी प्रकार का एक प्रश्न उठाकर उसका समाधान किया गया है कि विषय-सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नी मे की जाती है, वही क्रिया दासी मे की जाती है, अत क्रिया मे भेद न होने से उन दोनो (दासी और पत्नी) के सेवन मे भेद नही होना चाहिए ?

इसका समाधान यह दिया गया है कि परिणामो मे शुभत्व-अशुभत्व का अन्तर होने से कर्मबन्ध मे भी मन्दता-तीव्रता आदि के कारण पत्नी और दासी दोनो के सेवन मे महदन्तर आ जाता है । स्वपत्नी-सेवन मे विषय-लालसा इतनी तीव्र व अशुभ नही होती, जबकि दासी या अन्य स्त्री के सेवन मे विषय-लालसा तीव्र एव अशुभ होती है । पानी एक ही प्रकार का होने पर भी चन्दन और रेतीली जमीन आदि का स्पर्श पाकर पात्रभेद से नाना रूप मे परिणत हो जाता है, तथैव धर्मपत्नी एव दासी आदि के साथ एक-सी क्रिया होने पर भी पात्रभेद से परिणामो मे अन्तर होने से कर्मों के भी शुभाशुभ बन्ध मे अन्तर पड जाता है ।

---

१ लाटीसहिता, २।१८६ से १६५ तक तथा २०६, २१२, २१६ श्लोक

यह तो हुआ शास्त्रीय दृष्टि से समाधान। अब लीजिए धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र एव अनुभव की दृष्टि से समाधान—

पतिव्रता स्त्री और प्रेमिका मे धार्मिक दृष्टि से जमीन-आसमान का अन्तर होता है। पतिव्रता पत्नी को शास्त्र मे सहधर्मचारिणी, धर्मपत्नी या धर्मसहाया कहा गया है,[1] प्रेमिका धर्मसहाया या सहधर्मचारिणी कदापि नही होती, बल्कि धर्मभ्रष्ट करने वाली एव पतन के गड्ढे मे डालने वाली होती है। पतिव्रता नारी के गुणो की जरा-सी झाकी वाल्मीकि रामायण मे राम-लक्ष्मण सवाद मे मिलती है—

कार्येषु मन्त्री, करणेषु दासी, धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री।
भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा, रगे सखी, लक्ष्मण ! सा प्रिया मे॥

रामचन्द्रजी लक्ष्मण को सीता का परिचय देते हुए कहते है—"लक्ष्मण ! मेरी वह प्रिया (सीता) विविध कार्यों (कर्तव्यो) मे मन्त्री-समान परामर्शदात्री है, कार्यों को निपटाने मे दासी के समान है, धमकार्यों मे पत्नी है, क्षमागुण के कारण पृथ्वीसम है, भोजनादि कार्यों मे मातृ-सम है, शयन मे रम्भा है, तथा आमोद-प्रमोद मे सखी है।

मतलब यह है कि लज्जा, दया, क्षमा, सेवा, स्नेह, धर्माचरण वृत्ति, शील, सन्तोष, शान्ति, सच्चरित्रता आदि मुख्य गुण जो पतिव्रता मे होते हैं, वे गुण परस्त्री या प्रेमिका मे प्राप्त होने अत्यन्त कठिन है ? प्रेमिका मे लज्जा—अकार्य करने मे कोई शर्म नही होती, अपने विषयानन्द मे बाधक बनने वाले पुत्र, पति, श्वसुर आदि की भी हत्या करते हुए उसे सकोच नही होता, अत दया और क्षमा के गुण कहाँ से होगे, उसमे ? जो सेवा पतिव्रता गृहिणी कर सकती है, क्या वैसी परस्त्री-या प्रमिका कर सकती है ?

जो कामभोग के कीडे है, वे दुर्विषयभोग को ही विवाह का लक्ष्य समझते है, लेकिन विवाह का यह लक्ष्य कदापि नही है। पाश्चात्य सस्कृति के लोग इस विषय मे बहुत पिछडे हुए एव अनुभवहीन है। यद्यपि उन्हे यह अनुभव तो बाद मे हो ही जाता है कि जो सुख-शान्ति, स्नेह, निश्छलता, सेवाभावना स्वस्त्री मे होती है, वह कदापि प्रेमिका या परस्त्री मे नही होती। पाश्चात्यजन न तो विवाह का ही शुद्ध लक्ष्य समझते हैं और न ही ब्रह्मचर्य से प्राप्त होने वाले सयमी जीवन के आनन्द को जानते है। जब कि भारतीय सस्कृति मे विवाह का लक्ष्य पति-पत्नी दो आत्माएँ मिलकर विषय-वासना को सीमित एव नियन्त्रित करते हुए उससे ऊपर उठकर पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढना माना गया है। ब्रह्मचर्यपथ पर जाने मे परस्पर एक दूसरे की दुर्बलताओ को दूर करना और सहयोग देना है।

निष्कर्ष यह है कि स्वविवाहिता स्त्री दुर्विषयभोग के लिए नही होती, जब

---

1 भारिया धम्मसहाइया धम्मविइज्जिया धम्माणुरागरत्ता समसुहदुक्खसहाइया।
—उपासकदशांग

कि परस्त्रीगमन केवल दुर्विषभभोग की दृष्टि से ही किया जाता है। वहाँ कोई उदात्त लक्ष्य है ही नही।

परस्त्री जब तक जवान और विषयभोग-योग्य रहती है, तब तक ही अपनाई जाती है, उसके साथ आजीवन आत्मीय सम्बन्ध नही होता, इसलिए उसके बीमार पड जाने, अगविकल हो जाने, असुन्दर हो जाने या रस निचुड जाने पर दूध मे पड़ी मक्खी की तरह उसे निकाल फेका जाता है, और परस्त्री भी प्रेमी के क्षतवीर्य हो जाने, नपु सक हो जाने, अगभग हो जाने या असाध्य रोग से आक्रान्त हो जाने पर उसे छोड देती है, उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देखती। इसके विपरीत भारतीय पतिव्रता नारियो के तो ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक उदाहरण मिलत है कि पति कुरूप हो, अग-विकल हो, नामर्द हो गया हो, लकवे आदि दु साध्य रोगो से ग्रस्त होने पर भी उस की धर्मपत्नी आजीवन सेवा करती रही है।

सौराष्ट्र मे बालम्भी गाव की एक गुर्जरक्षत्रिय की पत्नी का पति विवाह के एक-दो वर्ष बाद ही पक्षाघात राग से पीडित हो गया। लेकिन उसकी पत्नी ने करीब १६ वर्ष तक—जब तक वह जीवित रहा तब तक अग्लानभाव से सवा की। कभी सेवा से मुँह नही मचकोडा। एक भैस उसने रखी थी, उसी का दूध बेचकर वह अपनी आजीविका चलाती थी और इस पति-सेवा के अवसर को वह अपना सौभाग्य समझती थी।

क्या परस्त्री इस प्रकार की सेवा अपने प्रेमी की कर सकती है? यही नही, पुरुष भी क्या अपनी प्रेमिका (परस्त्री) की विपन्नावस्था म इस प्रकार से सेवा कर सकता है? परन्तु भारतीय सस्कृति का वरदान ही ऐसा है कि पत्नी रुग्ण हो और घर मे अन्य कोई महिला सेवा करने वाली न हो तो पुरुष भी उसकी आत्मीय-भाव से सेवा करता है।

माडलनिवासी रतिलाल मघाभाई शाह के जीवन की एक घटना है। एक बार उनकी धर्मपत्नी के पैर मे सडान हो गई। स्वय चल-फिर नही सकती थी, न ही स्वय टट्टी-पेशाब कर सकती थी। घर मे एक अर्धअधी वृद्ध माता और एक नन्ही बालिका भारती के सिवाय और कोई नही था। पत्नी को अपने पति (रतिभाई) से सेवा लेने मे सकोच हो रहा था। लगातार ६ महीने तक पत्नी को स्वय रतिभाई दवाखाने ले जाते थे, क्योकि आर्थिक स्थिति तग होने के कारण घर पर डॉक्टर बुलाना सम्भव नही था। फिर जब उसके पैर पर प्लास्टर चढ़ाया गया, तब कुछ दिन तो पडोस की कुछ बहने लोकव्यवहार के कारण मलमूत्र साफ कर जाती, किन्तु रोज किसी को कहने मे पति-पत्नी दोनो को सकोच होता था। अत रतिभाई ने साहस करके अपने पुरुषत्वाभिमान को तिलाजलि देकर प्रतिदिन पत्नी का मल-मूत्र फेंकने और टब साफ करने एव अन्य सेवा करने का कर्तव्य निभाया। उनकी पत्नी की आँखो मे कृतज्ञता के आँसू थे। सचमुच रतिभाई ने वश परम्परागत कुसस्कारो के कवच को छिन्न-भिन्न

करके अपनी पत्नी की रुग्णावस्था में अग्लानभाव से सेवा की और नरनारी-समानाधिकार तथा पत्नीव्रत के आदर्श को निभाया।

स्वतत्र स्त्री-पुरुषो मे (परस्त्री-परपुरुष मे) दाम्पत्य प्रेम, हार्दिक या आत्मिक प्रेम तो नाममात्र को भी नही होता, इस कारण उनसे होने वाली सन्तान पर भी कोई प्रेम नही रहता। बल्कि दुर्विषयभोग के शिकार बने हुए प्रेमी-प्रेमिका प्रसव-क्रिया के समय ही सतान को समाप्त कर देते है। प्राय ऐसी अवैध सतान को समाप्त कर देने मे वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा सुरक्षित समझते हैं। कभी-कभी तो कृत्रिम सतति नियमन करके सतति-प्रवाह को भी लुप्त कर देते है।

इसके अतिरिक्त स्वच्छन्द स्त्री-पुरुष सिर्फ यौनाचार तक ही सम्बन्ध रखते हैं, विषयभोग की शक्ति खत्म हो जाने पर न तो एक दूसरे की सेवा करते हैं, न सार-सभाल रखते है, न ही सुख-दु ख मे साथी-समभागी बनकर रहते है।

बन्धुओ! परस्त्रीसेवन किसी भी हालत मे अनुमोदनीय व समर्थन योग्य नही है। यही कारण है कि महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र मे स्पष्ट प्रेरणा दी है—

'न सेवियव्वा पमया परक्का'

आप भी भारतीय सस्कृति के इस अनुभवयुक्त जीवनसूत्र को क्रियान्वित करके इस लोक और परलोक मे सुखी बने। □

७०. अविद्यावान पुरुष : सदा असेव्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं जीवन-व्यवहार के एक विशिष्ट नैतिक पहलू की ओर आपका ध्यान खीचना चाहता हूँ। महर्षि गौतम ने अपनी अनुभूति की आँखो से देख-समझकर इस महान् जीवनसूत्र द्वारा नैतिक प्रेरणा दी है। गौतमकुलक का यह ५६वां जीवनसूत्र है, जिसका अक्षर देह इस प्रकार है—

'न सेवियव्वा पुरिसा अविज्जा'

'अविद्यावान पुरुषो का सेवन—सग नही करना चाहिए।'

अविद्यावान पुरुष किसे कहते है ? अविद्यावान के लक्षण क्या है ? उनका सेवन—सग क्यो नही करना चाहिए ? उनके सेवन से क्या-क्या हानियाँ है ? इन सब पहलुओ पर हमे गम्भीरता से विचार करना अनिवार्य है।

अविद्यावान : कौन और कैसा ?

यो तो किसी के ललाट पर नही लिखा होता है कि यह व्यक्ति विद्यावान है, यह अविद्यावान है। विद्यावान-अविद्यावान की परख उसकी बोली, चाल-ढाल, बातचीत, व्यवहार और गुणावगुण पर से ही प्राय की जा सकती है। सफेदपोश और छैल-छबीले वेश मे अनेक अविद्याधनी फिरते दिखाई देते है। उनके एक ही विचार और व्यवहार को देख-सुनकर आप स्वय पहचान जाएँगे कि यह अविद्यामूर्ति है, यह नही। यो तो अपने आप मे कोई भी व्यक्ति अविद्यावान नही कहलाना चाहता। सभी अपने आप मे अप-टू-डेट और विद्या के अवतार कहलाना पसद करते है।

विद्यावान और अविद्यावान का यथार्थ अर्थ समझने के लिए हमे सर्वप्रथम विद्या और अविद्या का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

विद्या क्या है ?—विद्या शब्द का सामान्य अर्थ होता है—जानकारी। किन्तु शास्त्रो और ग्रन्थो का अनुशीलन करने पर विद्या शब्द कई विशिष्ट अर्थों मे भी प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। जैसे कि विशिष्ट मन्त्रो द्वारा विशिष्ट चामत्कारिक शक्तियो की आराधना और उन शक्तियो की सिद्धि को भी विद्या कहा गया है। अध्यापको के माध्यम से छात्रो द्वारा किसी विषय की सागोपाग ज्ञान-प्राप्ति को भी विद्या कहते हैं। इस प्रकार ससार मे विद्या के अनेक रूप है, किन्तु ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि से ये विद्याएँ वस्तुत विद्या नही है। उनका उद्घोष है—

'सा विद्या या विमुक्तये'

वह जानकारी ही सच्ची विद्या है, जिससे जीव बन्धनो से मुक्त होता है, स्वतत्रता को प्राप्त करता है। अर्थात् सच्ची विद्या वह है जिससे मानसिक, आत्मिक एव बौद्धिक बन्धन या पारतत्र्य कटे।

मतलब यह है, जो विद्या स्वावलम्बी बनाती है, आत्मनियत्रण की कला सिखाती है, जो विषय-भोगो से छूटने की युक्ति बताती है, इससे भी आगे बढकर कहूँ तो विद्या देहधर्म से ऊपर उठकर आत्मधर्म मे प्रवेश करने की विधि बतलाती है, देह मे आसक्ति करने की नही। जो विद्या परावलम्बी बनाती है, आवेगो मे बहने की शिक्षा देती है, विषयो से आबद्ध होने की युक्ति बताती है, देहाध्यास की प्रेरणा देती है, वह कुविद्या है, सुविद्या नही।[1]

इसी दृष्टि से विद्या और अविद्या का अर्थ **अध्यात्मरामायण** मे स्पष्ट किया गया है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाऽह देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥

—'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह अविद्या कहलाती है जबकि 'मैं शरीर नही, ज्ञानस्वरूप (चिद्) आत्मा हूँ' इस प्रकार की बुद्धि विद्या कहलाती है।

कुविद्या परतत्रता से मुक्ति के लिए नही होती। वह व्यक्ति को स्वावलम्बी नही बनाती, आत्मिक दीनता से पिण्ड नही छुडाती वह विद्या, विद्या के रूप मे एक प्रकार की अविद्या है, भले ही उसके लिए बडे-बडे विद्यालय, महाविद्यालय आदि खुले हो, और जिनमे पारगत होने पर बडे-बडे विश्वविद्यालयो से प्रमाण पत्र प्राप्त हुए हो।

वैसे तो विद्या मुख्यतया दो प्रकार की है—लौकिक और लोकोत्तर। लोकोत्तर विद्या की परिभाषा तो अभी-अभी मै कर चुका हूँ। 'इसिभासियाइ' मे लोकोत्तर विद्या का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

जेण बध च मोक्ख च जीवाण गतिरागति।
दयाभाव च जाणति, सा विज्जा दुक्खमोयणी॥[1]

—जिसके द्वारा जीवो के बन्ध-मोक्ष, गति-आगति और आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो, वही विद्या दुःख से मुक्त करने वाली है।

शकराचार्य प्रश्नोत्तरी मे इसी विद्या का लक्षण दिया गया है—

विद्या हि का ? ब्रह्मगतिप्रदा या।[2]

—विद्या कौन सी है ? जो ब्रह्मगति प्रदान करती हो।

भगवद्गीता मे अध्यात्मविद्या को ही सब विद्याओ मे श्रेष्ठ बताया है।[3]

लोकोत्तर विद्या तो एकान्त रूप से उपादेय है ही, इसमे कोई सन्देह नही, किन्तु वह लौकिक विद्या भी उपादेय होती है, जो धर्म से अनुप्राणित हो, न्याय-नीति

---

१ इसिभासियाइ १७/२ २ शकर प्रश्नोत्तरी ११

३ 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'—गीता १०।३२

और सदाचार से पुनीत हो, विनय, दया, परोपकार आदि गुणो से युक्त हो, जो दान, शील, तप और भाव की प्रेरणा देती हो। वैदिक विद्वानो ने ऐसी लौकिक विद्या को अपरा विद्या कहकर उसके १४ भेद बताएँ हैं—

चार वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, तथा इतिहास, पुराण, मीमासा और न्याय।[1]

जैन विद्या-पारगतो ने भी इन्ही नामो से १४ भेद विद्या के माने है—चार वेद—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग।

इन वेदो के ६ अग हैं—(५) शिक्षा (६) कल्प, (७) व्याकरण, (८) निरुक्त (९) छन्द, और (१०) ज्योतिषि। तथा (११) इतिहास-पुराण (१२) मीमासा (१३) न्याय और (१४) धर्मशास्त्र, ये १४ विद्याएँ है।[2]

चार अनुयोग तो प्रसिद्ध है ही। **शिक्षा** कहते है—स्वर-व्यजनादि वर्णों के शुद्ध उच्चारण और लेखन को बताने वाली विद्या को, **कल्प**—धार्मिक आचार-विचार का निरूपकशास्त्र, **व्याकरण**—जिसमे भाषा के लिखने-पढ़ने-बोलने का शुद्ध बोध हो, **निरुक्त**—शब्दो के प्रकृति, प्रत्यय आदि का विश्लेषण करके प्राकरणिक या द्रव्य-पर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थ का निरूपण करने वाला शास्त्र, **छन्द**—पद्यो के विविध प्रकारो का निर्देशक शास्त्र, **ज्योतिष**—शुभाशुभ फलसूचक विद्या, **इतिहास-पुराण**—प्राचीन इतिहास की बाते जिन शास्त्रो मे है, **मीमासा**—विभिन्न मौलिक सिद्धान्तबोधक वाक्या पर विश्लेषण करके चिन्तन प्रस्तुत करने वाली विद्या, **न्याय**—प्रमाणो और नयो का विवचन करने वाला शास्त्र, **धर्मशास्त्र**—अहिंसाधर्म के निश्चय-व्यवहार दोनो रूपो का विवेचन करने वाले शास्त्र। यह हैं चौदह विद्याओ का निरूपण।

वैदिक मतानुसार जिससे अक्षर परमात्मा का ज्ञान हो, वह पराविद्या कहलाती है।

इससे मालूम होता हे कई प्रकार की भौतिक विद्याए भी हाती है। लौकिक व्यवहार मे भाषाज्ञान, गणित, इतिहास, भूगाल, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन-शास्त्र, भौतिकविज्ञान आदि विविध ज्ञान-विज्ञान, शिल्प एव कला आदि को विद्या कहते हैं। जैनधर्मानुसार उपर्युक्त विद्याओ मे लौकिक और लोकोत्तर दोनो ही विद्याओ का समावेश हो जाता है।

जीव आदि तत्त्वो की केवल जानकारी ही **विद्या**—ज्ञान नही हे, अपितु उनके स्वरूप की प्रतीतियुक्त जानकारी ही सच्ची विद्या है। लौकिक विद्या के साथ अध्यात्म, धर्म और नीति का पुट हो तो वह विद्या भी उपादेय हो सकती है।

---

१ पाणिनीय शिक्षा और याज्ञवल्क्य शिक्षा।

२ नीतिवाक्यामृत ७।१

वर्तमान युग की भाषा मे पढे-लिखे या शिक्षित (Educated) को विद्यावान कहते है ।

जो भी हो, प्रत्येक धर्मशास्त्र मे विद्या का बहुत बडा महत्त्व बताया गया है । शकर प्रश्नोत्तरी मे भी विद्या की महत्ता इन शब्दो मे बताई है—

"मातेव का या सुखदा ? सुविद्या ।
किमेधते दानवशात् ? सुविद्या ।।"[1]

—माता के समान सुख देने वाली कौन है ? सुविद्या है । देन से कौन सी चीज बढती है ? सुविद्या ।

विद्या वह धन है जिसे न तो राजा ले सकता है, न चोर चुरा सकता है, न जिसमे से भाई लोग हिस्सा ले सकते है तथा जो खर्च करने से बढता है । इसलिए विद्या धन सभी धनो मे श्रेष्ठ है ।[2] यदि किसी व्यक्ति के पास पवित्र विद्या है तो उसे धन से क्या प्रयोजन है ।[3] जो विद्या से रहित है, वह पशु है ।[4]

अविद्या क्या है ?—अविद्या विद्या से विपरीत स्थिति है । विद्या के जो लक्षण बताये गये हैं, उनसे उलटी तथा दु खदायिनी, अहकारवर्द्धक, काम-क्रोध आदि दुर्गुणो की उत्पादक अविद्या है । वेदान्त की भाषा मे माया को अविद्या कहते है, जैन परिभाषा मे अज्ञान को अविद्या कहते है ।

अविद्यावान—जिस व्यक्ति के पास पूर्वोक्त विद्या न हो, वह अविद्यावान है, अशिक्षित है, जो चौदह विद्याओ या लौकिक-लोकोत्तर विद्याओ से विहीन है, वह भी अविद्यावान है । जो मोह-माया मे लिपटा हुआ है, काम-क्रोधादि रिपुओ मे आहत या ग्रस्त है वह अविद्यामय है ।

२७ प्रकार के व्यक्ति अविद्यावान होते है, पूर्ण श्रेष्ठ विद्या का उनमे अभाव है श्री अमृतकाव्यसग्रह मे यही बताया गया है—

कामी क्रोधी लोभी अरु दरिद्री प्रमादी मूढ,
दु खी पराधीन पक्षपाती अभिमानी को ।
मोह-मदवन्त व्यग्र चचल कृपण पुनि,
रहे सोच सकूची कुसगी औ अज्ञानी को ।।
अनाचारी आलसी अभागी अनचाही नर,
निन्दक अनोसरी अधीर अकुलानी को ।

---

१ शकराचार्य प्रश्नोत्तरी २५

२ न राजहार्य, न च चौरहार्य, न भ्रातृभाज्य, न च भारकारम् ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्य, विद्या धन सर्वधनप्रधानम् ।।

३ किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि— भर्तृहरि नीतिशतक २१

४. विद्याविहीन पशु—भर्तृहरि : नीतिशतक २०

'अमीरिख' चित्त सुविचारी या उच्चारी बात,
पूरी वह विद्या नही आवे इन प्राणी को ॥

अविद्यावान व्यक्ति हर वस्तु का स्वरूप विपरीत रूप से देखता है। चाणक्य नीति मे विद्याहीन व्यक्ति की निन्दा करते हुए कहा है—

धर्माधर्मौ न जानाति लोकोऽय विद्यया बिना।
तस्मात् सदैव धर्मात्मा विद्यावान् परो भवेत् ॥
शुन-पुच्छमिव व्यर्थं जीवित विद्यया विना।
न गुह्यगोपने शक्त न च दशनिवारणे ॥
वस्त्रहीनमलकार, घृतहीन च भोजनम्।
स्तनहीना च या नारी विद्याहीन च जीवनम् ॥[1]

विद्या के बिना ससार धर्माधर्म का ज्ञान नही कर सकता। इसलिए धर्मात्मा को सदैव उत्कृष्ट विद्यावान होना चाहिए।

विद्या के बिना जीवन कुत्ते की पूँछ की तरह व्यर्थ है, जो न तो अपने गुप्तागो को ढकने मे काम आती है, और न ही दश-मच्छर आदि से निवारण मे काम आती है।

जैसे वस्त्रहीन अलकार, घृतरहित भोजन एव स्तनहीन नारी शोभा नही देती, वैसे ही विद्याहीन जीवन शोभनीय नही होता।

कोई व्यक्ति कितने ही रूप और यौवन से सम्पन्न हो, विशाल कुलोत्पन्न हो फिर भी विद्याहीन हो तो गन्धरहित टेसू के फूल की तरह शोभा नही देता।

जो व्यक्ति न तो लौकिक विद्या ही पढा है और न लोकोत्तर विद्या से सम्पन्न है, वह लोक-परलोक मे किसी भी तरह से सफल नही हो सकता, न ही वह जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफल हो पाता है।

अविद्यावान और विद्यावान मे अन्तर

विद्यावान मनुष्य कैसी भी परिस्थिति हो, दुःख नही पाता, न ही वह किसी भी विकट परिस्थिति मे घबडाता है। वह विद्या के बल से युग की नब्ज परख लेता है, युग की माँग को जानता है, किस कृत्य मे धर्म है, किसमे अधर्म है ? कौन-सा कार्य हेय है, कौन-सा उपादेय है और कौन-सा ज्ञेय है ? इस बात को विद्यावान बहुत शीघ्र जान लेता है। जीवन के उतार-चढ़ाव के समय विद्यावान मनुष्य सारी परिस्थिति को पहले से ही भाँप लेता है। नीतिकार कहते हैं—

परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदाऽपन्ना विपत्तय·।
अपरिच्छेदकर्तृणां विपद स्यु पदे-पदे ॥

---

1. चाणक्य नीति

—जब विपत्तियाँ आ पड़ती है, तब साधक-बाधक कारणो का विवेक करना ही पाण्डित्य है। जो विवेक नही करना जानते, उनके मार्ग मे पद-पद पर विपत्तियाँ आती हैं।

विद्यावान् विद्या के साथ-साथ विनयवान होता है विनय से पात्रता आती है, पात्रता से मनुष्य धन प्राप्त करता है। धनसम्पन्न व्यक्ति विनयी होता है तो धर्माचरण करता है और धर्माचरण से सुख प्राप्त करता है।

इसके विपरीत अविद्यावान या विद्याविहीन व्यक्ति हिताहित या कार्य-अकार्य का विवेक नही कर सकता, न ही हेयोपादेय को जान पाता है, वह दु खोत्पादक सासारिक विषय-भोगो को सुखकारक मानता है, परन्तु उन्ही विषय-भोगो का गुलाम बनकर वह जिदगीभर दु ख पाता है, उनकी प्राप्ति के लिए दु ख उठाता है, बेचैन होता है, तडफता है, प्राप्त होने पर उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहता है। यदि बीच मे ही अभीष्ट वस्तु या विषय का वियोग हो गया तो भी वह दु खित होता है। इस प्रकार अविद्यावान् पुरुष पद-पद पर अपने अज्ञान के कारण दु खी होता रहता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन मे फरमाया है—

जावतऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसभवा।
लु पति बहुसो मूढा ससारम्मि अणतए ॥[1]

—जितने भी अविद्यावान पुरुष है, वे सब अपने लिए दु ख उत्पन्न करते है। वे मूढ अनेक बार नष्ट होते है, जीवन हार जाते है और अनन्त ससार मे परिभ्रमण करते है।

अविद्यावान् पुरुष हेय-उपादेय, हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से विकल होने के कारण हर वस्तु को प्राय विपरीत रूप मे ग्रहण करके दु ख पाता है। इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग मे वह सहनशीलता नही रख पाता। इस कारण वह दुखी होता है।

बौद्ध जातक की एक कथा इस सम्बन्ध मे मुझे याद आ रही है—

श्रावस्ती मे एक वणिक् रहता था, उसके एक रूपवती कन्या थी, नाम था—'पट्टाचारा'। पट्टाचारा जब सयानी हुई तो माता-पिता उसके विवाह के लिए चिन्तित हुए किन्तु पट्टाचारा यौवन के क्षणिक उन्माद के प्रवाह मे बहना सुखकारक समझकर भावी के सुनहले स्वप्न सजोने लगी। स्वास्थ्य और सौन्दर्य के आकर्षण मे पड़कर पट्टाचारा एक पडोसी युवक से प्रेम करने लगी। उसने अपना विवाह उसी से करने को कहा तो पिता ने समझाया—"बेटी यौवन और सौन्दर्य के आकर्षण को प्रेम नही कहते। प्रेम तो कर्तव्यपालन, त्याग वैराग्य, और सेवा की साधना है।

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ६, गा० १

ऐसी साधना सच्चे माने मे विद्यावान ही कर सकता है, अविद्यावान नही । समझ से ही यह साधना सम्पन्न हो सकती है, आवेश से नही ।"

पिता ने खूब समझाया, वह अच्छे सम्बन्ध की तलाश मे निकल भी पडा था । लेकिन कामवासना के प्रबल आकर्षण के आगे विद्यावान पिता की विवेकयुक्त बात पुत्री के गले न उतरी । जहाँ विवेक और आस्था न हो, वहाँ धैर्य न रहना स्वाभाविक है । पट्टाचारा ने अपने प्रेमी से सलाह की और एक रात को दोनो घर से भाग निकले । पिता जब तक घर पहुँचा, तब तक तो वह बहुत दूर निकल गई ।

जिस अविद्यावान को सौन्दर्य का आकर्षण हो, उसका अपने माता-पिता पर अनास्था, उठती उम्र मे अविवेक और पथभ्रष्ट होकर वासना का शिकार बन जाना स्वाभाविक है । कुटुम्ब के अनुशासन से मुक्त हो जाने तथा किसी प्रकार का बन्धन न रह जाने पर अविद्यावान नर-नारी का एक दूसरे के यौवन के प्रति ही आकर्षण शेष रह जाता है । अविद्याग्रस्त पट्टाचारा के जीवन मे वासना प्रविष्ट हुई तब उसे स्वर्गीय सुखो की अनुभूति हुई, मगर उस अभागिन को क्या पता था कि वासना का सुख जवानी और स्वस्थता तक ही रहता है, बाद मे निचोडे हुए आम की तरह शरीर का ओज नष्ट हो जाने पर दाम्पत्य प्रेम की वह मस्ती, वह उमग, जो कभी पहले थी वह समाप्त हो जाता है । यही हुआ, पति-पत्नी एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे ।

पट्टाचारा गर्भवती हुई । एक पुत्र को जन्म दिया । शरीर सौन्दर्य पहले ही कम हो गया था, अब एक और जीव के गर्भ मे आजाने से उसका ध्यान पति की ओर से हटना स्वाभाविक था । अब भी वे मिलते थे, पर कामवासना की तृप्ति के लिए ही । निदान पट्टाचारा शीघ्र ही पुन गर्भवती हो गई । उसका शरीर भारी रहने लगा । आलस्य सताने लगा । आलस्य और शिथिलता की जा बाते सयुक्त परिवार मे छिपी रहती हैं, वे यहाँ स्वच्छन्द एव व्यक्तिजीवी पति-पत्नी मे कहाँ सम्भव थी ! फलत व्यग्रचित्त पट्टाचारा ने माता-पिता और कुटुम्बी जनों को याद किया । पट्टाचारा अपने प्रेमी-पति से घर चलने का आग्रह करने लगी, पर उसका प्रेमी पति उसके लिए राजी नही हो रहा था । उसे चरित्रभ्रष्टता का भय सता रहा था । पट्टाचारा के अत्याग्रह के कारण उसने बात मान लो । वह श्रावस्ती की ओर चल पडा ।

परन्तु अविद्या के कारण दु खो का अन्त अभी नहीं हुआ था । कुछ दूर चलते ही पट्टाचारा के पेट मे प्रसव-पीड़ा उठी । पति ने उसके लिए एक पर्णकुटी बना ली, फिर जैसे ही वह पानी के लिये निकला, एक सर्प ने उसे डस लिया । पट्टाचारा इधर पुत्र को जन्म दे रही थी, उधर उसका पति मर रहा था । बहुत रोई-धोई, पर क्या हो सकता था ? आखिर अपने दोनो बच्चो को लेकर वह घर की ओर चल पडी । रास्ते मे नदी पड़ती थी, उसे पार करना कठिन था । आखिर पट्टाचारा ने एक-एक बच्चा अपने

साथ लेकर नदी पार करने का निश्चय किया। एक बच्चे को नदी के उस पार छोड़कर जैसे ही वह लौटी तो उसने देखा कि उसके नवजात शिशु को एक भेड़िया दबोचकर ले जा रहा है। वह चिल्लाई। उसके रोने की आवाज सुनकर नदी के उस पार खड़े बच्चे ने समझा—'माँ बुला रही है।' वह भी नदी में कूद पड़ा और उसकी तीव्र धारा मे डूबकर मर गया। पट्टाचारा यह आघात न सह सकी, वह पागल-सी हो गई।

अविद्या के कारण पट्टाचारा ने दुःख की परम्परा सहन की। वह तथागत बुद्ध की सेवा मे पहुँची। उनके सामने अपनी दुःखभरी कथा कह सुनाई। तथागत ने उसे सौम्य शब्दो मे कहा—"पट्टाचारा! अविद्या के कारण मनुष्य एक दिन इष्ट-सयोग म सुख मानता है, किन्तु जब उसका वियोग हो जाता है, तब वही सुख दुःख मे परिणत हो जाता है। तूने अविद्या के कारण सौन्दर्य और वासना से आकर्षित होकर एक पुरुष को अपना पति माना, फिर जो सन्तान हुई, उसे अपने पुत्र के रूप मे माना, क्षणिक विषय-सुखो को सुख माना। भला, ये सब तेरे अपने कहाँ थे? तू ही तो अविद्या के कारण इन्हे अपने मान बैठी थी। अतः अब अविद्या को छोड़, विद्यावान बन।" पट्टाचारा विरक्त हो गई, वह बौद्धभिक्षुणी बनकर आत्म-विद्या के प्रकाश मे स्व-पर-कल्याण के पथ पर विचरण करने लगी।

अविद्या की दुनिया : भूल-भुलैया भरी

वास्तव मे प्रेय का मार्ग अविद्या का मार्ग है, श्रेयमार्ग ही विद्या का सुपथ है। प्रेय के लुभावने मार्ग पर चढ़कर अविद्यावान पुरुष बार-बार भटकता है, ससार-सागर म गोते खाता है और उसी मे जन्म-जरा-रोग-मृत्यु सम्बन्धी दुःख पाता रहता है।

अविद्या की इस दुनिया को आध्यात्मिक भाषा मे 'भवसागर' कहते है। वैदिक परिभाषा मे इसे मायानगरी भी कहते है। भवसागर इसलिए कहा गया है कि वह काम-क्रोध-लोभादि घडियालो और मगरमच्छो से भरा पडा है, जो दाँव लगते ही शिकार को निगल जाते ह। विद्यावान इनमे सतर्क रहते है, मगर अविद्यावान इनके शिकार हो जाते है, उन्हे काम-क्रोधादि मगरमच्छ निगल जाते है। वे नष्ट हो जाते है।

मायानगरी इसलिए कहा जाता है कि यहाँ अविद्याग्रस्त मनुष्य कदम-कदम पर भूलभुलैयो के महल मे फँस जाता है। उसका बाहर निकलना तब तक नही हो सकता, जब तक कि वह विद्यायुक्त होकर अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रयोग न करे। इसमे जरा-सी असावधानी अथवा उपेक्षा करने पर उसी जादुई महल मे भटकना रह जाता है।

पाण्डवो का एक राजमहल इस खूबी से बनाया गया था कि उसमे जल के स्थान पर स्थल और स्थल के स्थान पर जल दिखाई देता था। दुर्योधन एक दिन उसे देखने गया तो धोखा खा गया। द्रौपदी इस पर हँस पड़ी और यही हँसी अन्त मे महाभारत का कारण बनी।

अविद्या की इस मायानगरी मे दुनिया का सारा महल ही दुर्योधन जैसे अविद्याग्रस्त लोगो को भूलभुलैया-सा लगता है। इसमे अविद्यावान को सर्वत्र जल

के स्थान पर स्थल और स्थल को स्थान पर जल दिखाई देता है। इसी प्रकार इसमें पद-पद पर भ्रान्त होने वाले अविद्यावानों का उपहास होता है। अविद्याग्रस्त लोगो को इस मायानगरी मे हर चीज के दो रूप दिखाई पड़ते है। इसका बाह्यरूप कुछ है, और भीतरी रूप कुछ है। वास्तविकता को विद्यावान जानता है, अविद्यावान नही। इसी कारण वह बार-बार धोखा खाता है। धोखा खाकर भी मिथ्यात्व एव मोहनीय-वश संभल नही पाता। पदार्थों के बाह्य रूप और सौन्दर्य पर लुब्ध होकर अपने-आपको विनाश के गर्त मे झोंक देता है। हड्डी, मास एवं मलमूत्र से भरे दुर्गन्ध भरे घडे पर लगी हुई चमकती चमडी अविद्याग्रस्त व्यक्तियो को महाभ्रम मे डाल देती है। किन्तु विद्यावान विवेकी बनकर इसकी वास्तविकता और क्षणभगुरता को समझ लेता है। वह इसके चक्कर मे नही फँसता।

अविद्याग्रस्त पट्टाचारा अविद्याजनित दुःखो का अनुभव कर चुकी थी। अत विद्यावान तथागत की शरण मे आकर वह विद्या का महाप्रकाश पाकर ऐसी सँभली कि फिर अविद्या के दुश्चक्र मे नही फँसी। यही उपदेश समाधिशतक मे दिया गया है—

तद् ब्रूयात् तत्पर पृच्छेत् तदिच्छेत् तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामय रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥५३॥

—वही बोलना चाहिये, वही दूसरो से पूछना चाहिए, उसी की इच्छा करनी चाहिए एव उसी मे तत्पर रहना चाहिये, जिनसे अपना अविद्यामय रूप विद्यामय बन जाये।

विद्यावान और अविद्यावान की परख

विद्यावान और अविद्यावान की परख केवल पढ-लिखे और अनपढ होने से ही नहीं हो जाती। केवल पढ़-लिखे मनुष्य, जिनमे बौद्धिक प्रतिभा नही होना, या सात्त्विक व्यवसायात्मिका बुद्धि भी नही होती, न आध्यात्मिक जिज्ञासा होती है, उन्हे विद्यावान नही कहा जा सकता है, विद्यावान (भले ही वे लौकिक विद्याओ से सम्पन्न हो) तभी कहे जा सकते है, जब बौद्धिक प्रतिभा, व्यावहारिक एव सात्त्विक धर्मयुक्त बुद्धि, सिद्धान्तनिष्ठा, तत्त्वार्थश्रद्धा उनमे हो। उपनिषद् मे एक सुन्दर आख्यान इस सम्बन्ध मे मिलता है—

आचार्य द्रुमत उपकौशल ने अपनी पत्नी के दैदीप्यमान चेहरे की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डाली और कहा—"भद्रे! मनुष्य की सम्पूर्ण सफलता और तेजस्विता का आधार विद्या है। भगवती! जिस प्रकार अपनी कन्या विद्यायुक्त, गृहकार्य-निपुण और सुशील है, उसी प्रकार का विद्या एव बौद्धिक प्रतिभा से सम्पन्न इसे वर मिलता तो सोने मे सुहागे का कथन चरितार्थ हो जाता।"

आचार्य-पत्नी ने कहा—"आर्यश्रेष्ठ! ऐसे योग्य युवक की खोज करना आपके लिये तो कोई कठिन नही है। आपके विद्यालय मे तो न केवल सामान्य

नागरिकों के, अपितु कुरु, कौशल, काची, मगध, ऊरु, अर्यमारण्य, उदीच्यायनीय, काम्बोज, वाराणसी और अगिरा द्वीप तक के विशिष्ट छात्र विद्याध्ययन करने आते हैं। क्या उनमे से एक भी बालक आपकी कल्पना को साकार नही कर सकता ?"

आचार्य—"प्रिये ! विद्या का अर्थ केवल बौद्धिक प्रतिभा ही नही, अपितु विद्या का व्यावहारिक जीवन मे नीतिनिपुण समावेश भी होता है। बाह्याचरण करने वाले व्यक्ति को तब तक शिक्षित, विद्वान् या विद्यावान नही कहा जा सकता, जब तक उसके अन्त करण से कलुषितता मिट न जाये। विद्वत्ता के साथ विराट् ब्रह्म की आन्तरिक अनुभूति ही व्यक्ति को सर्वभूतात्मभूत बनाती है, तभी वह विद्यासम्पन्न कहला सकता है। ऐसा व्यक्ति विषम से विषम परिस्थिति मे भी आत्मा को प्रताडित नही कर सकता। अपने स्वार्थ के लिए एक कीडे को भी न छले, वही सच्चा विद्यावान है। मुझे सन्देह है कि विद्यावान की इस कठोर परीक्षा मे मेरे गुरुकुल का एक भी स्नातक सफल हो। फिर भी एक सरल-सा उपाय अजमाकर देखता हूँ। सम्भव है, योग्य विद्यासम्पन्न विद्वान मिल जाये।"

आचार्यप्रवर ने अपने गुरुकुल के समस्त स्नातको को आमत्रित किया। जब सभी एकत्रित हो गये तब उन्होने कहा—"तात ! तुम सब जानते हो कि मेरी कन्या विवाह योग्य हो चुकी है। मेरे पास धन का अभाव है। आप सब अपने-अपने घर जाकर मेरी कन्या के लिए एक-एक आभूषण लाएँ। जो सर्वश्रेष्ठ आभूषण लाएगा, उसी के साथ हम अपनी कन्या का पाणिग्रहण कर देंगे। किन्तु एक शर्त है, आभूषण लाने की बात गुप्त रखी जाए। माता-पिता तो क्या, अगर दाहिना हाथ आभूषण लाए तो बाया हाथ भी उसे जानने न पाए।"

द्रुमत उपकौशलाचार्य की कन्या असाधारण विदुषी, सुशीला और गुणवती थी। हर स्नातक का हृदय उसे पाने के लिए उत्सुक था। सभी स्नातक अपने-अपने घर गये और चुरा छिपाकर आभूषण लाने लगे। जो भी स्नातक, जैसा आभूषण लेकर लाया, आचार्य उसे उसके नाम का लिखा कपडा लपेटकर एक ओर रख देते। कुछ ही दिनो मे आभूषणो के अबार लग गये, परन्तु जिस आभूषण की खोज थी, आचार्य प्रवर को अभी तक लाकर कोई न दे सका।

सबसे अन्त मे वाराणसी का राजकुमार ब्रह्मदत्त लौटा, निराश और खाली हाथ। आचार्य ने उत्सुकतापूर्वक उससे पूछा—"वत्स ! तुम कुछ भी नही लाये दिखते ?" वह विनयपूर्वक बोला—"हाँ, गुरुदेव ! आपने आभूषण लाने के साथ-साथ यह शर्त भी रखी थी कि कोई भी—बाया हाथ तक भी—न देखने पाये, इस तरह से लाना। मेरे लिए यह शर्त पूरी करना असम्भव है। क्योकि मैंने बहुत-सी युक्तियाँ लडाई, लेकिन कही भी ऐसा एकान्त तो मिल ही नही पाया।" आचार्य ने कृत्रिम प्रकोपवश विस्मयसूचक दृष्टि डालते हुए पूछा—"वत्स ! क्या तुम्हारे माता-पिता

और अन्य कुटुम्बीजन सोते नही। रात मे निकाल लेते आभूषण ! भला, सभी स्नातक आभूषण लाये हैं, तुम कैसे नही लाये ?"

ब्रह्मदत्त ने विनम्रभाव से उत्तर दिया—"गुरुदेव ! मनुष्यो से शून्य स्थान तो फिर भी मिल सकता है, पर मेरे अतिरिक्त मेरी आत्मा, अनन्तज्ञानी परमात्मा की उपस्थिति तो सर्वत्र सर्वकाल मे है, उनसे छिपा तो कुछ भी नही रहता। फिर आपकी शर्त कैसे पूरी हो सकती थी ?"

आचार्य की आँखें चमक उठी। वे जिस आभूषण (श्रेष्ठ विद्यावान युवक) को चाहते थे, वही मिल गया। स्नातक ब्रह्मदत्त को उन्होने हृदय से लगा लिया। अन्य सभी स्नातको के आभूषण वापस लौटा दिये और कन्या के पाणिग्रहण की तैयारी मे जुट गये।

यह है, विद्यावान और अविद्यावान की परख का मापदण्ड ! विद्यावान वस्तु की भीतरी तह तक पहुँच जाता है, जबकि अविद्यावान उसकी ऊपरी सतह तक ही पहुँच पाता है। विद्यावान सूक्ष्मदृष्टि से वस्तुतत्त्व को समझ-जान लेता है, जबकि अविद्यावान स्थूलदृष्टि से वस्तु के बाह्य रूप-रग, आकार-प्रकार को देखकर ही उसका स्थूल मूल्याकन करता है। विद्यावान किसी के कथन का मर्म समझ लेता है, अविद्यावान इस मामले मे बहुत पिछडा हुआ होता है। विद्यावान वस्तु को उसकी बाह्य चमक-दमक के या स्वार्थ, लोभ, काम और मोह के पहलू से नही देखता, वह वस्तु के अन्तरग वस्तुतत्त्व का स्पर्श कर लेता है। वह इष्टवियोग या अनिष्टसयोग से घबराता और रोता-चिल्लाता नही।

अविद्याग्रस्त व्यक्ति पहले तो मोहवश किसी प्रिय लगने वाली वस्तु को इष्ट और अप्रिय लगने वाली को अनिष्ट मान लेता है, फिर इष्ट के सयोग से प्रसन्न और अनिष्ट के सयोग से विषादग्रस्त हो जाता है, तत्पश्चात् उस माने हुए इष्ट का वियोग या अनिष्ट का सयोग होता है तो वह हायतोबा मचाने लगता है।

विद्यावान वस्तुतत्त्व समझकर शान्ति और समता के साथ तटस्थ रहता है। एक उदाहरण लीजिए—

बुद्धिमती सुमति की रग-रग मे अध्यात्मविद्या रम गई थी। वह आज श्रमण भगवान् महावीर का अमृत प्रवचन सुनने गई थी। प्रवचन मे उसने सुना—"जहाँ सयोग है, वहाँ वियोग अवश्यम्भावी है। आत्मा के सिवाय जगत् के प्रत्येक पदार्थ का वियोग होता है। आज जिसे जिस वस्तु के लिए हर्ष होता है, कल उसे उसी वस्तु के लिए शोक होगा। हर्ष और शोक, तड़फना और फूलना, ये दोनो एक ही तराजू के दो पलड़े हैं। आत्मसमाधि, या शान्ति का एक ही मार्ग है—समता, धैर्य या मोह-त्याग। मोहत्याग आत्मा के एकत्व के ज्ञान मे से पैदा होता है।"

सुमतिदेवी ने प्रभु के इस उपदेश को अपने हृदय की मजूषा मे रखा और

इसी पर चिन्तन-मनन करती एवं अपने जीवन में क्रियान्वित करने का संकल्प करती हुई घर आ पहुँची। आज उसका पति आत्माराम घर में नहीं था, वह कहीं बाहर गया था। सहसा उसे कुछ लोगों से समाचार मिला—आज उसके दोनों पुत्र तालाब म स्नान करने गये थे। दोनो ही डूबकर मर गये है। पहले बडा लडका नहाने के लिए तालाब म घुसा कि कीचड मे फँस गया। उसे निकालने के लिए दूसरा लडका तालाब मे घुसा, किन्तु वह भी वही कीचड मे फँस गया। दोनो डूब गये।

सुमतिदेवी का मातृहृदय सहसा इस आघात से शोकग्रस्त हो जाना चाहिए था, परन्तु ज्यो ही शोक की लहर आई विद्यासम्पन्न सुमतिदेवी के हृदय मे भगवान् महावीर के व उद्गार गूँजने लगे—'सयोग और वियोग मे हर्ष और शोक करना अविद्यावानो का काम है, विद्यावानो का नही। प्रत्येक वस्तु जिसका सयोग होता है, एक न एक दिन हमसे बिछुडती है। यह तो ससार का अटल नियम है। इसमे शोक और चिन्ता की क्या बात है ?'

सुमतिदेवी का क्षणिक शोक वही शान्त हो गया, दिव्य ज्ञान के प्रकाश मे वह स्वस्थ–आत्मस्थ हो गई।

उसने अपने दोनो पुत्रो के शरीर बिछौने पर लिटा दिये, उन पर सफेद वस्त्र ओढा दिया, और अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई चिन्तन मग्न हो गई।

आत्माराम ने ज्यो ही घर मे पैर रखा, उसका आनन्द फीका हो गया। उसे वातावरण मे कुछ शोक की लहर लगी। प्रतिदिन जब वह घर आता था, तब उसकी पत्नी प्रसन्न मुख से उसका स्वागत करती थी, पर आज तो वह उदास-सी बैठी थी। आत्माराम ने पूछा—"देवि ! आज उदास क्यो हो ? तुम्हारा चेहरा बता रहा है, मानो शोक छाया हो।"

सुमतिदेवी ने पति को तत्त्व समझाते हुए कहा—"प्रिय ! ऐसी कोई बात नही है। अपने पडोसी निसर्गदेव से मैं दो रत्न-कंकण कुछ वर्ष पहले लाई थी। आज वह माँगने आये थे। इस पर मुझे उदासी आ गई। भला, ऐसे रत्न-कंकण कैसे वापस लौटा दूँ ?"

आत्माराम—"देवि ! क्या तुम इतना भी नहीं समझतीं कि जिसकी कोई चीज लाई जाती है उसे वापिस लौटानी पडती है, चाहे वह कितनी ही कीमती और सुन्दर क्यो न हो ?"

सुमतिदेवी—"कैसे सुन्दर ये कंकण हैं ! कैसी इनकी घडाई है, इसकी जोड़ के रत्न-कंकण मिलते ही कहाँ हैं ? इसमे जडे हुए रत्न भी कितने तेजस्वी हैं। मुझे तो वापस देने की इच्छा ही नहीं होती। मन होता है—रख लूँ। इसीलिए उदास बैठी हूँ, आपकी प्रतीक्षा मे।"

आत्माराम—"इसमे मुझे क्या पूछना है देवि ! पराई वस्तु पर ममता करना

ठीक नहीं । पर-वस्तु को लौटा देना ही अच्छा है ! और फिर पराई अमानत वस्तु को 'मेरी' कहकर उसके देने मे चिन्तित और दु:खित होना तो अविद्यावानो का कार्य है, अपना काम नहीं । पराई वस्तु तो जितनी जल्दी लौटाई जाए, उतना ही अच्छा है ।"

इस प्रकार आत्माराम को सिद्धान्त पर पक्का करके सुमतिदेवी खडी हुई। उसने पति का हाथ पकडा और उस तरफ चलने लगी, जहाँ उसके दोनो पुत्र चिरनिद्रा मे लेटे हुए थे । उसका हाथ काँप रहा था । उसे चक्कर-सा आने लगा, परन्तु प्रभु की आत्म-विद्या से ओत-प्रोत वाणी के बोल उसकी आत्मा को आश्वासन दे रहे थे । वह पति को अन्दर ले गई । उसने फूल-से सुकोमल दोनों पुत्रो के मृतदेह पर से श्वेत-वस्त्र उठाया । फिर आत्मविद्या के प्रकाश मे कहा—"प्राणनाथ ! ये रहे अपने दोनो रत्नकंकण ! जिन्हे हमने निसर्ग (पुण्य) देव से प्राप्त किये थे । आज तक हमने इन्हें बडे जतन से रखा, इन्हें पाला-पोसा, हमे ये थोडे समय के लिये मिले थे । आज इनकी अवधि पूर्ण होने आ गई । इसलिए इन्हें निसर्गदेव को वापस दे रहे हैं—इन्होने अपना मार्ग ले लिया है । ये हमारे नही थे, हमने इन्हें लोकव्यवहारवश अपने पुत्र माना था, और न ही हम इनके थे । इनके वियोग से रोना और शोक करना व्यर्थ है । अश्रुपात से गई हुई वस्तु लौटकर नही आती । अच्छा हो, मौन की शान्ति के साथ हम इन्हें विदाई दें ।"

आत्माराम तो यह देखकर अवाक् और स्तब्ध हो गया । उसका चेहरा थोडी देर के लिए गमगीन हो गया । दोनो की आँखो से स्वाभाविक रूप से गंगा-यमुना बह चली, परन्तु उनके साथ आत्मविद्या का उज्ज्वल प्रकाश था ।

सचमुच, अध्यात्मविद्या जिसके जीवन मे आ जाती है, उसका समस्त व्यवहार सिद्धान्तसंगत, निश्चयदृष्टि से समन्वित होता है । वह हर्ष-शोक मे मूढ नहीं बनता । वह विपत्ति मे सदा धैर्य, अभ्युदय होने पर सहिष्णुता, धर्माधर्म म विवेक और दूसरो के प्रति उदारता रखता है ।

विद्यावान और अविद्यावान मे सूक्ष्म अन्तर

इतना होने पर भी विद्यावान और अविद्यावान म एक विशेष अन्तर रहता है। विद्यावान और अविद्यावान एक-सी कई क्रियाएँ करते हे, परन्तु उनकी दृष्टि म अन्तर होने से परिणामो मे अन्तर आता है । विद्यावान केवल वाणीशूर नही होता या केवल जानकारी करके ही नही रह जाता, वह ज्ञान के साथ-साथ आचरण भी करता है । जबकि अविद्यावान विद्यावान की अपेक्षा किसी विषय की सूक्ष्म और विस्तृत व्याख्या कर सकता है, परन्तु आचरण से शून्य होता है । इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

> **भणता अकरेंता य बन्धमोक्ख पइण्णिणो ।**
> **वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं ॥**[1]

---

१. उत्तराध्ययन अ० ६, गा० १०

—जो व्यक्ति केवल शास्त्रों की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हैं, भाषण करते हैं, किन्तु तदनुसार आचरण नहीं करते। वे बन्ध और मोक्ष की सिर्फ जानकारी रखने वाले हैं और वाणी की शूरवीरता से वे अपने आप को झूठा आश्वासन दे देते हैं, लेकिन वास्तव में बन्धनमुक्त नहीं हो पाते। अतः विद्या का मर्म उसे केवल स्मरण करना ही नहीं, व्यावहारिक जीवन में उतारना भी है। विद्या के साथ जब कोई क्रिया रहती है, तभी वह तेजस्वी बनती है, अन्यथा क्रियाहीन विद्या, पराक्रमी और तेजस्वी नहीं होती। वेदों में कहा है—'क्रियावान एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः', आत्मवेत्ताओं में क्रियावान आत्मवेत्ता श्रेष्ठ होता है। अर्थात्—आत्मविद्या को वेदों ने क्रिया की कसौटी पर कसा है। जो आत्मविद्या क्रिया की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती, वह आत्मविद्या ही नहीं है।

महाभारत का एक प्राचीन उदाहरण लीजिये—

द्रोणाचार्य कौरवों और पाण्डवों को समान रूप से समस्त विद्याओं का अध्ययन कराते थे। उनकी वाणी में ओज, व्यक्तित्व में प्रभावशीलता तथा व्यवहार से वात्सल्य प्रवाहित होता था।

एक दिन वे समस्त शिष्यों के मध्य बैठे उपदेश कर रहे थे। उन्होंने कहा—"मनुष्य को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोध करने से विवेक नष्ट होता है, विवेकशून्य मनुष्य कोई यथार्थ निर्णय नहीं ले पाता।" इस पाठ को उन्होंने दूसरे दिन याद कर लाने का भी आदेश दिया।

नियत समय पर दूसरे दिन गुरु द्रोणाचार्य आये। नया पाठ्यक्रम शुरू करने से पूर्व उन्होंने सभी को सम्बोधित करते हुए कहा—"वत्स! कल की बात तुम्हें स्मरण रही?"

लगभग सभी छात्रों ने स्वीकार किया कि हमें याद है। केवल युधिष्ठिर ही थे, जो चुपचाप सिर नीचा किये बैठे थे। आचार्य समझ गये। उन्होंने प्रताड़ित करते हुए कहा—"कल अवश्य याद करके लाना।"

दूसरे दिन उसी क्रमानुसार अगला पाठ प्रारम्भ करने से पूर्व वही प्रश्न आचार्यजी ने किया—"युधिष्ठिर! आशा है, आज तो तुमने पाठ अवश्य ही याद कर लिया होगा।"

किन्तु युधिष्ठिर का उत्तर आज भी नकारात्मक था। इससे द्रोणाचार्य ने रोष में आकर कहा—"मूर्ख! तीन दिन में एक पंक्ति भी याद न कर सके। लज्जा आनी चाहिए तुम्हें! तुम से छोटे भाई सभी कल ही सुना चुके हैं। अच्छा आज और क्षमा करता हूँ। कल अवश्य ही याद हो जाना चाहिए।"

किन्तु तीसरे दिन भी जब युधिष्ठिर ने कहा—"गुरुदेव! मुझे अभी तक पाठ अच्छी तरह याद नहीं हुआ है," तब गुरुजी का पारा गर्म हो गया। उन्होंने युधिष्ठिर

के एक चाँटा लगाया और कान पकड़कर कहा—"अब तो अच्छी तरह याद हो गया न ?" युधिष्ठिर पीड़ा को सहन करते हुए बोले—"हाँ, गुरुदेव ! अब याद हो गया है।"

क्षोभ भरे स्वर मे आचार्य बोले—"मुझे नही मालूम था कि तुम पीटने पर ही पाठ याद करोगे, पहले नही।"

अब युधिष्ठिर ने शान्ति और धैर्य से कहा—"गुरुदेव ! ऐसी बात नही है। आपने कहा था—मनुष्य को कभी क्रोध नही करना चाहिए। पहले दिन मुझे शका थी कि आप प्रताडित करें और मुझे क्रोध आ जाये। अत मैंने इन्कार किया कि मुझे अभी तक पाठ याद नही हुआ है। दूसरे दिन भी मुझे यह विश्वास नही था कि आप क्रोध करे, अप-शब्द कहें और मुझे गुस्सा न आये, और तीसरे दिन, इस सोपान को पार कर लेने पर भी मुझे शका थी कि कही आप क्रोध करें, शारीरिक कष्ट दें, मारें-पीटे और मुझे क्रोध आ जाये। किन्तु आज जब मुझे क्रोध नहीं आया, तभी मैं कह सका कि मुझे पाठ याद हो गया है।"

द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को छाती से लगा लिया और कहा—"वत्स ! सही अर्थों मे तुमने ही विद्या के मर्म को जाना है। विद्या केवल स्मरण कर लेने मात्र से ही फलवती नही होती, अपितु व्यावहारिक जीवन मे क्रियान्वित करने पर ही होती है।"

उत्तराध्ययनसूत्र मे केशीकुमार श्रमण के लिए कहा गया है—**विज्जाचरण-पारगा** अर्थात् वे विद्या (ज्ञान) और चारित्र मे पारगत थे। थोथे ज्ञानी या बातें बघारने वाले ज्ञानी नही थे।

विद्यावान वह, जो गीतार्थ हो

साधुओ मे विद्यावान उसे नही कहा जाता, जो व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, अलकार, छन्द या अनेक भाषाओ का ज्ञाता या विद्वान हो, परन्तु विद्यावान उसे कहा जाता है, जो गीतार्थ हो। जिसे आत्मविद्या एव आत्मशुद्धि की प्रेरणा देने वाली विद्या का सक्रिय, अनुभूतिसहित अध्ययन हो, जैसे आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, भगवतीसूत्र आदि अध्यात्मविद्याविषयक शास्त्र हैं, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार-सूत्र और निशीथसूत्र आदि चार छेदसूत्र आत्मशुद्धिविषयक शास्त्र है, इनका जो स-रहस्य ज्ञाता हो, वह गीतार्थ कहलाता है और जो गीतार्थ होता है, वही सच्चे माने मे विद्यावान है।

अविद्यावान की सेवा मे न रहें

जैनशास्त्रो मे बताया गया है कि साधु को गीतार्थ के निश्राय मे विचरण करना चाहिए, अगीतार्थ के निश्राय मे नही, क्योकि अगीतार्थ अविद्यावान होता है, वह पाप-दोषो से अपनी आत्मा को बचा नही सकता और न ही दूसरो को पाप-दोषो

से बचा सकता है। जहाँ शुद्ध विद्या होती है, वहाँ आत्मा को पाप आदि से बचाने का प्रयत्न अवश्य होता है। विद्या (ज्ञान) सम्यक् हो तो आचरण मे दृढ़ता आती है।

कई लोग आजकल कहते है—'ज्यादा जाणे सो ज्यादा ताणे' परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि जो गलत बात की खीन्च-तान करता है, क्या उसका ज्ञान सही ज्ञान है ? यहाँ अधिक जानकारी और विद्वत्ता का अन्तर हम समझ लेना चाहिए। विद्वान् व्यक्ति यदि हठाग्रही या दुराग्रही है, अपनी गलत बात को सत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है, तो समझ लेना चाहिए, वह विद्यावान (ज्ञानी) नही है, सुविद्यावान किसी से व्यर्थ उलझना नही, और न ही गलत बात को गलत समझने पर भी पकडे रहता है। अविद्यावान ही हठाग्रही या पूर्वाग्रही होता है। उसके साथ रहने वाला भी वैसा ही हठाग्रही, पूर्वाग्रही या जिद्दी बन जाता है।

हाँ, तो मैं कह रहा था, जो अविद्यावान है, वे चाहे कितने ही साक्षर हो, पण्डित हो, लेकिन यदि वे दम्भ-क्रिया करते है; गीतार्थ नहीं है या पण्डित मानी हैं, पापकर्मों म आसक्त है, शरीर मे तथा अपने वर्ण और रूप म आसक्त है, मन-वचन-काया से पराधीन है, वे सब अपने लिए नाना दु खो के उत्पादक हैं।

एक अगीतार्थ आचार्य थे, वे प्रतिदिन दोषयुक्त आहार ले आते थे, क्योकि उनमे शरीरासक्ति ज्यादा थी, आत्मभाव कम था। उनके एक साधु सन्ध्या समय प्रतिक्रमण वेला म सविग्न साधु की तरह उसके लिए बहुत खेद करते, सभी पापो की आलोचना करते, अगीतार्थ गुरु भी उन्हें प्रतिदिन उसका प्रायश्चित्त देते थे। प्रायश्चित देते समय अगीताथ गुरु उस शिष्य की अत्यन्त प्रशसा करते—देखो, यह साधु कितना त्यागी, वैरागी, धर्मश्रद्धालु एव भाग्यवान है, दोषो की आलोचना करना बहुत दुष्कर है। अत यह शुद्ध है।

आचार्य का यह व्यवहार देखकर दूसरे साधु सोचने लगे—पाप-दोष लग जाये तो कोई बात नही, परन्तु अकृत्य करके उसकी आलोचना कर लेनी चाहिए, वही अच्छा मार्ग है। अत उस सविग्न-सरीखे साधु की देखा-देखी सभी साधु अकृत्य करके उसकी आलोचना कर लेते। यो करते काफी समय बीत गया। एक बार एक गीतार्थ साधु वहाँ आये। वे अतिथि रूप मे आये थे। जब उन्होने अगीतार्थ आचार्य की गतिविधि देखी तो उन्हें अत्यन्त खेद हुआ। सोचने लगे—इन अगीतार्थ साधु ने सारे गच्छ का पतन कर दिया है। अवसर देखकर उक्त गीतार्थ साधु ने एक दिन बहुत विनयपूर्वक अगीतार्थ आचार्य से कहा—आप तो प्रतिदिन इन अकृत्यसेवी साधुओ की प्रशसा करके अपनी आत्मा का तथा इन साधुओ का उसी तरह सत्यानाश कर रहे है, जिस तरह गिरिनगर के राजा आदि ने अग्नि-उपासक वणिक् की प्रशसा करके किया था।

अगीतार्थ आचार्य ने जिज्ञासापूर्वक पूछा—राजा आदि ने अग्नि-उपासक वणिक् की किस प्रकार प्रशंसा करके सत्यानाश कर दिया था ?

गीतार्थ साधु बोले—गिरिनगर का कोटीश्वर वणिक् अग्नि-उपासक था। वह प्रतिवर्ष एक कमरा रत्नो से भर कर उसमे आग लगा देता था। उसकी यह चर्या देखकर अविवेकी एव अदूरदर्शी राजा तथा सभी नागरिक उसकी बहुत तारीफ करने लगे कि यह सेठ अग्निदेव का कितना भक्त है कि प्रतिवर्ष रत्नो से पूर्ण कमरे मे आग लगा कर जला देता है। इस अदूरदर्शी प्रशसा का यह फल हुआ कि एक वर्ष जैसे ही उस कोटिध्वज ने रत्न-परिपूर्ण कमरे मे आग लगाई, प्रचण्ड हवा के कारण आग की लपटें दूर-दूर तक चली गई, जिससे राजा के महल तथा सभी खास-खास मकान जलकर खाक हो गये। तब राजा एव नागरिको ने विचार किया कि इसे हमने पहले ही निषेध किया होता तो आज इतना नुकसान न होता। हमने इसकी व्यर्थ ही प्रशसा की, जिसका नतीजा हमे भोगना पडा। यो सोचकर राजा ने उस बनिये को नगर से निकाल दिया।

इसी प्रकार आचार्यश्री जी! आप भी अकृत्यसेवी साधुओ की केवल थोथी आलोचना विधि देखकर प्रशसा करते है। फलत' आप न तो अपनी आत्मशुद्धि कर पाते है, न इनकी ही! स्व-पर का अकल्याण ही करते हैं। अत आप मथुरा नगरी के सतर्क राजा एव नागरिकों की तरह अनर्थभागी न हो, सावधान हो जाएँ, ऐसी मेरी नम्र प्रार्थना है आपसे।

मथुरा नगरी म भी एक अग्नि-उपासक बनिया था। वह भी रत्नो से कमरा भरकर उसम आग लगाने लगा। दूरदर्शी राजा एवं नागरिको ने उसका यह कृत्य देखकर तुरन्त उसे रोका, उसके इस गलत कार्य की भर्त्सना की और दण्डित भी किया। सब कहने लगे—आग लगाना हो तो जगल मे घर बनाकर उसमे लगाओ, यहाँ नही। यो कहकर उसे नगर से निकाल दिया। इसी प्रकार आचार्यश्री! आप भी अभी से इन साधुओ को अकृत्य करने से रोकेंगे तो अपनी आत्मा एव गच्छ को महान् अनर्थ से बचा लेंगे। इस प्रकार युक्तिपूर्वक निवेदन करने पर भी अगीतार्थता के कारण हठाग्रही आचार्य ने अपना कदाग्रह नही छोडा, उसी प्रकार वे प्रवृत्ति करते रहे। अतिथि गीतार्थ साधु ने फिर उन अगीतार्थनिश्रित साधुओ से कहा—"ऐसे अविद्याग्रस्त गुरु की सेवा मे रहने से आप लोगो का कल्याण कैसे होगा? अत इन्हें छोडो, अन्यथा ये तुम्हें पतन की ओर ले जायेंगे।" सभी साधुओ ने गीतार्थ साधु की बात पर गम्भीरता से विचार करके उन अगीतार्थ आचार्य का त्याग कर दिया।

बन्धुओ! इसी प्रकार किसी भी अविद्याग्रस्त व्यक्ति की सेवा या संगति नही करनी चाहिए अन्यथा वह गलत मार्ग पर चढा देगा, स्वयं भी पाप में डूबेगा, सेवक को भी डुबायेगा। अविद्यावान धर्माधर्म का विवेक नही कर सकता, इस कारण अपने अनुगामियो या सेवको को भी उलटे मार्ग पर प्रेरित कर सकता है। स्वय देहाध्यासी होगा तो दूसरो को भी देहासक्ति से ऊपर उठने की प्रेरणा नहीं दे सकेगा। इसीलिए महर्षि गौतम ने अमूल्य नैतिक प्रेरणा दी है—

न सेविअव्वा पुरिसा अविज्जा।

७१. अतिमानी और अतिहीन असेव्य

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष एक ऐसे असतुलित जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जो या तो अत्यन्त अहकारी होता है, या फिर अत्यन्त हीनता का अनुभव करता है। इन दोनो अतियो के शिकार बने हुए लोगो की छाया से दूर रहने का सकेत महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र मे किया है। गौतमकुलक का यह ५७वाँ जीवन-सूत्र है। वह इस प्रकार है—

न सेवियव्वा अइमाणी-हीणा

—अतिमानी और अत्यन्त हीन पुरुषो का सग या सेवन नही करना चाहिए। अथवा अभिमानी और नीच पुरुषो की सेवा नही करनी चाहिए।

इस जीवनसूत्र मे दो अर्थ गर्भित है—(१) अतिमानी और अतिहीन पुरुष असेव्य है, (२) अभिमानी और नीच पुरुष असेव्य हैं।

आइये, इन दोनो अर्थों के प्रकाश मे हम इस जीवनसूत्र पर चिन्तन कर लें—

न अतिमानी अच्छा, न अतिहीन अच्छा

अत्यधिक अहकारी व्यक्ति का जीवन भी निर्दोष और शुद्ध नही होता, उसमे भी अहकार के साथ क्षुद्रता, ईर्ष्या, कुढन, असतोष, द्वेष, झूठ, फरेब, झूठी महत्त्वाकाक्षा आदि दुर्गुण और दोष आजाते हैं। साथ ही अतिहीन जीवन भी निर्दोष और विशुद्ध नही होता, उसमे हीनभावना के साथ-साथ दब्बूपन, निरुत्साहता, अप्रसन्नता, मायूसी, प्रतिकारहीनता, साहस का अभाव आदि दुर्गुण आ जाया करते है। इसलिए दोनो की अति जिसमे हो, उसका ससर्ग या सेवन यहाँ वर्जित बताया गया है।

अतिमानी का सग इसलिए भी वर्जित बताया गया है कि उसके सग से व्यक्ति मे अह की मात्रा बढ जाती है और वह अहकार से फुटबाल की तरह फूल जाता है। इसी प्रकार अतिहीन व्यक्ति स्वय हीनभावना का शिकार होता है, इसलिए उसकी छाया मे रहने वाले व्यक्तियो मे अकर्मण्यता, मायूसी, उदासी, किंकर्तव्यविमूढता आदि दुर्गुण प्रविष्ट हो जाते है।

एक रोचक सवाद इस सम्बन्ध मे सुन्दर प्रकाश डालता है—

पहाडी के एक मोड से गुजरती एक व्यस्त सडक के किनारे पड़ी एक भीमकाय चट्टान ने अपने पास मे ही पड़ी सुस्त और हीनभावना ग्रस्त एक छोटी चट्टान से

कहा—"देख, मैं कितनी विशाल हूँ, अजेय हूँ। तुम तो छोटी-सी हो, तुम्हें तो हर कोई चूर-चूर कर सकता है, उठाकर एक ओर पटक सकता है, पर मेरी शक्ति के समक्ष सभी परास्त हो जाते हैं, मुझे चूर-चूर करना तो दूर, उठाकर फेंकना भी टेढ़ी खीर है। अत. मैं महान् हूँ, अपराजिता हूँ, मैं चाहूँ तो यात्रियो की राह बदल सकती हूँ, सघन मेघमालायें मुझ से टकराते ही पानी-पानी होकर बरस पडती हैं।"

छोटी चट्टान ने बडी मायूसी और उदासी के स्वर मे कहा—"बहन ! मैं तो इस विशाल सृष्टि मे अत्यन्त तुच्छ हूँ। मैं शक्तिहीन और क्षुद्र चट्टान भला क्या कर सकती हूँ। मेरा अस्तित्व कुछ भी नही है। और फिर दुनिया मे स्थायी कौन रहा है ? सभी एक दिन नामशेष हो जाते है। जो बना है, वह एक दिन मिटेगा ही। फिर इस बल, रूप आदि का अभिमान करने से क्या फायदा ?"

बडी चट्टान ने और अधिक गर्वगर्जना के साथ कहा—"रहने दे, तेरा उपदेश। तू तुच्छ नाचीज और निर्बल मुझे क्या समझाती है। कल ही देख लेना, मेरे बल और चमत्कारी व्यक्तित्व का प्रभाव।"

और रात्रि के सघन अन्धकार मे बडी चट्टान ने छोटी चट्टान के इन्कार करने और समझाने के बावजूद भी अपनी जगह बदल ली और छोटी चट्टान को कायर, दब्बू और नीच कहती हुई मार्ग के ठीक बीचोबीच आ गई। अब क्या था। सारा यातायात ठप्प हो गया। सडक के दोनो ओर लगभग एक मील तक पैदल यात्री, सवारी गाडियाँ, कारे, ट्रकें, बसे पक्तिबद्ध खडी थी। सभी चिन्तित, व्यथित होकर मुँह लटकाये खडे थे। चट्टान को हटाने की सभी कोशिशे विफल हो गई। और वह चट्टान अपने मिथ्याभिमानवश मुस्करा रही थी।

छोटी चट्टान ने उससे सविनय कहा—"बहन ! अपने जीवन का इस तरह दुरुपयोग करके दूसरो की राह मे बाधा डालने से क्या लाभ है ? तुम बडी हो तो बडे काम करके दिखाओ।"

किन्तु बडी चट्टान अपने घमड मे अडी रही। उसने सुनी-अनसुनी कर दी और मार्ग के बीच म बिना हिले-डुले लेटी रही।

यातायात रुकने से वहाँ मेला-सा लग गया था। उस जमघट मे दो यात्री ऐसे थे, जो बारूद लगाने का काम करते थे। वे आगे बढे और जाच पडताल के बाद उन्होने आत्मविश्वासपूर्वक अपनी छैनी-हथौडी निकाली और उस विशाल चट्टान मे छेद करने लगे।

इतना होने पर भी मूर्ख चट्टान कुछ भी समझ न पाई। उसने पुन सगर्व गर्जकर कहा—"कौन मेरा अस्तित्व मिटा सकता है ? अरे ! इन खीलो से ये क्या, इनसे बडे भी आ जायें, तो भी मेरी विशाल और सुदृढ़ काया को नही तोड सकेंगे। ये दु साहसी वर्षों तक छैनी-हथौड़े चलाते रहें, तो भी मुझे संदेह है कि मेरा कुछ बिगाड़ पायेंगे।"

सूराख करते ही दोनों युवकों ने उसमे बारूद भर दी । फिर उन्होने कुछ दूर जाकर सूराखो से जुडी बत्तियो मे आग लगा दी । तत्काल एक तेज विस्फोट हुआ । सारी पहाडी कॉप उठी, चारो ओर धुंआ उठने लगा और वह गर्वीली चट्टान टुकडे-टुकडे हो गई । उसका अस्तित्व अब ऐसा हो गया कि छोटे बच्चो की टोली भी उसे आसानी से इधर-उधर फेंक सकती थी । बडी चट्टान का मिथ्या गर्व चूर-चूर हो गया । परन्तु छोटी चट्टान निरुत्साह और कायर होकर वही पडी रह गई, वह कोई भी परोपकार का उपक्रम न कर सकी ।

ये दोनो चित्र दो प्रकार की अतियो से ग्रस्त जीवन के प्रतिनिधि हैं । इन दोनो ही प्रकार के जीवन उपादेय नही हो सकते और न ही अनुकरणीय हो सकते है ।

अगर किसी की आँखो म दूर की रोशनी न हो तो वह भी ठीक नही होता, साथ ही किसी की आँखो मे नजदीक की रोशनी न हो तो वह भी उचित नही । जिन आँखो म दूर की चीज देखने की शक्ति नही होती, वे आँख केवल अपन नजदीक की चीजो को स्पष्ट देख पाती है । इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मन-मस्तिष्क म गौरव ग्रन्थि (Superiority Complex) का रोग हो, अह के हाथी पर चढा हुआ वह मानव केवल अपने और अपने निकटवर्ती सम्बन्धियो को ही दख पाता ह, दूरवर्ती विश्व के प्राणियो को नही । उसका सबसे निकटवर्ती है—अह—मैं और मरा (मम) । इसी प्रकार जिस म लाघवग्रन्थि (Inferiority Complex) का रोग लग गया हो, वह दूर की वस्तुओ को देख पाता है, निकटवर्ती वस्तुओ को नही । अर्थात् भूतकालीन व्यक्ति अन्य देशीय व्यक्ति अथवा भविष्यकालीन बातो को वह बढ़ा-चढ़ाकर देखता है, परन्तु वर्तमानकालीन या अपने से निकटवर्ती वस्तुओ या व्यक्तियो को नही देख पाता । वह अपनी जगह बैठा बैठा हीनभावनाओ से पीडित होकर अपने उत्थान की बात नही सोच सकता । अपने जीवन-विकास के लिए प्रयत्न करने मे वह हिचकिचाता ह । वह अपन आपका ठीक मूल्याकन नही कर पाता । दूर क डूगर सुहावने लगते है उसे । वह अपन मे किसी महापुरुष के बनन की योग्यता, क्षमता और शक्ति नही पाता ।

इस प्रकार गौरवग्रन्थि और लाघवग्रन्थि ये दोनो मानसिक रोग है, दोनो ही अपने जीवन के विषय मे स्वस्थ दृष्टिकोण नही रखते । दोनो अपना ठीक-ठीक मूल्याकन नही कर पाते । एक अपना मूल्याकन बहुत अधिक कर लेता है, उसे दुनिया के दूसरे लोग दिखते ही नही । दूसरा अपना मूल्याकन बहुत ही कम करता है उसकी दृष्टि मे दूसरे बहुत महान् दिखते है, भूतकालीन लोग या भविष्यकालीन लोग उसकी दृष्टि मे अधिकाधिक बुद्धिमान, शक्तिमान, भक्तिवान या चारित्रवान जचते हैं, वर्तमानकालीन लोग अल्पातिअल्प लगते है । या उसको स्वय वह अत्यन्त तुच्छ, अशक्त, निकृष्ट, अयोग्य, अक्षम या अकर्मण्य लगता है ।

सत विनोबा भावे ने एक बार कहा था—"ससार मे दो तरह के पाप (पाप-

युक्त व्यक्ति) है। एक की गर्दन जरूरत से ज्यादा तनी हुई है—घमड के कारण, अभिमान के कारण और दूसरे की गर्दन जरूरत से ज्यादा झुकी हुई है—दीनता से, दुर्बलता से। ये दोनो ही पापी हैं। एक उन्मत्त है, दूसरा दबैल—दुर्बल।

वैसे गर्दन सीधी भी होनी चाहिए, लचीली भी, लेकिन तनी हुई न हो, और न अत्यन्त झुकी हुई हो। इसीलिए आचाराग सूत्र मे बताया गया है—'नो हीणे नो अइरित्ते'—अपने आपको न अत्यधिक हीन माने और न ही अत्यधिक अतिरेकी।

निष्कर्ष यह है कि गौरव-भावना का शिकार हो या हीनभावना का शिकार—ये दोनो ही अपने आप मे पापयुक्त हैं, दोनो ही स्वस्थ और शुद्ध जीवन के प्रतीक नही है। इसलिए इन दोनो का मम त्याज्य समझना चाहिए।

अब हम विभिन्न पहलुओ से प्रत्येक का विश्लेषण करते हैं—

अतिमानी . आसुरी शक्ति का पुजारी

प्रत्येक कार्य मे, कभी सफलता और कभी असफलता भी मिला करती है। असफलता मिलती है तो मनुष्य सोचने को मजबूर हो जाता है कि उसने कहाँ गलती की है ? मुझे कहाँ क्या सुधार करना चाहिए ? क्या करना उचित था ? अपनी गतिविधियो मे नम्रतापूर्वक सुधार कर लेने पर जहाँ बिगडे काम के बनने की सभावना बन जाती है, वहाँ सबसे बडा लाभ यह होता है कि मनुष्य को अपनी वृत्तियो और आदतो को सुधारने का अवसर मिलता है। यही सुधार सफलता का व्यवस्थित प्रशिक्षण देकर भविष्य की प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

इस तरह असफलता प्राय मनुष्य को नम्र और सहृदय बनाती है, कटुवादी सहृदय मित्र की तरह लाभदायक सिद्ध होती है। परन्तु सफलता मिलती है तो दूसरे लोग उसकी प्रशसा करते है और व्यक्ति सफलता के नशे म हर्ष से उन्मत्त हो जाता है, उसका हौसला बढ जाता है, ये और इस प्रकार के सफलता के लाभ सर्वविदित है। लेकिन उसमे एक बुराई भी छिपी रहती है, जो दिखने मे तो छोटी दिखाई देती है, किन्तु उसके दुष्परिणामो को देखते हुए वह बहुत भयकर प्रतीत होती है। यदि उसकी ओर से सावधान न रहा जाये तो वह बहुत हानिकारक भी सिद्ध होती है। इस बुराई का नाम है—अभिमान या अहकार। सफलता पाकर मनुष्य इतराने लगता है, वह अपनी औकात भूल जाता है, अपनी गलतियो का सशोधन नही करता है, सफलता के मद मे वह सोचने लगता है—मैं बडा बुद्धिमान, चतुर और पुरुषार्थी हूँ। मै हर दिशा मे शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सकता हूँ।

मनुष्य जब गौरवग्रन्थि से ग्रस्त हो जाता है, तब वह अपने आपको सबसे बढ़कर उच्च, महान् और श्रेष्ठ समझने लगता है, अपने आसपास के तथा अपने समाज एव राष्ट्र के अन्य व्यक्तियो को अपने से तुच्छ एवं हीन समझने लगता है। वह जरा-सी प्रभुता पाकर मद मे छलकने लगता है। अहत्व अभिमान, दर्प या अहकार से पीडित

मानव परिवार, समाज, राष्ट्र या धर्मसम्प्रदाय मे अपने अलावा अन्य किसी को महत्त्व नही देता।

मनुष्य मे आत्मविश्वास का होना अलग बात है, अहकार उससे सर्वथा भिन्न है। आत्मविश्वास और अहकार मोटे रूप मे एक-से दीखते है, मगर इनमे जमीन-आसमान-सा अन्तर होता है। जैसे कायरता और अहिंसा एक-सरीखी लगती है, पर दोनो की मनोदशा मे दिन-रात जैसा भेद रहता है। आत्मविश्वास एक आध्यात्मिक गुण है, जिसका अर्थ होता है—कर्त्तव्यमार्ग पर दृढ रहना, कठिनाइयो म तनिक भी विचलित न होना। आत्मविश्वासी आत्मा की महत्ता मानते हुए भी सावधानी, परिश्रम, अन्तर्निरीक्षण, अध्यवसाय, परिस्थितियाँ, अन्य का सहयोग, जागरूकता आदि बातो पर सफलता को अवलम्बित समझता है, तथा फलाकाक्षा की परवाह न करके अपन सुनिश्चित पथ पर बढता चला जाता है, जबकि गर्वग्रन्थि या अहकार से ग्रस्त व्यक्ति जरा सी सफलता पाकर सोचने लगता है—मैं ही सब कुछ हू, मुझ मे कोइ त्रुटि नही, मेरी बुद्धि सारी दुनिया से बढकर है, मैं जो चाहूँ, चुटकी बजाते ही पूरा कर सकता हू। दर्प-सर्प से दशित व्यक्ति अपनी शक्ति, क्षमता, योग्यता और प्रकृति का बिना मूल्याकन किये अपनी ताकत का पूरा नाप-तौल किये बिना ही कठिन काय प्रारम्भ करन की धृष्टता कर बैठता है, उसके अन्तर्मन मे महत्त्वाकाक्षा, पदलोलुपता या अधिकारलिप्सा इतनी प्रबल हो जाती है, कि वह उस महत्वपूर्ण कार्य म दूसरो क सहयोग, सावधानी, जागरूकता, परिस्थिति आदि की बिलकुल उपेक्षा कर डालता है। फलत जब उस कार्य म असफलता मिलती है तो तिलमिलाने लगता है। वह अपने उपादान का दोष न देखकर निमित्तो को दोष देने लगता है। अहकार को मद इसलिए कहा गया है कि जसे नशीली चीजे खाने से मनुष्य म उन्मत्तता आ जाती है, उसी प्रकार एक छोटी-सी सफलता पाकर मनुष्य मे उन्मत्तता आजाती है, उसका दिल-दिमाग अपने काबू म नही रहता। वह मामूली-सा पद, लाभ, श्रेय या महत्त्व पाकर इतराने और बौरान लगता है। उसकी अकड उद्दण्डता और अशिष्टता के रूप म चेहरे पर झलकती रहती है। दोहावली मे कहा है—

छाती निकली ही रहे, तना रहे भ्रूभग।
'चन्दन' मिथ्या मान का, छिपा न रहता रग।।
चढे हुए रहते सदा, अभिमानी के नैन।
सम्मुख कम ही देखते, दिन हो, चाहे रैन।।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अहकारी के लिए सुन्दर प्रेरणा देते हैं—"धुआ आसमान से शेखी बघारता है और राख पृथ्वी से कि हम अग्निवश के हैं।"

अतिमानी से सद्गुणो का पलायन

इसी प्रकार अतिमानी व्यक्ति जरा-सी सिद्धि या सफलता पाकर सज्जनता का

पथ छोड़कर उद्धतता को अपना लेता है। परन्तु यह उद्धतता किसी से भी बर्दाश्त नही होती। सभी को अहकार बुरा लगता है। भले ही कोई उसका तत्काल विरोध न करे, पर अवसर आने पर अहकारी का कोई भी सच्चा मित्र नही रहता। चापलूस और खुशामदी लोग जो अपने मतलब के लिए उसके नाक के बाल बने हुए थे, समय आते ही अगूठा बता देते है।

अहकारी के मन से सब सद्गुण उसी प्रकार विदा होने लगते है, जिस प्रकार तालाब का पानी सूखने पर उसके तट पर रहने वाले पक्षी अन्यत्र चले जाते है। अहकार से अन्य दुर्गुणो का पोषण होता है, जो मनुष्य को भवबन्धनो मे जकडने मे कठोर लोहशृखला का काम करता है। घमडी आदमी मे वे सब दुर्गुण पैदा हो जाते है, जो किसी असुर या गुण्डे मे होते है। असुरो या गुण्डो का अहकार प्रारम्भ मे विकृत होता है, बाद मे वे दूसरो को तुच्छ समझने लगते है। वे अपने कार्य मे जरा-सा व्याघात होते ही सर्पदश-सा अनुभव करने लगते है और तुरन्त विषैले साँप की तरह अनर्थ करने पर उतारू हो जाते हैं। एकाध बार ऐसे अनर्थों मे सफलता मिलने पर तो वे पूरे नरपिशाच बन जाते है। डाकुओ और हत्यारो मे लोभवृत्ति इतनी प्रबल नही होती जितनी अहता। अहकार का प्राबल्य ही अधिक होता है, उनमे। अहता को ही असुरता का प्रतीक माना गया है। यदि अपराधियो के मस्तिष्क से अहकार का तत्त्व निकाला जा सके तो वे शीघ्र ही अच्छे मानव बन सकते है।

अहकार मनुष्य को इतना स्वार्थी बना देता है कि वह केवल अपने गुण और वैभव ही नही, उनका लाभ भी दूसरो को नही देता। इतना ही नही बल्कि अपने अहकार की तृप्ति के लिए वह दूसरे की विशेषताओ तथा विभूतियो का भी शोषण करने का प्रयत्न करता है। सारे सघर्ष, लडाई, झगडे, राग-द्वेष इसी कारण है कि अभिमानग्रस्त मानव अपने आप को सबसे आगे देखने का यत्न करता है और दूसरे को पीछे। इस आगे-पीछे के सघर्ष से ही ये विषाक्त बाते फूट पडती है। अपनी पहल करना अभिमानी का नियम है।

अहकार का अर्थ है—अपने तक सीमित रहने की सकीर्णता। अहकारी का असहयोगी होना स्वाभाविक है। वह सब कुछ अपने लिए ही करना चाहेगा, अपने लिए ही सग्रह करेगा, केवल अपनी ही सुख-सुविधा पर दृष्टि रखेगा, तब भला वह दूसरो के सुख-दुःख मे, दूसरो की उन्नति और जीवन-यापन मे किस प्रकार सहायक और सहयोगी हो सकता है?

अहकारी यहाँ तक सोचता है कि मैने अपना विकास स्वय ही किया है, मैने समाज से कोई सहयोग नही लिया। समाज के ऋण और सहयोग का महत्त्व भूलकर यदि कोई इतराता है, और अहकारी बनकर मदोन्मत्त होता है तो यह उसकी तुच्छता और असुरता है। अहकार ही तो असुरता का प्रधान लक्षण है। मनुष्य मे जितना अधिक अहकार होता है उतनी ही गहरी आसुरी वृत्ति होती है। दुष्टता का जन्मदाता

अगर कोई है, पाप का मूल अगर कोई है तो कहना चाहिए वह अहकार ही है। पतन की ओर ले जाने वाली जितनी भी प्रवृत्तियाँ है, वे सब पाप ही तो है। अहकार से दूषित मनुष्य की गतिविधि कुछ इसी प्रकार की होती है।

अहकार से प्रेरित व्यक्ति की गति चाहे तीव्र हो, पर वह प्राय. पापकारी होती है, कल्याणकारी नही। वह अपने अहकार को तृप्त करने के लिए दूसरो पर अत्याचार अन्याय करता है, शोषण करता है, उन्हें पैरो तले रौंदता है अपने अहत्व की शेखी मे आकर दूसरो को दबाता—सताता है, प्रभुता का मद उसकी बुद्धि पर काला-घना स्वार्थ और मोह का पर्दा डाल देता है।

मैं ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा आपको समझाने का प्रयत्न करूँगा कि अति-मानी मनुष्य किस प्रकार मानवता को भूलकर असुरता को अपना लेता है?

बात अधिक पुरानी नही है। कच्छ के समुद्रतटवर्ती कुन्दनपुर नगर के कोटी-श्वर एव धर्मात्मा श्रेष्ठी हीरजी शाह का इकलौता लाडला पुत्र था—नवलकुमार। सेठ हीरजी शाह और सेठानी चारुमती के बड ही मनोरथो के बाद नवल का जन्म हुआ था। नवल कुछ बडा हुआ तब सेठ ने उसे कलाचार्य क पास अध्ययन करने हेतु भेजा। नवल स्वस्थ एव सुन्दर था, किन्तु वह स्वभाव मे था—उच्छृखल और अहकारी। 'पुरुष नारी से श्रेष्ठ है' यह दुर्भावना उसमे घर कर गई थी। कुछ सहपाठी मित्र भी उसे ऐसे मिल गये जो दुष्ट स्वभाव के थे, और नवल की दुर्भावना का समर्थन करते रहते थे। एक-दो मित्र ही ऐसे सच्चे थे, जो नवल को सुपथ पर लाना चाहते थे, किन्तु नवल पर उनके परामर्श का कोई असर नही होता था।

अहकारी नवल ने एक दिन अपने मित्र के समक्ष अपने अहकार प्रेरित उद्गार निकाले—"सारे शास्त्र पढकर मैंने तो एक ही निष्कर्ष निकाला है कि नारी ही सारे अनर्थों की जड है।" सन्मित्र ने कहा—नवल! तुमने शास्त्र पढे ही नही है। शास्त्र मे तो कहा गया है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता

—जहाँ नारियो की पूजा होती है, वहाँ दिव्य पुरुष क्रीडा करते हैं।

नवल ठहाका मारकर बोला—"यह तो नारियो के गुलामो का कथन है। मैं ऐसी अनुभवहीन उक्तियो को नही मानता।"

मित्र— "तो फिर यो कहो न, कि मैं शास्त्रो को नही मानता।"

नवल—"मै तो उन जीवन्त इतिहासो को मानता हूँ, जिनमे स्त्री द्वारा हुए सर्वनाश की बाते लिखी ह। जैसे सीता के कारण राम-रावण युद्ध हुआ, द्रौपदी के कारण महाभारत हुआ।"

मित्र—"तुमने तो भारत का इतिहास विपरीत ढग से पढा है। नारी स्वय पूज्य है, शक्ति और भक्ति है। स्त्री की रक्षा सस्कृति की रक्षा है। स्त्री की मृदु मुस्कान और मधुरता के आगे तुम भी झुक जाओगे।"

नवल—"मैं स्त्री का दास नही। मैं तो अपनी पत्नी के नित्य ५ जूते मारा करूँगा। मेरी दृष्टि मे स्त्री इसी योग्य है।"

मित्र—"फिर हो गया तुम्हारा विवाह ! कौन लडकी ऐसी होगी, जो प्रतिदिन जूते खाने के लिए तुम्हारी पत्नी बनेगी।"

नवल ने आवेश मे आकर कहा—"न होगी तो न सही। मेरी प्रतिज्ञा यही है कि जो स्त्री प्रतिदिन ५ जूते खायेगी, उसी के साथ मैं शादी करूँगा।"

नवल के सदाचारी मित्र ने उसे कोई जवाब नही दिया, वह उठकर वहाँ से चल दिया।

सहपाठी मित्र अपने अच्छे स्वभाव के कारण नवल को यदा-कदा समझाता था, किन्तु नवल की हृदयरूपी काली चादर पर कोई भी रग न चढा।

नवल-विवाह योग्य हो गया था। अनेक श्रेष्ठी अपनी कन्याओ का विवाह-प्रस्ताव लेकर हीरजी शाह के पास आते लेकिन नवल ने अपनी प्रतिज्ञा सेठ हीरजी को बताई तो सेठ ने अपना माथा ठोक लिया और मन ही मन कहा—'ऐसे कुपुत्र के होने मे तो निसतान होना अच्छा। इसके साथ कौन कन्या विवाह करने को तैयार होगी।'

नवल की जूते मारने की प्रतिज्ञा दूर-दूर तक फैल गई। लकिन नवल को इसकी चिन्ता नही थी। उसका अहकार इस दुराग्रह को कतई छोडने को तैयार न था।

सयोगवश एक व्यापारी सेठ सपरिवार कुन्दनपुर आये। वे पाथशाला म ठहरे। साथ मे उनकी गुणवती कन्या रम्भा भी थी। वे कन्या की सगाई करना चाहते थे। इसलिए सेठ हीरजी के पास आये। वहाँ नवल को देखकर वे मुग्ध हो गये। अपनी कन्या के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा तो सेठ हीरजी ने नवल की कठोर और अमानवीय शर्त रखी। इस पर वह व्यापारी सेठ निराश होकर चला गया।

रम्भा के पिता ने पाथशाला मे पहुँचकर सारी बात कही। रम्भा ने भी नवल की प्रतिज्ञा सुनी तो वह बोली—"पिताजी ! श्रेष्ठि-पुत्र की शर्त मुझे मजूर है। मैं उसके साथ विवाह करूगी।"

पिता—"बेटी ! मैं कठोर-हृदय होकर तुम्हें उस नालायक के गले कैसे मढ सकता हूँ ? क्या धरती पर सुन्दर वरो का दुष्काल है ?"

रम्भा—"पिताजी ! आपकी पुत्री की बुद्धि की कसौटी का यह अवसर है। मैं अपने प्रयत्न से श्रेष्ठि-पुत्र को सुपथ पर ले आऊगी और ऐसा उपाय करूगी, जिससे वह स्वय प्रतिज्ञा को तोड दे। तभी तो मैं नारी की महत्ता स्थापित कर सकूँगी।"

रम्भा की बुद्धिमत्ता पर उसके माता-पिता को पूर्ण विश्वास था, फिर भी उन्होने सब तरह से उसे समझाने का प्रयत्न किया। उसका दृढनिश्चय जानकर

उसका पिता श्रीफल लेकर हीरजी सेठ के पास पहुँचा और कहा—"सेठजी ! मेरी पुत्री को आपके पुत्र की शर्त मजूर है। आप यह श्रीफल स्वीकार करके सगाई पक्की कर लीजिये।"

सेठ को इस अनहोनी बात पर साश्चर्य प्रसन्नता हुई और नवल की सगाई रम्भा के साथ पक्की कर ली। शुभ मुहूर्त मे बडी धूमधाम से श्रेष्ठिपुत्र नवल का विवाह श्रेष्ठिकन्या रम्भा के साथ सोल्लास सम्पन्न हो गया।

विवाह के बाद की पहली रात हँसी-खुशी से बीती। रम्भा ने अपने विनीत और मधुर स्वभाव से नवल को प्रभावित करने का प्रयास किया। प्रात होते ही नवल ने जब रम्भा को जूते खाने की प्रतिज्ञा याद दिलाई तो मृदु मुस्कान के साथ रम्भा ने कहा—"स्वामी ! आज रहने दे। हमारे विवाह के बाद का आज पहला प्रभात है। मैं चाहती हू, यह प्रभात किसी अशुभ कार्य से न हो। मेरे मस्तक से पहले आपका हाथ अपवित्र होगा। अत आज के बदले कल १० जूते मार लेना। इसके अतिरिक्त मुझे सन्तुष्ट करना भी तो आपका धर्म है।"

नवल ने यह सोचकर सहमति प्रगट की कि कल मैं १० जूते आज के बदले मार ही दूँगा। उसकी एक भी बहाने बाजी न चलने दूँगा।

पहला दिन टला। दूसरे दिन सवेरे फिर नवल ने कहा—"तैयार हो जाओ दस जूते खाने के लिए। आज तुम्हारी बात नही मानू गा।" बुद्धिमती रम्भा ने पूछा—"किसके जूते मारने की शर्त थी आपकी ?"

नवल—"अपनी पत्नी के।"

रम्भा—"अभी आप पूर्णरूप से मेरे पति नही बने है। पूर्ण पति हो जाये तब शौक से जूते मारना। अपनी कमाई का धन अपनी पत्नी पर खर्च करने पर ही पुरुष स्त्री का पूर्णतया पति होता है। अभी तक एक छदाम भी आपने मेरे पर नही खर्चा है। आप पहले परदेश जाकर धन कमा लाइये, फिर पूर्णतया पति बनेंगे, और तभी मेरे सिर मे जूते लगा सकेंगे।"

नवल को यह बात लग गई। बडी मुश्किल से माता-पिता से परदेशगमन की अनुमति ली और जहाज मे माल भरकर परदेश रवाना हुआ। रास्ते मे एक लगडे, एक काने, एक कामलता वेश्या आदि के चक्कर मे फँसकर सारा धन खो दिया और एक तेली के यहाँ नौकरी करने लगा। पिताजी के पास जब पत्र पहुँचा और बुद्धिमती रम्भा ने जब सारा हाल जाना तो वह सास-ससुर की अनुमति लेकर पुरुषवेश मे जहाज मे सामान लदवाकर रवाना हुई। मार्ग मे वही लँगडा, काना और कामलता वेश्या आदि सब मिले। अपने चातुर्य से रम्भा ने सबसे ब्याज-सहित सारी रकम वसूल कर ली और बहुत सा धन देकर तेली के यहाँ से नवल को छुडाया। नवल को अपना मित्र बनाकर रम्भा कुन्दनपुर लौटी। रम्भा के २१ दिन बाद ही नवल धूमधाम से कुन्दनपुर पहुँचा। अपनी सफलता की डींग हाँकने लगा। जब रम्भा के

सामने वह अपनी झूठी शेखी बघारने लगा तो रम्भा पुरुष वेश मे तेली के यहाँ से नवल के पहने हुए चिकने कपडो की जो पोटली लाई थी, उन कपडो को लेकर आई और कहने लगी—"मुझे पहचानते हैं। मैं आपका वही व्यापारी मित्र हूँ, जिसने आपको धन दिया था, और वेश्या, तेली आदि के चगुल से आपको छुडाया था।" नवल समझ गया कि यह रम्भा ही थी, जिसने मुझे धन दिया और तेली के यहाँ से छुडवाया। तब एकदम हर्षावेश मे आकर 'प्रिये' सम्बोधन करके उसे बाहुपाश मे जकड लिया। नवल ने रम्भा से कहा—"अब तक मैं भ्रम मे था। मुझे माफ करो, रानी! अब मै कदापि तुम्हारे जूते नही मार सकता। मेरा पिछला सब बकाया भर पाया। मुझे प्रसन्नता है कि तुमने मेरी सारी शेखी अपनी बुद्धिमत्ता से उतार दी।"

हाँ, तो बन्धुओ! मैं कह रहा था कि जो व्यक्ति अहकार के हाथी पर चढकर दूसरो के साथ अमानवीय व्यवहार तक करने को उद्यत हो जाता है, उसे आखिर मुँह की खानी पडती है। नवलकुमार को अहकार का सबक मिल गया।

अहकार क्यो, किस बात का ?

मनुष्य अहकार किस बात का करता है? ससार की सभी वस्तुएँ नाशवान हैं। कोई भी वस्तु स्थायी नही। फिर अहकार क्यो? क्या क्षणिक वस्तुओ के अहकार से उसके अह की तृप्ति हो जाती है? कदापि नही। क्या किसी मनुष्य का नाम रहा है? नही। फिर भी मनुष्य अपने अहकार को चरितार्थ करने के लिए अधिक नाम फैलाना चाहता है। अह का रोग पागलपन है। वह नामबरी के मोह मे, अहकार के मद मे पागल होकर न जाने कितने-कितने अनर्थ ढहाता है। इसीलिए एक कवि चेतावनी के स्वर मे कहता है—

स्वप्न ससार है, रहना दिन चार है, मान करना नही।। हो मान० ।।ध्रुव।।
फूल फूला कि भौरे आने लगे, लूटने के लिए गीत गाने लगे।
फूल था भूल मे, मिल गया धूल मे, मान करना नही।। स्वप्न ।।१।।
रूप यौवन भी सन्ध्या मे ढल जाएगा, और यौवन-नशा भी उतर जाएगा।
इनमे मतवाला बन, मेरे भोले सज्जन, मान करना नही।। स्वप्न ।।२।।
सरसराता फव्वारे का जल जो चढा, मैने देखा कि वोह सर के बल गिर पडा।
नेचर देती है दण्ड, रहा किसका घमड, मान करना नही।। स्वप्न ।।३।।

भावार्थ स्पष्ट है। वास्तव मे मनुष्य अपने अहकार को सन्तुष्ट करने के लिए अपना नाम और नामबरी चाहता है।

जैन इतिहास की एक प्रेरक घटना है—भारतवर्ष का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत छहो खण्ड जीतकर अपनी विजय-पताका फहराता हुआ ऋषभकूट पर्वत पर पहुँचा। वहाँ वह विशाल शिलापट्टो पर अपनी दिग्विजय की स्मृति मे अपना नाम

तथा परिचय अकित करना चाहता था। इस प्रबल नाम-कामना को सन्तुष्ट करने हेतु वहाँ पहुँचकर गौर से देखा तो मालूम हुआ—वहाँ परिचय अकित करने की तो दूर रही भरत इन तीन अक्षरो का नाम अकित करने की भी जगह नही थी। हजारो-लाखो चक्रवर्तियो ने अपना-अपना नाम वहाँ अकित कर रखा है। सोचा—किसी का नाम मिटाकर अपना नाम उस जगह खुदवा दूँ ? ज्योही भरत का हाथ उठा, किसी एक का नाम मिटाकर भरत नाम खुद गया, लेकिन उसी क्षण भरत के हृदयाकाश मे विवेक की बिजली कौंधी जिसके प्रकाश मे भरत ने सोचा—'आज तूने किसी का नाम मिटाया है, कल कोई तेरा भी नाम मिटा सकता है।' भरत की अन्तश्चेतना ने कहा—'यह सब अहकार का खेल है। वही मनुष्यो को विविध रूपो मे नचाता है। इस विश्व के इस विशाल पट पर किसका नाम अमिट व अमर रहा है।' भरत का नाम-जनित अहकार मिट गया।

अहकार ध्वसात्मक रूप मे

मनुष्य सत्कार्य करके किसी को हानि पहुँचाये बिना सम्मान और यश प्राप्त करे यह किसी हद तक क्षम्य हो सकता है। किन्तु जब वह महत्त्वाकाक्षा से प्रेरित होता है, उसकी बडप्पन की लालसा भूख बनकर किसी भी प्रकार से अपनी तृप्ति पाने के लिए तडपने लगती है, तब वह पैशाचिक वृत्ति धारण कर लेता है। जब मनुष्य मनुष्यता की सीमा से बाहर आकर ससार पर बडप्पन थोपना चाहता है, तब वह एकदम निन्द्य एव घृणित बन जाता है। इस प्रकार के महत्त्वाकाक्षी लोगो की अहकार वृत्ति मनुष्य को आततायी बना देती है।

सिकन्दर, तैमूर, नादिरशाह आदि जो भी महत्त्वाकाक्षी आक्रामक हुए है, जिन्होने अकारण मानव-जाति का सहार किया है। वे अहभाव से पीडित रहे है। यदि उनमे अहभाव की प्रधानता न होती तो वे अपनी शक्तियो को किन्ही ऐसे कामो मे लगाते, जिनसे मनुष्य-जाति का हित साधन होता। रावण, कस, हिटलर, हिरण्यकशिपु, नेपोलियन आदि आतकवादी आक्रान्ता महत्ता की तृष्णा से पीडित थे। सद्गुणो के अभाव मे जब उनकी महत्त्वाकाक्षा महत्ता नही पा सकी, पूजा-प्रतिष्ठा से वचित रही, तब वे अकारण ही अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिये दुनिया के दुश्मन बनकर अपनी महत्ता बलात् थोपने के लिए ध्वस के मार्ग पर दौड पडे। परन्तु क्या वे इतना सब रक्तपात करके और ससार को त्रास देकर कोई बड़प्पन प्रतिष्ठा या आदर सम्मान पा सके ? नही। माना कि उनमे साहस, शक्ति, मनोबल और विश्वास था, जिसके आधार पर वे ससार को आतकित कर सके। किन्तु उनकी ये विशेषताये उनके लिए एक भी प्रशसा का शब्द तथा प्रतिष्ठा का एक बिन्दु भी अर्जन कर सकी है ? कितना अच्छा होता, उन्होने अपनी विशेषताओ को ध्वस मे न लगाकर सृजन मे लगाया होता, सहार के स्थान पर सेवा का मार्ग अपनाया होता, आतक के स्थान पर प्रेम को स्थान दिया होता तो जीवनकाल मे उनकी पूजा प्रतिष्ठा होती ही, इतिहास

मे भीउनका नाम सूर्य-चन्द्र की तरह चमकता। लोग श्रद्धापूर्वक उनका नाम लेते, उनकी गौरव-गरिमा के आगे सिर नमाते। किन्तु अपने अहकार से प्रेरित होकर जो काले कारनामे उन्होने किये, उनके कारण वे इतिहास के काले पृष्ठो पर अंकित किये गये।

यह अहंकार था, जिसके कारण महत्त्वाकाक्षी नैपोलियन गलत मार्ग पर चढ गया। नैपोलियन बाल्यकाल से ही महत्त्वाकाक्षी था। वह समाज मे अपना विशेष महत्त्व और मूल्य चाहता था। उसकी बडी इच्छा थी कि लोग उसका आदर करे, सिर झुकायें और यह माने कि नैपोलियन ससार का एक विशेष व्यक्ति है। उसकी यह कामना ही इस बात की द्योतक थी कि उसमे पात्रता की कमी थी, गुणो का अभाव था, जो मनुष्य को महान पथ पर लगा देते है। नैपोलियन की महत्त्वाकाक्षा अहकारजन्य थी।

नैपोलियन ने अपनी प्रतिष्ठा, प्रशसा एव विशेषता के लिए लेखक बनने का मार्ग चुना। उसे विश्वास था कि लेखक बनने पर वह अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति कर सकेगा। उसने अपने अन्दर लेखक के गुणो, उसको विशेषताओ तथा योग्यता के सद्भाव-अभाव पर विचार नही किया और अपनी उच्चाकाक्षा से प्रेरित होकर वह १७ से २४ वर्ष तक लेखक बनने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु सफलता न पा सका। उसका उद्देश्य लेखक या विचारक बनकर समाजसेवा करने का नही था, अपितु समाज मे महत्ता एव प्रतिष्ठा पाने का था। वह जल्दी से जल्दी अपने नाम की ध्वजा उडते देखना चाहता था। इसलिए वह अध्ययन और अभ्यास मे समय न दे सका। उसने शीघ्रातिशीघ्र 'कार्सिका-इतिहास' नामक पुस्तक लिख डाली और उस समय के प्रसिद्ध विद्वान 'एब्बे रेनाल' के पास सम्मति के लिए भेज दी। निष्पक्ष विद्वान ने—"और गहरी खोज के साथ पुस्तक को दुबारा लिखो' इस प्रकार का सम्मति देते हुए पुस्तक वापस भेज दी। 'एब्बे रेनाल' की सम्मति से उसे बड़ी झुँझलाहट हुई। तत्पश्चात् उसने 'प्रेम', 'आनन्द' तथा 'मान' आदि विषयो पर अनेक लेख लिखकर 'लिबरे पुरस्कार' की प्रतियोगिता मे भेज दिये, किन्तु वे भी असफल घोषित कर दिये गये। इस घटना ने नैपोलियन को बिलकुल निराश कर दिया। बस, यही से उसका मार्ग गलत हो गया और उसमे ससार पर हठात् महत्ता थोप देने की प्रतिहिंसा जाग उठी। इस प्रतिक्रिया का दोष उसकी अहत्व-वृत्ति का था, जिसके कारण उसने अपनी अपात्रता की ओर नही देखा, समाज से ही द्वेष करने लगा।

प्रतिहिंसा से प्रेरित नैपोलियन सैनिक क्षेत्र मे चला गया। अपनी सम्पूर्ण शक्तियो को केन्द्रित करके उसने बहुत कुछ किया, किन्तु उसका मूल्याकन कुछ भी न हुआ। वह सैनिक बना, सेनापति बना, आक्रामक हुआ और विजय प्राप्त की। सारे यूरोप पर आतक बनकर छा गया। वह शासक एव सम्राट बना, फिर भी उसका उद्देश्य असफल ही रहा। साहस, शौर्य व पुरुषार्थ के गुणो की शक्ति तथा विशेषता

तो अवश्य ही उसके माध्यम से प्रभावित हुई, किन्तु नैपोलियन का व्यक्तित्व अपने उद्देश्य मे सफल न हो सका। जिस मुख्य महत्ता एव प्रतिष्ठा के लिए वह लालायित था, वह प्राप्त न हो सकी। इसके बदले इतिहास मे वह आलोचना, निन्दा, भर्त्सना तथा अपवाद का पात्र अवश्य बन गया। अगर नैपोलियन ने अहकार के वशीभूत न होकर उचित मार्ग म अपनी शक्ति लगाई होती तो शायद वह ससार के महानतम व्यक्तियो मे गिना जाता।

निष्कर्ष यह है कि अहकार या गौरवभाव जब अतिमात्रा मे मानवता की सीमा लाघ जाता है, तो वह राग-द्वेष, प्रतिहिसा, प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, स्पर्धा तथा अपात्रता से दूषित हो जाता है और विष बनकर अपने आश्रयदाता को नष्ट कर डालता है।

गर्व अनेक रूपो मे

मानव-मन क अन्तस्तल म छिपा हुआ अहभाव भी अनेक रूपो मे बदल-बदलकर जीवन के अनेक प्रसगो पर अभिव्यक्त होता रहता है। कभी वह अपने शरीर के सौन्दर्य, रग-रूप, बल आदि पर अभिमान करता हे, तो कभी वह जाति और कुल का गर्व करता ह। कभी वह अपने ज्ञान, लाभ (प्राप्ति), ऐश्वय (प्रभुत्व) या तपस्या के मद से अभिभूत हो जाता ह।

इतना ही नही, आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र म भी इस मद ने अपना पैर पसारा है। जो साधक वर्षो से साधना कर रहा है, उसके जीवन मे भी तप, जप, स्वाध्याय, शास्त्रज्ञता, क्रियाकाण्ड-पालन आदि का अहकार आ धमका। दान, शील और सवर आदि के क्षेत्र म भी अहकार न घुसकर उस क्षेत्र को विकृत कर दिया।

जिसन सनत्कुमार चक्रवता की तरह रूप का गर्व किया, उसका गव भी चूर-चूर हो गया। जाति और कुल का अभिमान भी मिट्टी म मिल जाता है। उच्चजाति और उच्चकुल का होन क साथ उसम सम्यग्ज्ञान-दशन-चारित्ररूप रत्नत्रय ह तो उसे जातिकुल का अभिमान करने की जरूरत ही नही ह। अगर रत्नत्रय नही है तो भी जाति और कुल क अभिमान स क्या मतलब सिद्ध होगा ? जाति और कुल तारने वाले नही है, बल्कि इनका अभिमान डुबोने वाला ह। बल का अभिमान भी वृथा है। जो पहलवान जवानी म अपनी शक्ति पर इतराता था, बुढ़ापे म सारी शक्ति क्षीण हो जाने के कारण उसका सारा घमड चूर हो जाता ह। किसी का बल स्थायी नही है, फिर उसका अहकार करन स क्या लाभ ?

एक ठाकुर साहब क अन्त पुर म तेलिन आया-जाया करती थी। ठकुरानी उसके साथ स्नेह रखती थी। वह बार-बार मजाक म कहा करती थी—"ठकुरानी जी ! आपक ठाकुर कितने दुबल-पतल ह ? क्या आप उन्हे पूरा खाना नही खिलाती। मेरा पति तली देखिये कितना बलिष्ठ है, मोटा-ताजा है ?" ठकुरानी हँसकर कह

तेली—"यह तो अलग-अलग खासियत पर निर्भर है। ठाकुर साहब अफीम लेते हैं, इसलिए शरीर से दुर्बल लगते है, लेकिन बल मे वे तेली से बढ़कर हैं।" परन्तु तेलिन मौके-बेमौके अपने तेली की ताकत की शेखियाँ बघारने से नही चूकती थी। ठकुरानी ने एक दिन ठाकुर साहब से तेली को अपनी ताकत बताने को कहा तो उन्होने कहा—"कभी समय आने पर मैं उसे देख लूगा।"

एक बार गाँव पर किसी शत्रु की सेना का हमला होने वाला था। समाचार मिलते ही ठाकुर साहब अफीम लेकर अश्वारूढ़ हो सेना के साथ युद्ध के लिये चल पडे। सयोगवश मार्ग मे वह तेली लोहे का कुश हाथ मे लिये खडा था। ठाकुर साहब ने ज्यो ही उसे देखा, अपना घोडा उसके निकट ले जाकर तपाक से वह लोहे का कुश तेली के हाथ से लेकर पूरी ताकत से इस प्रकार मोड दिया मानो तेली के गले मे हँसली (गले का आभूषण) पहना दी गई हो। तेली ने बहुत जोर लगा लिया लेकिन वह हिलती ही नही थी। कुशरूपी हँसली के कारण तेली का जीवन दूभर हो गया। तेलिन फिर ठकुरानी के सामने आजिजी करने लगी कि किसी तरह ठाकुर साहब से कहकर मेरे पति के गल से कुश निकलवाओ। ठकुरानी ने हँसते हुए कहा—"तू तो कहती थी न, मेरा पति बडा बलवान् है।"

तेलिन बोली—"मरी नासमझी पर ध्यान न दे, माफ करे।"

ठकुरानी ने एक दिन ठाकुर से कहा—"बेचारे तेली के गले मे लोहे का कुश आपने मोडकर डाल दिया, बेचारा मुसीबत म पड़ गया, किसी तरह उसे निकाल दीजिए।"

ठाकुर—"तुमने ही तो उसे ताकत का चमत्कार बताने को कहा था। वह तो जोशपूर्ण स्थिति थी। अब वसी जोशपूर्ण स्थिति आन पर ही कुश निकाली जा सकगी।"

सयोगवश ५-७ दिन बाद ही फिर गाँव पर शत्रु ने चढाई कर दी। ठाकुर सामना करन क लिए ससैन्य घोडे पर चढ़कर शत्रु को परास्त करन निकले। रास्ते म वह तली कुश की हसली पहन खडा था। ठाकुर साहब ने घोडा एकदम निकट ल जाकर उस मुडी हुई कुश को दोनो हाथो से इस तरह बलपूर्वक ताना कि उसे बिलकुल सीधा करक नीचे गिरा दिया। तेली क जी म जी आया। उसके बल का अभिमान चूर-चूर हो गया। वह ठाकुर साहब की ताकत का लोहा मान गया।

बन्धुओ! बल का गर्व करना भी वृथा है। अहकार के रास्ते बहुत सूक्ष्म है। मार्ग बहुत अपरिचित है। अहकार त्याग से भी भर सकता है, ज्ञान से भी, धन से भी, पद से भी। एक आदमी रोज स्थानक म आता है, प्रवचन सुनता है, कोई आदमी जप करता है या तप करता है, तो वह अपने आपको औरो से विशिष्ट मानने लगता है। यही अहकार है। अहकार एक प्रकार का नशा है, जो मनुष्य क मन पर हर कोने से चिपक जाता है। अहकार का मूल रूप 'मै हूँ' या 'मैं भी कुछ हूँ', इसी

प्रकार का है। वास्तव मे अहकार का अतिरेक मनुष्य के जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। अहभाव बहुत रूपो मे आदमी को पकड सकता है। इसीलिये अमृत काव्य संग्रह मे प्रौढ़कवि शास्त्रविशारद प० रत्न अमीऋषिजी म० ने अभिमान को असार बताकर छोड देने की प्रेरणा की है—

अग रग चग देख करे क्यो गुमान मन,
पतग को रग लगे उडता ससार है।
डाभ की अणी पै जैसे रही, उदक-कणी,
कागद की नाव बनी होय कैसे पार है?
चक्री चाथे सनतकुमार अभिमान कियो,
देखत विनाश भयो, ऐसो यो असार है।
अमीरिख कहे भवि तप-जप-व्रत सार,
सुकृत को धार जासु सुख श्रेयकार है।

वास्तव मे अहकार मरणधर्मा है, नाशवान है। जो व्यक्ति अहकार के अतिरेक म पागल हो जाता है, उसका सग करना या उसकी छाया—सेवा म रहना किसी भी प्रकार उचित नही है। क्याकि अहकारी के सग से व्यक्ति मे भी झूठे अहकार का चेप लग जाता है। अहकार का चेप मनुष्य को स्वार्थी, कृतघ्न, ईर्ष्यालु, प्रति-स्पर्द्धी एव अनेक दोषो स युक्त बना देता है।

हीनता का अतिरेक : विकास का अवरोध

जैसे अहकार या गर्व का अतिरेक मनुष्य को उद्धत और उद्दण्ड बना देता है, वैसे ही हीनता का अतिरेक भी मनुष्य को अकर्मण्यता, किंकर्तव्यविमूढता, निराशा और मायूसी की ओर ले जाता है। हीनभावना जिस मनुष्य म घर कर जाती है, वह अपने आपको तुच्छ, अकिंचन, अशक्त, असमर्थ, दीन-हीन, नीच और विवश समझने लगता है। वह रात-दिन यो सोचता रहता है कि मै कुछ नही कर सकता, मेरे से यह कार्य बिलकुल नही हो सकता, मै तो उसके सामने कुछ नही हूँ, न न बाबा! मुझसे यह हो ही नही सकता, इसी प्रकार की हीनभावनाओ म बहते रहने वाला व्यक्ति अपने परिवार, राष्ट्र, समाज और जाति से बिलकुल अलग-थलग हो जाता है। एक तरह से वह झपू, दब्बू, कायर और दीन बन जाता है।

हीनता की भावना मनुष्य को बिलकुल पराधीन, परमुखापेक्षी और भाग्य-परायण बना देती है। हीनता की भावना से ग्रस्त लोग स्वय को धिक्कारते है, अपनी अधोगति के लिये या तो भाग्य को दोषी ठहराते है, या फिर निमित्तो को कोसने लगते है। ऐसे लोग अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्न करने के बदले दुनियाभर की शिकायत करने को उद्यत रहते है। अपने कार्य म अयोग्य होने के कारण जब वे पदच्युत कर दिये जाते है तो वे अपनी त्रुटियो पर ध्यान देने के बजाय प्राय यह कहते है—

"जमाना बुरा है। सब मेरी व्यर्थ ही शिकायत करते हैं। मालिक अपनी आँख से नही देखता, वह कान का कच्चा है।" उसे यह नही सूझता कि उसने पूरी मेहनत और ईमानदारी से काम नही किया।

हाँ तो, जितनी भी विकृत भावनाएँ हैं, उनमे सबसे घातक भावना स्वय को दीन-हीन मानने की भावना है। दैन्य या हीनभाव मनुष्य का सबसे बडा शत्रु है। दीनता-हीनता से पीडित व्यक्ति कभी सच्चरित्र नही बन सकता।

मैं 'नाचीज हूँ', 'तुच्छ हूँ', 'नगण्य हूँ' ये शब्द कहने वाले या तो पाखण्डी होते हैं, जो दूसरो के मुँह से सुनना चाहते है—'आप तो राजा हैं, आप विद्वान् हैं, आप महान है, आप हमारे सिरताज है,' आदि अथवा वे गिरे हुए पतित और पापलिप्त होते है, जो अपने उठने को, उत्थान की प्रगति की, या पाप त्यागकर धर्मात्मा बनने की सारी आशा छोड चुके है। जो अपना आत्मविश्वास खो चुके होते है, जिनमे किसी भी कठिन काम को प्रारम्भ की हिम्मत नही होती, न कठोर कर्तव्य का पालन करने का साहस होता है, वे आत्महीनता के शिकार है, ऐसा समझना चाहिए।

हीनता की भावना क्यो और कैसे ?

मनुष्य के मन मे हीनता की भावना तब जागती है, जब वह दूसरो को अपने से अधिक सम्पन्न देखकर मन ही मन यह विचार करने लगता है—'कहाँ ये और कहाँ मैं ?' हीन भावना का शिकार जब अपने से बडे, सभ्य, सफेदपोश लोगो को देखता है तो मन ही मन अपने आप को ज्ञान मे, वेशभूषा मे, धन और पद म बहुत छोटा और हीन मानने लगता है। उनके सामने जाने और बात करने म उसे झप आती है। वह जब यह देखता है कि उसके सामने उच्च शिक्षित, डिग्रियो और उपाधियो स विभूषित लोग बैठे हैं, वे विदेशी भाषा म बोलते ह, अपनी भाषा छोड-कर, तब वह अपने आप म उदास और परेशान होकर घुलता जाता है।

एक व्यक्ति था, वह अपनी भाषा और वेशभूषा बदल नही सकता था। परन्तु उसने अप-टु-डेट, शिक्षित मनुष्यो को प्रसन्न करन के लिए उनकी पसन्द के कपड़े सिलवाकर जलसे म भिजवा दिये, ताकि वहाँ लटका दिये जाय। परन्तु व शिक्षित लोग प्रसन्न न हुए। वे तो अपन ही रग-ढग म उस सजाना और बनाना चाहते थे, जिसके लिए वह तैयार न था।

किन्तु एक दिन सभ्या क बीच मे जाकर अपने आपको वह हीन मान बैठा था। उसक अन्तर् की गहराई म आत्मग्लानि घर कर गई थी।

हीनभावनाग्रस्त व्यक्ति अपने आपको बहुत पिछडा हुआ मान बैठता है। हर पहलु से वह विचार न करक सिफ एकाध पहलु स विचार करता है और अपन आपको जगला, पिछडा या गवार मान बैठता है। वह दूसरो को बताई अच्छी-बुरा सम्मति पर अपने-आप को तोलन लगता है। वह अपने अन्तर् को तराजू से अपन को नही तौलता, जो कि असली धर्म काँटा है। उससे तौलन पर शायद ही वह हीन जँचे।

परन्तु दूसरो की तराजू मे अपने को तौलने का विचार मन मे आए तो समझ लेना चाहिए कि उसका मन रोगी है। यह तौल कभी सच्चा नही होता। 'मैं दीन हूँ, मैं हीन हूँ' ऐसा विचार करने और मानने से मनुष्य दीन-हीन हो जाता है। 'अष्टावक्र सहिता' मे कहा गया है—

> मुक्ताभिमानी मुक्तो हि, बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
> किवदन्तीति सत्येय, या मति सा गतिर्भवेत् ॥

—जो अपने को मुक्त मानता है, वह मुक्त है और जो बद्ध मानता है, वह बद्ध है। जगत् मे यह किंवदन्ती सत्य है कि मनुष्य की जैसी मान्यता या मति होती है, वैसी ही उसकी गति-प्रवृत्ति होती है।

हीनता-प्रकाशन का यह रोग प्राय ऐसे व्यक्तियो मे भी देखा जाता है, जो अपने को दुनिया का अनोखा हीरा समझते है। वे पहले अपना मूल्याकन बहुत ऊँचा कर लेते हैं, परन्तु जब उनके द्वारा कल्पित अभिमान या अभिमत ठुकरा दिया जाता है, तो वे मुंह के बल नीचे गिरते हैं। पहले उनकी धारणा ऐसी होती है कि दुनिया उनको हर समय सर आँखो पर उठाये रखे, उनके साथ विशिष्ट प्रकार का व्यवहार हो, लेकिन जीवन के सागर म उन्हे भी ऊँची-नीची लहरो के थपेडे सहने पडते है, या दूसरो की तरह चक्की मे पिसना पडता है, तब उनके सारे स्वप्न भग हो जाते हे। वे अपने को अकेले, असहाय और निर्बल अनुभव करने लगते है। अपनी नि सहायता का विज्ञापन करने के लिए वे हीनता प्रगट करत रहते हे।

दीनता की भावना तभी जागती है, जब मनुष्य किसी की अधीनता स्वीकार करता है। यह जरूरी नहीं कि हर एक नौकरी करने वाला दीन-हीन हो, जो मनुष्य अपनी योग्यता और पुरुषार्थ के भरोसे नौकर होगा, उसके स्वाभिमान पर कभी आघात नही पहुँचेगा। नौकरी या वतनभोगिता का अर्थ दीन-हीन होना नही हं, अपितु परस्पर सहयोग देना और अपन हक का—श्रम का मूल्य पाना है, अपना कर्त्तव्य करके अपना अधिकार पाना है। नौकरी करना भीख मांगना नहीं है। पर अधिकाश नौकरी करन वालो की आत्मा मर जाती है, वे अपन आपको मालिक के आगे इसलिए हीन और विवश समझ लेते है क्योंकि उन्हें दूसरी जगह इतना ऊँचा वेतन, इतने आराम की नौकरी मिलने की आशा नही होती या अपने मे योग्यता और अपने पुरुपाथ पर विश्वास नहो होता। जो नौकरी का अर्थ पैसे क लिए, पेट के लिए, या किसी स्वाथ के लिए काम करना या दासता के जुए मे जुटना समझते है, वे दीन-हीन हो जाते हं। सच्चा आदमी कभी दीन नही बनता। वासनाओ या परिस्थितियो का गुलाम या अनैतिक उपाया से लोभ को तृप्त करने वाला व्यक्ति ही हीन बनता है।

सामर्थ्य से अधिक वेतन पाने या पुरस्कार पाने की आशा रखने वाले व्यक्ति भी दीन-हीनता के शिकार बनते है। अधिक की चाह मनुष्य को अशान्त और हीनता

का रोगी बना देती है। स्थूल दृष्टि से दूसरो के सुखी होने का अनुमान लगाकर उसकी तुलना मे अपने-आपको दु खी मानना भी हीनता का एक प्रकार है। ऊँचे दर्जे के लोगो से मेल-जोल बढाने वाले लोग भी हीनता का रोग पाल लेते हैं। अपने से अधिक भौतिक वैभव, बुद्धि, बल, या तप आदि देखकर अपने मन मे कुढ़ते रहना, असन्तोष व्यक्त करना भी हीनता की बीमारी है। एकान्त मे किया हुआ अपराध मनुष्य के मन को बार-बार कचोटता रहता है, उससे आत्मग्लानि एव हीनता आती है। अदण्डित अपराध को मनुष्य भी हीन बना देते है।

असुन्दर, बेडौल या खराब चेहरे वाले लोग, खासकर महिलाएँ अपने आपको हीन अनुभव करने लगती हैं। ऐसी हीनता की ग्रन्थि का प्रदर्शन मन की अनेक अवस्थाओ मे होता है। पागल व्यक्ति प्राय हीनता की ग्रन्थि से पीडित होते हैं। बचपन की कुचली हुई इच्छाएँ भी मनुष्य को हीन बना देती है। कई साधक विद्वान् होते है, परन्तु बडे-बडे विद्वानो, वक्ताओ का भाषण सुनकर या लेख पढकर उनके मन मे यह भ्रम घुस जाता है कि मै अच्छा भाषण नही दे सकता, मैं लेख नही लिख सकता, यो सदैव आत्महीनता से प्रताडित होकर दीन-हीन बने रहते है।

मुझे एक विद्वान् सन्त का अनुभव है, वे व्याकरण, न्याय एव दर्शनशास्त्र के अच्छे विद्वान् है, शास्त्रो के ज्ञाता भी है, पर उन्हे भाषण देने को कोई कहे तो वे एकदम झेप जाते है और अपने आपको बिलकुल असमर्थ पाते है, हीनभावनाओ से ग्रस्त होने के कारण वे इन्कार कर देते है, भाषण देने से।

कई विद्वान् लेख लिखना हो तो अपने मे हीनता महसूस करते हे। कई साधक उच्चस्तरीय साधना करते हुए भी अपने आपको नगण्य एव तुच्छ समझ लेते है। जब वे दूसरो को साधना म सफल और आगे बढ हुए दखते है तो उनमे अपने प्रति हीनता-दीनता की भावना पैदा हो जाती है।

वेदव्यासजी के पुत्र श्री शुकदेवजी पहुँचे हुए आत्मज्ञानी थे, लेकिन उन्हें अपनी योग्यता का भान नही था। उन्हें भ्रम था कि अन्य साधक मुझसे साधना मे बहुत आगे बढे हुए हैं। इसलिए वे अपनी आत्मिक योग्यता का भान करने एव हीन भावना दूर करने हेतु अपने पिता की आज्ञा लेकर विदेहराज जनक के यहाँ पहुँचे। वहाँ के राजसी ठाठ का उन पर कुछ भी असर न हुआ। जब द्वारपालो ने उन्हें रोका और धूप मे खडा रखा, फिर भी वे अपमान-विजयी बनकर वहाँ साधना म लीन रहे। पचासो युवतियाँ हाव भाव एव हास्य-विनोद करती हुई उन्हे भोजन कराने मे जुटी रही तथा समय-असमय घेरे भी रही, फिर भी उन कामविजेता का मन विचलित न हुआ। वे तो सतत निर्लेप व निर्विकारी बनकर आत्मरमण करते रहे।

दूसरे दिन महाराज जनक आये और शुकदेव का सम्मान करके उनके समक्ष बैठे। शुकदेव ने जब जनक विदेही से आत्मज्ञान की प्राप्ति कराने की माँग की, तब राजा ने कहा—"भगवन्! आप आत्मिक ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण हैं, सुख-दु ख एव

मानापमान आदि मे पूर्णत आत्मस्थ हैं तथा काम-भोग आदि से अनासक्त हैं—यह मैंने भली-भाँति देख लिया है। फिर भी आपके मन मे अभी भ्रान्ति है कि मैं आत्म-ज्ञानी नही बन सका, बस इतनी-सी आत्मविश्वास की कमी है। आप अपनी आत्मिक योग्यता को कम मत आँकिये।"

राजा की बात सुनते ही उनकी हीनभावना समाप्त हुई, अपने मे आत्मज्ञान की योग्यता का भान हुआ।

नम्रता और हीनता मे अन्तर

कई बार लोग अपनी हीनता को नम्रता समझ लेते है। परन्तु जहाँ मिथ्या भावुकता, आत्मविश्वास की कमी और हीनता से युक्त मायूसी एव अत्यन्त नमन हो, वहाँ नम्रता नही, हीनता है। नम्रता मे दबैल होने का भाव नही होता। आत्म-विश्वास, शक्ति, सद्भावना, साहस, गम्भीरता—ये विनम्रता के रूप है। नम्रता मे शक्तिप्रियता एव पदलोलुपता के लिए कोई स्थान नही है। क्योकि ये सब अपने मे स्वार्थ से सने एव सकीर्णता से परिपूर्ण है, जबकि नम्रता म सबका ध्यान, सबसे पीछे अपने आपको गिनने का महत्त्वपूर्ण आदर्श है। स्वार्थ के लिए नम्रता म कोई स्थान नही, इसमे एकमात्र परमार्थ को गति है। नम्रता मानसिक भाव है, उसके बाह्य सक्रिय रूप है—सेवा, आत्मीयता, आध्यात्मिक एकता और समता। हीनता मे ये सब रूप नही होते, वहाँ होती है—ग्लानि, पडे-पड पश्चात्ताप, एव निम्नता की भावना, असतोष और अन्दर ही अन्दर कुढन।

एक होती है—हृदयहीन नम्रता, जिसम अभिमानी मनुष्य अपने बडप्पन को बनाये रखने या बढाये जाने के लिए झूठी नम्रता का स्वाग करता है। ऐसी दिखावटी नम्रता खतरनाक होती है। इससे सरल प्रकृति के लोग प्राय धोखा खा जाते है। स्वार्थी, पदलोलुप एव अभिमानी व्यक्तियो ने नम्रता को भी एक साधन बना लिया है, अहकार सन्तुष्टि का।

हीनभावना के शिकार बालक

कभी कभी कई बालक अपने को मातृ-पितृहीन अनुभव करके हीन भावना के शिकार हो जाते है। जिनके कुल आदि का पता नही होता या जिन्हें माँ-बाप का प्यार नही मिलता, ऐसे बच्चे भी हीनताग्रन्थि से ग्रस्त होत है।

अभयकुमार ने वन मे घूमकर वापस लौटते हुए रास्ते मे पडे एक नवजात शिशु को पडा देखा तो उनकी करुणा उमड पडी। उन्होने बालक को उठा लिया, घर ले आए। बच्चे का नाम रखा—'जीवक'। शिक्षा-दीक्षा का भार स्वय उठाया। जीवक बडा हुआ तो एक दिन उसने राजकुमार अभय से पूछा—"मेरे माता-पिता कौन है?" अभय ने वह सारी घटना कह सुनाई कि किस तरह वह जगल मे पड़ा मिला था। अपने को मातृ-पितृहीन अनुभव कर जीवक को गहरी वेदना हुई।

उसने अपने अभिभावक अभय से कहा—"महाशय! आपने मेरी रक्षा न की होती तो अच्छा था। बताइए, आत्महीनता का भार लेकर मैं कहाँ जाऊँ?"

राजकुमार को एक बार तो यह सोचकर बडा दु:ख हुआ कि समाज मे ऐसे कितने बच्चे होगे, जो बडो की भूल और असावधानी के कारण आत्महीनता के भार से दबे होगे। उन्होने जीवक को धैर्य दिलाते हुए कहा—"वत्स! दु:ख करने की अपेक्षा, आओ हम दोनो मिलकर प्रायश्चित्त कर ले। तुम तक्षशिला जाकर दत्तचित्त होकर विद्याध्ययन करो, जिससे अपने म पात्रता उत्पन्न करके पददलित समाज को कुछ प्रकाश दे सको और मैं आज से मगध के नैतिक उत्थान के लिये अपने आपको समर्पित करता हूँ।" जीवक ने यह बात मान ली। विद्याध्ययन के लिये तक्षशिला चल पडा। प्रवेश के समय आचार्य ने नाम, पिता का नाम, कुल और गोत्र पूछा तो जीवक ने बिना कुछ छिपाये स्पष्ट कह दिया। आचार्य ने सत्यवादिता से प्रभावित होकर उसे प्रविष्ट कर लिया। जीवक ने एक दिन आयुर्वेदाचार्य की उपाधि ले ली। कल उसे मगध के लिये प्रस्थान करना था। गुरु के स्नेह और जीवन की निराशाओ ने उसे बहुत दु खी बना रखा था। रात मे देर तक नीद नही आई। तभी प्रधानाचार्य ने पूछा—"वत्स! तुम्हारी आँखें लाल एव मुखाकृति उदास क्यो है?" जीवक ने कहा—"देव! आप जानते है कि मेरा कोई कुल व गोत्र नही, मैं जहाँ भी जाऊँगा, लोग मुझ पर उँगलियाँ उठायेंगे। क्या आप इतना प्रायश्चित्त मुझे यही न करन देगे कि मैं आपकी सेवा मे ही बना रहूँ।"

आचार्य गम्भीर थे। बोले—"वत्स! तुम्हारी योग्यता, प्रतिभा और ज्ञान ही तुम्हारा कुल और गोत्र है। तुम जहाँ भी जाओगे, वही तुम्हे सम्मान मिलेगा। दुर्भाग्यग्रस्त प्राणियो की सेवा म अपने को समर्पित करना ही सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है।"

जीवक को आत्मविश्वास का प्रकाश मिला। वह आचार्य जीवक बनकर मगध मे पहुँचा और सारे मगध मे प्रसिद्ध हो गया।

कहने का अर्थ यह है कि जिस बालक मे किसी कारणवश हीनभावना घर कर जाती है, अगर वह नही निकाली जाती है तो वह आगे चलकर विद्रोही, हत्यारा, गुण्डा, डाकू या चोर आदि अपराधी बन जाता है। आत्महीनता से ग्रस्त व्यक्ति का जीवन अपराधी-सा जीवन होता है। उसके ससर्ग या सेवा म रहकर क्या कोई अपने जीवन को निर्दोष, पवित्र और सुखी-शान्त बना सकता है? हीन व्यक्ति के ससर्ग मे रहकर कोई भी अपना आत्मविकास नही कर सकता।

इसीलिए दोनो का ससर्ग त्याज्य है

बन्धुओ! इस जीवनसूत्र मे महर्षि गौतम ने जीवन को शुद्ध, निर्दोष, सुखी, शान्तिमय एव आत्मविकासशील बनाने हेतु अतिमानी और अतिहीन दोनो का संसर्ग

त्याज्य बताया है। क्यों त्याज्य है ? यह मैं दोनों प्रकार के व्यक्तियों का विश्लेषण करके बता चुका हूँ।

आप इस विवेक के प्रकाश मे अपने आपको देखें, और स्वय भी अतिमानी एव अतिहीन न बनें। दोनो ही प्रकार के जीवन दोषयुक्त हैं। उभय जीवन से अनेक दुर्गुण जीवन मे प्रविष्ट हो जाते है, इसलिए अपना जीवन भी इस प्रकार का होने से बचाएँ, साथ ही ऐसे जीवन वाले लोगो से भी अपने आपको दूर रखे। ऐसे लोगो की छाया मे रहने से ससर्गज दोष जीवन मे प्रविष्ट होने का खतरा है। यही कारण है कि महर्षि गौतम ने चेतावनी दी है—

न सेवियव्वा अइमाणी-हीणा *

७२. चुगलखोर का संग बुरा है

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहता हूं, जिसका संग करना बुरा बताया है। महर्षि गौतम जीवन के श्रेष्ठ पारखी थे। उन्होंने निन्द्य जीवन अपनाने का ही नहीं, निन्द्य जीवन वालों का संग करने या उनकी सेवा करने का भी निषेध किया है। गौतमकुलक का यह ४८वाँ जीवनसूत्र है। वह इस प्रकार है—

न सेवियव्वा पिसुणा मणुस्सा

—पिशुन (चुगलखोर या निन्दक) लोगों का सेवन—संग नहीं करना चाहिए।

अब हमें सोचना चाहिए कि पिशुन का जीवन इतना निन्द्य क्यों है और उसका संग क्यों त्याज्य है ?

पिशुन का स्वभाव : दुर्भावपूर्ण

पिशुन का अर्थ है—चुगलखोर, दूसरे की निन्दा या दूसरों की बुराई करना ही जिसका स्वभाव है, वह है पिशुन। एक आचार्य ने पैशुन्य का लक्षण बताया है—

पैशुन्य परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्योद्घाटनं, परगुणासहनतया दोषोद्घाटनं वा।

—पीठ पीछे सत् या असत् दोष को प्रकट करना अथवा दूसरे के गुणों को सहन न कर सकने के कारण उसका दोष बताना पैशुन्य (चुगली) कहलाता है।

पैशुन्य का जिसका स्वभाव है, दूसरों की विद्यमान या अविद्यमान बुराइयों को प्रकट करना ही जिसकी आदत बन जाती है वह पिशुन या चुगलखोर कहलाता है।

चुगलखोर यथार्थ बात को विपरीत रूप में नमक-मिर्च लगाकर पेश करता है। ऐसे ढंग से बात करता है कि उसकी बात में कहीं असत्य होने की गन्ध भी न आ सके। एक राजस्थानी दोहे में चुगलखोर का लक्षण दिया गया है—

उलटी को सुलटी करे, सुलटी को उलटाय।
करे बुरी सब जगत की, ते नर चुगल कहाय ॥

निष्कर्ष यह है कि चुगलखोर जान-बूझकर दूसरों की बुराई करने के लिए मुँह खोलता है। दूसरे के गुण को अवगुण और अवगुण को गुण के रूप में दूसरों के सामने प्रकट करता है। इस प्रकार की चुगलखोरी से उसे कोई खास फायदा नहीं होता,

बल्कि लोग जब उसकी आदत को समझ लेते हैं, तब कोई भी उस पर विश्वास नहीं करता, सभी उसे झूठा (असत्यवादी) समझते हैं। एक बार कदाचित् उसके चक्कर मे व्यक्ति आ जाये किन्तु बाद मे तो कदापि उससे वास्ता नही रखते, उससे रुख नहीं मिलाते।

चुगलखोर अपनी आदत के अनुसार जब किसी की चुगली करने लगता है, तो उसके दोनो ओठ जुड जाते है, वे ऐसे लगते है, मानो विष्ठा उठाने के लिए दो ठीकरे है, उन्ही दो ठीकरो मे वह अपने तालु, कण्ठ और जीभ से दूसरो की निन्दारूपी विष्ठा उठाता है। सुभाषित रत्न भाण्डागार मे यही बात कही है—

> भिन्नकुम्भशकलेन किल्विष, बालकस्य जननी व्यपोहति।
> तालुकण्ठरसनाभिरुज्झिता दुर्जनेन जननी व्यपाकृता ॥[1]

अर्थात्—माता बालक की विष्ठा दो ठीकरो से उठाती है। चुगलखोर ने निन्दा-चुगली रूपी विष्ठा को अपने तालु, कण्ठ एव जीभ द्वारा उठाकर जन्म देने वाली माता को भी मात कर दिया।

कितना अधर्मयुक्त, पापभरा अधर्मकार्य है, चुगलखोर का!

चुगलखोर किसी के बनते हुए कार्य को बिगाडना जानता है, सुधारना नही। प्राय देखा गया है कि चुगलखोर अपने मालिक (स्वामी) को प्रसन्न करके उसका प्रिय बनने के लिए दूसरे के विषय मे झूठी-सच्ची बाते भिडाता है, और दोनो मे मन-मुटाव करा देता है, या दोनो मे एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, अथवा अप्रीति पैदा करा देता है। कितनी अधम—नीच वृत्ति है यह!

रामायण के मधुर प्रसग को कैकेयी रानी की मथरा दासी अरोचक बना देती है। यह तुलसी रामायण का हर पाठक या श्रोता जानता है, रामराज्य को अगर किसी ने एक ही रात मे पलट-किया है तो पिशुनकर्त्री मथरा ने ही। वह चुगलखोर के साथ-साथ कपट क्रिया प्रवीण, एव वागविदग्धा भी थी। उसने जब यह देखा कि कल प्रात ही राम को राजगद्दी पर बिठा दिया जायेगा। इसे रोकने और अपनी मालकिन कैकेयी के पुत्र—भरत को दिलाने की कोशिश मुझे इसी रात म करनी है।

उसने रानी कैकेयी को बहकाया—"अरी रानी! तुझे पता है, कल क्या होने वाला है?"

कैकेयी—"क्या तुझे इतना भी पता नही, कि कल राम को राजगद्दी पर बिठाया जायेगा?"

मथरा—"मुझे तो इसमे भावी असगल-सा दिखता है।"

कैकेयी रोष मे आकर बोली—"चुप रह! तेरी जीभ खिचवा लूंगी जो तूने

---

१. सुभाषित रत्न भाण्डागार, पृ० ६२

ऐसे अशुभसूचक शब्द कहे तो ! भला मेरे बेटे राम को राजगद्दी मिलेगी, इसमें क्या अमंगल होगा ?"

मथरा यह सुन जोर-जोर से रोने लगी और कहने लगी—"अयोध्या का राजा कोई भी बने मेरा क्या नुकसान है ? मैं तो दासी की दासी ही बनी रहूँगी, रानी नहीं बन जाऊँगी ! पर मैं तो तुम्हारे हित की बात कहती थी, तुम्हें नहीं सुहाती तो न सही।"

मथरा के इस मायाजाल को भोली-भाली कैकेयी रानी न समझ पाई, वह बोली—"अच्छा यह बता, राम को राजगद्दी मिलेगी, इसमें मेरा क्या अमंगल होगा ?"

मथरा बहुत कुछ मनाने पर बोली—"राम को राजा बनाया जायेगा, तब राजमाता कौशल्या बनेगी, आपको तो उसकी टहल-चाकरी करने वाली दासी की तरह रहना होगा।"

कैकेयी—"इसमें क्या हुआ ? कौशल्या रानी की सेवा करने में मुझे बड़ा आनन्द आयेगा। और कोई बात हो तो बता !"

मथरा ने पैशुन्य करते हुए कहा—"तुमको क्या पता राजा के राजनीतिक षडयंत्र का ? राम को राजगद्दी देने के पीछे क्या रहस्य है, क्या तुम इसे जानती हो ?"

कैकेयी ने आश्चर्य से कहा—"मैं तो नहीं जानती, तू ही बता।"

मथरा बोली—मैं क्या बताऊँ ? मुझे तो इसमें बहुत बड़ी खटपट मालूम होती है। राम और राजा दशरथ दोनों ऊपर से तो तुमसे प्रसन्न होकर मीठा-मीठा बोलते हैं। अन्दर से दोनों की मिली भगत है। हृदय में दोनों के सरलता नहीं है। अगर राम को राज्याभिषेक करना था, तो भरत को ननिहाल से बुलाना था, तुमसे और उससे भी परामर्श करना था, परन्तु सोचा होगा—तुम दोनों से सलाह लेंगे तो तुम दोनों इस बात का विरोध कर बैठोगे। यही कारण है कि न तो भरत को ननिहाल से बुलाया और न ही तुम्हें पूछा। यह है बाप-बेटों की राजनैतिक चाल।"

कैकेयी अब मथरा के पैशुन्यजाल में पूरी तरह फँस चुकी थी। उसने पूछा—"बहुत अच्छी बात कही तूने ! अब तू ही बता कैसे पासा पलट सकेगा ?"

मथरा बोली—'अब तो यही उपाय हो सकता है कि आप रूठकर कोपभवन में बैठ जायें। राजा जब तुम्हें मनाने आयें तो उनसे तुम्हारे अमानत रखे हुए दो वरदान माँग लेना।"

कैकेयी—"क्या क्या वरदान माँगूँ ?"

मथरा—"यही कि राम को वनवास और भरत को राजगद्दी—ये दो वरदान मांगने से सारा पासा पलट जायेगा।"

कैकेयी रानी चुगलखोर मथरा दासी के बहकावे में आ गई और आगे क्या हुआ सो तो आप सबको मालूम ही है।

मथरा दासी ने सिर्फ अपनी मालकिन की प्रिय बनने के लिए ही राजा दशरथ

और श्रीराम के विरुद्ध कैकेयी रानी को भड़का दिया। चुगलखोरो की आदत की तरह मथरा ने भी जो बात नही थी, उसे अपनी ओर से गड़ ली और राजा और श्रीराम के विषय मे उलटी-सीधी बात बनाकर कैकेयी को बहका दिया।

चुगलखोर को क्या लाभ, क्या हानि ?

चुगलखोरी से चुगलखोर को क्या राजनैतिक लाभ होता है ? इस सम्बन्ध मे नीतिवाक्यामृत म कहा है—

परपैशुन्यैन राज्ञा वल्लभो लोक ।

—दूसरो की चुगली करने से लोग राजा के प्रेमपात्र बन जाते है।

प्राचीनकाल म राजदरबार मे कुछ चुगलखोर लोग रहा करते थे। वे राजा के सम्बन्धियो की चुगली करके एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काते और उनमे अपना उल्लू सीधा करते थे।

कई महिलाओ की ऐसी आदत होती है कि वे घर म निकम्मी बैठी रहती है, विशेष काम होता नही या वे करती नही, तब पाँच-सात बहने मिलकर इधर उधर की गप्पे हाँकेगी या किसी की निन्दा चुगली करेगी। इससे उनका कोई भी पारिवारिक, सामाजिक या आर्थिक लाभ नही होता, बल्कि उनका अविश्वास परिवार आदि मे बढता जाता है, समाज मे ऐसी महिलाओ की कोई इज्जत नही करता और न ही ऐसी झूठी निन्दा करने वाले व्यक्तियो को कोई विशेष जिम्मेवारी का काम सौपता है। ऐसी निन्दा-चुगली करने की जिसे खुजली आती है, वह व्यक्ति प्रतिदिन कई घटे व्यर्थ ही बर्बाद कर देता है, जिस अमूल्य समय का वह अच्छा उपयोग करके अपना सामाजिक और आध्यात्मिक विकास कर सकता था। वह अपनी उस अमूल्य वाणी की शक्ति को भी बर्बाद करता है, जिस वाणी के द्वारा वह दूसरो का भला कर सकता था। इसी कारण राजस्थानी दोहे मे कहा है—

ऊडो जल सूके अवस, नीला वन जल जाय।
चुगल तणा परतापसू, वसती उज्जड जाय॥

भावार्थ स्पष्ट है चुगलखोर लोग कई बार इस प्रकार से एक दूसरे के विरुद्ध झूठी बाते करके सिर फुडवा देते है। वे चुगलखोरी के नशे म इतने चूर हो जाते है कि वे दूसरो की गृहस्थी म आग लगाकर तमाशा देखने लगते है, इससे अनेक लोगो की गृहस्थी उजड जाती है, इसका चुगलखोर को कोई लाभ नही होता। ऐसे ही लोगो से सावधान रहने के लिए हितोपदेश मे कहा गया है—

वर प्राणत्यागो, न च पिशुन वाक्येष्वभिरुचि ।

—प्राणत्याग कर देना अच्छा है, किन्तु चुगलखोरो के वचनो मे दिलचस्पी लेना अच्छा नही।

चुगलखोर के चक्कर मे पडने से कैसे गृहस्थाश्रम बिगडता है, इसके लिए एक प्राचीन दृष्टान्त सुनिये—

चन्द्रकान्त सेठ और नर्मदा सेठानी दोनो पति-पत्नी मे अच्छा प्रेम था। सेठानी पतिव्रता, सेवाभावी और सरलस्वभावी थी। सेठ चन्द्रकान्त भी अपनी पत्नी के प्रति विश्वस्त और आश्वस्त था, इसलिए उस पर सारी गृहस्थी का भार डाल रखा था। इसी गाँव मे मावली नाम की एक बुढिया रहती थी। उससे इनका प्रेम देखा न गया। उसने सोचा—किसी तरह से इन दोनो मे कलह पैदा करना चाहिए। एक दिन नर्मदा घर मे अकेली थी। यही मौका अच्छा समझकर मावली बुढिया पहुँची, बोली—"बहन ! क्या कर रही हो ?'

"बर्तन माज रही हूँ। कहो कैसे आई, बुढिया मा।" नर्मदा ने कहा।

बुढिया ने बाते बघारते हुए कहा—"नर्मदा ! गजब हो गया। तुम जैसी सुलक्षणा, कुलीन एव सुशील लडकी को तुम्हारे माता-पिता ने डुबो दिया।"

नर्मदा—"कहो, क्या हो गया ? कुछ कहो तो सही।"

मावली—'जिस पति के साथ तुम्हारी शादी की गई है, पता है, वह किस जाति का है ?"

नर्मदा—"वह महाजन है।"

मावली—"फूट गये भाग्य ! तुम्हे अभी तक पता ही नही है ? वह तो खारिया है, जाति का खारिया ! तुम्हारे पिता ने जरा-सा भी विचार नही किया। हाय ! अब क्या हो ?"

नर्मदा—"अरे बुढिया मा ! यह क्या बकती हो ?"

मावली—"मै बकती नही हू। सच्ची बात कहती हूँ। अगर मेरी बात पर तुम्हे विश्वास न हो तो तुम खुद परीक्षा करके देख लो। तुम इसका शरीर चाटना, अगर खारा लगे तो समझना कि खारिया है। हाथ कगन को आरसी क्या ?"

यो मावली बुढिया कान मे जहर उगलकर चल दी। बुढिया की बात पर नर्मदा को पक्का विश्वास हो गया। बुढिया अब वहाँ से सेठ चन्द्रकान्त के पास जा रही थी। सयोगवश सेठ उसे रास्ते मे ही मिल गये। बुढिया ने उनसे पूछा—"सेठ ! कहाँ जा रहे हो ?"

चन्द्रकान्त—"यही घर की ओर जा रहा था बुढिया मा ! तुम कहाँ चली ?"

मावली—"यो ही तुम्हारी तरफ आरही थी।"

चन्द्रकान्त—"क्यो, कुछ कहना था ?"

मावली ने पहले तो टालमटूल की फिर सेठ ने आग्रहपूर्वक पूछा—"कुछ तो काम होगा, बुढिया मा ! नि सकोच बताओ न।"

मावली—"बस, तुमसे ही अकेले मे कुछ कहना था। बात यह थी कि मुझे

यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि तुम सरीखे हीरे के गले यह पत्थर बंध गया। गजब हो गया। तुम्हें शायद पता नहीं होगा कि तुम्हारी पत्नी कौन है ?"

चन्द्रकान्त—"वह तो महाजन की लडकी है।"

मावली—"यही तो अफसोस है। अरे! वह डाकन है।"

चन्द्रकान्त—"क्या बक रही हो, बुढिया ?"

मावली—"मैं बक रही हूँ या सच कह रही हूँ, यह तो तुम्हें परीक्षा करने से मालूम हो जायेगा। मैं अपने मुँह से क्या कहूँ ?"

चन्द्रकान्त—"ह, ऐसी बात है ? मुझे तो पता ही नहीं था।"

मावली—अच्छा, आज रात को तुम नींद का बहाना बनाकर देख लेना कि वह तुम्हें चाटती है या नहीं ? फिर तो मानोगे न ?"

यों कहकर मावली वहाँ से झटपट चल दी। सेठ चन्द्रकान्त भी बहम के झूले में झूलता हुआ घर आया। आज नर्मदा ने सेठ का प्रतिदिन की तरह स्वागत नहीं किया। सेठ ने भी उसे आज वक्रदृष्टि से देखा।

चुगलखोर बुढिया का तीर निशाने पर लग चुका था। वह भी तमाशा देखने के लिए पडौस के मकान में आ पहुँची। आज रात को ही दोनों ने एक दूसरे की परीक्षा करने की ठानी। नर्मदा ने सोचा—'यह सो जाये तो मैं चाटकर देखूँ।' चन्द्रकान्त ने सोचा—'जरा कपटनिद्रा ले लूँ तो अभी पता चल जायेगा।' यह सोचकर वह थोडी देर बाद खुर्राटे भरने लगा। नर्मदा अपने पति को निद्राधीन जानकर धीरे से उठी और उसके अंग को ज्यों ही चाटने लगी त्यों ही सेठ एकदम हडबडा कर उठा और कहने लगा—"अरे डाकन! डाकन! दूर हट यहाँ से।" वह भी चमडी का स्वाद खारा लगने के कारण कहने लगी—'ओह! खारिया, खारिया! फूट गये मेरे भाग्य।" इस पर सेठ बोला—"अरी डाकन! हट जा यहाँ से! मेरा जन्म बिगाड दिया।" इस तरह काफी देर तक आपस में बक-झक होती रही। बुढिया मावली इस तमाशे को देखकर प्रसन्न हो रही थी। बहुत देर तक जोर-जोर से लडने-झगडने और चिल्लाने की आवाज सुनकर आस-पास की बहनें इकट्ठी होकर वहाँ आईं। पडौसिनों ने झगडे का कारण जानकर पूछा—"अच्छा, यह बताओ नर्मदा बहन! तुम्हें यह बात किसने कही ?" नर्मदा ने कहा—"मावली बुढिया ने!" "और चन्द्रकान्त भाई! तुम्हें यह बात किसने कही ?" चन्द्रकान्त बोला—"मुझे भी मावली बुढिया ने कही। तब तक मावली बुढिया वहाँ से सरक गई। पडौसिनों ने कहा—"वह तो चुगलखोर है, झूठी है और आपस में लडाने-भिडाने का धन्धा करती है। उसकी बात पर बिलकुल विश्वास मत करो। वह झूठी बात लगाकर सिर फुडाती है। तुम दोनों समझदार होकर भी उसके चक्कर में आ गये। चुगलखोर की बात कभी सच्ची नहीं होती। तुम दोनों को उसने एक दूसरे के विषय में गलतफहमी फैलाकर लडा दिया। चलो

अब तुम परस्पर क्षमायाचना करके शान्त हो जाओ।" इस प्रकार चन्द्रकान्त सेठ और नर्मदा का झगडा पडौसिनो ने शान्त किया। पति-पत्नी दोनो पूर्ववत् प्रेमसरोवर मे डुबकी लगाने लगे। भविष्य मे वे ऐसे चुगलखोरो से सावधान रहने लगे। चुगलखोर का मुँह लगाना अपना ही अनिष्ट करना है।

चुगलखोरी स्वरूप, परिणाम और स्थान

चुगलखोरी को सस्कृत भाषा मे पैशुन्य कहते है। पैशुन्य १८ पापस्थानको मे से एक पापस्थान है। पाप का सेवन साँप के स्पर्श से भी बढकर है। साँप के स्पर्श से तो कदाचित् वह काट खाये तो विष चढ जाने से मृत्यु हो जाये, परन्तु पाप के सेवन से एक जन्म की ही मृत्यु नही, जन्म-जन्मान्तर तक मृत्यु प्राप्त होती है। चुगलखोरी का व्यसन मौखर्य नामक अनर्थदण्ड का एक रूप है। चुगलखोरी करने वाले व्यक्ति को भगवान के यहाँ तो कोई स्थान नही है। जो व्यक्ति चुगलखोरी करता है, वह एक तरह से पीठ का मास खाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति के सामने तो कुछ नही कहता, न उसे प्रेम से एकान्त मे निवेदन करता है, किन्तु उसके पीठ पीछे—परोक्ष मे, उसके गुणो को अवगुण का रूप देकर उसके विषय मे कहता रहता है। इसीलिये भगवान महावीर ने साधको से कहा—

पिट्ठिमस न खाइज्जा

—'पीठ का मास मत खाओ,' यानी पीठ पीछे किसी के दोषो का कीर्तन मत करो।

जो व्यक्ति चुगलखोरी करता है, उसे भगवान महावीर के सघ मे कोई स्थान नही है, क्योकि पैशुन्य एक प्रकार की हिंसा है, और हिंसा को साधु-सघ मे तो कतई स्थान नही है, और श्रावक (प्रशस्त गृहस्थ) सघ मे भी सकल्पी हिंसा को कोई स्थान नही है।

ईसाईधर्म मे एक प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं—सन्त ऑगस्टिन। वे किसी की निन्दा सुनना पसद नही करते थे। उन्होने अपने मकान की दीवारो पर अकित करवा दिया था कि—"चुगलखोर के लिए यहाँ कोई स्थान नही है, यहाँ सिर्फ सच्चाई और अनुभूति का राज्य है।"

एक दिन कुछ मित्र उनसे मिलने आये। वार्तालाप मे वे अपने एक साथी की निन्दा करने लगे, जो उस समय वहाँ उपस्थित नही था।

सत आगस्टिन ने मधुर शब्दो मे उपालम्भ देते हुए कहा—"मित्रो! आपको या तो यह बात बन्द करनी होगी, या मुझे दीवार पर लिखे हुए ये शब्द मिटाने होंगे।"

उन्होने उसी समय निन्दा करना बन्द कर दिया।

चुगलखोरी : परनिन्दा आदि मे शक्ति का अपव्यय

वास्तव मे देखा जाये तो चुगलखोर या पिशुन निन्दक होता है। वह दूसरो की निन्दा करके अपना उत्कर्ष बढ़ाना चाहता है। चुगलखोर की सारी शक्तियाँ निन्दा, छिद्रान्वेषण, कुढन, द्वेष, असन्तोष, ईर्ष्या, प्रतिशोध, दोषारोपण आदि मे ही नष्ट होती रहती है। वह दूसरो पर दोषारोपण करके अपने द्वेष और रोष को बढ़ाता रहता है। चुगलखोर अपने अन्दर रहे हुए दोषो को नही टटोलता, वह दूसरे के दोषो को ही टटोलता रहता है। दूसरो की निन्दा और चुगली करना अपनी तुच्छता प्रकट करना है। एक विचारक ने कहा—

"दुनिया मे निन्दा जैसा कोई रस नहीं है, लेकिन वह परनिन्दा सुनने मे है, अपनी सुनने मे नही।"

हजरत मुहम्मद से एक नमाजी ने कहा—"मै नमाज पढ रहा था, तब मेरे पाँच भाई गप्पे लडा रहे थे। मैने समझाया तो वे उल्टे मेरे पास आकर हुक्के की गुडगुडाहट करते हुए मेरी मजाक करने लगे। मैने नमाज मे उनकी शिकायत खुदा से की।"

हजरत मुहम्मद ने कहा—"नमाज मे किसी की निन्दा (शिकायत) नही की जा सकती। तुमने यह धर्मविरुद्ध कार्य किया है।"

कुराने शरीफ मे भी इसका स्पष्ट निषेध किया गया है—

व ला यगतब बा' दकुम् बादन्।

—तुम म से कोई किसी की पीठ पीछे निन्दा न करे।

परनिन्दा से मनुष्य की इज्जत बढती नही, उससे उसका मुँह दोषयुक्त बनता है, वाणी असत्यमिश्रित बनती है। यह एक मीठा जहर है, जिससे मनुष्य की आत्मा धीरे-धीरे विकास के शून्य बिन्दु पर आ जाती है।

परनिन्दा बहुत बडा पाप है, इससे हिंसा, असत्य आदि कई पाप पनपते है। यही कारण है कि यूरोप म एक 'पेडलाक' (निन्दा निषधक) सोसायटी (कमेटी) है। उसका सदस्य न तो किसी की निन्दा कर सकता है, और न ही सुन सकता है। इस सोसायटी का सदस्य बनते समय तीन बार ताला खोलकर बन्द करना पडता है। उसका रहस्य यह है कि वह यह प्रतिज्ञा करता है कि "मैं आज से मन से, वचन से और कर्म से किसी की निन्दा नही करूंगा।"

चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने एक बार कहा था—"अगर आपके अपने द्वार की सीढ़ियाँ मैली है तो अपने पडौसी की छत पर पडी हुई गन्दगी के लिये उलाहना मत दीजिये।" भावार्थ यह है अगर आपका जीवन गन्दा है तो आप दूसरो के जीवन म पडी हुई गन्दगी को कैसे साफ कर सकेंगे?

मनुष्य यह चाहता है कि दूसरे लोग मेरी निन्दा न करें, मुझे भला-बुरा न कहें, इसके लिये आवश्यक है कि वह भी किसी की निन्दा न करे।

परनिन्दा करने से व्यक्ति जिसकी निन्दा करता है, उसका शत्रु बन जाता है। शत्रुओं को बढाने का सबसे आसान नुस्खा है—उनकी निन्दा। परन्तु जो मनुष्य सारे जगत् को अपना बनाना चाहता है, उसे क्या करना चाहिए ? इसके लिए चाणक्य-नीति मे कहा गया है—

यदीच्छसि वशीकर्त्तु जगदेकेन कर्मणा।
परापवादशस्येभ्यो, गा चरन्तीं निवारय ॥

—अगर तुम सारे जगत् को केवल एक कर्म से वश करना चाहते हो तो परनिन्दारूप धान्य को चरने वाली जीभरूप गाय को रोककर रखो।

एक बार फिनलैण्ड के विश्वविख्यात सगीतकार सिबिलियस से एक नौसिखिया सगीतज्ञ मिलने आया। उसने बातचीत के दौरान कहा—"कुछ निन्दक मेरे पीछे हाथ धोकर पडे है, वे मेरी इतनी तीखी आलोचना (निन्दा) करते है, जिसे सुनकर मैं तिलमिला उठता हूँ, निराश हो जाता हूँ। बताइये, मुझे क्या करना चाहिए ?"

सिबिलियस ने कहा—"मित्र ! तुम्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। तुम उन निन्दको की बातो पर ध्यान ही मत दो। यदि वास्तव मे तुम्हारी कोई भूल है, तो उसे सुधार लो। तुम्हें याद रखना चाहिए कि आज दिन तक किसी भी निन्दक के सम्मान मे कोई स्मारक नही बनाया गया और न ही उसकी मूर्ति बनाकर किसी ने उसकी पूजा की है। ससार मे निन्दक को हमेशा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।"

ईर्ष्यालु, निन्दक और चुगलखोर सबकी आँखो मे अपना सम्मान खो बैठते है। उन्हे अविश्वासी, अप्रामाणिक और ओछी प्रकृति का समझा जाता है। कोई उनसे घुलता-मिलता नही। सभी सशक बने रहते है। ऐसे लोग भीतर ही भीतर असन्तुष्ट, उद्विग्न और खिन्न भी रहते है। उनका शरीर और मन अध पतन की दिशा म गिरता चला जाता है, क्योकि निन्दक या चुगलखोर लोग दूसरो की तरक्की देखकर जलते रहते है, वे रातदिन यही सोचते रहते है कि किसी तरीक से इसे नीचे गिराया जाए, लोगो की दृष्टि म इसको बदनाम किया जाए। इसी प्रकार के दुश्चिन्तन को जैन परिभाषा म रौद्रध्यान कहते हैं, जो महाभयकर कुध्यान है। इसी कुध्यान के कारण मनुष्य दूसरो की हिंसा करने, दूसरो को नीचा दिखाने, दूसरो का सर्वस्व हरण करने, दूसरे के साथ धोखेबाजी करने या दूसरो की वस्तु अपने कब्जे म करने की उधेड़बुन में रहता है। वह सदैव यह घात लगाता रहता है कि कैसे दूसरो का सर्वनाश कर दूं।

चुगलखोर मे कुढन होती रहती है। कुढन ऐसी बीमारी है, जिसका कोई इलाज नहीं। वे स्वयं प्रयत्नपूर्वक उच्च स्थिति मे पहुँचने का साहस तो नही करते,

किन्तु जो उच्च स्थिति मे पहुँचे हुए हैं, उनकी प्रगति देखकर असन्तोष से कुढ़ते रहते हैं, उनसे ईर्ष्या करते हैं। उस ईर्ष्या को सफल करने के लिए वे उच्च स्थिति में पहुँचे हुए लोगों की निन्दा करते हैं, उन्हें बदनाम करते हैं, उनके विषय मे झूठी एवं बनावटी बातें गढ़कर उनकी चुगली करते है। चुगली या पैशुन्य का मूल कारण दूसरो की प्रशसा या बढ़ती सहन न करना है। अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति चुगलखोर अपने पुरुषार्थ द्वारा न करके दूसरो की निन्दा-चुगली से करता है। ऐसे लोग पुरुषार्थ की कठोर पगडडी पर चलने की अपेक्षा यही ठीक समझते हैं कि आगे बढ़े हुओ की टाँग पकडकर पीछे घसीटा जाए, आगे बढ़ने से रोका जाए, उनकी निन्दा की जाए, उनके विषय मे झूठी बातें (अफवाहें) फैलाकर उन्हें नीचा दिखाया जाए, उन्हें हानि पहुँचाई जाए।

चुगलखोरी के साथ-साथ अनेक क्षुद्र मनोवृत्तियो का साम्राज्य है। कुढ़न और ईर्ष्या की आग मे झुलसते रहने वाले व्यक्ति अपना तो मानसिक अहित करते ही हैं, अपनी इस जलन को बुझाने के लिए जो षडयन्त्र रचते हैं, उस व्यक्ति के प्रति लोगो को भडकाने के लिए निन्दा, चुगली आदि मे अपनी इतनी शक्ति खर्च करते हैं कि यदि उतनी शक्ति की बचत करके किसी उपयोगी कार्य म लगाई जाती तो बहुत उन्नति हो गई होती। पिशुन और निन्दक लोगो का जितना समय और मनोयोग इन दुष्प्रवृत्तियो लगता है, यदि उतना समय आत्मकल्याण या दूसरो की सेवा-सहायता मे लगता तो कितना हितसाधन हो सकता था ? चुगलखोर की मूर्खता पर जितना गम्भीरता से विचार किया जाता है, उतनी ही उसकी व्यर्थता और हानि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगती है।

चुगलखोर . छिद्रान्वेषी, गुणद्वेषी

चुगलखोर मे छिद्रान्वेषण की वृत्ति मुख्य होती है। वह दूसरो के दोष ही दोष ढूंढ़ता है। ऐसे छिद्रान्वेषी प्रकृति के लोगो को सारी दुनिया बुराइयो से भरी, दुष्ट, दुराचारी और स्वशत्रु दिखाई देती है। अपनी दोषदृष्टि के कारण वह अपने चारो ओर नारकीय वातावरण तैयार कर लेता है। निन्दा और आलोचना के अतिरिक्त वे किसी के प्रति अच्छे भाव प्रकट ही नही कर सकते। किसी की प्रशंसा के शब्द उनके मुख से निकलते ही नही। ऐसे लोग अपनी इस क्षुद्रता के कारण सबके बुरे बने रहते है। पीठ पीछे की हुई निन्दा अतिशयोक्तिपूर्वक उस व्यक्ति के पास जा पहुँचती है, जिसके प्रति बुरा अभिमत प्रकट किया गया था। सुनने वाले लोग प्राय अपनी विशेषता एव हितैषिता प्रकट करने के लिए उस सुनी हुई बुराई को उस तक पहुँचा देते हैं, जिसके सम्बन्ध मे कटु अभिमत प्रकट किया गया था। ऐसी दशा मे वह भी प्रतिशोध की भावना से शत्रुता का ही रुख धारण करता है और धीरे-धीरे उसके विरोधियो और शत्रुओ की सख्या बढ़ती जाती है। श्री त्रिलोक काव्य संग्रह मे भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

छिद्र पर देख निन्दा करे केम, छोडके छिद्र सुगुण लहीजे ।
बबुल देख के कांटा ग्रहे मत, छाया ने शीतल होत सहीजे ॥
तुच्छ असार आहार है धनु का, छीर विगै तामें सा कहीजे ।
कहत त्रिलोक स्वछिद्र को टालत, काहे को अन्य का छिद्रगहीजे ॥

कई लोग बुराइयो का प्रतिरोध करने के आवेश मे लगातार किसी की निन्दा या बुराई करते जाते है, परन्तु यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि किसी की बुराई, निन्दा या चुगली करने से उसका सुधार नही किया जा सकता, उसके लिए उसको परिस्थितियो, समस्याओ और मनोवृत्तियो को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनके कारण वह बुराई उत्पन्न होती है। अत चुगलखोरी या निन्दा करना गंदगी या गंदी गटरो की ओर झांकना है, उससे आन्तरिक सफाई नहीं हो सकती, सुगन्धित फूलो या बगीचो पर दृष्टि रखने से ही मनुष्य की आत्मिक स्वच्छता हो सकती है।

पैशुन्य से अभ्याख्यान तक

जो मनुष्य पैशुन्य व्यसनी होता है, वह पैशुन्य तक ही सीमित नही रहता, पैशुन्य से परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन की पापपूर्ण सीढ़ियो से नीचा उतरता हुआ अभ्याख्यान तक पहुँच जाता है। जिसे चुगली खाने की आदत होती है, वह निश्चित ही दूसरे की पीठ पीछे निन्दा किये बिना नही रहता। जब निन्दा करता है तो अपने गुट मे मिल जाने वाले या अपने स्वर मे स्वर मिलाने वाले लोगो के प्रति प्रीति (मोह), अथवा अपने मालिक का प्रिय बनने के लिए उसके प्रति प्रीति और जिसकी निन्दा कर रहा है, उसके प्रति अप्रीति (घृणा) पैदा होती है। फिर अगर कोई उस व्यक्ति को अपनी कही गई (निन्दा की) बात सिद्ध करने के लिये कहा जाता है तो वह नाना प्रकार के झूठ, फरेब, दम्भ, तिकडमबाजी आदि करता है, जिसे मायामृषा कहते है, वहाँ तक पहुँच जाता है। कपटपूर्वक षड्यन्त्र रचता है। देव, गुरु और धर्म की झूठी सौगन्ध खाकर इन्हें भी धता बताकर अपना उल्लू सिद्ध करने का प्रयास करता है, और फिर पहुँच जाता है अभ्याख्यान के मच पर— यानी जिसकी चुगली करता है, उस पर मिथ्या दोषारोपण कर देता है। इस प्रकार पैशुन्य का रसिक अनेक पापो का पु ज लेकर नरक यात्रा करता है।

इसलिए ऐसे पैशुन्य के शिकार व्यक्ति की सगति चाण्डाल के समान त्याज्य है, न ही उसकी सेवा मे रहना चाहिये, न ही उसके आश्रय मे। इसी बात को त्रिलोक काव्य सग्रह मे सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया गया है—

नरक निगोद भ्रमे निन्दा को करणहार,
चडालसमान वाकी सगति न काम की।
आपकी बडाई पर तात मे मगन मूढ,
ताकत है छिद्र पर नियत हराम की।
जाको निन्दा बात सुण खुशी नही होय,
भूल, पीछे से कहेगो दुष्ट तेरी बदनाम की।

कहत त्रिलोक तेरे दोष है, निन्दक माँहो,
यों से मर जाए तब गति यम धाम की ॥[1]

भावार्थ स्पष्ट है।

पिशुन का संसर्ग महादु:खदायक

निष्कर्ष यह है कि चुगलखोर जब अभ्याख्यान तक पहुँच जाता है, तब अभ्याख्यान—झूठा कलक लगाने मे कसर नही रखता। अभ्याख्यान का फल क्या होता है ? इसका उत्तर पाने के लिये भगवतीसूत्र का पृष्ठ टटोलना होगा। वहाँ बताया गया है—जो दूसरे पर झूठा कलक लगाता है, वह उसी प्रकार के कर्मों का बन्धन करता है। जहाँ वे उदय मे आते है, वही वह भोगता है।

पिशुन के सग से कितनी हानि उठानी पडती है ? इसके लिए एक प्राचीन उदाहरण लीजिये—

चक्रदेव महाविदेह क्षेत्रवर्ती चक्रवालनगरवासी अप्रतिचक्र सार्थवाह का पुत्र था। उसकी माता का नाम सुमगला था। इसी नगर के सोमशर्मा पुरोहित का पुत्र, नदीवर्द्धना का आत्मज यज्ञदेव उसका मित्र था। चक्रदेव की तो यज्ञदेव के प्रति सद्भावपूर्ण मैत्री थी, मगर यज्ञदेव की उसके प्रति कपटपूर्ण मैत्री थी। वह चक्रदेव का छिद्र देखता रहता था। चक्रदेव की सम्पदा देखकर उसे सहन नही होती थी। पर चक्रदेव के निखालिस जीवन मे जब वह कोई भी छिद्र न पा सका तो उसने सोचा—"ऐसा कोई झूठा कलक लगाकर इसे दण्डित और अपमानित करूँ जिससे राजा इसे नगरनिर्वासित कर दे।" यज्ञदेव उसी नगरनिवासी चन्दन सार्थवाह के यहाँ चोरी करके बहुत-सा माल ले आया और चक्रदेव के पास आकर कहने लगा—"मित्र ! मेरा धन-माल तुम्हारे यहाँ गुप्तरूप से रख लो।" पहले तो कुवेला मे लाने के कारण चक्रदेव ने अपने यहाँ उस माल को रखने से इन्कार कर दिया, परन्तु बाद मे यज्ञदेव द्वारा अत्यन्त आग्रह करने पर लिहाज मे आकर उसने वह माल गुप्त रूप से रख लिया। चन्दन सार्थवाह के यहाँ चोरी हो गई है, यह बात जब फैलती-फैलती चक्रदेव के कानो मे पडी तो उसके मन मे शका हुई। वह यज्ञदेव के पास समाधानार्थ पहुँचा। यज्ञदेव ने कहा—"वाह मित्र ! ऐसी क्या बात करते हो ? क्या मैं चोरी का माल तुम्हारे यहाँ रखकर तुम्हें सकट मे डालूगा ?" चक्रदेव का समाधान हो गया।

इधर चदन सार्थवाह राजा के पास फरियाद लेकर पहुँचा। राजा ने पूछा—"क्या-क्या माल गया ?" उसने चोरी हुए माल की सूची बनाकर राजा को सौप दी। कार्यालय मे भी रिपोर्ट लिखा दी। तत्काल राजा ने सार्वजनिक घोषणा करवाई कि

---

१. त्रिलोक काव्य सग्रह।

२. जेण परं अलिएणं असंतवयणेणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ। तस्स णं तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जति। जत्थेव णं अभिसमागच्छति, तत्थेव पडिसवेदेइ।

—भगवतीसूत्र ५/६

"चंदन सार्थवाह के यहाँ चोरी हुई है। जिसने उसके यहाँ चोरी की है, वह माल सहित आकर राजा के समक्ष अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, उसे राजा माफ कर देंगे। अन्यथा बाद मे राजा को अपराधी का पता लगेगा, तो वे उसे कठोर दण्ड देंगे, उसको प्राणदण्ड भी दे सकते है।" इस घोषणा के बाद ५ दिन तक चोरी का पता न लगा। अत यज्ञदेव आकर कहने लगा—"राजन्! मित्र का छिद्र प्रकट करना उचित नहीं है, तथापि राजा के समक्ष तो जैसा जानता हो, वैसा कहना चाहिए, यह नीति है। यद्यपि वह मित्र है, किन्तु इस लोक और परलोक के विरुद्ध आचरण करने वाले दु ख-दायक मित्र का क्या करूँ? पितृतुल्य राजा की उपेक्षा कैसे करूँ? जो देखा है, वही मैं आपको कहता हूँ।"

राजा—"जैसी बात हो, वैसी कहो।"

यज्ञदेव—"राजन्! मैने जैसा सुना है वैसा कहता हू। इस चोरी का सारा माल चक्रदेव के यहाँ है। अगर वह न माने तो उसके घर की तलाशी ली जाए। अब आप जैसा उचित समझे, करे। मेरा तो वह बडा भाई है। उसे माफ कर दे तो बहुत अच्छा।"

राजा—"तुम्हारी बात पर गौर किया जाएगा। अगर उसके घर की तलाशी लेने पर दोषी पाया गया तो यथायोग्य दण्ड दिया जाएगा।"

राजा ने नगर के न्यायी पचो को बुलाकर सारी बात उन्हें समझा दी। कहा—"चदन साथवाह के भण्डारी को साथ लेकर आप सब चक्रदेव के घर की तलाशी ले।" पचो ने सोचा—'चक्रदेव तो धर्मावतार है। वह चोरी करे, ऐसा मानने मे नही आता।' फिर भी राजा का आदेश था, इसलिए वे सब चक्रदेव के यहाँ पहुँचे। चक्रदेव ने सबका स्वागत किया। पचो ने राजा का आदेश उसे सुना दिया। चक्रदेव ने नि शक होकर कहा—"आप मेरे घर की तलाशी लेना चाहें तो ले सकते हैं।" पच नगर के वृद्ध पुरुषो तथा राजपुरुषो के साथ लेकर गये थे। अत उन्हें तलाशी लेने को कहा। घर मे देखने पर उन्हें चदन सार्थवाह का चोरी गया हुआ माल मिल गया। उन्होंने सारा माल बाहर लाकर चदन सार्थवाह के भडारी को बताया। उसे देखकर बडा दु ख हुआ। पचो ने चक्रदेव से पूछा—"तुम्हारे घर मे यह सामान कहाँ से आया?" चक्रदेव ने सोचा—मित्र का नाम कैसे लूँ। इसके सिर चोरी का कलक आए तो मेरी सज्जनता लज्जित होगी। अत पचो ने विविध रूप से पूछा, पर चक्रदेव ने नाम न लिया। पचो को विश्वास न हुआ कि चक्रदेव ने चोरी की है। अत कहा—नि सकोच होकर जैसी बात हो, कहो। फिर भी उसने कुछ भी न बताया तो कोतवाल ने गिरफ्तार करके उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने भी चक्रदेव को वास्तविक बात बताने को कहा। पर चक्रदेव ने पहले की तरह ही कहा। राजा को चक्रदेव पर शका हुई। उसे और तो कुछ कहा नही नगर के बाहर वन मे निकाल दिया। चक्रदेव ने मन ही मन सोचा—मेरा इतना पराभव और अपयश हुआ। अत अब तो जीना बेकार है। यो सोचकर देवालय के निकट-वर्ती बड़ मे फासा डालकर गले मे लगाया।

उसी समय वन देवी ने यह महा-अनर्थ जानकर चक्रदेव पर करुणा करके जैसी बात थी, वह ज्यो की त्यो राजमाता के घट मे आकर कहलाई तथा यह भी सूचित किया कि नगर के बाहर चक्रदेव ने आत्महत्या करने हेतु गले मे फाँसा लगाया है, उसे रोको और सम्मान सहित नगर मे लाओ। यह सुनते ही राजा ने दुष्ट यज्ञदेव को पकड लाने का आदेश दिया और स्वय ने जाकर वन मे फासा लगाते चक्रदेव को रोका। फिर साथ मे बिठाकर राज दरबार मे लाए। आश्वासन दिया। बोले—तू सच्चा था तो इतना पूछने पर तूने बताया क्यो नही ? तेरा सारा वृत्तान्त वनदेवी ने मेरी माता के घट मे आकर बताया है, यज्ञदेव को झूठा कहा है, उसने तुझे फँसाया है। फिर राजा ने उससे क्षमायाचना की।

इतने मे तो राजपुरुष यज्ञदेव को रस्सो मे बाँधकर राजा के समक्ष ले आये। राजा ने कहा—"इस महादुष्ट कृतघ्न एव विश्वासघाती की जीभ काट लो, इसकी दोनो आँखें निकाल लो। इसका घर लूट लो। इसे मार-पीटकर देश निकाला कर दो।" यह सुनते ही चक्रदेव राजा के चरणो म पडकर कहने लगा—"राजन् ! मुझे और कुछ नही चाहिए, यज्ञदेव को बन्धनमुक्त कर दें।" राजा ने कहा—"यह तो महा-दुष्ट है, विश्वासघाती है, इसे दण्ड मिलना चाहिए।" 'जो भी हो यज्ञदेव को जीवन दान दीजिये। मुझे और कुछ नही चाहिये। इसे जीवन दान दीजिये यही मेरे लिये सर्वस्व प्राप्ति है।"

राजा न उसकी आग्रह भरी प्रार्थना पर यज्ञदेव को मुक्त कर दिया। चक्रदेव ने राजा का बहुत आग्रह माना। राजा ने चक्रदेव को बहुत आदर दिया। लोगो की दृष्टि म चक्रदेव बहुत ही सम्मान्य बन गया। परन्तु यज्ञदेव की प्रतिष्ठा समाप्त हो गई। वह जीते जी मृतवत् हो गया। चक्रदेव को इस घटना से ससार से वैराग्य हो गया—"अहो ! कैसी है कर्म की विचित्रता ! ससार की असारता और मित्र की भी विश्वासघातता ! ऐसे स्वार्थ और कपट से भरे मित्रादि युक्त ससार की मोहमाया का परित्याग करना ही उचित है।"

अग्निभूति नामक गणधर इसी अवसर पर पधार गये। चक्रदेव ने उनके दर्शन किये, देशना सुनी। धर्म के सम्बन्ध म सारी बात सुनी तो सर्वप्रथम मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यक्त्व ग्रहण किया, तत्पश्चात् देशविरति (श्रावक व्रत) ग्रहण किया। वैराग्यवृत्ति बढी। दीक्षा के परिणाम हुए। गुरु से निवेदन किया। गुरु ने चक्रदेव को सर्वविरति के योग्य जानकर महाव्रती दीक्षा दी। तप सयम का शुद्धतापूर्वक आजीवन पालन किया। यहाँ से शरीर छोडकर चक्रदेव मुनि पाचवे देवलोक म गए। यज्ञदेव अपने कलुषित पैशुन्यकर्म के फलस्वरूप मर कर दूसरी नरक भूमि में उत्पन्न हुआ।

बन्धुओ ! इस प्रकार चक्रदेव यज्ञदेव जैसे चुगलखोर का सग छोड़कर सुखी हुआ। मगर यज्ञदेव तो वहाँ से छठी नरक मे जायेगा। अनन्तकाल तक ससार परिभ्रमण करेगा। इसीलिये महर्षि गौतम ने चेतावनी दी है—

न सेवियव्वा पिसुणा मणुस्सा।

७३. जो धार्मिक, वे ही सेवापात्र

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मै आपके समक्ष ऐसे जीवन की व्याख्या प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो सेवा के योग्य है, जिसकी सगति और सेवा मे रहने से मनुष्य का जीवन धन्य एव पावन बन जाता है। अथवा ससार मे जो सबसे अधिक सेवा का पात्र है। ऐसा जीवन है—धार्मिक जीवन। दूसरे शब्दो मे कहूँ तो महर्षि गौतम ने ऐसे व्यक्तियो को सेवा-पात्र या सेव्य बताया है, जो धार्मिक हो। गौतमकुलक का यह ५६वाँ जीवन-सूत्र है, जिसमे महर्षि गौतम ने बताया है—

जे धम्मिया ते खलु सेवियव्वा

अर्थात्—जो धार्मिक है, वे सेवा पात्र है, उनकी सेवा करनी चाहिए अथवा उनकी सेवा-सगति मे रहना चाहिए। धार्मिक किसे कहना चाहिए ? उनकी सेवा करने से क्या-क्या लाभ है ? उनकी सेवा के अवसर क्यो ढूंढने चाहिए ? इन सब पहलुओ पर मैं आपके समक्ष चर्चा करने का प्रयास करूँगा।

धार्मिक कौन यह या वह ?

सामान्य रूप से धार्मिक उसे कहा जाता है—जो धर्म का पालन करे। परन्तु साम्प्रदायिक लोगो का धार्मिक को नापने का गज दूसरा होता है। वे अपने धर्म-सम्प्रदाय के क्रियाकाण्डो से उसे नापते हैं, अगर किसी धर्म सम्प्रदाय वाला व्यक्ति नीतिमान हो, प्रामाणिक हो, सदाचारी हो, अहिंसा, सत्य आदि व्रतो का आचरण करता हो, परन्तु अमुक धार्मिक क्रियाकाण्ड न करता हो तो उसे उस धर्म सम्प्रदाय के धुरन्धर पण्डित, मौलवी, उपाध्याय, आचार्य या वरिष्ठ अधिकारी धार्मिक नही कहेगे। वे प्राय यही कहेगे—यह व्यक्ति और तो सब तरह से ठीक है, किन्तु हमारे धर्म (मजहब) की दृष्टि से धार्मिक नही है। क्योकि यह नमाज नही पढता या प्रार्थना नही करता अथवा मन्दिर मे नही आता, गुरुद्वारे मे नही आता अथवा उपाश्रय मे आकर अमुक धार्मिक क्रियाकाण्ड नही करता।

महात्मा गाधीजी चुस्त धार्मिक थे। वे धर्म के अहिंसा, सत्य आदि अगो का पालन करते थे, जीवन मे नीतिमान, सत्यवादी, प्रामाणिक और परमात्मा के प्रति दृढ़ विश्वासी थे। उनकी धार्मिकता मे कोई कसर नही थी। भारतीय स्वातन्त्र्य सग्राम के जमाने में महात्मा गांधीजी के दो परम सहयोगी कॉंग्रेसी थे—मोहम्मद अली और शौकत अली। उनसे किसी ने महात्मा गांधीजी के सम्बन्ध मे पूछा—गाधीजी कैसे

व्यक्ति हैं ?" उन्होने कहा—"वैसे तो भले आदमी है, चरित्रवान है, परन्तु इस्लाम धर्म की दृष्टि से वे निकृष्ट (खराब) से निकृष्ट व्यक्ति है।" उनका आशय था—मुस्लिम मजहब की दृष्टि मे वे धार्मिक नही है क्योंकि वे मजहबी दीवाने नही थे, धार्मिक पागलपन, कट्टरता या धर्मान्धता उनमे नही थी।

औरंगजेब बादशाह कट्टर मुसलमान था। कहते हैं, वह नमाज पढ़ता था, रोजे रखता था, अन्य मजहबी क्रियाकाण्ड करता था। परन्तु शुद्ध धर्म के तत्त्वो का उसमे नामोनिशान न था। वह कट्टर धर्म-जनूनी था, धर्मान्धता के आवेश मे आकर उसने लाखो हिन्दुओ को जबरन मुसलमान बनाया था। जो हिन्दू या सिक्ख मुसलमान नही बने, उन्हे मौत के घाट उतार दिया गया। उसमे राज्यलिप्सा बहुत जबर्दस्त थी, साथ ही हिन्दुओ के साथ छल-कपट करके उन्हे मरवा देने राज्य छीन लेने की बुरी नीयत भी थी। इस दृष्टि से न तो उसम अहिंसा थी, न सत्य था, और जहाँ कपट, झूठ-फरेब आदि थे, वहाँ चोरी का पाप आ ही जाता है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे भी औरंगजेब की दृष्टि स्पष्ट नही थी, राज्यलिप्सा, राज्य वृद्धि की अहर्निश लालसा न ही उसके द्वारा अपने पिता की दुर्गति करवाई अपने सगे भाइयो को मौत के मुह मे ठेलवा दिया गया। फिर भी मुस्लिम जगत् मे औरंगजेब को धार्मिक एव धर्मसेवा करने वाला माना जाता है। क्या इस प्रकार के व्यक्ति को जिसमे केवल अमुक धर्म सम्प्रदाय के ही क्रियाकाण्ड हो धर्म के तत्त्वो—या अहिंसा-सत्यादि अगो का लेश भी न हो, धार्मिक कहा जा सकता है ? कदापि नही।

और ऐसा व्यक्ति, जो शराब भी पीता हो, मांसाहार भी करता हो, जुआ, चोरी, शिकार, वेश्यागमन एव परस्त्रीगमन आदि दुर्व्यसनो मे रचा-पचा हो, परन्तु मन्दिर मे जाता हो, आरती करता हो, शखनाद या घटावादन करता हो, पूजा-पाठ या सन्ध्योपासना करता हो, अपने चौके मे किसी असवर्ण को घुसने न देता हो, चौका पूरा शुद्ध रखता हो, जनेऊ रखता हो, साढे ग्यारह नबर का तिलक लगाता हो, चोटी रखता हो, क्या इतने से हम उसे धार्मिक कह सकते है ? जबकि धर्म के प्रथम अगभूत कुव्यसन त्याग उसमे नही है, नैतिक जीवन का क, ख, ग, उसने नही पढा है, तब नीति-धर्म-तत्त्वविहीन व्यक्ति के जीवन केवल धार्मिक चिन्हो और रीतिरस्मो के होने मात्र से धार्मिक जीवन का प्रमाणपत्र कैसे दिया जा सकता है ?

अफ्रीका मे वर्षों से रहने वाले एक ब्राह्मण की सच्ची घटना है। वह सभी कुव्यसनो मे ग्रस्त था। परन्तु जनेऊ और चोटी रखता था, चौके की पूरी शुद्धि रखता था। एक बार कोई सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार का व्यक्ति उसके पुत्र के साथ अपनी पुत्री की सगाई पक्की करने के लिए आया। बातचीत के सिलसिले मे उसने उक्त ब्राह्मण के पुत्र से पूछा—"कहो जी ! तुम मांसाहार तो नहीं करते ?" उसने कहा—"मांस, अंडे खाने मे कौन-सा पाप या बुराई है ? हम चाहे मांस खाते हो, पर

अपना चौका भ्रष्ट नही होने देते । और मास भी तभी खाता हूँ, जिस दिन शराब पी लेता हूँ, और शिकार खेलकर किसी जीव को मार लाता हूँ ।"

आगन्तुक—"राम ! राम ! शराब भी पीते हो तुम ! तब तो तुम पूरे असुर हो । और शिकार खेलकर निर्दोष पशुओ का वध क्यो करते हो ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"अजी ! शराब भी तभी पीता हूँ, जिस दिन जुए मे जीत जाता हूँ । रोज-रोज नही पीता । और फिर शराब पीने मे कौन-सी बुराई है ? यह तो टॉनिक है । भोजन को पचा देती है ।"

आगन्तुक—"हरे-हरे ! जुआ भी खेलते हो, तुम ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"जुआ तो बिना किसी प्रकार की हिंसा किये, झूठ बोले या चोरी किये बिना धन कमाने का सात्त्विक धधा है । इसमे क्या बुराई है ? और जुआ भी मैं तभी खेलता हूँ, जब चोरी का माल आ जाता है ?"

आगन्तुक—"अरे पापी ! चोरी भी करते हो तुम ? यह तो महापाप है ।"

ब्राह्मण-पुत्र—"चोरी तो बहुत ही आसान धधा है । जो धनाढ्य लोग कृपणतावश दान नही करते, गरीबो की सहायता व सेवा नही करते, उन्हे सबक सिखाने तथा गरीबो मे धन वितरण करने हेतु ही मैं चोरी करता हूँ । फिर चोरी भी तब करता हूँ, जिस दिन वेश्या के यहाँ जाता हूँ ।'

आगन्तुक—"अरे पापात्मा ! क्या तू वेश्यागमन भी करता है ?"

ब्राह्मण-पुत्र—वेश्या तो सारे नगर की वधू है, यह तो किसी एक के साथ परिणीत नही है, जब कभी कामोद्रेक होता है तो वेश्या के यहाँ जाकर शान्त कर आता हूँ । और वेश्या के यहाँ भी तभी जाता हूँ, जब कोई पराई स्त्री मेरे चगुल मे नही फँसती ।"

आगन्तुक—"अरे पातकी ! तू पराई स्त्रियाँ भी ताकता है ? ऐसा पाप करने से तू किस जन्म मे छूटेगा ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"जो परस्त्री, मुझे चाहती हो, मेरे पर मुग्ध हो उसी के साथ सगम करता हूँ, अन्य स्त्री के साथ नही । और परस्त्री के पास भी तभी जाता हूँ, जब हराम का पैसा आ जाता है ।"

आगन्तुक—"तो फिर तुम कहाँ के धर्मात्मा हो ? तुम्हारे नखशिख मे धर्म का लेश भी नही है ।"

ब्राह्मण-पुत्र—"हम पूरे धार्मिक है । देखिए, हम चोटी-जनेऊ रखते हैं, मन्दिर मे जाते हैं, आरती करते हैं, पूजा-पाठ करते है, अपने चौके मे किसी भी अछूत को घुसने नही देते ।"

क्या आपकी अन्तरात्मा ऐसे नकली धार्मिक को धार्मिक कहेगी ?

इसी प्रकार कई बार वास्तविक धार्मिक और नकली धार्मिक मे अन्तर करना

कठिन हो जाता है। नकली धर्मात्मा बने हुए लोगो के चारो ओर भीड लगी रहती है। वे महन्त, गुसाईं, मन्दिर के पुजारी या अमुक उच्च पद पर होते हैं। भोली जनता उनके वर्चस्व को देखकर उन्हे बडे आदमी, धार्मिक या धर्म-रक्षक मानती है, परन्तु वे दूसरे की बहू-बेटियो पर बुरी नजर डालते है, उन्हे भय या प्रलोभन देकर किसी भी प्रकार से अपने जाल मे फसाकर भ्रष्ट कर देते हैं। बडी-बडी जागीरी और जमीदारी उनके पास है, या मन्दिर की लाखो की आमदनी उनके भोग-विलास पर खर्च होती है। वे पुत्र-कामनावश आई हुई भोली-भाली युवतियो, को पुत्र की, धन या अन्य साधन की आशा मे आए हुए अपने भक्तो की इच्छा पूर्ण करते है। यत्र, मत्र तत्र, गडा, ताबीज आदि देकर वे सासारिक लोगो की कामनाओ को पूर्ण करने का प्रयत्न करते है। उनका महारम्भी-महापरिग्रही जीवन क्या केवल किसी धार्मिक पद से सम्प्रदाय-भक्तो की भीड से सच्चे माने मे धार्मिक जीवन कहा जा सकता है? मेरा अनुमान है, आप ऐसे व्यक्तियो को धार्मिक कहना पसद नही करेगे। परन्तु आम जनता की स्थूल आँखो मे वे धर्मात्मा बने हुए है, वे ही आम जनता पर धार्मिक नाम से छाये रहते है।

किन्तु कोई सादा सीधा गरीब, ग्रामीण धर्मपरायण स्त्री या पुरुष उनके मन्दिर या मकान की किसी कोठरी मे आश्रय लेना चाहे तो वे उसे प्राय ठुकरा देते है। वह चाहे जितनी आरजू-मिन्नत करे, उन तथाकथित धार्मिको का हृदय नही पसीजता, वे उसे विधर्मी, या अन्य धर्मी अथवा अधर्मी कहने का साहस करके उसे भगा देते है, वहाँ से।

एक छोटा-सा सुन्दर गाँव था। गाँव के निकट ही सगमरमर का बना एक भव्य मन्दिर था। प्रभात काल की सुनहरी किरणे उस पर पडती तो उसकी शोभा मे चार चाद लग जाते। मन्दिर का पुजारी इस मन्दिर की शोभा बढाने के लिए अहर्निश जागरूक रहता था। इस कारण पुजारी की सत्ता भी दिनोदिन बढने लगी। आगे चलकर पुजारी ही मन्दिर का सर्वेसर्वा बना दिया गया। पुजारी ने मन्दिर के नियमोपनियम एव विधान बना लिये, उन नियमो आदि को कैसे क्रियान्वित करना, यह भी उसने निश्चित कर लिया। गाँव के लोग उस पुजारी को ही धर्मात्मा समझकर उसके पास जाते और मन्दिर मे पूजा-पाठ करके चढावा चढाकर चले आते। पुजारी ही मन्दिर का कर्ताधर्ता होने से किसी का साहस उसके विरुद्ध कुछ भी बोलने या विरोध करने अथवा उसके फरमान का उल्लघन करने का नही होता था।

एक दिन आकाश मे घटाटोप घने बादल छाए हुए थे। अचानक मेघ गर्जन होने लगा, बिजलियाँ चमकने लगी। चारो ओर घोर अँधेरा छा गया। पुजारी मन्दिर के प्रवेश द्वार पर खडा था। आकाश की ओर सिर उठाकर उसने देखा कि सहसा किसी स्त्री की आवाज उसके कानो मे टकराई। वह चौंका। स्त्री की आवाज

की ओर दृष्टिपात करके देखा तो प्रवेश द्वार के निकट सूखी काया में लिपटी, फटेहाल, दीन-हीन, परन्तु धर्मभावना से ओत-प्रोत एक स्त्री खडी थी।

पुजारी ने आश्चर्यचकित होकर उससे पूछा—"कौन है तू ?"

वह महिला बोली —"मैं एक विपदग्रस्त निराधार स्त्री हूँ पुजारी जी ! मुझे अपने गाँव मे पहुँचना था, किन्तु वर्षा, आँधी एव तूफान होने से अब मेरा गाँव पहुचना असम्भव है, मै रातभर के लिए इस मन्दिर मे आश्रय चाहती हूँ।"

पुजारी कडककर बोला - "तो पहुँच जा गाँव मे, किसी के यहाँ तुझे भोजन भी मिल जाएगा।"

आगन्तुक महिला बोली—"मुझे भोजन नही चाहिए पुजारी जी ! केवल रात बितानी है। यह भगवान का मन्दिर है, भगवान् तो सबके होते है, क्या इस मन्दिर मे मुझे रात्रि विश्राम के लिए स्थान नही मिलेगा ?"

अब तो पुजारी के मुख का भाव पलटा। वह बोला-—"यहाँ स्थान नही मिल सकता।"

महिला धार्मिक वृत्ति की तेजस्वी जीवन वाली थी, बोली—"पुजारीजी ! आप भगवान् के मन्दिर के पुजारी होकर ऐसा क्या कहते है ? मै आपके कहने का अर्थ न समझ सकी।"

पुजारी—"तेरी पोशाक और बोली से लगता है, तू हमारे धर्म सम्प्रदाय की नही है, तू कोई विधर्मी दिखती है।"

महिला-—बात सच्ची है, मै आपके धर्म-सम्प्रदाय की नही हूँ, विधर्मी हूँ, परन्तु अधर्मी तो नही हू। मै भी धर्म के अगो का पालन करती हूँ। मै किसी न किसी रूप मे ईश्वर पर श्रद्धा रखती हूँ, इसलिए मैं आस्तिक हूँ, नास्तिक नही।"

इतना कहने पर भी पुजारी के मन पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वह तमककर बोला —"मुझे तेरे लम्बे-चौडे भाषण सुनने की फुरसत नही। मन्दिर का कानून ऐसा है कि यहाँ उसी को स्थान दिया जाता है, जो हमारे धर्म-सम्प्रदाय का अनुयायी हो, विधर्मियो के लिए यहाँ स्थान नही। इसलिए तेरे धर्म का मन्दिर हो, वहाँ जाकर तू रात बिता सकती है, यहाँ तुझे रात्रिवास मिलना कठिन है।"

महिला बोली—"तो क्या ऐसी घनघोर रात्रि मे भी मुझे यहाँ स्थान नही मिलेगा, पुजारीजी ?"

पुजारी ने दृढता से उत्तर दिया —"नही, और एक बात और सुनती जा, जो लोग हमारे धर्म को मानते है, उन्हे ही मुक्ति मिलती है, तुम्हारे जैसो को मुक्ति नही मिलती।"

वह महिला पुजारी की बात का जवाब दे, इसके पूर्व ही आकाश मे एक भयकर मेघ गर्जना हुई, उसके साथ ही सहसा मन्दिर पर बिजली गिरी। वह सारे मन्दिर को छिन्न-भिन्न करती हुई जमीन मे उतर गई। सारा मन्दिर भस्मीभूत हो गया पुजारी का शरीर भी जलकर खाक हो गया, किन्तु कुछ दूर खडी वह महिला बच गई, उसे

कोई क्षति नही पहुँची। गाँव के लोग दौडे हुए आए और उस महिला को वे अपने साथ ससम्मान गाँव ले गए। वहाँ और कुछ बचा ही न था।

यह घटना धर्म का अचल पहने हुए तथाकथित धार्मिक और सच्चे माने मे धार्मिक की स्पष्ट विभाजक रेखा खीच देती है।

शास्त्रो को रट लेने मात्र से कोई भी व्यक्ति धार्मिक नही हो जाता, न ही केवल शास्त्र मे लिखे अनुसार आचरण कर लेने मात्र से ही कोई धार्मिक होता है। अगर कोई व्यक्ति शास्त्रो के रहस्य को न समझे, उसमे लिखी हुई बात को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा अपनी योग्यता, पात्रता और क्षमता देखे बिना ही शब्दश अनुसरण करने लग जाये और उस क्रियाकाण्ड के नाम पर अपने अनुयायियो को आकृष्ट कर ले, इतने मात्र से धार्मिक कहलाने का अधिकारी नही हो जाता। सच्चा धार्मिक धर्ममय जीवन जीता है। वह धर्ममय जीवन, अनुभवयुक्त जीवन होता है। सच्चा धार्मिक आडम्बर और प्रदर्शन नही करता। न ही जोर-जोर से चिल्लाकर या 'धर्म खतरे मे है' का नारा लगाकर व्यर्थ दूसरे धर्म के लोगो को मारता-काटता है। सच्चा धार्मिक सच्चा मानव होता है, वह किसी पर धर्म के नाम से अन्याय-अत्याचार नही करता, न ही धर्म को अपनी बपौती समझकर दूसरो के लिए कभी द्वार बन्द करता है।

जैसे प्रेम के सम्बन्ध मे मै आपसे विस्तृत रूप मे कहूँ और आप मे से कोई व्यक्ति खडा होकर प्रेम की दुनिया मे कूद पडे, दूसरा एक व्यक्ति पुस्तकालय मे जाकर प्रेम के सम्बन्ध मे जितनी भी पुस्तके हो, उन्हे पढ ले और रिसर्च करने लग जाय। ये दोनो प्रेम की खोज करने निकले है। बताइए, प्रेम किसको और कहाँ मिलेगा ? दोनो मे से एक प्रेम की खोज मे स्वय को मिटा देने और अर्पण करके प्रेमी जीवन जीने लगा है, जबकि दूसरा प्रेम को शास्त्रो मे ढूँढता है ? वह शास्त्रो के पन्ने उलट-पुलटकर प्रेम की जानकारी भले ही पा ले किन्तु प्रेम का वास्तविक अनुभव क्या उसे हो सकेगा ? बल्कि मै तो समझता हूँ, वह शास्त्र और ग्रन्थ पढ़-पढकर दिमाग मे बहुत-सी जानकारी भर लेगा और अहकार से लिप्त होकर कहेगा कि मैने प्रेम को समझ लिया है और पा लिया है। जबकि दूसरा व्यक्ति तो प्रेम का पूर्ण अनुभव पाने के लिए स्वय को मिटा देने की तैयारी करके गया है, वह निरहकार बनकर प्रेममय जीवन जीता हुआ प्रेम की वास्तविक खोज और प्राप्ति कर सकेगा।

इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म को शास्त्रो मे ढूँढता है, अनेक धर्मशास्त्र पढ़ लेता है, अनेक धर्मग्रन्थो का स्वाध्याय कर लेता है, इतने से क्या वह धर्म को—शुद्ध धर्म को पा सकेगा ? कदापि नही। शुद्ध धर्म को वही पा सकता है, जो धर्मशास्त्र पढ़कर विवेकयुक्त आचरण करता है। धर्म जीवन मे उतारने की वस्तु है, जो व्यक्ति धर्ममय जीवन जीता है, वही धर्म को पा सकेगा। तथागत बुद्ध की भाषा मे कहूँ तो—'जो व्यक्ति बहुत से धर्मशास्त्र पढ़ता है, परन्तु उनके अनुसार आचरण नही करता, वह उस ग्वाले के समान है, जो दूसरो की गायो को ही गिनता रहता है।'

वही सच्चा धार्मिक है, जो धर्म को शास्त्रो या धर्मग्रन्थो मे न ढूंढकर जीवन मे ढूंढता है, धर्ममय आचरण मे ही जिसे धर्म की उपलब्धि होती है। आचारांग सूत्र मे चुस्त धार्मिक और सुस्त धार्मिक का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

'धम्मे अणुज्जुत्तो सीयलो, उज्जुत्तो उण्हो'

धर्म मे उद्यमी—क्रियाशील व्यक्ति—उष्ण—गर्म है, और उद्यमहीन शीतल यानी ठडा है।

वास्तव मे सच्चा धार्मिक वह है, जो आडम्बर नही करता, धर्ममय जीवन जीता है, नीति, न्याय, दया, क्षमा, सेवा, परोपकार, अहिसा, सत्य आदि धर्म के तत्त्वो को जीवन मे रमाता है, इनका आचरण करता है। जो धर्म मे उद्यत है, वही धार्मिक है, जो धर्माचरण न करके केवल धर्म की बाते करता है, वह धार्मिक नही है।

धार्मिक की पहिचान

प्रश्न होता है, सच्चे धार्मिक की पहिचान क्या है ? यह तो आप पूर्व विवेचन से समझ गये होगे कि केवल क्रियाकाण्डी होने से, अमुक वेशभूषा से या अमुक चिन्हो से ही किसी को धार्मिक नही कहा जा सकता। न ही धर्म शास्त्रो को रट लेने, धर्म पर भाषण दे देने या धर्म पर लेख लिख लेने या कविता बना देने से ही कोई धर्मात्मा कहला सकता है। इसी प्रकार अनुयायियो की भीड इकट्ठी कर लेने, या यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र या जादू-टोने द्वारा लोगो को आश्चर्यचकित कर डालने, या कोई चमत्कार दिखा देने से भी कोई धार्मिक कहला नही सकता।

आज अधिकाश व्यक्ति धर्मात्मा की कसौटी चमत्कार या किसी आश्चर्य-चकित कर देन वाले काम को ही मानते हैं। ससार सुख-शान्ति पाने के लिए तप, त्याग, अहिसा आदि धर्म से युक्त सीधा और सरल मार्ग प्राय नही चाहता, वह धर्मात्मा की परीक्षा करना चाहता है—किसी चमत्कार से।

खेद है, दुनिया के अधिकाश लोग आश्चर्यचकित कर देने वाले व्यक्ति को धार्मिक मानकर श्रद्धा करते है। जो उसकी समझ मे नही आता, या जिसे वह स्वय नही कर सकता, उसे बनाने वाले को धर्मात्मा कह बैठता है, फिर चाहे वह ठग, धोखेबाज या पापी ही क्यो न हो ?

धर्म का ध्येय है—प्राणिमात्र को सुख-शान्ति अथवा उनके दु ख-सन्तापो को अधिकाधिक कम करना, जीवन जीने की सच्ची राह बताना। जो व्यक्ति इस प्रकार शुद्ध धर्म की राह पर स्वय चलता है, धर्म की कसौटी पर अपनी प्रत्येक मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियो को कसकर क्रिया करता है, निरापद भाव से स्थायी सुख-शाति के लक्ष्य की ओर बढता जाता है, जो व्यक्ति शरीर-रक्षा, धन-रक्षा तथा अन्य भौतिक पदार्थों की रक्षा से बढकर धर्म-रक्षा—शुद्ध सद्धर्म की रक्षा करने मे तत्पर रहता है, वह सच्चे माने मे धार्मिक है। वह ऐसा धर्म कार्य सेवा से, सान्त्वना से, बौद्धिक परामर्श मे या उपदेश से भी कर सकता है।

सच्चा धार्मिक किसी भी प्राणी को दुःखी देखकर चुपचाप नही खड़ा रहेगा, उसका हृदय दूसरे के दु ख को देखकर करुणा एव सहानुभूति से उमड पडेगा, वह दूसरे के दु ख को अपना दु ख समझने लगेगा। जो मनुष्य दूसरे को दु खी देखकर सहानुभूति करने या करुणा करने के बजाय उपेक्षापूर्वक कहता है—"अपने किये कर्म का फल भोग रहा है। मै उसके और उसके कर्मफल-भोग के बीच मे क्यो पडूँ, वह व्यक्ति दयाहीन है, धार्मिक नही है, फिर भले ही वह कितना ही पूजा-पाठ, स्वाध्याय ध्यान करता हो।

एक बार काशी मे विश्वनाथ का मेला था। विश्वनाथजी के मन्दिर मे एक सोने का थाल आया। साथ ही आकाशवाणी भी हुई - 'जो व्यक्ति सच्चा धर्मात्मा होगा, वही प्रभु का सच्चा भक्त होगा, और जो सच्चा भक्त होगा उसे ही यह सोन का थाल भेट दिया जाए। सच्चे धर्मात्मा की पहचान यह है कि उसका हाथ लगते ही यह थाल अत्यधिक चमकने लगेगा, परन्तु जो सच्चा धर्मात्मा नही होगा, उसका हाथ लगते ही थाल लोहे या पीतल-सा दिखाई देने लगेगा।'

इस आकाशवाणी को सुनकर पण्डो ने सोचा—-यह थाल हमे तो हजम नही हो सकेगा, क्योकि हममे ऐसी धार्मिकता तो है नही। अत मेले मे जाहिर उद्घोषणा करके जो सच्चा धार्मिक निकले, उसे दे डालना चाहिए। यह सोचकर एक पण्डे ने एक उच्च स्थान पर खडे होकर घोषणा की— 'एक सोने का थाल भेट देना है, जो व्यक्ति सच्चा धार्मिक हो उसे। उसकी पहचान है कि उसका हाथ लगते ही यह थाल चमकने लगेगा।'

जिसने भी यह घोषणा सुनी, उसके मुह मे पानी भर आया। एक तो सोने का थाल और फिर धर्मात्मा का पद, यह दोहरा लाभ, भला किसे आकर्षित नही करता। सभी लोग विश्वनाथ-मन्दिर के पास इकट्ठे होने लगे।

सर्वप्रथम लाखो का दान करने वाला एक सेठ आगे आया। उसने अपने दान-धर्म का बखान करके पुजारी से कहा—'मैं ही इस थाल को पाने का अधिकारी हूँ।' पुजारी ने ज्यो ही उसके हाथ मे थाल दिया, त्यो ही वह काला पड गया। थाल काला होते ही सेठ का चेहरा भी काला हो गया। वह लज्जित होकर पछताता हुआ नीचे मुँह करके चलता बना। उसे अपनी भूल समझ मे आ गई कि मै दान तो करता हू, लेकिन उसके साथ कई कामनाएं संजोकर, दान के साथ अहकार भी करता हू कि मुझ-सा दानी-धर्मात्मा कोई है ही नही।

उसके पश्चात् एक तिलक-छापा लगाए भक्तजी आए। वे रोज मन्दिर मे पूजा-पाठ करते थे, पर उनका जीवन कई दुर्व्यसनो से भरा था। केवल पूजा-पाठ करने के कारण वे अपने आपको धार्मिक समझते थे। उनके आग्रह पर पण्डे ने ज्यो ही उनके हाथ मे थाल दिया, थाल काला पड गया। वे भी शर्मिन्दा होकर चल दिये।

फिर आए एक गीता और रामायण के धुरन्धर विद्वान् । वे विद्वान् तो थे, पर गीता, रामायण के अनुसार उनका जीवन नहीं था । फिर भी अपने आपको धर्मात्मा मानते थे । उनके हाथ मे थाल देते ही थाल ने उनकी भी पोल खोल दी ।

इसके बाद आए यज्ञ कराने वाले एक धनिक, जो प्रतिवर्ष लाखो रुपये खर्च करके महायज्ञ कराते थे । पुण्य लूटते थे । किन्तु उधर व्यापार मे बेईमानी, ठगी आदि करके गरीबो पर अन्याय करके, वे लाखो रुपये कमाते थे । वे समझते थे इस प्रकार के यज्ञ कराने से वे पाप धुल जाएँगे, पर पापकर्मों का क्षय यो होता नहीं था । आखिर उनके हाथ मे भी थाल दिया गया तो वह स्याह पड गया । इसके बाद कई तपस्वी आए, जिन्हे अपने तप का घमण्ड था । कई क्रियाकाण्डी लोग आए, जिन्हे क्रियाकाण्ड पर से धार्मिक होने का नाज था । यो एक के बाद एक अनेक लोग आए, पण्डे ने क्रमश उन सबके हाथ मे थाल दिया तो थाल ने उन सबकी कलई खोल दी । जब पण्डे ने थाल को यथास्थान रखा तो वह पहले की तरह चमकने लगा ।

इधर मेले मे आते समय एक मनुष्य अत्यन्त मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पडा, उसे कै होने लगी, जी घबराने लगा । मेले मे हजारो स्त्री-पुरुष जा रहे थे, पर किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया । सब कह रहे थे—चलो, सोने का थाल किस को भेट दिया जाता है, देखे । जल्दी चलो । हमे कहा फुरसत है, ऐसे ऐरे गैरे आदमियो को उठाने और होश मे लाने की ? मालूम होता है, इसने अधिक खा लिया है, इसी का दण्ड इसे मिल रहा है । अपने किये का फल भोगे ! हम क्या करे !

उसी अवसर पर एक किसान कधे पर हल लादे अपने खेत पर जा रहा था । रास्ते मे उसने इस मूर्च्छित मनुष्य को देखा । किसान स्वभाव से दयालु था, इन्सान को दुख मे पडे देखकर उसका दुख दूर करने का प्रयास किये बिना यो ही मुख मोडकर चले जाना वह मानवता और धर्म के विरुद्ध समझता था । किसान दयार्द्र होकर उसके पास गया । उसे अपने कधे पर उठाया और बडे यत्न से अपने झोपडे पर लाया । शीतल उपचार से उसे होश मे लाया । पीडा के मारे वह कराह रहा था, उसे सान्त्वना दी । अपनी गाय दुहकर उसे ताजा दूध पिलाया, इससे वह स्वस्थ हुआ ।

स्वस्थ होते उसने कृषक से पूछा—"भाई ! तुमने मेरे पर बहुत बडा उपकार किया । तुम्हारा परिचय तो दो कि तुम कौन हो ?"

कृषक ने कहा—"मैने तो अपना कर्तव्य-पालन किया है । मै एक गरीब किसान हूँ । इसी झोपडे मे रहता हूँ । इसके सिवाय मेरा और कोई परिचय नहीं है ।

किसान की सरलता, दयालुता और धार्मिकता से आगन्तुक मुग्ध हो गया । वह बोला—"मेले मे मेरे कई परिचित भी है, कई सम्बन्धी भी । उनमे से किसी ने मुझे सभाला नहीं, तुमने बिना किसी जान-पहचान के, बिना किसी स्वार्थ के मुझे उठाया, घर पर लाए, मेरी सेवा की, मुझे जीवनदान दिया । मै इस उपकार से कैसे उऋण हो सकूँगा ।"

किसान ने कहा—"मेरे भाई ! मैंने कोई भी कार्य बदले की भावना से नही किया है। एक भाई को दु खी देखकर दूसरा भाई चुपचाप खडा रहे, यह शोभा नहीं देता। जो इन्सान, इन्सान के काम नही आता, वह मनुष्य नही, पशु है या दानव है। आपकी सेवा से मुझे जो सन्तोष और सुख हुआ है, वही मेरे कर्त्तव्यपालन का उपयुक्त पुरस्कार है। और किसी प्रलोभन मे मुझे न डाले। सेवा को आजीविका बनाना मुझे नही रुचता। आप कहते है, तुम्हारा हमारा कोई नाता नही, सो वास्तव मे ऐसी बात नही है। इन्सान, इन्सान का जातिभाई है। इस नाते आप मेरे भाई हैं।"

आगन्तुक के स्वस्थ होते ही किसान खेत पर जाने को तैयार हुआ। परन्तु वह भी किसान के पीछे-पीछे हो लिया। आगन्तुक मेले मे आ-जा रहे लोगो के समक्ष जोर-जोर चिल्लाकर चलता रहा कि, 'यह किसान बडा धर्मात्मा है, इस किसान-सा धर्मात्मा मैने नही देखा।' इस पर किसान ने कहा—"भाई ! इस प्रकार मेरी क्यो प्रशसा कर रहे हो ? मैंने कोई बडा काम नही किया है। मै एक मामूली अनपढ किसान हूँ।" इतने पर भी आगन्तुक नही माना और कृषक की प्रशसा करता चला गया।

लोगो ने किसान की प्रशसा सुनी तो उत्सुकतापूर्वक पूछ ही लिया—"इसने धर्म का कौन-सा काम किया है ?" उसने उत्तर दिया—"इसने नि स्वार्थ भाव से धर्म-कार्य किया है। मनुष्य के प्राण बचाय है। मुझे तो इसके जैसा धार्मिक कोई नही मिला।" विश्वनाथ मन्दिर के पास से होकर दोनो निकले, जहाँ पुजारी थाल देने के लिए खडा था। उस मनुष्य ने कहा—"पुजारीजी ! थाल इन्हे दो, ये बडे धर्मात्मा पुरुष है। थाल के सच्चे अधिकारी तो यही है।"

पुजारी ऐंठकर बोला—"ऐसे ऐरे-गैरे के लिए यह थाल नही है। यह एक मामूली किसान है। खेती करके उदर निर्वाह करता है। यह सबसे बडा धर्मात्मा कैसे हो सकता है ?"

वह बोला—"तो जाँच कर लेने म हानि ही क्या है ? आपके पास धर्मात्मापन की जाँच करने का साधन है ही। भले ही यह किसान तिलक-छापे नही लगाता, मन्दिर मे प्रतिदिन नही जाता, न अपने को भक्त कहता है, फिर भी यह बडा धर्मात्मा है। एक बार थाल हाथ म देकर देख तो लो।"

पुजारी ने उस किसान को थाल लेने के लिए बुलाया। किसान सकोच मे पड गया। वह थाल लेने से इन्कार करने लगा। जो त्याग करता है, उसे सभी देना चाहते है। सभी लोग आग्रह करने लगे। पुजारी ने उसके हाथ पर थाल रख दिया। किसान के हाथ मे थाल लेते ही वह थाल एकदम चमक उठा, मानो धर्म का तेज थाल मे से फूट पडा हो।

लोग दग रह गये। सभी एक स्वर से उस किसान की सराहना करने लगे। लोगो ने पूछा—'इस किसान ने ऐसा क्या धर्माचरण किया है ?' किसान के साथी ने

किसान के द्वारा की गई निःस्वार्थ सेवा एव दया का वर्णन करके सबका समाधान किया।

बन्धुओ! यह है सच्चे धार्मिक की पहचान! ऐसे सच्चे धार्मिक दुनिया मे यदि कोई है तो विरले ही हैं।

दृढ़धर्मी सच्चा धार्मिक

कई लोग सादे-सीधे, सरल एव ईमानदार व्यक्ति को अधार्मिक घोषित कर देते है और वाचाल एव आडम्बरप्रिय व्यक्ति को धार्मिक, पर यह पैमाना गलत है। सच्चा धार्मिक वही है, जो एकान्त मे भी पाप नही करता, मार सकने पर भी नही मारता, जो सिर कटते रहने पर भी झूठ नही बोलता, जो रास्ते मे पडे रत्नो को भी नही उठाता, जो निन्दा-स्तुति मे रुष्ट-तुष्ट नही होता, जो परदेश मे जाकर भी अपने धर्म को नही भूलता, जो नवयौवना स्त्री को देखकर भी मन को विकृत नही करता। सच्चा धार्मिक चाहे अकेला हो, चाहे कई आदमियो के बीच मे, वह पापकर्म कर ही नही सकता, न तो भय उसे धर्म से विचलित कर सकता हे, और न ही लोभ उसे धर्म से डिगा सकता है, उसमे धर्म के सस्कार इतने कूट-कूटकर भरे रहते है कि चाहे उसके प्राण चले जाएँ, चाहे धन, साधन, परिवार छूट जाएँ, वह धर्मविरुद्ध कार्य नही कर सकता, श्वासोच्छ्वास की तरह धर्म उसके रोम-रोम मे रमा रहता है। वह अपने प्रत्येक कार्य के साथ धर्म का पुट देता है। धर्म उसके जीवन के हर मोड पर रहता है, एक पहरेदार की तरह। जरा-सा अधर्म या पाप वह सह नही सकता।

एक कवि ने प्राचीन दृढधर्मी धार्मिको का परिचय एक भजन मे दिया है—

धर्म पर डट जाना, है बडी बात यही० २॥ध्रुव॥
धर्म को मेघरथराय निभाया,
जिनकी शरण कबूतर आया।
बाज को काट दिया तन सारा,
बने तो कट जाना, है बडी बात यही ॥धर्म पर०॥१॥
धर्म को जाना हरिश्चन्द्र दानी,
जिन्होने बेचे पुत्र और रानी।
भरा है जाय नीच घर पानी,
बने तो बिक जाना, है बडी बात यही ॥धर्म पर०॥२॥
धर्म को गजसुकुमाल ने धारा,
सोमल शीश धरा अगारा।
मस्तक सीज गया है सारा,
बने तो सिक जाना, है बडी बात यही ॥धर्म पर०॥३॥

धर्म को सेठ सुदर्शन जाना,
अभया रानी ने छल कर आना।
चढ गया शूली दीवाना,
बने तो चढ जाना, है बडी बात यही ।।धर्म पर०।।४।।
धर्म को जाना चन्दनबाला,
कि बेची अपनी देह विशाला।
सब्र से पिया कष्ट का प्याला,
बने तो पी जाना, है बडी बात यही ।।धर्म पर०।।५।।
धर्म पर डट गए मोरध्वज राजा,
पुत्र को अर्पण किया धर्म के काजा।
शीश पर चला दिया है आरा,
बने तो कट जाना, है बडी बात यही ।।धर्म पर०।।६।।

ये है धार्मिकों की मुँह बोलती कहानियाँ!

धार्मिक वह नहीं है, जो केवल भक्ति गीतों द्वारा पूजा जाता हो, किन्तु वह है जिसके त्याग-बलिदान के गीत गाये जाते हों। एक फ्रेंच विचारक मेड डी स्टेइल (Mad De Stael) ने इसी विचार का समर्थन किया है—

A religious life is a struggle and not a hymn

—धार्मिक जीवन संघर्षात्मक होता है, स्तुतिगीतात्मक नहीं।

वास्तव में, धार्मिक जीवन में प्रतिक्षण, पाप और धर्म का संघर्ष चलता रहता है। गीता के शब्दों में कहूँ तो धर्मक्षेत्र रूपी कुरु (कर्त्तव्य क्षेत्र) में कौरव और पाण्डव—अर्थात् आसुरी और दैवी दोनों प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष चल रहा है। पाप और धर्म दोनों के युद्ध में धार्मिक व्यक्ति प्रतिक्षण धर्म को विजय दिलाता है, पाप को दूर भगाता है।

लगभग १४-१५ साल पहले की एक सच्ची घटना है, जिसे **'कल्याण'** में मैंने पढी थी। मध्यप्रदेश का एक प्रतिष्ठित व्यापारी ५० हजार रुपये लेकर दक्षिण भारत (मैसूर, मदुरा और मद्रास) में माल खरीदने के लिये जा रहे थे। इस प्रान्त में शतरंजी, साडियाँ एवं मैसूर में चन्दन की लकडी की कलामय वस्तुएँ अच्छी और सुन्दर बनती हैं। व्यापारी ने एक-एक हजार के ५० नोट बनयान के दोनों जेबों में रखकर जेबें भलीभांति सी ली। सबसे पहले यह व्यापारी मैसूर पहुँचा और 'कर्नाटक रेस्टोरां' में ठहरा। वहाँ से १४ मील दूर कृष्णराज सागर का बांध और इलेक्ट्रिक प्रदर्शन देखने गया। यह प्रदर्शनीय स्थल शाम को ४ बजे से रात के १० बजे तक मैसूर सरकार की ओर से आम जनता के लिए खुला रहता था। व्यापारी ने

कृष्णराज सागर बाँध एवं अद्भुत विद्युत् प्रकाश देखा। देखकर वह ज्यो ही पुल की सीढियो पर चढ रहा था कि अचानक चक्कर आया और पुल की सीढियो पर लुढकता-लुढकता नीचे आ गया। कुछ शक्ति आने पर हाथ, पैरो एव मस्तक का रक्त पोछकर फिर पुल की सीढियाँ चढ़ने लगा। अन्तिम सीढी पर ज्यो ही पैर रखा कि फिर उसे जबर्दस्त चक्कर आया, जिससे वह व्यापारी लुढकता हुआ सबसे नीचे की सीढी पर आकर लहूलुहान हालत म गिर गया। बेहोशी भी आ गई थी। एक ताँगे वाले ने इस व्यापारी को इस दुर्दशा में देखा तो चाबुक को तागे मे रखकर पुल पर आया। रक्तलिप्त व्यापारी को, जिसके वस्त्र रक्त मे सने थे, गोदी मे उठाया, और जैसे-तैसे सीढियाँ चढकर ताँगे म सुला दिया। एक हाथ से व्यापारी को, जो कि मृतक-सा हालत म था, पकडे, और एक हाथ से घोडे की लगाम थाम घोड़े को हाक रहा था। ४-५ मील चलने के बाद व्यापारी को कुछ होश-सा आया और उसने लडखडाती जबान से पूछा—'कौन ?' "मै हू तागे वाला। मैने आपको कृष्णराज सागर के पुल के जीने से गिरते हुए देखा था। आपके साथ कोई था नही, आप बेहोशी की हालत मे थे। मेरे मन मे आया कि मै एक घायल व्यक्ति की सेवा करूँ और आपको आपके घर पहुचा दू। मै हूँ तो तागे वाला, पर ईमानदारीपूर्वक आजीविका कमाता हू।" व्यापारी कोट की जेब से १०० रु० का नोट निकाल कर तागे वाले को देते हुए कहा—"लो तुम्हारे लिये इनाम !"

ताँगे वाले ने व्यापारी से कहा—'सेवा का मूल्य सोने-चाँदी के टुकडो या कागज के रगीन टुकडो से नही आँका जा सकता। मै आपको किसी लाभ से प्रेरित होकर नही लाया। मै तो परमात्मा को सर्वत्र व्यापक देखकर जाता हू। मै भगवान् से प्रतिदिन यह प्रार्थना करता हू कि प्रभो ! मुझे ऐसा बल दे, ताकि अपने धर्म और ईमानदारी पर डटा रहू। मै बेईमानी और पाप से सदैव दूर रहू। प्रभु कृपा से मै अपने लक्ष्य मे सफल हुआ हू।"

तागे वाले की धार्मिकता और ईमानदारी से प्रभावित होकर व्यापारी ने ५०० के नोट निकाले और उसके हाथ मे थमा दिये। इस बार तागे वाला अपने धर्म और ईमान की परीक्षा होती देखकर सावधान होकर बोला—"मुझे माफ कीजिए, बाबूजी ! आपसे मुझे एक भी पाई लेना हराम है।" और उसने वे ५०० के नोट व्यापारी को सौप दिये। परन्तु नोट व्यापारी के हाथ मे न जाकर तागे मे ही गिर गए। व्यापारी पुन बेहोश हो गया, उसके मुँह से सफेद झाग निकल रहे थे। तागे वाले ने प्रार्थना की—'प्रभो ! क्या यह व्यक्ति अपने घर पहुँचने से पहले ही विदा ले लेगा और मेरी सेवा अधूरी ही रहेगी।' उसने ५०० के नोट उठाकर व्यापारी की जेब मे रखे। ठीक १० बजे रात को तागा मैसूर पहुँचा। तागे वाले ने पुलिस स्टेशन पर तागा रोका और रिपोर्ट की।

सयोगवश डी० एस० पी० वहाँ थे, वे ४-५ पुलिस जवानो के साथ तांगे के

पास पहुँचे। नवयुवक व्यापारी के मुँह से फेन निकल रहा था। डी० एस० पी० ने सिविल सर्जन को बुलाया। फिर कोट आदि जेबें टटोली तो कुल ५०७००) रुपये के नोट, माल खरीदने की सूची, कर्नाटक रेस्टोरां की एक स्लिप मिली। डी० एस० पी० को समझते देर न लगी कि यह मध्य प्रदेश का प्रतिष्ठित व्यापारी है, दक्षिण भारत मे माल खरीदने आया है। ताँगे वाले के बयान लिये। उसने सच्चाई के साथ सभी घटनाएँ स्पष्ट कह दी। ताँगे वाले की ईमानदारी से डी० एस० पी० बहुत प्रभावित हुए।

फिर डी० एस० पी० ने कर्नाटक रेस्टोरां को फोन करके रोजनामचा लेकर बुलाया। इतने मे सिविल सर्जन अपने दल-बल सहित वहाँ जा पहुँचे। उन्होने व्यापारी के रोग की भलीभाँति जाँच की और बताया कि यह रोगी अधिक से अधिक एक घंटे का मेहमान है। सतत रक्त प्रवाह के कारण इसका बचना असम्भव है। डॉक्टर ने अथक प्रयत्न करके नवयुवक व्यापारी की मूर्च्छा दूर की। होश मे आने पर उसने धीरे से कहा—मै कृष्णराज सागर पुल की सीढियाँ चढ रहा था कि एकाएक चक्कर आ गया, मै जमीन पर गिर पडा। जैसे-तैसे साहस करके दुबारा सीढियाँ चढने लगा कि मुझे फिर चक्कर आ गया। उसके बाद क्या हुआ मुझे पता नही। होश मे आने पर मैंने अपने-आपको पाया कि मै एक ताँगे मे जा रहा हूँ। ताँगे वाले की हमदर्दी और सेवा से मै बहुत प्रभावित हुआ, और उसे १००) रु० देने लगा, किन्तु उसने नही लिये। फिर मैंने उसे ५००) रु० दिये, लेकिन उसने लिये या नही? मुझे मालूम नही, क्योंकि मुझे पुन बेहोशी आ गई थी। मुझे पता नही, ताँगे वाले ने वे ५००) रु० लिये या नही। ताँगे वाला बहुत ही ईमानदार, नेक और सेवाभावी मालूम होता है।"

इतने म कर्नाटक रेस्टोरां के मैनेजर आ गये। इन्होने रोजनामचा बताया, जिसमे लिखा था—महेशचन्द्र कौल, फर्म—महेशचन्द्र गिरिजाशंकर कौल। निवासी मालपुरा, जि० बस्तर (म० प्र०)। तीन दिन ठहरने की स्वीकृति थी।

इसके पश्चात् महेश कौल ने बहुत ही क्षीण स्वर मे कहा—"अब मै कुछ ही मिनटो का मेहमान हूँ। ताँगे वाले ने मेरी खूब सेवा की है, इसे ५ हजार रुपये मेरी ओर से इनाम दे देना। मैं ५०६००) रु० लेकर घर से चला था। दो सौ रु० खर्च हो गए। ५०७००) रु० सुरक्षित हैं। आप मेरी फर्म के नाम पर फोन कर दें। मेरा छोटा भाई गिरिजाशंकर आ जाएगा।"

डी० एस० पी० ने भी बहुत सहानुभूति बताई। कहा—ताँगे वाले को आपने ५००) दिये थे, लेकिन वे उसने लिये नही, आपके कोट की जेब मे रख दिये थे। सचमुच ताँगे वाला बहुत ईमानदार व्यक्ति है। इसकी ईमानदारी जनता को ईमानदार बनने का पाठ पढाती है। मैंने बहुत-से ताँगे वाले देखे है, मगर ऐसा ताँगे वाला नही देखा। आपकी बेहोशी हालत मे वह ५०७००) रु० अपने कब्जे मे करके आपको

गला घोटकर जहाँ चाहे भाग सकता था पर जहाँ धार्मिकता का प्रश्न है, वहाँ न तो पर का हनन होता है, न स्वय का। इसमे धर्मात्मा के ४ लक्षण पूर्णतया मौजूद हैं—(१) कभी प्रमाद न करना, (२) प्रतिदिन परमात्म-प्रार्थना करना, (३) पुरुषार्थ-परायणता एव (४) प्रामाणिकता पर दृढ रहना।

महेश कौल डी० एस० पी० के कथन को ध्यानपूर्वक सुन रहा था। दो मिनट बाद ही उसे रक्त की कै हुई और उसी मे उसकी इहलीला समाप्त हो गई। तमाम पुलिस स्टाफ, सिविल सर्जन एव रेस्टोरा के स्टाफ ने यह निर्णय किया कि ताँगे वाले ने महेश कौल की जी-जान से सेवा की है, इसलिए इसके शव के अग्नि-सस्कार का अधिकारी यह ताँगे वाला ही है। ताँगे वाले ने काँपते हाथो 'कौल' के शव का अग्नि-सस्कार किया और अश्रुपूर्ण नेत्रो से भावभीनी विदाई दी। शव यात्रा के सभी यात्री ताँगे वाले की ईमानदारी, सेवाभावना एव त्यागवृत्ति की मुक्तकण्ठ से प्रशसा कर रहे थे। उसकी दृढधर्मिता के प्रति सभी नतमस्तक थे।

तीसरे दिन महेश कौल के छोटे भाई गिरिजाशकर आए। उन्हे अपने बडे भाई की मृत्यु का असह्य दुख हुआ, साथ ही ताँगे वाले की ईमानदारी, उदारता एव निस्वार्थ सेवावृत्ति से अपार आनन्द भी हुआ।

गिरिजाशकर ने विचार किया कि भाई साहब पचास हजार रुपयो का माल खरीदने आए थे, पर वे असमय मे ही चले गये। तब मैं ये रुपये वापस क्यो ले जाऊँ? बडे भाई की स्मृति रूप तागे वाले की निस्वार्थ सेवा के उपलक्ष्य मे उसे दान क्यो न कर दूँ? फलत गिरिजाशकर ने वह पचास हजार की बृहद् धनराशि तागे वाले को देते हुए कहा—"लो ये रुपये तुम्हारे तथा तुम्हारे बच्चो के काम आएँगे।" परन्तु ताँगे वाले ने दोनो हाथ जोडकर कहा—"भाई! आप इसके लिए मुझे क्षमा करे। मै आपकी इस आज्ञा का पालन करने मे असमर्थ हूँ। आप जो धनराशि दे रहे हैं, उसका मूल्य है, पर धर्म और ईमान तो अमूल्य है। आप तो मुझे यह आशीर्वाद दे कि मैं सतत अपनी अमूल्य निधि ईमानदारी और धार्मिकता पर डटा रहूँ। वे ही मुझे प्राप्त होती रहे। मै मानता हूँ, ऐसा होने पर मैं सबसे बडा धनिक हूँ। रही बात बच्चो की, सो वे अपने भाग्य के निर्माता स्वय ही हैं। गरीबी मे धर्म और ईमान बना रहे मेरे तथा मेरे परिवार के लिए यही सर्वस्व है।" गिरिजाशकर के मुँह से अनायास ये उद्गार निकले—"तुम मनुष्य नही, मनुष्य के रूप मे देव हो। मैं अपने भाई को खोकर तथा तुम-से दृढधर्मी, त्यागवृत्ति वाले ईमानदार भाई से ईमानदारी आदि का बोधपाठ लेकर देश लौट रहा हूँ। सर्वत्र मैं तुम्हारी ईमानदारी और दृढ-धर्मिता की चर्चा करूँगा।"

बन्धुओ! यह है वर्तमान युग मे दृढ़धर्मिता का ज्वलन्त उदाहरण! ऐसे दृढ-धर्मी पुरुषो का सतत सत्सग जीवन को धन्य और पावन बना देता है, इसमे कोई सन्देह नही।

ऐसे धार्मिक को आचाराग[1] मे धर्मवेत्ता और ऋजु (सरल) कहा गया है भगवती सूत्र मे ऐसे दृढधर्मियो के लिए कहा गया है—

'धम्मिया, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा'

वे धार्मिक होते है, अपनी जीविका भी वे धर्मपूर्वक करते है, व्यापार-व्यवसाय मे वे कदापि अधर्माचरण नही करते। धर्म के लिए अपने प्राण तक न्योछावर करने मे उन्हे हिचक नही होती।

दृढधर्मियो के ऐतिहासिक उदाहरणो मे अर्हन्नक श्रावक, कामदेव श्रावक, हकीकतराय, गुरु तेगबहादुर, जिनदास श्रावक, सुभद्रा सती आदि के नाम उल्लेखनीय है।

अर्हन्नक श्रावक को धर्म से विचलित करने के लिए देवता ने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु अर्हन्नक ने अपने धर्म को कतई न छोडा, न ही अन्त करण के किसी कोने मे अधर्म को अपनाने या धर्म का त्याग करने को बिलकुल तैयार न हुए। कामदेव श्रावक पर देव ने भयकर से भयकर उपसर्ग किये, मगर वे अडिग रहे। सुभद्रा सती को धर्म छोडने के लिए उसके पति और ससुर आदि ने खूब कष्ट दिये, परन्तु वह अपने धर्म से न डिगी। जिनदास श्रावक के जब पाँच पुत्र देव के निमित्त से मारे गए, तब भी उसने धर्म नही छोडा।

धार्मिको का सग एव सेवा सुखप्रद

इस प्रकार दृढधर्मियो के सम्पर्क मे रहने वाला उनका परिवार भी धर्म पर दृढ हो जाता है। उसम भी सत्यता, ईमानदारी आदि धर्म के सस्कार कूट-कूटकर भर जाते है।

ऐसा एक भी सच्चा धार्मिक जहा होगा वह अपने आश्रितो को डूबन से बचा देगा, उसके पुण्य प्रभाव से सभी आफते एक-एक करके दूर हो जाती है। एक धर्मात्मा अनेक पापियो को बचाये रखता है। एक बार २१ व्यक्ति बाग मे गये थे, उनम से एक दृढधर्मी धर्मात्मा था, उसको हटाते ही बीसो पर बिजली गिर गई। इसलिए धार्मिको का सत्सग, उनकी सेवा मे निवास, उनका सम्पर्क सदैव सुखदायी होता है। उनकी सेवा मे रहने से कष्ट भी कष्ट नही प्रतीत होता। उनकी सेवा करने का लाभ तो भाग्य से ही मिलता है। धार्मिको की सेवा पुण्य का खजाना बढा देती है, जिससे सुख की प्राप्ति अनायास ही होती है। ऐसे धार्मिक दो कोटि के व्यक्ति हो सकते है, जो श्रुतचारित्र धर्म का पालन करते-कराते हैं- -व्रती श्रावक और महाव्रती साधु। इन दोनो मे उत्कृष्ट धार्मिक महाव्रती साधुवर्ग है। जिनकी सेवा महाफलदायिनी होती है। इसलिए महर्षि गौतम ने कहा है—

'जे धम्मिया ते खलु सेवियव्वा' □

---

१ आचाराग ३/१—**'धम्मविऊ उज्जू'**

७४. पूछो उन्हीं से, जो पण्डित हों

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं ऐसे जीवन की चर्चा करना चाहूंगा, जो पाण्डित्य-पूर्ण जीवन जीते है, जिनसे जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओ पर पूछा जा सके, समाधान किया जा सके। गौतमकुलक का यह ६०वाँ जीवनसूत्र है। वह इस प्रकार है—

जे पंडिया ते खलु पुच्छियव्वा

—जो पडित है, उनसे ही पूछना चाहिए।

पडित कौन और कैसा होता है ? इस सम्बन्ध मे मैं पहले कह चुका हूँ। फिर भी उसके अन्य पहलुओ पर विचार कर लेना आवश्यक है

पण्डित शब्द ब्राह्मण अर्थ में रूढ़

यद्यपि पण्डित और विद्वान् शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है तथापि भारत-वर्ष मे खासकर हिन्दू समाज मे वे दोनो एक अर्थ मे प्रचलित नही है। यहाँ मुख्यरूप से पण्डित केवल विद्वान् को नही कहा जाता, अपितु भारत के ब्राह्मण जातीय हर व्यक्ति को पण्डित कहा जाता है, फिर वह चाहे विद्वान् हो या अविद्वान्। ब्राह्मण कुल मे जन्मा हुआ निरक्षर व्यक्ति भी पण्डित कहलाता है। कोई ब्राह्मणेतर सस्कृत का विद्वान् हो, तो भी उसे पण्डित कहते हुए वर्ण व्यवस्था—वह भी जन्मना वर्णव्यवस्था के पक्षधर घबराते है। हमे इसका प्रत्यक्ष अनुभव है। हमारे पडोस मे एक ब्राह्मण रहते थे, वे बेचारे अधिक पढे-लिखे नही थे। थोडा बहुत पूजा-पाठ कर लेते थे। किन्तु उन्हे गाँव के बहुत से लोग कहा करते थे--पाँव लागू पण्डितजी ! परन्तु कोई ब्राह्मणेतर विद्वान् होता उसे वे लोग अपने सस्कारवश न तो पण्डितजी कहते थे और न ही उन्हे प्रणाम करते।

बैंक मे एक जैन पण्डितजी का खाता था। चैक भुनाने जब वे जाते तो बैंक का क्लर्क उन्हे पूछता था —"आप तो जैन है, पण्डित कैसे है ?"

यद्यपि सस्कृत मध्यमा उत्तीर्ण हो जा जाने पर **पण्डित** की उपाधि से उसे अलकृत किया जाता है। वह अपने नाम के पूर्व पण्डित शब्द लगा सकता है। फिर भी रूढ़ समाज उसे पण्डित कहने से सकुचाता है। काशी मे एक डाक्टर साहब जाति से ब्राह्मण थे, वह एक जैन पण्डित को ब्राह्मण जानकर नमस्कार करते थे, पर जब उन्हे पता चला कि वे (जैन विद्वान्) जैन हैं, तब उन्होने नमस्कार करना बन्द कर दिया, शास्त्रीजी कहने लगे।

ये और इस प्रकार के उदाहरण यह बताते हैं कि पण्डित शब्द ब्राह्मण का पर्यायवाची बन गया। ब्राह्मण प्राय अध्यापक का कार्य करते थे, इसलिए पण्डितजी अध्यापक का विशेषण बन गया।

पण्डित शब्द के विकृत रूपान्तर

यो तो पण्डित शब्द बहुत पुराना है। इसकी व्युत्पत्ति पण्डा शब्द से हुई है। बृहत्कल्पसूत्रवृत्ति मे इस प्रकार का अर्थ किया गया है—

'पण्डा बुद्धि सा सजाता अस्येति पण्डितः

पण्डा कहते हैं–बुद्धि को। उसमे जो युक्त हो वह पण्डित है।

कालान्तर मे इसके नानाविधरूप चल पडे। पाडे, पडा, पाडेय, पडत आदि अपभ्र श रूप भी धीरे-धीरे जन-जन मे घुल-मिल गए। जैसे-जैसे शब्द मे टूटफूट होती गई, वैसे-वैसे इसके अर्थ मे भी विकृति आती रही। पण्डित मे से 'इ' का लोप होकर **पडत** हो गया। 'इ' बीजाक्षर कोष के अनुसार 'अग्नि' का प्रतीक वर्ण है। इसका मतलब यह हुआ कि पण्डित मे से 'इ' रूप अग्नि' के खण्डित होते ही उसमे से आचरण की गर्मी निकल गई वह ठडा–शीतल हो गया। दूसरे शब्दो मे कहे तो पण्डित की साख लोक-जीवन मे घट गई, वह लालच से घिर गया। '**पडत**' का अर्थ हो गया रटे-रटाए शब्दो को दुहराने वाला किताबी प्राणी। अर्थात् जो बोलता बहुत है पर करता नही है। जिसकी कथनी-करनी एक नही है। वह केवल शास्त्रो का पिष्टपेषण करने वाला रह गया, उसमे अर्थज्ञान का विकास नही हुआ।

पण्डित शब्द का मेरुदण्ड बुद्धि

पण्डित शब्द का मेरुदण्ड बुद्धि है। प्रयोग के अनुसार बुद्धि के विभिन्न रूप प्रचलित है। तत्त्वज्ञान मे लगाने वाली बुद्धि पण्डा है। जिसमे पण्डा हो वह पण्डित है। धारण करने वाली बुद्धि को मेधा कहते है। जिसमे मेधा हो, वह मेधावी है। आत्म-कल्याण मे लगने वाली बुद्धि को ज्ञान कहते है। विभिन्न कलाओ और शिल्प मे प्रयत्न बुद्धि विज्ञान कहलाती है। विद्वान् की अपेक्षा पण्डित का क्षेत्र और दायित्व व्यापक है। किसी भी शास्त्र-विशेष मे पारगत होने से उसे विद्वान् कहा जा सकता है, पण्डित नही। पण्डित होने के लिए शास्त्र ज्ञान के साथ-साथ चारित्रिक गुणो का होना आवश्यक है। सीखने की कला मे प्रवीण होना विद्वत्ता का चिन्ह है, जबकि अपने ज्ञान और जीवन से दूसरो को सिखाने की क्षमता प्राप्त करना पाण्डित्य की ओर गमन है।

आज के पण्डित

आज का पण्डित नामधारी शास्त्र की व्याख्या तो अच्छी करता है किन्तु उसका वह ज्ञान जीवन से जुडा हुआ बहुत कम है। इसका अर्थ यह हुआ कि पण्डित प्राय शास्त्रगर्जन से सम्बन्धित है, उसका जीवन आचरण से कटा हुआ है महाभारत वनपर्व मे स्पष्ट कथन है—

यस्तु क्रियावान् स एव पण्डित.

—जो ज्ञान के साथ-साथ क्रियावान है—आचरण मे सक्रिय है, वही पण्डित है। जो ज्ञानव्यसनी तो लगता है, किन्तु आचरणशून्य है, उसे पण्डित कैसे कहा जा सकता है ?

विक्रम की ११वी शताब्दी मे रामसिंह मुनि ने 'सावयधम्मदोहा' मे पण्डित के चरित्र को आध्यात्मिक कसौटी पर कसा और पाया कि पण्डित, जो कभी आध्यात्मिक ज्ञानयुक्त जीवन जीता था, आज वह कोरा शास्त्रज्ञ रह गया है। उसका नाता परमार्थरूपी कण से न रहकर ग्रन्थ और उसके अर्थरूपी भुस्सा से हो गया है।

अत. उन्होने पण्डित पर करारी चोट की—

पंडित-पंडित पंडिया, कण छंडिवि तुस खडिया।
अत्थे गथे तुट्ठोसि, परमत्थु ण जाणइ मूढोसि ॥

—हे अतिशय पाण्डित्य के धनी पण्डित ! तूने धान्यकण को छोडकर तुस (भुस्सा) ही कूटा है। तुझे ग्रन्थ और अर्थ मे सन्तोष है। परमार्थ को तू नही जानता, इसलिये पण्डित कहलाकर भी मूढ है।

ऐसे पण्डितो से दूसरो को क्या मिल सकता है, जो खुद ही अन्धेरे मे हो ? दूसरो को ज्ञान देने वाले, व्याख्यान बघारने वाले पण्डित जब स्वय अपनी गुत्थी नही सुलझा सकते, वे पण्डित नही, मूढ है। सत कबीर ने ऐसे ही पण्डितमानियो के लिये कहा है—

पण्डित और मशालची दोनो सूझै नाही।
औरन को करै चादना, आप अन्धेरे माही ॥

भावार्थ स्पष्ट है।

एक जगह बहुत-से पण्डितमानी इकट्ठे होकर वाद-विवाद कर रहे थे। विवाद का विषय था—

पण्डिते च गुणा. सर्वे, मूर्खे दोषा हि केवलम्

अर्थात्—पण्डितो मे तो सब गुण ही गुण हैं, और मूर्ख मे केवल दोष ही दोष हैं।

पर्याप्त वाद-विवाद के बाद सर्वसम्मति से यह तय हुआ कि पण्डित मे और तो सारे गुण ही गुण है, दोष केवल मूर्खता का है। इस अनूठे अर्थ की खोज करके सभी फूले नही समा रहे थे। पण्डित का आभूषण मूर्खता है तो वह पण्डित हुआ ही कैसे ? इसीलिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट कह दिया—

'जो वास्तव मे पण्डित हो, उसी से पूछो'

नि सार का उपासक पण्डित नहीं

जो लोग स्वय अविद्यामूर्ति है, उनसे कुछ भी पूछना व्यर्थ है। तथागत बुद्ध ने अगुत्तरनिकाय मे स्पष्ट कहा है—

"जिसका हृदय अविद्या से ढका है, वह अज्ञानी पण्डित के साथ रहकर भी धर्म के तत्त्व से नही जान पाता, जैसे कि कडछी सूप के स्वाद को नही जान पाती ।"

ऐसे ही पण्डितो के कारण पण्डित शब्द का गौरव घट गया है । कबीरदास ने ऐसे पण्डितो की खूब खबर ली है—

पण्डित वाद बदै सो झूठा ।
राम के कहे जगत् गति पावै, खाड कहै, मुख मीठा ।

भावार्थ स्पष्ट है । कोरे शास्त्र-व्याख्यान करने से कैसे तर सकता है ? अत कबीर ने तो साफ-साफ कह दिया है—केवल शास्त्रज्ञ पण्डित नही हो सकता, उसे जीवनज्ञ होना चाहिये ।

पर दिखाई कुछ ऐसा दे रहा है कि आज अधिकाश पण्डित कोरे शास्त्रज्ञ रह गये, उनका जीवन शास्त्रज्ञान मे अटका रह गया, वस्तुत वास्तविक खोज जीवन मे होती है । कबीर ने शास्त्रज्ञ और जीवनज्ञ का भेद बता दिया है—

चारि वेद पढाई करि, हरि सु न लाया हेत ।
बालि कबीरा ले गया, पण्डित ढूँढे खेत ॥

इसका यह आशय है कि ग्रन्थो को मथ डाला, लेकिन परमात्मा के प्रति प्रीति न बढी । कबीर को स्वरूपाचरण की बाली मिल गई और पण्डित खेत ढूँढता रह गया । मध्यकाल मे पण्डित जीवन का मैदान छोडकर कही और भाग खडा हुआ, असलियत से आँख चुराई, वास्तविकता से पलायन किया । वह वाक्‌चातुर्य मे फँस गया, कर्मकाण्डी हो गया । पाण्डित्य का स्थान पण्डिताई ने ले लिया । उसके पीछे पण्डिताई लग गई ।

समाज का प्रबुद्ध वर्ग पण्डित उसे कहता है, जो भोला-भाला है, सीधा है, अनुभवहीन है, दयनीय है, जिसे आसानी से बेवकूफ बनाया जा सकता है, जो देशी भाषाएँ या सस्कृत पढाता है, पूजा-पाठ कराता है या जो, साधु-सन्यासियो का जहाँ प्रवेश नही हुआ या पदार्पण कठिनना से होता है, वहाँ शास्त्र सुनाता है, या किन्ही पाठशालाओ मे पढाता है, या विवाहादि कार्य सम्पन्न कराता है, ज्योतिष या वैद्यक के प्रयोग बताकर जीविका चलाता है या मन्दिर की प्रतिष्ठा करवाता है, जो थोथे उपदेश देता है । ऐसा पण्डितवर्ग जीवन से विच्छिन्न होकर बडी-बडी डीगे मारता है । सतो को यह काटे की तरह खटका कि पण्डित केवल आचरणशून्य शास्त्र मे चला गया है । इस कारण वह असार वस्तु को अपनाने लगता है और सार वस्तु को फेक रहा है । रैदास जैसे अनुभवी सन्त ने कहा—

थोथो जनि पछोरौ रे कोई, सोई रे पछोरौ, जा मे निजकन होई ।
थोथा पण्डित थोथी बानी, थोथी हरि बिन सबै कहानी ॥

आशय यह है कि—अरे पण्डित ! नि:सार वस्तु को क्यो सूप मे रखकर फटक रहा है ? सूप मे उसी को पछौर-फटक, जिसमे आत्मतत्त्व—निजत्व का कोई अश हो। अन्यथा थोथा पण्डित है, और उसकी वाणी भी थोथी है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जिसमे वाग्वैदग्ध्य है, वह विद्याव्यसनी तो है लेकिन शास्त्रानुसार क्रियावान नही है, वह पण्डित नही है। पण्डित का सीधा-साधा समीकरण इस प्रकार है—

ज्ञान + आचरण = पण्डित

ज्ञान ही ज्ञान = अपण्डित

आचरण ही आचरण = अपण्डित।

इसलिए महाभारत मे तथा ठाणागसूत्र (ठा० ४) की टीका मे पण्डित शब्द का लक्षण उपलब्ध है—

पठका पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तका.।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा, य क्रियावान् स पण्डितः ॥

—ज्ञानार्थी, अध्यापक एव जो अन्य शास्त्रचिन्तक है, चारित्रवान होना ही उनकी पहिचान है, अन्यथा सभी (विद्या) व्यसनी और मूर्ख होते है। जो क्रियावान (आचारवान) है, वही पण्डित है।

थोथे उपदेश—सिद्धान्तहीन मार्गदर्शन ही पण्डित के व्यक्तित्व को ले डूबा। उपदेश तो ये पापो के त्याग का करते है, अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का देते है, लेकिन स्वय समाज मे सम्प्रदायान्धता, कट्टरता और पक्षपात फैलाते है, कलह और झगडो का बीज बोते है।

किसी ने एक बार अपनी भाषा मे कहा था—"पण्डितजी मे एक ऐब है—दिन म बडी मीठी आवाज मे भाषण देउत है, और रात मे १२ बजे तक खाउत-पीउत है।" मन-मुटाव और तोड-फोड का या अमुक-तमुक के तिरस्कार-बहिष्कार का नारा लगाकर झगडे का बीजारोपण अधिकाश पण्डितो द्वारा ही किया जाता है। वे ठोस रचनात्मक आधार देकर समाज के गिरते हुए—डिगते हुए युवावर्ग या धर्मश्रद्धा से विचलित होते हुए वर्ग को थामने का कार्य नही करते। स्थिरीकरण, उपगूहन या उपबृंहण, वात्सल्य और प्रभावना शब्द केवल व्याख्यान सभा या शास्त्र-स्वाध्याय मे ही सीमित होकर रह गये हैं, जीवन की देहली मे उनका आलोक नही फैल पाया है। इसलिए पण्डित लोग प्राय बहिरात्मा बने हुए हैं। इसीलिये अनगारधर्मामृत की टीका मे विक्रम की १३वी शताब्दी के ग्रन्थकार प० आशाधरजी ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्चतपोधनै ।
शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ॥

—चारित्रभ्रष्ट पण्डितो ने और बठर (पोगा पथी) तपस्वियो ने जिनचन्द्र के निर्मल शासन (सघ) को मलिन कर दिया।

पण्डित पद का अवमूल्यन

पिछले दो दशको मे पण्डित शब्द का प्रयोग बहुत ही उदारतापूर्वक होने लगा है, किन्तु पहले दश सहस्र लोगो मे एक पण्डित हुआ करता था, आजकल तो एक छोटे-से कस्बे मे ही अनेक पण्डित मिल जाते हैं। किसी जैन शाला का मिडिल पास प्राथमिक कक्षाओ का शिक्षक भी पण्डित कहलाता है। हवन, झाड-फूंक, विवाह आदि सम्पन्न कराने वाले भी पण्डित कहलाते है, भले ही वे पचपरमेष्ठीमत्र का उच्चारण भी अशुद्ध करते हो। पाँच रुपये तक वार्षिक चन्दा देकर विद्वत्सभा जैसी सस्था का सदस्य बनकर भी पण्डित-पद प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे आरोपित पण्डितो मे ज्ञान हो या न हो, दम्भ, क्रोध, लोभ, पदलोलुपता, माया, चाटुकारिता, निर्जीव नाम की चाह, थोथे यश की कामना आदि अनेक धब्बे पण्डित पद पर पडे हुए हैं।

बीसवी सदी मे इन नामधारी तथाकथित पण्डितो मे एक विचित्र दुर्गुण घर करता जा रहा है। वह है—धनिको की खुल्लमखुल्ला चाटुकारी। धनिको से पैसा खीचने के लिये मच पर से ही उनके प्रशस्ति गीत गाना, अभिनन्दन-पत्र देना—दिलाना। उन्हें पचकल्याणक उत्सव के समय राजा या इन्द्र का पद लेने के लिये आकर्षित करने की कला मे प्रवीण पण्डित क्या अपने पद का अवमूल्यन नही करता ?

साधु जीवन मे हमे कई लोगो से वास्ता पडता है। मुझे दीक्षा लिये कुछ ही वर्ष हुए थे कि एक वडे कस्बे मे मुझे एक श्रावक मिले, वे सम्प्रदाय से जैन एव कट्टर जातिवादी थे। एक बार पण्डित शब्द के बारे मे चर्चा चली तो उन्होने अपने हृदय मे उठती हुई टीस को व्यक्त करते हुए कहा—"महाराजश्री ! आप जानते हैं, पण्डित किसे कहते हैं ?

मैंने कहा—"मैं तो यही समझता हूँ, पण्डित यानी विद्वान, वक्ता या लेखक !"

उन्होने कहा—ऐसा नही, जैसे पण्डित मे तीन अक्षर हैं, वैसे ही उसकी विकृति सूचित करने वाले तीन दुर्गुण है—'प' यानी पापी या पाजी, 'ड' यानी डाकू और 'त' यानी तस्कर ! तीनो मिलकर हुआ पण्डित ! पण्डित का यह विकृतिसूचक अर्थ भले ही व्यग और विनोदपूर्ण हो, लेकिन जो व्यक्ति इतना धर्मपरायण है, दान करने मे अग्रणी है, धर्मशाला आदि बनवाने वाला है, वह सहसा पण्डित का ऐसा अपमानसूचक अर्थ नही कर सकता। कबीर के शब्दो मे कहूँ तो पोथी पण्डित या मिथ्याभाषी को 'पण्डित' नही कहा जा सकता।

हमारे अधिकाश पण्डितो की मन स्थिति इतनी गिर गई है कि वे प्रमाद मे डूब जाते हैं, दुनिया के घटनाचक्र से, नये-नये वाङ्मय से उनका परिचय शून्यवत् रहता है, वे अपने सीमित तत्त्वज्ञान, ग्रन्थो, परिभाषाओ और परम्पराओ से आगे बढ़ने का साहस नही कर सकते। अध्यात्म एवं आत्मा-परमात्मा की, सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन की एव धर्म की लम्बी-चौडी चर्चा करने वाले उन तथाकथित पण्डितो के जीवन के

प्रति दृष्टपात करते हैं तो उनका पाण्डित्य प्रदर्शनमात्र सिद्ध हो जाता है, उनके जीवन का खोखलापन भी स्वतः प्रमाणित हो जाता है।

वैदिक और जैन समाज का इतिहास बताता है कि मध्ययुग से पण्डितवर्ग उत्तरोत्तर दीनता और हीनता का शिकार बनता गया। ब्राह्मण पण्डित भी प्राय वैश्यवर्ग और क्षत्रियवर्ग की चाटुकारिता करके जीया। वह जिस परम्परा और सिद्धान्तहीन रूढ़ि मे जीता आया, उसी रूढ़ि और परम्परा पर गतानुगतिक बनने की प्रेरणा वह समाज को देना चाहता है।

तेजस्वी मार्गदर्शक पण्डित

इस कारण कुछ तेजस्वी सिद्धान्तजीवी ब्राह्मण-पण्डितो द्वारा ऐसी गलत परम्परा को तोडने पर वह बौखला उठता है और समाज को उन्हें जाति-बहिष्कृत करने की प्रेरणा देता है। एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिये—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सच्चे पण्डित थे। वे अपने जीवन से समाज को मूक मार्गदर्शन देते रहते थे। वे सरस्वती की सेवा करने के उपरान्त अपनी बौद्धिक प्रतिभा का उपयोग किसानो को कृषिविज्ञान का मार्गदर्शन करने मे करते थे।

एक बार वे खेत से लौट रहे थे कि उन्हें हृदयविदारक चीख सुनाई पडी। वे उसी दिशा मे दौड पडे और देखा कि चीखने वाली एक अन्त्यज पासिन स्त्री है, जिसके पैर मे साप ने डस लिया है। आचार्यजी ने तुरन्त अपनी जनेऊ तोडी और सर्पदश से प्रभावित हिस्से पर कसकर बाँध दी। फिर चाकू निकाल कर उतने भाग का माँस व रक्त काटकर निकाल लिया। फलत पासिन की जान बच गई। तब तक कुछ गाँव वाले भी घटनास्थल पर आ पहुँचे।

गाँव के ब्राह्मणो मे इस घटना को लेकर भूचाल उठ खडा हुआ। कहने लगे—यह धमविरुद्ध कार्य है। एक पढे-लिखे ब्राह्मण ने अपनी पवित्र जनेऊ एक नीच जातीय स्त्री के पैर से स्पर्श कराया। कहाँ एक अति पवित्र वस्तु और कहाँ एक शूद्र स्त्री का अपवित्र पैर ' यह तो सरासर ब्राह्मण के यज्ञोपवीत का अपमान है। फिर परम्परा के अनुसार यज्ञोपवीतरहित होने की स्थिति मे ब्राह्मण का मौन रहना आवश्यक है, किन्तु द्विवेदीजी यज्ञोपवीतरहित होने पर उस भी अन्त्यजा को सांत्वना देते रहे। गाँव के एक छोर से दूसरे छोर तक खलबली मच गई। बात इतनी बढ़ी कि कुछ पुरातनपथी ब्राह्मण-पण्डित द्विवेदीजी को जाति-बहिष्कृत करने पर उतारू हो गए। द्विवेदीजी अपने को निर्दोष साबित करते रहे। समाज के कुछ प्रबुद्ध और प्रगतिशील व्यक्तियो ने बीच-बिचाव किया। उनके प्रयत्नो से उलझी हुई गुत्थी सुलझ गई।

बडी धीगाधीगी के बाद तय हुआ कि किसी के प्राण बचाने से ब्राह्मण का यज्ञोपवीत अधिक पवित्र होता है। ऐसी स्थिति मे यज्ञोपवीतरहित वाणी भी पवित्र

होती है। इस तरह वह विकृत बवडर एक सुकृत शुभंकर रूप मे परिवर्तित हो गया।

सारे ग्रामवासी प० द्विवेदीजी के इस प्रत्यक्ष मार्गदर्शन को शिरोधार्य करके ऊँच-नीच और छुआछूत का भेदभाव छोडकर परस्पर गले मिले। द्विवेदीजी के चरण श्रद्धापूर्वक स्पर्श किये। उनसे क्षमा माँगी।

यह है, तेजस्वी मार्गदर्शक पण्डित का व्यक्तित्व!

पण्डित की युगस्पर्शी परिभाषा

कवि सोनवलकर ने पण्डित की युगस्पर्शी परिभाषा इस प्रकार की है—

जिनके ज्ञानसूर्य मे जीवन-अनुभव की ऊष्मा हो।
जिसके प्रवचन मे मार्मिक सवेदन की सुषमा हो॥
भवबन्धन के साथ-साथ जो रूढिजाल भी काटे।
प्रभुप्रसाद के साथ-साथ जो समता मिसरी बाटे॥
जाति-वर्ण-कुल-गोत्रभेद को जिसकी दृष्टि न देखे।
औरो के अवगुण विकार जो करे सदा अनदेखे॥
मन से, वचन-कर्म से जो हो सत्पथ का अनुगामी।
कथनी और करनी मे जिसकी रहे न कोई खामी॥
स्पर्श-रूप-रस-गन्ध बीच जो कमलपत्र-सा रहता।
बधता नही पथ-काई से, निर्मलनीर सा बहता॥
सबसे जुडकर भी जो भीतर अनासक्त है।
वह ज्ञानी है, कर्मवीर है, वही भक्त है॥

सचमुच कवि की अनुभव सस्पृक्त वाणी मे पण्डित के सभी लक्षण आगये है।

पण्डित कितना आध्यात्मिक, कितना व्यावहारिक?

इन सब लक्षणो को देखते हुए पण्डित बहुत ही सम्मानसूचक शब्द है। जो विशिष्ट ज्ञानियो के लिए प्रयुक्त होता है। यह सम्बोधन किसी यूनिवर्सिटी से प्राप्त बी.ए., एम ए आदि डिग्रियो की तरह उपलब्ध नही किया जा सकता। वह ज्ञानयुक्त आचरण से अर्जित किया जा सकता है। 'पण्डित' शब्द से मस्तिष्क मे ऐसे व्यक्ति की छवि उभरती है, जो शास्त्रो का मर्मज्ञ हो, प्रवचनकला मे प्रवीण हो, कलम का धनी हो, तथा जिसकी कथनी-करनी एक हो। इसके अतिरिक्त जो जिनवाणी-माता के भण्डार मे स्वबौद्धिक शोध-बोध का अर्घ्य सतत चढ़ाकर उसे समृद्ध बनाता रहता हो। जिसके शास्त्र-व्याख्यान और जीवन-व्यवहार दोनो मे वैपरीत्य हो उसे पण्डित मानना, 'पण्डित' शब्द का उपहास है। परमात्म प्रकाश मे आचार्य योगेन्दुदेव ने पण्डित शब्द की परिभाषा की है—

देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥

—जो व्यक्ति परमात्मा—शुद्धात्मा को शरीर से भिन्न ज्ञानमय जानता है, जो आत्मानुभूतिरूप परम समाधि मे सुस्थित है, वही पण्डित—अन्तरात्मा है ।

निष्कर्ष यह है कि जो अपने शरीर और शरीर सम्बन्धित पदार्थों के प्रति निरपेक्ष-निःस्पृह है, निराकांक्ष होकर जीता है, जिसे भविष्य की कोई चिन्ता नही होती और न ही वह किसी से पद, प्रतिष्ठा, भेंट-पूजा की अपेक्षा रखता है, वही वास्तव मे पण्डित है । ऐसा पण्डित ही जिज्ञासु-जनो को बोध एव मार्गदर्शन दे सकता है । वही गृहस्थ की अटपटी समस्याओ, उलझी हुई गुत्थियो को सुलझा सकता है । वही जीवन और जगत् के प्रति उदासीन होकर उसके युगलक्षी प्रश्नो का समाधान भी करता है । भगवद्गीता ने इसी बात को अपनी भाषा मे व्यक्त किया है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसकल्पवर्जिता ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माण तमाहु पण्डित बुधाः ॥
यो न शोचति, न च कांक्षति ।

—जिसके सभी समारम्भ—सत्कार्य कामनाओ और सकल्पो से रहित होते हैं, जो अपने सारे कर्म ज्ञानरूप अग्नि मे जलाता है, उसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष पण्डित कहते हैं । जो न किसी प्रकार की चिन्ता करता (सोचता) है, और न आकाक्षा करता है । जो यह सोचता है—मुझे वह नही मिला, आकाक्षा भी करता है—मुझे यह मिलना चाहिए, मुझे वह मिलना चाहिए । जिसको नई-नई आकाक्षाएँ बाध्य करती रहती हैं, सुख-सुविधाओ के लिए जो लालायित रहता है, चाह और चिन्ता के चक्रव्यूह मे वह ऐसा विवश हो जाता है कि शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों की ही धुन जिसे लगी रहती है, जो आत्मा और आत्मगुणो के विचार से कोसो दूर हो जाता है, फिर भला वह 'पण्डित' बनेगा ही कैसे ?

अठारहवी सदी की ही बात है । बगाल मे कृष्णनगर के निकट एक गाँव मे एक ब्राह्मण पण्डितजी रहते थे । नाम था—रामनाथ । वे बहुत दरिद्र थे । दरिद्रता उन पर लादी हुई नही थी, उन्होने ही स्वेच्छा से दरिद्रता को ओढ़ लिया था । इतने निराकाक्षी एव स्वाभिमानी कि किसी से कुछ भी माँगते नही थे, न उन्हें किसी वस्तु की लालसा थी । वे अपनी दरिद्रता की जिक्र तक नही करते थे, किसी के सामने । अहर्निश अपने अध्ययन-अध्यापन मे निरत रहते थे । उनकी पत्नी के हाथो मे सोने की चूड़ियाँ तो दूर रहीं, सुहाग चिह्नस्वरूप चूड़ियाँ भी न थी, केवल लाल सूत का मोटा धागा वे अपनी कलाई पर बाँधे रखती थी, सुहाग चिह्न के प्रतीक के रूप मे ।

साधारण आँखो मे कहाँ इतनी शक्ति होती है, ऐसे पण्डितो के गुणो और ऊँचाइयो को परखने की ? अत लोग उन सादगी की मूर्ति पण्डित को जगली—बुनो रामनाथ कहते थे ।

बूनो रामनाथ की प्रशंसा राजा कृष्णचन्द के कानों मे पहुँची। उन्होने उन्हें बुलाया, लेकिन उन्हें तो राजा से कोई चाह न थी, अतः जाते ही क्यो? और जो कुछ वे चाहते थे, वह राजा के पास था ही कहाँ? राजा ने उनसे पूछा—आपको कोई अनुपपत्ति तो नही है? अर्थात् कोई अभाव तो नही है अन्न, वस्त्र का? पण्डितजी ने कहा—"मुझे कोई अभाव नही है। मेरे छात्र प्रतिदिन दो मुट्ठी चावल दे देते है। मेरे आगन मे इमली का पेड है, जिसके पत्तो का साग बन जाता है। घर के पास ही कपास का एक पौधा भी है, जिसकी रूई से ब्राह्मणी सूत कात लेती है। सूत से एक कपडा भी तैयार हो जाता है। बस, इतनी ही मेरी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति हो जाती है।" राजा ने आर्थिक सहायता लेने के लिए बहुत अनुरोध किया लेकिन उन्होने साफ इन्कार कर दिला। अन्तत राजा उनकी धर्मपत्नी के पास गया तो उसका भी वही उत्तर था। पति-पत्नी दोनो बिलकुल नि स्पृह थे।

यह है—पण्डित का नि स्पृह, निराकाक्ष और सतोषी जीवन। सिर पर आकाक्षाओ की गठरी और काँख मे लोकैषणा आदि एषणात्रय का कुपथ्य लेकर ज्ञान-समुद्र की थाह नही ली जा सकती।

जो पुराना पण्डित था, वह कोरा पण्डित नही था। वह समझता था, जैन शास्त्रो मे वर्णित समत्वरस का पान करने-कराने के लिए व्यक्ति को सुख-दु ख से अतीत, आकाक्षाओ से रहित तथा तटस्थ बनना पडेगा। दिवगत प० सुखलालजी का जीवन भी कितना सादगी से ओतप्रोत, निसर्गनिभर, निरभिमानपूर्ण था। ज्ञान के लिए उन्होने स्वय को समर्पित कर दिया था। न थी प्रसिद्धि की चाह और न थी धन-कामना। एकमात्र ज्ञानार्जन मे सारी शक्ति उन्होने लगाई, उसका भी परिग्रह नही समाज को सर्वत्र सर्वदा मुक्तहस्त से वितरित करते गये थे।

इस प्रकार प्राचीन पण्डित गृहस्थवर्ग का मार्गदर्शक था, गुरुजी था अध्यापक था, परामशक था और अभिभावक भी था। समाज पर आए हुए सकट-निवारण के लिए स्वय जुट जाता था, वह समाज का अभिन्न सच्चा मित्र और रहवर बनकर सर्वथा बौद्धिक सहायता करता था। जब भी कोई कठिनाई, दुविधा या विघ्न-बाधा उपस्थित होती थी, तब समाज उससे सादर विचार-विमर्श करता था, उससे समाज के चित्त को समाधान प्राप्त होता था। इस प्रकार वह नई पीढ़ी का भाग्यविधाता और मार्गद्रष्टा होता था। अपनी आवश्यकताएँ सीमित रखकर वह अपने जीवन को एक लोक-सेवक की भाँति समाजहितार्थ समर्पित करके जीता था। वह इतना नि स्पृह होता था कि समाज स्वत आगे होकर उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करता, उसके सुख-दु ख की चिन्ता रखता था।

पण्डित बौद्धिक विकास के साथ आध्यात्मिक निष्ठा

इतना सब करते हुए भी वह पण्डित आत्मविकास को भूलता नही था। कहना होगा कि पण्डित शब्द केवल बौद्धिक विकास से ही सम्बन्धित नही है, अपितु ज्ञान

और चारित्र, दर्शन और आत्मसुख, वीर्य (आत्मबल) और आत्मशुद्धि के लिए पराक्रम करने के रूप मे आत्मिक विकास से भी सम्बन्धित है। क्योंकि आत्मिक विकास मे पराक्रम करने वाला एव तत्त्वज्ञान को सीखने-सिखाने वाला व्यक्ति पण्डित कहलाने का अधिकारी है। अभिधान राजेन्द्रकोश मे पण्डित का कर्त्तव्य बताते हुए कहा है—

> ज किंचुवक्कम जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
> तस्सेव अतरा खिप्प, सिक्ख सिक्खेज्ज पडिए॥

इसीलिए शंकराचार्य ने पण्डित की वृत्ति-प्रवृत्ति का सक्षेप मे दिग्दर्शन करा दिया है—

> आत्मविषया बुद्धि येषा तेहि पण्डिता।

—जिनकी बुद्धि आत्मनिष्ठ है, वे ही वास्तव मे पण्डित है।

जिनकी बुद्धि आत्मा मे ही स्वाभाविक रूप से ओतप्रोत है, आत्मभावो मे रमण करती है, वह व्यक्ति शरीर और शरीर के सम्बन्धित विषयो, इन्द्रियविषयो का गुलाम नही होता, वह उनमे आसक्त होकर कर्मबन्ध नही करता, वह कर्मबन्धनो को तोडने के लिए स्वय पुरुषार्थ करता है, दूसरो को भी बन्धनमुक्त करने के लिए परामर्श एव प्रेरणा देता है। परन्तु जो स्वय बन्धनो मे पडा है, शरीर, मन और इन्द्रियो का गुलाम है, शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों के प्रति आसक्त है, वह दूसरो को बन्धनमुक्त कैसे कर सकता है ? या कैसे गुलामी से छुडा सकता है ? स्वय स्वतत्र हुए बिना दूसरो के परतन्त्रता की बेडियाँ कैसे काट सकता है ? वह पण्डित ही कैसे कहला सकता है ?

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

एक पण्डित था। वह प्रतिदिन राजा को धर्मकथा सुनाया करता था। राजा उसे प्रतिदिन एक स्वर्णमुद्रा देता था। पण्डित स्वर्णमुद्रा पाकर बडा प्रसन्न होता था।

एक दिन धर्मकथा सुनते-सुनते राजा कुछ विचार मे डूब गया। सोचा—'मैं प्रतिदिन धर्मकथा सुनता हूँ, बचपन से लेकर आज तक मुझे धर्मकथा श्रवण करते हुए वर्षों हो गये हैं, लेकिन उससे क्या लाभ हुआ ? मेरे जीवन मे तो जरा-सा भी परिवर्तन नही हुआ। ऐसा क्यो ?'

कथा समाप्त होते ही राजा ने कथावाचक पण्डितजी से पूछा—"पण्डितजी ! बचपन से मैं प्रतिदिन आप से धर्मकथा सुनता आ रहा हूँ। मेरे बाल सुनते-सुनते पक गए। शास्त्र कण्ठस्थ हो गये हैं। परन्तु अभी तक मुझे विषयो से अरुचि नही हुई। विकारो मे मन्दता नही आई। इन्द्रियजन्य सुखोपभोग को छोडने की इच्छा नही होती। विषयो की गुलामी से मन मुक्त नही हुआ। नैतिकता की नीव भी अभी कच्ची है। कई बार तो नीति और धर्म पर से मेरी आस्था ही डगमगा जाती है। इतना

सुना है, अब तक सुन रहा हूँ, फिर भी हृदय नही भीगा। पण्डितजी ! क्या कारण है, इसका ?"

पण्डितजी सुनकर विचार मे पड गये। वे क्या उत्तर देते, इस प्रश्न का ? पण्डितजी ने मौन रहने मे ही अपना श्रेय समझा। किन्तु राजा प्रश्न का उत्तर लिए बिना कैसे पिंड छोडता ! राजा ने कहा—"आपको इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा, अन्यथा कल से आपसे धर्मकथा-श्रवण करना बन्द कर दूँगा। आपकी दक्षिणा भी बन्द हो जाएगी।"

यह सुनते ही पण्डितजी के देवता कूच कर गये। सोचने लगे—उत्तर न दूँगा तो आजीविका भी बन्द हो जाएगी। अत पण्डित बोले—"राजन् ! इस प्रश्न का उत्तर देने मे कुछ समय चाहिए।"

राजा—"अच्छा, आज नही तो कल ही सही, पर इस प्रश्न का उत्तर अवश्य चाहिए।"

चिन्ता मे डूबे पण्डितजी घर आये। आजीविका जाने का भय सिर पर सवार था। उनका मन आज किसी मे भी कार्य नही लग रहा था। उनकी व्यग्रता छिपाने पर भी छिप नही रही थी। पुत्र ने पिता को चिन्तातुर देख पूछा—"पिताजी ! आज आप दुःखी और चिन्तित क्यो है ?" पण्डितजी ने पहले तो कुछ नही कह कर बात टालनी चाही परन्तु अन्त मे, पुत्र के अत्याग्रह पर उन्हें कहना पडा। उन्होने अपनी सारी व्यथा-कथा कह सुनाई। पुत्र ने एकाग्रचित्त होकर बात सुनी। कुछ देर सोचकर हर्ष से बोला—"पिताजी ! कल मुझे राजभवन मे ले चलना, मै आपके आशीर्वाद से राजा के इस प्रश्न का उत्तर आसानी से दे सकूँगा।" पण्डितजी का पुत्र की बुद्धि पर विश्वास था। वे पुत्र की ओर से आश्वासन पाकर निश्चिन्त हो गये।

दूसरे दिन पण्डितजी अपने पुत्र को लेकर राजभवन मे जाने लगे। पुत्र ने मजबूत रस्से के दो पिंड साथ मे ले लिये। पण्डितजी को पुत्र के इस आचरण से कुतूहल तो हुआ, पर वे बोले कुछ नही। राजभवन पहुँचकर पण्डितजी ने राजा को आशीर्वाद दिया। राजा ने कहा—"पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए, तब मैं शास्त्र-श्रवण करूँगा।" पण्डितजी ने कहा—"राजन् ! आपके प्रश्न का उत्तर मेरा पुत्र देगा।"

राजा ने ब्राह्मण-पुत्र की ओर देखा, आँखे तरेरकर बोला—"यह छोकरा मेरे प्रश्न का उत्तर देगा ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"राजन् ! प्यासा व्यक्ति सरोवर छोटा है या बड़ा, यह नही देखता, इसी प्रकार जिज्ञासु व्यक्ति को भी अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने से प्रयोजन रहता है, छोट-बड़े व्यक्ति से नही।" राजा ने साश्चर्य कहा—"तुम तो बडे पण्डित-से लगते हो, अच्छा दो तो उत्तर।" ब्राह्मण-पुत्र निर्भयता से आगे बढ़कर बोला—

"राजन् ! सचमुच आप अपने प्रश्न का उत्तर चाहते हैं ?" राजा ने कहा—"निःसन्देह चाहता हूँ।" ब्राह्मण-पुत्र—"राजन् ! तब तो उत्तर पाने के लिये मैं जो कुछ कहूँ वह आपको करना पड़ेगा। मेरा कुछ अपराध हो तो क्षमा करना।"

राजा—"बेशक ! मुझे स्वीकार है, तुम्हारी बात।"

ब्राह्मण-पुत्र—"अच्छा तो आप इस सिंहासन से उतरकर इस खभे के पास खड़े रहिए।" और फिर ब्राह्मण पण्डित की ओर देखकर कहा—"पिताजी ! आप भी दूसरे खभे के पास खड़े रहिए।"

राजा कुतूहलवश बोला—"यह सब क्या तमाशा है ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"राजन् ! यह तमाशा नही, आपके प्रश्न का उत्तर है।"

राजा और ब्राह्मण पण्डित दोनो एक-एक खभे के पास खड़े हो गये। ब्राह्मण-पुत्र ने राजा और पण्डित को रस्सी से बाधने लगा। इस पर राजा बोला—"यह क्या उद्दण्डता है ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"यह उद्दण्डता नही, आपके प्रश्न का उत्तर है। शान्त रहिए।"

जब ब्राह्मण-पुत्र राजा और पण्डितजी दोनो को बाँधकर एक ओर खड़ा हो गया, तब राजा ने कहा—"अरे ! अब तो खोल। तूने तो हम हैरान कर दिया।"

ब्राह्मण-पुत्र बोला—"राजन् ! अब आप मेरे पिताजी को कहें कि वे आपके बन्धन खोले।" राजा उसकी ओर देखकर बोला—"पण्डितजी ! मेरे बन्धन कैसे खोल सकेंगे, क्योकि वे तो स्वय ही बन्धन मे है ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"अच्छा तो, आप ही मेरे पिताजी के बन्धन खोल दीजिए।"

राजा चिढ़कर बोला—"मैं भी बंधा हुआ हूँ, कैसे खोल सकूंगा उसके बन्धन को ? बंधा हुआ व्यक्ति कही दूसरे के बन्धन खोल सकता है ?"

ब्राह्मण-पुत्र—"तो क्या मै आप दोनो के बन्धन खोल सकता हूँ ?"

राजा—"हाँ तू खोल सकता है। जल्दी खोल, हम घबरा रहे हैं।"

ब्राह्मण-पुत्र ने दोनो के बन्धन खोल दिये और बोला—"राजन् ! मैने आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया है।"

राजा—"उत्तर कहाँ दिया ? हमे परेशान कर दिया, तूने !"

ब्राह्मण-पुत्र बोला—"राजन् ! क्षमा करिये। प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह सब करना आवश्यक था।"

बन्धुओ ! आप समझ गये होगे। ब्राह्मण-पण्डित स्वय सासारिक बन्धन, आजीविका चले जाने का भय आदि विकारो मे जकड़ा हुआ था, वह दूसरो को बन्धनमुक्त कैसे कर सकता था ? इसी प्रकार जो पण्डित स्वय सुविधाभोगी है, आशाओ और आकाक्षाओ का गुलाम बना हुआ है, धनिको की चापलूसी करके अपनी

आजीविका के प्रश्न को हल करता है, प्रसिद्धि की लालसा मे इधर-उधर भाग-दौड करके जीवन को विडम्बित कर रहा है, ऐसा पण्डित स्वय सांसारिक बन्धन में जकड़ा हुआ है, वह स्वय नि.स्पृह होता तो अवश्य ही ऐसे भयो और प्रलोभनों के समय अपने सिद्धान्त पर टिका होता, झुका न होता। पर वह टिक न पाया, इसी कारण बन्धनबद्ध पण्डित गृहस्थो और समाज के बन्धन खोलने का भले ही उपदेश दे दे, पर बन्धन खोल नही सकता, न ही उसके उपदेश का असर किसी पर होता है।

एव करेंति सबुद्धा पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्ट ति भोगेसु जहा से पुरिसोत्तमो ॥

—"सम्बुद्ध, पण्डित प्रविचक्षण होकर ऐसा करते है, वे भोगो से वैसे ही दूर रहते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुए।" इस भोग-निवृत्तिपरायण वृत्ति से वह कोसो दूर रहता है।

इसलिए उपदेशक और प्रश्न-समाधानकर्ता पण्डित की भूमिका और कर्त्तव्य को हमे समझ लेना चाहिए।

पण्डितो को जैनाचार्यकृत 'पापात् डीन. पलायितः पण्डित.' (जो पाप से दूर भागता है, वह पण्डित है) व्युत्पत्ति के अनुसार पाप-कार्य से दूर रहना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है। वर्तमान युग के पण्डितो को तदनुसार अपना जीवन बनाना चाहिए—

निषेवते प्रशस्तानि, निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिक श्रद्दधान एतत् पण्डित लक्षणम् ॥

—जो प्रशस्त कार्यों का सेवन करता है, निन्दनीय कार्यों के पास नही फटकता, नास्तिकता से दूर रहता है, सत्य को धारण करता है, यही पण्डित के लक्षण है।

इन और पूर्वोक्त लक्षणो के प्रकाश म पण्डित वर्ग को उपदेशक, मार्गदर्शक एव प्रश्न-समाधानकर्ता की भूमिका निभानी है। वर्तमान युग म जनसाधारण मे समालोचक दृष्टि का तेजी से विकास हो रहा है, आचरणहीन ज्ञान और निरी बौद्धिकता के प्रति लोगा की अनास्था बढ रही है, अत पण्डितवर्ग को कठोर परीक्षा से गुजरना है। वह क्या और कैसा जीवन जोता है, यह समाज की आँखो से ओझल नही हो सकता। प्राय दखा गया है, जब कोई पण्डित चारित्रिक विकास की उच्च भूमिका पर स्थित नही होता तो वह अपनी दुर्बलता को साहसपूर्वक स्वीकार करने को तैयार नही होता, ऐसी स्थिति मे या तो दम्भपूर्वक उच्च चारित्री होने का ढोल करता है, या आत्मवञ्चना करके एकान्त निश्चयनय की ओट मे चारित्रिक एव आचरणात्मक मूल्यो की उपेक्षा करता है तथा वैसा ही उपदेश देने लगता है।

अत. पण्डितवर्ग को अपनी चारित्रिक दुर्बलताओ को महात्मा गाधी की

तरह साहसपूर्वक स्वीकार करने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। ऐसा करने से उसकी प्रतिष्ठा कम नहीं होगी।

अब खण्डन या शास्त्रार्थ का युग बीत गया। आरोप-प्रत्यारोप, काट-छाँट या उखाड पछाड की भाषा आज की पीढ़ी को पसद नही। वर्तमान युग मे जब कि व्यक्ति तर्कप्रधान हो गया है, ज्ञान के नये-नये आयाम तेजी से खुलते जा रहे हैं, अन्धश्रद्धा की गोलियाँ देकर समाज को सुलाया तो जा सकता है, पर जीवन्त नही रखा जा सकता, न अधिक दिनो तक भरमाया जा सकता है। दूसरे की लकीर को मिटाकर अपनी लकीर को बडा बनाना गर्हित कार्य है। उचित यही है कि पण्डितजन स्थितप्रज्ञ तथा शान्ति और समता के दूत बनकर सयम और पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर दूसरे की लकीर को मिटाए बिना अपनी लकीर को बडी बनाएँ। इसी रूप मे अपनी भावी भूमिका का निर्धारण करके कर्त्तव्याचरण करे।

ऐसे अनेक समाजोपयोगी कार्य है, जिन्हें पण्डितजन पूरे कर सकते है। कुछ कार्यों के सकेत मैं दे रहा हूँ—

(१) वर्तमान युग की भाषा मे शास्त्रो का सम्पादन करे।

(२) सरल और सस्ता शोधपूर्ण साहित्य सम्पादित हो, तथा घर-घर मे उसके प्रचार-प्रसार की व्यवस्था हो।

(३) जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे जैनत्व की सुरक्षा कैसे हो सकती है? इस विषय पर चिन्तनपूर्ण लेख प्रस्तुत करे।

(४) विज्ञान के साथ धर्म का मेल बिठाकर उसे वर्तमान की युग भाषा तथा सन्दर्भ मे व्यक्त करे।

(५) नई पीढी को धर्म के अध्ययन की ओर उन्मुख करने हेतु प्रयत्न किये जायें।

(६) जैनधर्म और सस्कृति को केवल दार्शनिक भाषा मे बन्द न रखकर उनका आरोग्य, विज्ञान, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, राष्ट्रीयता आदि के साथ सामजस्य बिठाकर प्रस्तुत किये जाएँ।

(७) विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो मे धर्मतत्त्व को प्रसारित किया जाये।

वर्तमान पण्डित का श्रोता श्रद्धालु नही, तार्किक है, वह शास्त्र को कम और विश्व की गतिविधि को अधिक जानता है। 'शास्त्र मे यह लिखा है' कहकर उसे वह सन्तुष्ट नही कर सकता। शास्त्र की उक्तियो के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उक्तियो, युक्तियो एव अनुभूतियो के साथ सगति बिठाकर उसे प्रस्तुत करना होगा। आर्षं सन्दधीत, न तु विघटयेत्—ऋषि वचनो के साथ सगति बिठाये, उसे खण्डित न करे। बन्ध और मोक्ष की चर्चा से पहले दिमागी तनाव और सामाजिक विद्वेष-बिखराव से मुक्त होने की चर्चा करे। जब तक यह दृष्टि नही आती, तब तक पण्डितवर्ग, न तो युगानुरूप दिशाबोध देने मे सक्षम हो सकता

है, न ही वह युग के पेचीदा प्रश्नो का समाधान कर सकता है, न युवापीढी को धर्म की ओर आकृष्ट कर सकता है। उसे इसके लिये वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे समतायोग की साधना करनी—करानी है। वह तभी वर्तमान की कुण्ठाओ, पीडाओ और विघ्न-बाधाओ से समाज को मुक्त कर सकता है, जबकि वह स्वतःत्रचेता, प्रबुद्ध एव व्यापक दृष्टिसम्पन्न, सत्ता और धन की गुलामी से मुक्त एवं चारित्रनिष्ठ हो। तभी वह पण्डित महर्षि गौतम की भाषा मे समाज, राष्ट्र और विश्व के, धर्मसम्प्रदायो के, जातियो के और सस्कृति के अटपटे प्रश्नो का समाधान कर सकेगा, तभी वह प्रष्टव्य होगा। महर्षि गौतम ने ऐसे ही पण्डितो के लिये इस जीवनसूत्र मे निर्देश किया है—

जे पण्डिया ते खलु पुच्छियव्वा

*

७५. वन्दनीय हैं वे, जो साधु

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज आपके समक्ष विशिष्ट उत्तम जीवन की झांकी प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जो वन्दनीय, पूजनीय, सत्करणीय एव सम्मान्य है । महर्षि गौतम ने ऐसे जीवन को साधुजीवन बताया है । गौतमकुलक का यह ६१वाँ जीवनसूत्र है । इसमे यह निर्देश किया गया है—

जे साहुणो, ते अभिवंदियव्वा

—जो साधु हैं, वे अभिवन्दनीय—वन्दन करने योग्य है ।

साधु सच्चे माने मे कौन होते है ? वे ही क्यो वन्दनीय हैं ? इन सब पहलुओ पर मैं आपके समक्ष अपना विशिष्ट चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूंगा ।

साधु स्व-पर-कल्याणसाधक

साधु का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

साध्नोति स्व-पर-कार्यमिति साधु

जो अपना और दूसरो का कार्य साधता है, वह साधु है । कार्य सिद्ध करने का अर्थ—अपना मतलब सिद्ध करना नही है । अपितु जो अपने और दूसरो के कल्याण को सिद्ध करने के लिये अहर्निश, अप्रमत्त होकर प्रयत्नशील रहता है, वही सच्चे माने मे साधु है ।

साधु के इस व्युत्पत्त्यर्थ मे साधुजीवन का उद्देश्य आ जाता है । साधु अपना कल्याण करने के साथ-साथ जो भी जिज्ञासु उसके सम्पर्क मे आएँ, उनका कल्याण कैसे हो ? इस पर चिन्तन करके निष्कर्ष प्रस्तुत करे । परन्तु दु ख है कि आज अधिकाश साधु इस उद्देश्य से भटक गये है । कई साधु तो अपने इस उद्देश्य से इतने दूर चले गये कि उन्हें यह भान ही नही कि हमने साधु-जीवन किस लिये अगीकार किया था ? न तो वे स्व-कल्याण मे ही लगते हैं, न पर-कल्याण मे । बल्कि वे निठल्ले, अकर्मण्य एव आलसी बनकर दिनभर इधर-उधर की गप्प लडाते रहते हैं । बातो मे वे दुनियादारी के उस पार तक पहुँच जाते है । न शास्त्र-स्वाध्याय, न ध्यान, न जप-तप और न कोई त्याग-प्रत्याख्यान । अच्छा खाना-पीना, अच्छे कपड़े पहनना और गप्पें मारना, यही साधुवेषी साधु वर्तमान मे करते हैं । कई साधु तो स्व-पर-कल्याण

की बात को सर्वथा भूलकर स्वकल्याण के नाम पर भाग, गाजा, सुलफा, चरस आदि या शराब, ताडी, तम्बाकू आदि नशैली चीजो को खा-पीकर अपना जीवन भ्रष्ट करते ही है, साथ ही अपने सम्पर्क मे आने वाले बालको, युवको आदि सबको अपने इस दुर्व्यसन का चेप लगाते रहते हैं। ऐसे साधु स्व-पर-कल्याणसाधक के बदले स्व-पर-कल्याण-बाधक ही अधिक होते है।

कई साधु लोगो के समक्ष ऐसा प्रचार करते है—"साधु को सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, प्रान्तीय आदि प्रश्नो म नही उलझना चाहिये। समाज बने या बिगडे—इससे साधु को क्या मतलब ? साधु इन सब सासारिक प्रपचो मे पडकर क्यो अपना समय, शक्ति एव दिमाग खर्च करे ? साधु यदि समाज, राष्ट्र आदि के कार्यों मे पडता है, तो उसके दोष भी उसे लग जाएँगे, दिनो-दिन साधना मे विघ्न-बाधाएँ बढती जायेगी, आत्मसाधना ठप्प हो जायेगी। वह समाज, राष्ट्र आदि के उलझे हुए प्रश्नो को सुलझाने जाता है, तब उसकी स्व-साधना खटाई म पड जाती है, आदि आदि।

इसी प्रकार कई साधु स्व-कल्याणसाधना को ही मुख्यता देते ह। उनकी मान्यता यह होती है कि "साधु को एकान्त मे, वन म, या एकाकी कही रहकर साधना करनी चाहिये। समाज के साथ रहकर सामाजिक, राष्ट्रीय या धर्मसम्प्रदायीय प्रश्नो को सुलझाने के प्रपच म नही पडना चाहिए। समाज के प्रश्नो को सुलझाने म ग्रस्त एव व्यस्त होना नही चाहिए, उसे तो सिर्फ अपना ही कल्याण करना चाहिये।"

मध्ययुग मे यह मान्यता घर कर गई थी कि साधु को सामाजिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रो मे मार्गदर्शन या कुछ भी गलत हो रहा हो तो उसे रोकने की प्ररणा नही देनी चाहिये। समाज अपने प्रश्नो को स्वय सुलझायेगा। राजनैतिक क्षेत्र का साधुओ को अनुभव नही होता। अत साधु को राजनैतिक क्षेत्र मे कोई भी मार्गदशन, परामर्श या प्रेरणा नही देनी चाहिये। उसे तो अपने जप, तप, ध्यान-मौन, (शुष्क) क्रिया आदि मे ही सलग्न रहना चाहिये।

परन्तु आज कई साधु पर-कल्याण के नाम पर मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, जादू, टोना, झाड-फूंक, गडा तावीज आदि प्रयोग करते है, अथवा आसन, प्राणायाम, यौगिक क्रियाएं आदि करते-कराते हैं और अपनी सस्था के नाम मे चदा या दान वसूल करते हैं।

साधु की वन्दनीयता कैसे, किन गुणो से ?

कई साधु धनिको को प्रेरणा देकर नेत्रदान, वस्त्रदान, आहारदान आदि राहत के कार्य करवाते है। जहाँ तक पुण्यकार्य का सवाल है, निःस्वार्थ या निष्काम भाव से अगर साधु ऐसे कार्यों के लिये किसी धनिक या साधनसम्पन्न को प्रेरणा देता है, वह बुरा नही है। किन्तु जहाँ तक वन्दनीयता का प्रश्न है, केवल समाजसेवा के कार्य की प्रेरणा देने के कारण कोई भी साधु वन्दनीय नही कहला सकता है। साधु की वन्दनी-

यता उसके गुणो के कारण है, न कि आडम्बरो, प्रसिद्धियो या चमत्कारो मे। केवल जादू टोना करने या हाथ की सफाई करने वाले अगर वन्दनीय हो तो बाजीगर या जादू का खेल दिखाने वाले भी वन्दनीय होने चाहिये।

ऐसे कई सयाने है, जो यंत्र, मत्र, तत्र, गडा-ताबीज, झाड-फूंक आदि का प्रयोग करते हैं, लोगो को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाते है, किन्तु इसके कारण वे वन्दनीय कैसे हो सकते हैं ? यदि वे वन्दनीय नही तो केवल यत्र-मत्रादि का चमत्कार बताने के कारण ही कोई साधुवेषी वन्दनीय कैसे हो सकता है ? कई पेशेवर योगी लोग अपने यौगिक केन्द्र खोलकर यौगिक प्रयोग करते है, दिखाते है, सिखाते हैं, योगासन आदि के द्वारा चिकित्सा करते हैं और इस प्रकार योग के नाम पर धनसग्रह करने वाले देश-विदेश मे भ्रमणशील योगी वन्दनीय कैसे हो सकते है ? त्याग, तप, सयम, महाव्रत आदि होने पर ही उन्हें वन्दनीय कहा जा सकता है, केवल यौगिक क्रियाओ के प्रदशन से नही।

कोई साधु अच्छा भाषण करता है, लोगो से पैसा निकलवाने का अच्छा तरीका जानता है, या सम्भाषण-कला म प्रवीण है, परन्तु उसमे साधुता के गुण नही है तो केवल भाषण-सम्भाषण से ही उसे वन्दनीय कहा जा सकता है ? अगर कोरी भाषण-कला या सम्भाषण म प्रवीणता के कारण ही किसी को वन्दनीय कहा जायेगा तो जितने भी प्रोफेसर, वकील आदि लेक्चरार ह, वे सब वन्दनीय कहलायेंगे।

इसी प्रकार यदि कोई साधु केवल शास्त्रो की व्याख्या करता है, शास्त्रो पर शोध-कार्य करता है, परन्तु अगर उसमे साधुता के लक्षण नही है, तो इतन मात्र से वह वन्दनीय नही हो सकता। यदि शास्त्रो की व्याख्या करने या शोध-कार्य करने मात्र से ही किसी को वन्दनीय माना जायेगा तो रिसर्च स्कालरो (शोध-कार्यकर्ताओ) या शास्त्र-व्याख्याताओ को भी वन्दनीय कहना पडेगा।

सिर्फ अच्छे लेख लिखने मात्र से भी कोई साधुवेषी वन्दनीय नही हो सकता, अगर सुलेखक को ही वन्दनीय माना जायेगा तो गृहस्थवर्ग मे बहुत से ऐसे विद्वान लेखक है, जिनकी लेखनी मे जादू है, बल है, जिनकी कविताओ मे कमनीयता है, हृदयस्पर्शी प्रभाव है, परन्तु केवल कविता करने मात्र से कोई साधु वन्दनीय नही हो जाता। गृहस्थो म भी अच्छे-अच्छे कवि है, इसी से क्या वे वन्दनीय हो सकते हैं ?

इसी प्रकार कोई साधु बहुत अधिक विज्ञापन करता है, अपनी प्रसिद्धि के लिए, अपनी शोहरत के लिए, बडे-बडे पोस्टर लगवाकर जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। अनेक मिनिस्टरो या राजनेताओ से मिलकर उनको अपनी वाणी-कौशल से प्रभावित करता है, परन्तु यह सब करता है, वह धर्मशासन-प्रभावना के नाम पर, मगर अन्दर प्राय होती है यश-कीर्ति की भूख, जिसे वह इस प्रकार मिटाता है। साधुता के नाम पर प्रपच, छलछिद्र, लोकरजन, प्रदर्शन दिखावा एव आडम्बर करते हैं। बड़े-बडे लोगो को बुलाकर अपने मंच पर भाषणो का आयोजन

करते हैं। केवल इस प्रकार के आयोजनों मे कुशल होने मात्र से वह वन्दनीय नही कहला सकता। साधुत्व के गुण ही साधु को वन्दनीय बनाते है। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र मे स्पष्ट कहा है—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू।
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू।[1]

भावार्थ यह है कि साधु गुणो मे ही साधु (वन्दनीय) कहलाता है। दुर्गुणो से वह असाधु (अवन्दनीय) कहलाता है। इसलिये साधु-गुण ही साधुत्व के सूचक है, जबकि गुणो से मुक्त साधु असाधुत्व का। यही कारण है कि तिलोककाव्य सग्रह मे स्पष्ट कहा है—

लाजे मति साधु गुणिजन देखके, जायके भाव से वन्दन कीजे।
षट्काया अभयदान निरन्तर, दान निर्दोष सुपातर दीजे॥
मन-वच-काया करण-करावण, नवकोटि शुद्ध दान करीजे।
राग-द्वेष-मद-मोह तिलोक के, तज निरजन ध्यान धरीजे॥

भावार्थ स्पष्ट है। वास्तव जो साधु जगत् के प्राणिमात्र को अभयदान देता है, राग-द्वेष, मद और मोह के त्याग की साधना करता है, सिद्ध (मुक्त) परमात्मा का ध्यान करता है, ऐसे साधु को गुणो से युक्त जानकर भावपूर्वक वन्दना करनी चाहिये।

साधु किन गुणो से वन्दनीय ?

प्रश्न हो सकता है, साधु म कौन-कौन-से गुण होने चाहिये, जिन गुणो से वह वन्दनीय कहा जा सके ?

मेरे नम्रमत मे दस प्रकार के जो श्रमणधर्म है, वे ही श्रमण (साधु) के मुख्य-गुण है, जो श्रमण को विश्ववन्द्य बना देते है। वे दस श्रमण धर्म इस प्रकार है—(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) सयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) आकिंचन्य और (१०) ब्रह्मचर्य।

क्षमा साधु का सबसे पहला और मुख्य गुण होना चाहिये। क्षमा के दो अर्थ होते है—(१) क्षमा करना, क्षमा माँगना तथा (२) सहिष्णुता। क्षमा का अर्थ है—'सत्यपि प्रतीकारसामर्थ्ये अपकारसहन क्षमा'—प्रतीकार करने का सामर्थ्य होने पर भी अपकार का सहन करना क्षमा है। कोई निन्दा करे, अपमान करे, गाली दे, प्रहार करे अथवा किसी भी प्रकार से कोई कष्ट दे, परेशान करे, किसी भी प्रकार से चोट पहुँचाए, साधु का आदर्श क्षमा करना है। साधु निन्दा के बदले निन्दा, अपमान के बदले अपमान, प्रहार के बदले प्रतिप्रहार अथवा गाली के बदले मे गाली देकर कदापि

---

1. दशवै० अ० ९ उ० ३

प्रतीकार नही करता । क्षमा मे ही ऐसी प्रतीकार शक्ति है कि विरोधी क्षमाशील के समक्ष पानी-पानी हो जाता है । दुष्ट मनुष्य भी साधुपुरुष की क्षमा से अपना उग्र-स्वभाव बदल देता है ।

एक शान्त्यानन्द नाम के साधु थे । बहुत ही क्षमाशील थे । अत लोगो ने उन्हें क्षमासागर उपनाम दिया था । एक बार नौका मे बैठकर वे कच्छभुज जा रहे थे । उनके साथ एक दुष्ट प्रकृति का मनुष्य बैठा था । वह साधु को सताने लगा । पहले तो महात्मा को उसने कधे से धक्का मारा । फिर उनके घूंसा मारने लगा । साधु कुछ भी न बोले । साधु का मस्तक क्षुरमुण्डित और नगा था । वह दुष्ट उस पर ठोला मारने लगा । फिर भी वे सन्त शान्त रहे । फिर उसने छुरी निकाली और कहने लगा—"मैं चीर-फाड करने वाला जर्राह डॉक्टर हूँ ।" यो कहकर उसने महात्मा के शरीर पर छुरी रगडकर खून निकाला । दुष्ट का यह कृत्य प्रकृति को सहन न हुआ, आकाशवाणी हुई—"सत के सिवाय नौका म बैठे हुए सभी डूब जाएँ ।"

सत बोले—"मै पापी हूँ, जिस नौका म मैं बैठा हूँ, वह डूबने जा रही है ।"

तुरन्त दूसरी आकाशवाणी हुई—"सत को सताने वाला दुष्ट मनुष्य नौका से उछलकर अकेला डूब जाए ।" इस पर सत बोले—" मैं अभागा कैसा पापी हूँ, कि मेरे पास बैठने वाले की बेहूदी मृत्यु हो ।"

तीसरी बार आकाशवाणी हुई—"आपकी क्या इच्छा है ?"

महात्मा बोले—"जिस आदमी के दुष्ट स्वभाव से यह सब हुआ है, उसका दुष्ट स्वभाव उसके हृदय से निकलकर समुद्र मे डूब जाए ।"

सबके आश्चर्य के बीच महात्मा के क्षमाभाव की प्रतीकार-शक्ति के प्रभाव मे सहसा उस दुष्ट की दुष्टता चली गई । वह सत के चरणो म गिरकर अपनी दुष्टता के लिए क्षमा माँगने लगा । उसने महात्मा की क्षमाशीलता से क्षमाभाव का पाठ सीख लिया ।

वास्तव मे साधु की क्षमाशीलता और सहिष्णुता ही उसे विश्व-वन्दनीय बना देती है ।

साधु को वन्दनीय बनाने वाला दूसरा गुण—मृदुता है । मृदुता का अर्थ है—कोमलता । साधु-जीवन मे कठोरता उसके अन्य गुणो पर पानी फिरा देती है । साधु की मृदुता ही उसे दूसरो के प्रति दयाशील, करुणाप्रवण, सेवाभावी और सहानुभूति-परायण बनाती है । इसीलिए कबीरजी कहते हैं—

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न सचै नीर ।
परमारथ के कारणे, साधुन धरा शरीर ।।
नहि सीतल है चन्द्रमा, हिम नही सीतल होय ।
कबीरा सीतल सतजन, नाम सनेही सोय ।।

लोग अमृत की खोज मे जगह-जगह भटकते हैं, जंगल और पहाड की खाक छानते हैं, फिर भी अमृत उनके हाथ नही आता। परन्तु वास्तव मे देखा जाए तो सत की मृदुल, सुधासम वाणी ही अमृत है। उसकी मृदुता दूसरो को अपना बना लेती है।

सत मूलदास ने एक अबोध लडकी को गले मे फाँसी लगा कर कुए मे डूबने को उद्यत देखा तो उनकी मृदुता सिहर उठी। वह बोले—"बेटी ! ऐसा क्यो कर रही हो ? रुको, क्या बात है ?" लडकी ने कहा—"मुझ पर आफत उतर आई है। कल न्यायालय मे मुझे बयान देना पडेगा कि यह किसका पुत्र है ? वह तो मुझे छोडकर भाग गया। पर मैं अब अशरण होकर कहाँ रहूँगी, कैसे जीऊँगी ?"

सत मूलदास ने तुरन्त सारी परिस्थिति समझ ली। वे बोले—"बेटी ! तुम न्यायालय मे मेरा नाम ले लेना। सत्य क्या है ? यह तो तू, मैं और प्रभु जानते है।" कन्या ने कहा—"आप जैसे पवित्र सत का नाम लेकर मैं अपराध की भागिनी नही बनना चाहती। मेरा जो भी होना होगा सो होगा।"

मूलदास—"मैं बदनामी से नही डरता। समाज द्वारा दिया गया सम्मान या अपमान तो क्षणिक है। सत्य को जब समाज जानेगा, तब स्वय ही पश्चात्ताप करेगा।"

कन्या को आश्वासन मिला। भरी अदालत मे जब सत मूलदास का नाम लोगो ने सुना तो उसके प्रति अश्रद्धा, धिक्कार, फटकार, निन्दा, गाली और बदनामी की बौछार होने लगी। सत मूलदास हँसते-हँसते उस लडकी को अपने आश्रम मे ले गये। लडकी के बच्चा हुआ। उसके पालन-पोषण का सारा प्रबन्ध हो गया। वह लडकी सात्त्विक एव सयमी जीवन बिताने लगी। वहाँ रहकर उसने सेवानिष्ठ, तपोनिष्ठ सयमी जीवन से स्वय को विभूषित किया। आखिर एक दिन वहाँ के राजा ने सत मूलदास एव उस लडकी की बातचीत सुनी तो पिता-पुत्री के मधुर सम्बन्ध की बात जानी। राजा ने पश्चात्तापपूर्वक सत से क्षमा माँगी। सारे प्रजाजन अब सत्यता को जान चुके थे। वे भी सत मूलदास का अत्यधिक आदर करने लगे।

वास्तव मे सत मूलदास की कोमलता—मृदुता ने ही यह सब कराया। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

सत हृदय नवनीत-समाना।

सत का हृदय और वचन मक्खन के समान अत्यन्त कोमल होता है। मक्खन तो जरा सी आँच लगने पर पिघलता है, परन्तु सत-हृदय बिना ही आँच के दु खित को देखकर द्रवित हो उठता है।

साधु को वन्दनीय बनाने वाला तीसरा गुण ऋजुता—सरलता है। साधु मे इतनी सरलता होती है, वह दूसरे को भी—दुश्मन को भी अपना आत्मीय समझकर

उसके सामने भी अपने अन्तर् का पट खोल देता है। कई बार चालाक लोग संत की इस सरलता से लाभ उठाते हैं, अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं और सत को फँसा देते हैं। बुरे कर्म करते हैं दुष्ट लोग, पर नाम ले लेते हैं—सत का और स्वय उसमे से निकलकर सत को फँसा देते है। इस सरलभाव से सत जो कुछ कह देते हैं, वह प्राय. होकर रहता है। इसीलिए ऐसे सरलचेता साधु को वचनसिद्धि हो जाती है। मृदुसाधु जाति, कुल, बल आदि से हीन लोगो का तिरस्कार कदापि नही करता।

साधुता तभी वन्द्य होती है, जब उसके मन, वचन, काया मे सरलता हो। कपट, झूठ, दम्भ आदि से लोकश्रद्धा समाप्त हो जाती है।

आपको यह तो बहुत पक्का अनुभव है कि काष्ठनिर्मित हडिया आँच पर नही चढती। चढायी जाएगी तो वह फट जाएगी। इसी प्रकार कपट करने वाले व्यक्ति के चक्कर मे कोई आते नही, उससे मन फट जाता है। कपट एव झूठ-फरेब करने वाला साधु हृदय से वन्दनीय नही होता।

इसके पश्चात् साधु की वन्दनीयता के लिए शौच गुण का होना परम आवश्यक है। शौच का अर्थ है—पवित्रता। मन, वचन और काया—तीनो मे पवित्रता होगी, वही साधु वन्दनीय होगा। मन से वह जरा-सा भी बुरा विचार किसी के प्रति न रखे। मन से बुरा चिन्तन करते ही मन दूषित हो जाता है। इसी प्रकार वचन से भी गदे, अश्लील शब्द या किसी भी हत्या करने, चोरी कराने या हैरान करने के शब्द कतई न निकले। न ही समाज या परिवार मे फूट डालने की सलाह किसी को दे समाज या सघ मे फूट डालना साधु के लिए बहुत बडा अपराध है। इसलिए वचन भी उसका पवित्रता से ओतप्रोत होना चाहिए। साथ ही काया से कोई भी चेष्टा या प्रवृत्ति ऐसी न हो, जो उसकी काया को अपवित्र कर दे। पुण्य कार्य काया को पुनीत करता है, जबकि पाप कार्य काया को दूषित। हिंसा, झूठ, चोरी, जारी, लूट-खसोट अथवा बेईमानी, ठगी, धूर्तता आदि पाप काया सम्बन्धी शुचिता-पवित्रता को नष्ट कर डालते है। इसलिए शौच गुण साधु के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसका जीवन पूर्णतया पवित्र होना चाहिए। साधु मे निर्लोभता का गुण भी पवित्रता-शुचिता से सम्बन्धित है।

इसके पश्चात् साधु को धन्य और वन्द्य बनाने वाला गुण है—सत्य। असत्य और दम्भ साधु-जीवन के भयकर दूषण है, ये दोनो दुर्गुण साधु-जीवन को पतित, अपयशगामी, पापलिप्त और नरकगामी बना देते है। इसलिए सत्यता का गुण साधु-जीवन मे आवश्यक है। शास्त्र मे साधु के २७ गुणो मे से तीन गुण बडे महत्त्वपूर्ण बताए है—

भाव सच्चे, करण सच्चे, जोग सच्चे।

साधु भाव से सत्याचरणी होना चाहिए, करण यानी साधन से भी या

इन्द्रियचेष्टाओ से भी सत्य होना चाहिए। साथ ही मन-वचन-काया की एकरूपता, मन के सत्य विचार के अनुरूप वचन और काया से भी सत्याचरण होना चाहिए।

जिस साधु मे सत्यता होती है, उस मे निर्भयता स्वत: आ जाती है। यद्यपि कठोर सत्य का होना, विभाजन करने, नष्ट करने या बर्बाद करने वाले सत्य का अभिव्यक्त करना साधु जीवन के लिए खतरनाक होता है। संत सत्य को अभिव्यक्त करते है, परन्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर, जिस सत्य के कहने से किसी के हृदय को चोट पहुँचती है, सत उस सत्य को प्रकट नही करता। समय आने पर वह सत्य को समाज या व्यक्ति के लिए परम हितकारी समझकर साफ-साफ प्रकट कर देता है, वह फिर किसी की भी—यहाँ तक कि राजा और सम्राट् तक की भी लल्लो-चप्पो नही करता, न ठकुरसुहाती करता है। धनिको की चापलूसी करके उनके पापो पर पर्दा डालने की कोशिश सच्चा सत—वन्दनीय साधु नही करता।

जब जोधपुर के राजा वेश्यागामी हो गए तो ऋषि दयानन्द को पता लगते ही एक दिन उन्होने राजा को साफ-साफ कह सुनाया—"राजन्! आपका उस वेश्या के साथ सग करना बहुत बुरा है।" यद्यपि राजा को इस हितकर वचन से बहुत आघात लगा, वेश्या को अपना स्वार्थ भग होते देख बहुत बुरा लगा, इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उन्हें सहर्ष मृत्यु का आलिगन करना पडा।

इसके बाद छठा गुण वन्दनीयता के लिए आवश्यक है—**सयम**। सयम तो साधु जीवन का प्राण है। साधु प्राण दे सकता है, सयम को नही खो सकता। उसकी पाँचो इन्द्रियाँ सयम से ओतप्रोत रहती है, मन, बुद्धि एव हृदय—ये तीनो सयम से सराबोर होते है। इसी प्रकार पृथ्वीकाय आदि १७ प्रकार के जीवनिकायो के प्रति सयम रखना भी बहुत आवश्यक है। सयम साधुजीवन को परिपुष्ट करने वाला है। इसलिए साधु आपनी आवश्यकताओ, इच्छाओ और कामनाओ पर भी सयम करता है, वह उन पर भी नियन्त्रण करता है और अपने जीवन को स्वाभाविक रूप से सयम से अभ्यस्त कर लेता है। वह कदापि सयम की मर्यादारेखा का उल्लघन नही करता। कोई निन्दा करे या प्रशसा, गाली दे या प्रतिष्ठा करे, लाभ हो या अलाभ, सुख हो या या दु:ख, सुख-सुविधा मिले या न मिले, जीवन रहे चाहे जाए, अपने मन को सयम मे सुरक्षित रखता है। एक उदाहरण लीजिए—

एक पहाडी पर एक सत रहता था, वह अपने स्व-पर-कल्याण मे सलग्न रहता था। एक दिन एक भक्त आया और कहने लगा—"महात्मन्! मुझे तीर्थयात्रा के लिए जाना है, मेरी यह स्वर्णमुद्राओ की थैली आप अपने पास रखिए।" साधु ने कहा—"भाई! हमे इस माया से क्या मतलब! हमने तो स्वय सम्पत्ति छोडी है, फिर उसमे क्यो फँसाते हो?" भक्त ने कहा—"महाराज! आपके सिवाय मुझे और कोई सुरक्षित एव विश्वस्त स्थान नही दिखता। कृपा करके आप अपने किसी विश्वस्त स्थान मे इसे

रखवा दीजिये, आप चाहे इसे ग्रहण न करें, न छुएँ।" दयालु साधु ने कहा—"यदि ऐसा है तो जाओ, उस कोने मे गड्ढा खोदकर इसे गाड दो।"

भक्त ने वैसा ही किया और निश्चिन्त होकर तीर्थयात्रा के लिये चल पडा। वहाँ से लौटकर वह एक वर्ष बाद आया। महात्मा से उसने अपनी थैली मागी तो उन्होने कहा—जहाँ तुमने रखी थी, वही खोदकर निकाल लो। भक्त ने ज्यो की त्यो थैली निकाल ली। प्रसन्न होकर साधु की अत्यधिक प्रशसा करता हुआ वह घर पहुँचा। साधु अपनी प्रशसा सुनकर जरा भी न फूला। घर आकर उस व्यक्ति ने थैली अपनी पत्नी को सौपी और कहा—"मैं नहाकर आता हूँ, तब तक तुम इसे रखो।" पत्नी ने हर्ष के मारे आज लड्डू बनाने का विचार किया। उसने उस थैली मे से एक स्वर्ण-मुद्रा निकाली और बाजार से खाद्यपदार्थ लाकर लड्डू तैयार किये। भक्त नहाकर घर आया, स्वर्णमुद्राएँ गिनने लगा तो एक स्वर्णमुद्रा कम निकाली। मन ही मन सोचा—"हो न हो, उसी सत ने मुहर निकाली है। बदमाश कही का, साधु बना है! मैं अभी अभी जाकर उस सत की खबर लेता हू।" वह सीधा सत के पास पहुँचा और लगा बकने—"अरे ओ पाखण्डी साधुडा! उस थैली मे से एक सोना मोहर तुमने चुराई है, उसे वापस कर दे। नही तो अभी तेरी इज्जत मिट्टी मे मिला दूँगा।"

आवेश मे मनुष्य भान भूल जाता है, न वाणी पर सयम रहता है, न मन और तन पर। वह भक्त सयम खोकर साधु को यद्वा-तद्वा कहते हुए घर आया। साधु तो बिलकुल शान्त रहे। उन्होने मन-वचन-काया पर सयम रखा। घर पहुँचने पर स्त्री ने पूछा तो पहले तो कुछ भी न कहा, फिर स्त्री का आग्रह देखकर सारी बात बताई तो उसने कहा—'साधु ने एक भी मुहर नही चुराई, मैंने ही उसमे से एक मुहर निकाली थी। उससे लड्डू बनाने का सामान लाई थी।" सुनते ही भक्त अवाक् रह गया। वह लज्जित होकर पश्चातापपूर्वक भोजन किये बिना सीधा सयमी साधु के पास पहुँचा। उनके चरणो मे गिरकर बोला—"भगवन्! मुझे क्षमा कर दे। मुझसे बहुत बडी गलती हो गई। आप पर मैंने झूठा इलजाम लगाकर आपको हैरान किया। आपकी निन्दा से आपको बहुत ही दु:ख हुआ होगा।" साधु ने जमीन पर से एक चिपटी धूल लेकर कहा—"यह निन्दा की चिपटी और यह प्रशसा की चिपटी है। साधु के लिये निन्दा-स्तुति दोनो इस धूल की तरह हैं। मेरी ओर से तुम्हे क्षमा देता हू।"

यह है—निन्दा-स्तुति दोनो अवसरो पर सयम का उदाहरण।

इसी प्रकार एक विचारक ने कहा—

साधु कहिये वाको, जो स्वाद जीते जग माहो।

अर्थात्—जो ससार के सभी प्रकार के स्वादो—इन्द्रियो और मन के स्वादो को जीत लेता है, वही सच्चा सयमी साधु है। वही वन्दनीयता की कोटि मे आता है।

इसके बाद सातवाँ साधुगुण है—तप। तप भी इच्छाओ का निरोधरूप है।

तपस्या से साधुजीवन कुन्दन की तरह निखर जाता है, बशर्ते कि वह तप आडम्बर-रहित हो, प्रसिद्धि और प्रदर्शन से दूर हो, स्वार्थ और कामना से, फलाकाक्षा और उभय-लौकिक वाञ्छा से दूर हो। अन्यथा वह तप ताप बन जाता है। ताप हृदयदाहक और उत्तेजक होता है, तप कर्माग्निदाहक और आत्मशुद्धिकारक होता है। उग्रतपा, घोर-तपा, गुप्ततपा, तप्ततपा आदि विशेषण तपस्वियो-तपोनिष्ठ मुनियो के लिये प्रयुक्त होते हैं। ऐसे नि स्वार्थ, निराकाक्ष एव नि स्पृह तप से साधुजीवन वन्दनीय और धन्य बन जाता है।

साधुजीवन को धन्य बनाने वाला आठवाँ गुण है—**त्याग**। त्याग का सच्चा अर्थ मैंने पूर्व-प्रवचन मे बताया था, उसी सन्दर्भ मे त्याग भी साधुजीवन को चमकाने वाला है। आन्तरिक त्याग ही जीवन को दिव्य-भव्य बनाता है। जिस साधु मे त्याग का दिखावा होता है, सच्चा त्याग नही होता, वह साधु त्याग के प्रदर्शन से, या केवल त्याग के आडम्बर से या सग्रह से वन्दनीय नही बनता।

जिस साधु मे सग्रहवृत्ति होती है, वह धीरे-धीरे पदार्थों की ममता-मूर्च्छा और आसक्ति मे फँसकर अपनी साधुता का दिवाला निकाल देता है।

इसके बाद नौवाँ गुण, जो साधु को वन्द्य बनाता है, वह है—**आकिंचन्य**। अपना, अपने नाम का, अपने स्वामित्व का, अपने ममत्व से पोषित कोई भी पदार्थ न रखना अकिंचनता है। ऐसा साधु जिसको अकिंचनता का अभ्यास इतना गहरा हो गया है कि वह सदा अपनी स्मृति से अपने अकिंचन स्वरूप को ओझल नही होने देता, वही वास्तव मे आत्मधनी है। बाह्य धन या साधन उसके सामने कुछ नही है। वह एक भी वस्तु रखे बिना अपनी मस्ती मे रहता है। वह बादशाहो का बादशाह है।

यूनान का बादशाह सिकन्दर मत डायोजीनिस के पास पहुँचा। वह प्रात काल की धूप ले रहा था। सिकन्दर ने अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं सिकन्दर हूँ।"

डायोजीनिस बोला—"मैं डायोजीनिस हूँ।"

सिकन्दर—"तुम मुझ से डरते नही ?"

डायोजीनिस—"तुम धर्मात्मा हो या पापात्मा ?"

सिकन्दर—"मैं धर्मात्मा हूँ।"

डायोजीनिस—"धर्मात्मा से मुझे क्या डर ? अगर पापी हो तो पापी से भी मुझे क्या भय है ?"

सिकन्दर—"मै तुमसे बहुत खुश हूँ, जो चाहो सो माँग लो।"

डायोजीनिस—"मुझे तुमसे कुछ भी नही मागना है। देना चाहते हो तो धूप छोड दो। मुझे प्रकृति के साथ घुलने मिलने दो।"

सिकन्दर उसकी अकिंचनता देखकर दग रह गया।

इस प्रकार की अकिंचनता साधुजीवन का भूषण है, दूषण नही। इसके पश्चात्

साधु का अन्तिम गुण ब्रह्मचर्य है, जो साधु जीवन को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देता है । ब्रह्मचर्य शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक सभी प्रकार की शक्तियो से साधु को सुदृढ बना देता है । ब्रह्मचर्य से जीवन का सर्वागीण विकास होता है । इससे वह इन्द्रियविजेता, मनोविजयी, कषायो और विषयो का वशकर्ता बनता है । ब्रह्मचर्य का जहाँ भलीभाँति अर्थ न समझकर केवल शारीरिक रूप से पालन होता है, वहाँ इन्द्रियो का स्वाद रह जाता है, इन्द्रियलोलुपता, दबी हुई इन्द्रियविषयो की लिप्सा दुगुने वेग से साधक को पछाड देती है । कामवासना का शिकार साधु जीवन के किसी भी क्षेत्र मे न तो सफल हो सकता है और न ही वन्दनीय होता है । गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दो मे—

वदनीय ते जग-जस पावा ।

वह नही हो पाता । ब्रह्मचर्य गुण के बिना साधुजीवन शक्तिहीन है, खोखला है, ब्रह्मचर्य को पचाकर स्व-पर-कल्याण साधना मे उससे उत्पन्न शक्ति को लगाने वाला साधु धन्य और अभिवन्दनीय बन जाता है । ये दस मुख्य गुण ही साधुजीवन को देदीप्यमान करते है । इन्ही गुणो से साधुता अभिवन्दनीय होती है ।

वेष से वन्दनीय साधु . कब और कब नहीं ?

केवल वेष से ही कोई साधु वन्दनीय नही कहा जा सकता । अमुक वेष, यह अमुक सम्प्रदाय का साधु है, इस प्रकार की पहचान के लिए है, किन्तु वेष तो साधु का हो मगर अन्दर साधुता न हो, साधुगुण न हो तो वह साधु वैसे ही है, जैसे किसी दूकान पर साइनबोर्ड लगा हो 'ज्वेलरी' हाउस (जवाहरात का घर) का, लेकन अन्दर जवाहरात के बदले काच के टुकडे मिलते हो, इमीटेशन सोना हो या कलचर मोती हो, या कोयला भरा हो । अथवा किसी बोतल पर लेबल लगा हो—'बादाम का शर्बत' का, लेकिन अन्दर केवल सफेद मोठा पानी भरा हो ।

परन्तु वेष के साथ तदनुरूप साधुता का आचरण हो, साधुत्व का व्यवहार हो, अर्थात् वेश के प्रति वह वफादार हो, तभी सच्चे माने म वह साधु कहला सकता है और तभी वह वन्दनीय कहा जा सकता है । एक दृष्टान्त के द्वारा मै आपको अपनी बात समझा दूँ—

एक नगर मे एक बहुरुपिया आया हुआ था । एक दिन उसने साधु का वेश बनाया । वेश से वह ऐसा लगता था, मानो हूबहू साधु हो । वह साधुवेश म एक करोडपति सेठ के यहाँ पहुँचा । सेठ ने नमस्कार किया, कुशलक्षेम पूछा और आदरपूर्वक बैठने की प्रार्थना की । अत साधुवेशी बहुरुपिया एक पट्टे पर बैठा । फिर उसने ससार की असारता और देह की नश्वरता का प्रभावशाली उपदेश दिया । उपदेश के उपसहार मे उसने कहा—"सेठ ! आप वृद्ध हो चुके है । जिदगी का कोई भरोसा नही है । आपके पीछे कोई सन्तान भी नही है । इसलिए जितना भी हो सके, अपनी प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करिये ।"

उपदेश सुनकर सभी लोग प्रभावित हुए। सेठ ने कहा—"आपने उपदेश सुनाकर हम पर बडी भारी कृपा की।" सेठ के सकेत से सेठानी ने घर मे जाकर तिजोरी खोली और उसमे से स्वर्ण-मुद्राओ से भरा थाल साधु के समक्ष रखा। सेठ ने कहा—"आपने हम पर बडा अनुग्रह किया, लक्ष्मी की चचलता समझाकर, अत आप इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करे और हमे अशीर्वाद दे।" यह सुनते ही साधुवेशधारी बहुरुपिया उसे ठुकराकर यह कहता हुआ चल पडा कि "सेठ! इस चचल लक्ष्मी को भला साधु क्यो ग्रहण करेगा?" इस पर सेठ का उस साधु-वेशी के प्रति बहुत श्रद्धा उमडी। उसके पश्चात् वह उस नगर मे एक महीने तक रुका और भिन्न-भिन्न वेश बनाकर लोगो से दान लिया। एक महीने बाद वही बहुरुपिया सेठ के पास आकर याचना करने लगा। सेठ ने उसके मुँह की ओर गौर करके देखा तो उससे पूछा—"तुम्हारा चेहरा हमारे यहाँ आये हुए साधु के सरीखा लगता है।" बहुरुपिया बोला—"सेठ! आपका कहना सत्य है। वह साधु मै ही था।"

सेठ ने कहा—"उस समय स्वर्णमुद्राओ से भरा हुआ थाल ले लिया होता तो आज तुम्हें याचना करने की नौबत न आती।"

बहुरुपिया बोला—"मै बहुरुपिया हूँ। मैंने उस समय साधु का वेश पहना हुआ था। इसलिए मुझे साधुवेश के अनुरूप जो आचार-व्यवहार मर्यादाये है, उनकी रक्षा करना आवश्यक था।"

एक बहुरुपिया भी समझता है कि साधुवेश धारण करने के बाद साधुता के गुणो की—नि स्पृहता आदि की रक्षा करना आवश्यक है, तभी वेश के प्रति वह वफादार रह सकता हे। साधु भी अगर अपने वेश के प्रति वफादार न रहे, वह अपनी नि स्पृहता छोडकर भौतिक सम्पत्ति के प्रति आसक्ति रखे तो वह सच्चे माने मे साधु नही कहला सकता, फिर तो वह उस साधुवेशी बहुरुपिये से भी गया बीता है। साधु वेश के प्रति जो साधु वफादार रहता है, वही वन्दनीय कहला सकता है।

वन्दनीय साधु के स्वभाव की महक

ऐसे साधुओ के स्वभाव की महक ही जगत् को बरबस उनके चरणो मे वन्दन करा देती है, जगत् उनके मन-वचन-काया से होने वाली सत्प्रवृत्तियो को, सज्जनता को, परोपकारी वृत्ति को और साधुता को देखकर स्वत झुक जाता है, उनके चरण कमलो मे। ऐसे साधु के मन, वचन और काया की सत्यता और एकरूपता की छाप उसके सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति के हृदय पर तुरन्त पडती है। इसीलिए कहा है—

मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्

वन्दनीय-महनीय महात्मा के मन मे, वचन मे और कर्म मे एकरूपता होती है। ऐसा नही होता है कि वह मन मे कुछ और सोचता हो, वचन से कुछ और बोलता हो, और काया से और तरह की चेष्टा करता हो। वह अपने वेष और क्रिया के अनुरूप ही वचन निकालेगा, और मन से भी तदनुरूप चिन्तन करेगा।

महाराष्ट्र के सत समर्थ रामदास ने बताया है कि "साधु का मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा अपने स्वरूप का अनुसन्धान करता रहता है। सब लोगो मे रहकर भी वह उनसे अलग रहता है। ज्यो ही उसकी दृष्टि स्वरूप पर पडती है, त्यो ही उसकी सांसारिक चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं और अध्यात्म-निरूपण के प्रति लगन लग जाती है। उनके मन म और बाहर भी अचल समाधान रहता है। अन्त करण की स्थिति अचल हो जाने पर फिर चचलता कहाँ से आ सकती है ? जब वृत्ति सत्स्वरूप मे लग जाती है, तब वह भी सत्स्वरूप हो जाती है। साधुओ की (आत्मिक) सम्पत्ति अक्षय होती है, जो उनके पास से कभी नही जा सकती। इसलिए वे क्रोध, लोभ आदि से रहित हो जाते हैं। जहाँ कोई दूसरा पराया है ही नहीं, वहाँ वह किस पर क्रोध करेगा ? जो स्वय अपने आनन्द म मग्न रहता है, वह किस पर मद करेगा ? इसलिए वाद-विवाद का भी वहाँ अन्त हो जाता है। साधु स्वभाव से ही निर्विकार होता है, फिर उसके समक्ष तिरस्कार क्या चीज है ? जब सभी अपने ठहरे तो मत्सर किस पर किया जाये ? इस तरह मद-मत्सर के पिशाच साधुओ के पास फटक नही सकते। साधु स्वयम्भू स्वरूप होता है, फिर उसमे दम्भ कैसे हो सकता है ? परब्रह्म निर्भय है और साधु भी ब्रह्मस्वरूप होता ह, इसीलिए वह भयातीत, निर्भय और शान्त होता है।"

सस्कृत के एक कवि ने कहा हे—

शैले शैले न माणिक्य, मौक्तिक न गजे गजे।
साधवो नहि सवत्र, चन्दन न वने वने ॥

प्रत्येक पवत पर माणिक्य नही मिलता, प्रत्येक हाथी के मस्तक म मोती नही होता, प्रत्येक वन म चन्दन नही पाया जाता, इसी प्रकार साधु सर्वत्र नही मिलते।

सच्चे साधु स्वय कष्ट सहकर भी, अपन आपको कष्ट और अपमान म डालकर भी जगत् को तारने और कल्याण करने के लिए चल पडते हैं।

साधुओ म इतनी आत्मशक्ति होती है कि वे बडी से बडी विपत्ति और मार को समभाव से सह लते है।

प्राचीन काल की घटना है। एक वृद्ध साधु को किसी झूठे इलजाम म पकड़ कर कोडे लगाये जा रहे थे, लेकिन वे साधु शान्त और उन्नतभाव से उसे सहन किये जा रहे थे। एक सज्जन ने यह दृश्य देखा। पास जाकर पूछा—"महात्मन्! आप तो इतने वृद्ध और दुर्बल है फिर भी एसी सख्त मार को शान्तभाव से कैसे सहन कर लेते है ?"

साधु ने कहा—"भाई! विपत्ति आत्मशक्ति से सही जाती है, शारीरिक शक्ति से नही।"

सच्चा और वन्दनीय साधु वह है जो शान्त होता है। शान्ति इसलिए होती

है, वह अहिंसक होता है । अहिंसक की यह विशेषता होती है कि दूसरो के वह दु ख को समझ सकता है । उसका कोई शत्रु नही होता, वह सबको अपना मित्र और बन्धु मानता है । अहिंसक ही सच्ची शान्ति पैदा कर सकता है, दूसरो को शान्ति दे सकता है । एक गुजराती कवि ने ठीक ही कहा है—

शान्ति पमाडे तेने सत कहीए ।
हाँ, रे तेना दासना दास थईने रहीए ।।

सच्चा साधु समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक देता है । जो भी लेता है, वह भी उपकृत भाव से । समाज कल्याण के लिये वह प्रतिक्षण उद्यत रहता है । जो समाज से अधिक से अधिक अच्छे पदार्थ अपने उपभोग के लिये लेता है, लेकिन देने के नाम पर समाज से किनाराकसी करता है, कहने लगता है—साधु को समाज से क्या वास्ता ? वह साधु न तो स्व-कल्याण ही साधता है, और न पर-कल्याण । वह कल्याण-साधना के नाम पर स्वार्थ-साधना करता है ।

सच्चा साधु समाजहित के किसी भी कार्य से जी नही चुराता । वह जहाँ प्रेरणा देना होता है, वहाँ समाज को प्रेरणा करता है, जहाँ मार्गदर्शन, परामर्श, उपदेश या आदेश देना होता है, वहाँ वैसा करता है । वह मानव-जीवन के सभी क्षेत्रो मे मार्गदर्शन, प्रेरणा या उपदेश देता है ।

साधु राष्ट्र का प्राण, राष्ट्ररत्न

ऐसा साधु समाज और राष्ट्र का रत्न और प्राण होता है ।

एक पाश्चात्य विचारक एम० हेनरी (M Henry) ने कहा है—

The saints are God's jewels, highly esteemed by and dear to him

—सत परमात्मा के रत्न है, जो उच्च प्रकार से मूल्याकित है और उस प्रभु को प्रिय है ।

जो राष्ट्र उपर्युक्त गुणसम्पन्न साधु को वन्दनीय न मान सिर्फ भारभूत, अकर्मण्य और आलसी मानते है, वे अपने राष्ट्र और समाज को अन्धकूप मे डालते हैं । ऐसे राष्ट्र या समाज का अध पतन होते देर नही लगती । इसका कारण है कि सतो द्वारा आवश्यक मार्गदर्शन नही मिलता, जहाँ सतो द्वारा निवारण या निवारणो के उपाय या सुझाव नही प्राप्त होते । ऐसी स्थिति म समाज स्वच्छन्द, विलासी, अतिभोगी एव निरकुश बन जाता है, सयम के तग ढीले पड जाते है, तब पतन होने क्या देर लगती है । जो इस बात को समझते है, वे सत को राष्ट्र की आत्मा मानकर उसे हर सम्भव प्रयास से अपने राष्ट्र मे रखते हैं, उसका आदर-सत्कार करते है । एक उदाहरण द्वारा मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूँ—

सम्राट विश्वजित् ने आदेश दिया—"जाओ, युद्ध की तैयारी करो । एक भी

नागरिक का अपमान असह्य है। किसी को सुधारना और यथार्थ पथ-प्रदर्शन करना तो ठीक है, पर अपशब्द और अपमान तो किसी का भी नही होना चाहिये।" महामन्त्री और आचार्य दशमेध ने समझाया—"महाराज ! जिस तरह माताएँ बच्चो की छोटी-छोटी भूले क्षमा कर देती हैं, उसी प्रकार कैवर्तराज तोमराज की भूल भी साधारण है। नागरिक अनगपाल के पास वहाँ की स्वर्णमुद्राएँ न होती तो उसे अपमानित न किया गया होता।"

परन्तु विश्वजित् ने एक न सुनी। उसी दिन सेना सजाकर कैवर्तराज पर चढाई कर दी गई।

कई दिन के युद्ध के बाद भी कैवर्त को जीता न जा सका। युद्ध की अवधि बढती गई। तभी एक दिन एक विचित्र घटना घटी। कैवर्तराज्य के प्रकाण्ड पण्डित देवलाश्व विश्वजित् के सैनिक खेमो के पास से गुजरे। सैनिको ने उन्हें गुप्तचर समझकर बदी बना लिया और सम्राट विश्वजित् के समक्ष उपस्थित किया। विश्वजित् ने उन्हें प्राणदण्ड की सजा सुना दी।

तेज अन्धड की तरह यह खबर सारे कैवर्तदेश मे फैल गई कि सत देवलाश्व बन्दी बना लिये गये है, उन्हें शीघ्र ही मृत्युदण्ड दिया जाने वाला है। विश्वजित् के आक्रमण से प्रजा को इतना कष्ट नही हुआ था, जितना देवलाश्व को बदी बना लिये जाने से हो गया। कैवर्तनिवासियो ने अपने प्रिय सत के लिये अन्न-जल का त्याग कर दिया। सारे राज्य मे शोक छा गया।

रात्रि के चौथे पहर मे, जबकि विश्वजित् की सेनाएँ युद्ध की तैयारी कर रही थी, एक आकृति वहाँ पहुँची और निवेदन किया—"मै कैवर्त का राजदूत हूँ, मुझे सम्राट विश्वजित् के पास कैवर्तसम्राट तोमराज का सन्देश पहुँचाना है।" इस पर आगन्तुक नरेश विश्वजित् के पास पहुचा दिया गया।

विश्वजित ने अपनी मूछो पर ताव देते हुए स्वाभिमानपूर्वक प्रश्न किया—"कहो क्या सन्देश लाये हो तोमराज का ? क्या उन्होने पराजय स्वीकार कर ली ?"

आगन्तुक—"नही, महाराज ! कैवर्तनरेश इतने भीरु नही, जो युद्ध सम्पन्न हुए बिना पराजय स्वीकार कर ले। परन्तु यदि आप बदी सत देवलाश्व को मुक्त कर दे तो वे उनके बदले आपको दो करोड स्वर्णमुद्राएँ भेट कर सकते हैं।"

"बस, गुप्तचर का मूल्य कुल दो करोड रुपये। बोलो, दूत ! तुम्हें इस बदी से इतना मोह क्यो है ?" विश्वजित् ने वीरभाव से प्रश्न किया।

आगन्तुक—"महाराज ! यह गुप्तचर नही, यथार्थ मे एक बडे सत है। सत राष्ट्र की आत्मा होती है। वह न रहे तो कैवर्तराज्य अनाथ हो जायेगा, पथभ्रष्ट हो जायेगा। हम स्वदेश को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिये दो करोड स्वर्णमुद्राएँ तो क्या, सम्पूर्ण राज्य आपको भेट कर सकते हैं।"

विश्वजित ने फिर पूछा—"उसका प्रमाण ?" उत्तर में आगन्तुक ने अपना दाहिना हाथ आगे बढा दिया। अनामिका पर शोभित मुद्रिका में साफ लिखा था—"सम्राट तोमरराज !" और तब विश्वजित् ने अपना आसन छोड दिया और तोमरराज को हृदय से लगाते हुए कहा—"सम्राट ! हम आज आपसे पराजित हुए। आप सम्राट नही, हमारे गुरु है, मार्गदर्शक हैं। सचमुच, जिस राष्ट्र में संत को सम्मान नही मिलता, वह पथभ्रष्ट और खोखला हो जाता है।"

सत देवलाश्व मुक्त कर दिये गये और विश्वजित की सेनाएँ वापस लौट गई।

वन्दनीय साधु को वन्दन करने का फल

साधु को वन्दन करने का फल इसलिये महान है कि साधु को वन्दन करने से, उनका सत्संग करने मे कोई न कोई हितकर वचन सुनने से कल्याण हो सकता है। सम्यक्त्वरूपी बोधिबीज मिलने मे मोक्ष का द्वार खुल सकता है। मोक्षमार्ग की साधना की प्रेरणा भी साधुवन्दन का ही पारम्परिक फल है। जीवन की उलझी हुई गुत्थियाँ वन्दनीय साधु-सम्पर्क में सुलझ जाती है, नया रास्ता मिल जाता है, नई सूझ-बूझ मिलती है।

इसीलिये उपासकदशांग सूत्र में कहा गया है—

तं महाफलं गच्छामि जाव पज्जुवासामि

—उस महाफल के पास जाऊँ यावत् पर्युपासना करूँ।

महाफल का अर्थ कोई सांसारिक फल नही, किन्तु मुक्तिरूप फल है। साधुदर्शन और वन्दन का आनुषंगिक फल कदाचित् सांसारिक भी मिल सकता है, धन-सम्पत्ति, सुखी परिवार, प्रेमी कुटुम्ब, मित्रजन आदि का अच्छा संयोग मिल जाता है, परन्तु मूल महाफल कर्मक्षयरूप मोक्ष या निर्जरा है।

एक उदाहरण लीजिये—

महाविदेह क्षेत्र में गान्धार नगर था। वहाँ लक्ष्मीसेन राजा का पुत्र विजयसेन था। वही सुवसु नामक पुरोहित का विभावसु नामक पुत्र था। विजयसेन राजकुमार और पुरोहित-पुत्र विभावसु में गाढ मैत्री थी। एक बार पुरोहित-पुत्र के शरीर मे भयंकर रोग उत्पन्न हुआ, जिसके कारण वह अकाल मे ही काल कवलित हो गया। इसी अवसर पर गान्धार पर्वत पर चार मुनि पधारे। वहाँ उन्होंने चातुर्मास किया। गुप्तचर ने आकर राजकुमार को समाचार दिया। राजकुमार को साधुओ के प्रति अपार श्रद्धा-भक्ति थी। इसलिये उनकी वन्दना करने गया। वहाँ मुनिराजो को स्वाध्याय करते देखा। धर्मोपदेश सुना और पुनः वन्दन करके घर लौटा। उसके पश्चात् वह प्रतिदिन नियमित रूप से मुनिवन्दन करने जाता रहता था। मुनि भी चारो मास मासक्षपण (मासिक उपवास) तप करते थे। चातुर्मास के अन्तिम दिन पिछली रात को राजकुमार ने सोचा—"कल प्रातःकाल मुनिवर विहार करेंगे,

फिर मैं किनके पास वन्दन करने जाऊँगा ?" यो सोचकर चार घडी रात्रि शेष रहते ही राजकुमार मुनि-वन्दनार्थ चल पडा। वह थोडी-सी दूर चला होगा कि सुगन्धित हवा चलने लगी। आकाश मे उज्ज्वल प्रकाश हुआ। गान्धार पर्वत पर जन-कोलाहल सुना तो मन मे अत्यन्त हर्षित हुआ। कुछ आगे बढ़ा तो समतल एव साफ की हुई पृथ्वी मिली। सुगन्धित जल और पुष्प की वृष्टि हो गई थी। देवी-देवो के झुड के झुड मिलकर स्तुति कर रहे थे—"अहो ! धन्य हो मुनिवर आपका अवतार, आपने राग-द्वेष का क्षय किया (घाति) कर्मशत्रुओ की सेना जीती, ससार समुद्र को सुखा दिया।" ये वचन सुनकर राजकुमार ने विचार किया—गुरुदेव को केवलज्ञान प्राप्त हो गया, प्रतीत होता है। अब ये जन्म-जरा-मृत्यु के दु खो को काटकर शाश्वत सुख प्राप्त कर रहे है। तत्पश्चात् देवो ने सिंहासन की रचना की, जिस पर केवलज्ञानी मुनि विराजमान हुए। अब कुमार को पूरा निश्चय हो गया कि मुनिवर केवलज्ञानी हो चुके हैं। उसने वन्दना की। केवली मुनि ने देशना दी। देव, मानव आदि सब अपनी शका प्रस्तुत करके समाधान पूछने लगे। राजकुमार ने अपनी शका व्यक्त की—"भगवन् ! मेरा मित्र विभावसु अकस्मात् मरण-शरण हो चुका। मेरा हृदय उसके वियोग मे अत्यन्त दु खी है। वह मरकर कहाँ गया ? वह अब कहाँ-कहाँ जन्म-मरण करेगा ? सम्यक्त्व कब व कहाँ प्राप्त करेगा, मुक्ति कब प्राप्त करेगा ?"

केवली मुनि ने मित्र के जन्मो का समस्त वृत्तान्त बताया कि गणिका के भव मे जातिमद करने मे वह कुत्ता बना फिर गधा, चाण्डाल-पुत्र, पुत्री, दासीपुत्र, दासीपुत्री, धोबी की पुत्री, धोबी-पुत्र यो अनेक भव करते-करते आनन्द नामक तीर्थकर से मोक्षबीज सम्यक्त्व प्राप्त करेगा। तत्पश्चात् असख्य भवो मे भ्रमण करके गान्धार देश का राजा बनेगा। अमरतेज आचार्य से दीक्षा ग्रहण करेगा। शुद्ध चारित्र पालन करके क्रमश घातिकर्म क्षय करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करेगा।"

यह सुनकर राजकुमार को ससार से विरक्ति हो गई, माता-पिता से अनुमति प्राप्त करके इन्द्रदत्त मुनिवर से साधु दीक्षा अगीकार की। शुद्ध चारित्र पालन करते हुए शास्त्राध्ययन करके गीतार्थ हुए। गुरु ने उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अनेक शिष्य बनाये। शुद्ध अध्यवसाय से मन पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। क्रमश मोक्ष प्राप्त किया।

यह है, वन्दनीय साधु को वन्दन करने का अनेक गुण-प्राप्ति रूप सुफल !

साधु-वन्दना की अन्तर्गत-प्रक्रियाएँ

महर्षि गौतम ने उत्तम साधु को वन्दना करने का जो उपदेश दिया है, उसके पीछे एक महान् अर्थ छिपा हुआ है। जैनशास्त्रो मे जो गुरुवन्दन का पाठ है, उसमे वन्दना के अन्तर्गत अनेक प्रक्रियाएँ बताई गई है, और उन सबका समावेश **'मत्थएण वदामि'** (मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूँ) के अन्तर्गत किया है। वे प्रक्रियाएँ क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) **आयाहिण पयाहिण करेमि**—दाहिनी ओर से तीन बार वन्दनीय साधु-वर के चारो ओर प्रदक्षिणा करता हूँ।

इसका रहस्य यह है कि मैं वन्दनीय पुरुष को मन-वचन-काया से सर्वथा स्वीकार करता हूँ।

(२) **वदामि**—मैं अभिवादन और स्तुति करता हूँ।

(३) **नमसामि**—नमस्कार करता हूँ। दोनो हाथ जोडकर मस्तक के साथ स्पर्श करना नमस्कार है।

(४) **सक्कारेमि**—मैं वन्दनीय पुरुष का सत्कार करता हूँ। उनके उत्तम कृत्यो का समर्थन करना सत्कार है। उनके वचनानुरूप कार्य करना भी सत्कार है।

(५) **सम्माणेमि**—मैं वन्दनीय पुरुष का सम्मान करता हूँ। उनकी प्रतिष्ठा करना, उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट करना सम्मान है।

(६) **कल्लाण**—हे वन्दनीय पुरुष ! आप कल्याण रूप हैं, ऐसा मानना।

(७) **मगल**—हे वदनीय पुरुष ! आप मगलरूप है, ऐसा समझना।

(८) **देवय**—हे वन्दनीय गुरुवर ! आप देवतारूप है, यो मानना।

(९) **चेइय**—हे वदनीय पुरुष ! आप ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमूर्ति है, पूजनीय है।

(१०) **पज्जुवासामि**—आपकी सब प्रकार से मैं सेवा-भक्ति, उपासना करता हूँ।

सत्कार, सम्मान ये मनोयोग, कल्याण से लेकर चार शब्द वचन योग, पर्युपासना कायायोग से—इन सब प्रक्रियाओ के सहित वन्दना ही वास्तविक वन्दना है। कोरा मस्तक झुका लेना या मुँह पर थोडी बहुत प्रशसा कर लेना, वन्दना का निष्प्राण स्थूल रूप हो सकता है, वन्दना मे प्राण तो उपर्युक्त प्रक्रिया के पूर्ण करने से ही आता है।

आज अधिकाश धनी-मानी सत्ताधीश लोग जीवित और तेजस्वी साधु के पास पहुँचते नही, पहुँचते भी है तो ऊपर की प्रक्रिया सहित वन्दना नही करते। वे सत की पूजा करते है, परन्तु सत की बात को—त्याग-तप से युक्त प्रेरणा को नही मानते। दुनिया मे जीवित, जागृत एव तेजस्वी साधुओ का जीते-जी अपमान हुआ है, उनके मरने के बाद उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की गई है। इसी कारण सच्चे वन्द्य पुरुष की प्राण-प्रण से वन्दना नही हुई। दुनिया इसीलिए पिछडी हुई है, धर्म-विमुख है, प्रदर्शनप्रिय है। इसीलिए महर्षि गौतम को कहना पडा—

जे साहूणो ते अभिवदियव्वा *

७६. ममत्वरहित ही दान-पात्र हैं

प्रिय धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं ऐसे उत्तम जीवन की झाँकी दिखलाना चाहता हूँ जो ममता-मूर्च्छा से रहित है। ऐसा निर्ममत्वपूर्ण जीवन जिस महान् आत्मा का होता है, वही दान का उत्कृष्ट पात्र है। ऐसे निर्ममत्व स्वभावी महान् साधक को दान देकर लाभ उठाना चाहिए। गौतमकुलक का यह ६२वाँ जीवनसूत्र है। इस जीवनसूत्र का सकेत है—

जे निम्ममा ते पडिलाभियव्वा

जो ममत्वरहित साधु पुरुष हैं, उन्हें दान देकर लाभ उठाना चाहिए। ममत्वरहित पुरुष कौन हैं, उन्हें दान देने से क्या लाभ है ? दान भी कब, कैसे, किस विधि से और किस वस्तु का देना चाहिए ? आइये, हम इस सम्बन्ध मे गहराई से चर्चा कर ले।

ममत्वरहित कौन और कैसे ?

ममत्व जहाँ होता है, वहाँ नि स्पृहता, त्यागवृत्ति, निरपेक्षता, निराकाक्षता नही होती। ममत्व होता है, वहाँ वस्तुओ का सग्रह करने की वृत्ति होती है। उस व्यक्ति को बार-बार अपने द्वारा सगृहीत वस्तु को सहेजकर रखने की, उसकी सुरक्षा की, और कोई चुरा न ले जाये, इस बात की चिन्ता रहती है। अगर वस्तु का वियोग हो गया या वह नष्ट हो गई तो फिर उसके मन म आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान होगा। इसलिए ममत्व ही सारे खुराफातो की जड है। जिसके मन-वचन-कर्म मे ममत्व नही रहेगा, 'मैं' और 'मेरापन' वस्तु मे हट जायेगा, उसे न तो सग्रह करने की चिन्ता रहेगी, न ही सहेजकर रखने की या सुरक्षा की चिन्ता रहगी। किसी के द्वारा वस्तु के चुरा ले जाने, या वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी उसे आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान नही होगा, वह अपनी समत्ववृत्ति मे लीन रहेगा।

जब मनुष्य ममत्वरहित हो जाता है तब उसे सिर्फ अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना, शुद्धात्मा की आराधना आदि करना ही रहता है। इसके लिए उसे समय भी काफी मिलता है, निश्चिन्तता भी रहती है, क्योकि जो व्यक्ति ममत्व का त्याग कर देता है, अपने घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, जाति-कुल-प्रान्त-भाषा और राष्ट्र के प्रति या धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि सबका ममत्व छोडकर साधुत्व या सन्यास अगीकार लेता है, उसे अपने उदर-भरण की या शरीर-निर्वाह की स्वय चिन्ता नही करनी पड़ती है। समाज उसकी स्वत चिन्ता करने लगता है, उसमे इतना आत्म-विश्वास या

परमात्म-विश्वास बढ़ जाता है कि वह किसी भी स्थिति मे चिन्ता नहीं करता कि अब मेरा क्या होगा ? मुझे अन्न, वस्त्र या रहने के लिए मकान मिलेगा या नही ? वैसे तो जब से वह गृहादि पर से ममत्व छोडकर साधु-दीक्षा ले लेता है, तभी से उस महान् आत्मा को भिक्षा करके आहारादि प्राप्त करने का अधिकार मिल ही जाता है। परन्तु उसे यह अधिकार नहीं मिलता कि वह गृहस्थो के यहाँ से बढ़िया-बढ़िया खाने-पीने, पहनने-ओढने या रहने की सामग्री चाहे या प्राप्त करने की इच्छा करे। न ही गृहस्थो पर दबाब डाले कि मुझे तुम्हें अमुक प्रकार का आहारादि देना ही पडेगा, नही दोगे तो मैं शाप दे दूंगा अथवा तुम्हारा सम्प्रदाय छोड दूंगा अथवा गृहस्थो को यह धमकी दे कि मुझे अमुक-अमुक पदार्थ नही दोगे तो नरक मे जाओगे, या मरकर पशु-पक्षी की योनि मे चले जाओगे। जिसने अपना गृहादि छोड दिया ऐसे साधु का अपने अनुयायी वर्ग, शरीर, वस्त्र आदि पर से अभी ममत्व नही छूटा है, अच्छा खाने-पीने, पहनने और रहने की लालसा को अभी तक मन मे सजोये हुए है। वह जैन शास्त्रो की भाषा मे त्यागी नही है। जैसा कि दशवैकालिकसूत्र (२/२) म कहा गया है—

वत्थगधमलकार, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भु जति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥

—जो साधक स्वाधीन रूप मे वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, सुन्दर स्त्रियाँ और शय्यादि अच्छी-अच्छी भोग सामग्री का उपभोग नही कर पाता, उसे त्यागी नही कहा जा सकता।

तात्पर्य यह है कि जिस साधक ने एक बार तो सब भोग सामग्री छोड दी है, किन्तु जगह-जगह गृहस्थो के यहाँ उन्हें देख-देखकर मन मे उनकी प्राप्ति की लालसा करता है, मन ही मन असन्तोष से कुढता रहता है, मगर प्राप्त करना उसके वश की बात नही है, वह साधक वास्तव मे त्यागी नही है, वह त्याग की ओट मे अन्दर-अन्दर भोग-वृत्ति का पोषण करता रहता है। परन्तु जिस साधक के अधीन ये उपभोग्य पदार्थ हैं या वह प्राप्त कर सकता है, मगर हृदय से जो उन्हें त्याग देता है वही सच्चा त्यागी है। आगे की गाथा इसी बात को स्पष्ट करती है—

जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

—जो साधक कमनीय, प्रिय, मनोज्ञ स्वाधीन भोग (भोग सामग्री) प्राप्त होने पर उनकी ओर पीठ कर देता है, उनका हृदय से त्याग कर देता है, वही त्यागी कहलाता है।

यहाँ इन भोग्य पदार्थों के त्याग करने का अर्थ केवल छोड देना नही है, क्योंकि कौन-से ये पदार्थ पकडे हुए थे, जो इन्हें छोड देना है ? इसलिए इसका रहस्यार्थ यह है कि इन पदार्थों के प्रति जो ममत्व या लालसा चिपकी हुई थी, उसको मन से त्यागना ही वस्तुत त्याग है।

साधु जब साधुजीवन की दीक्षा लेता है, तब क्या करता है ? घर-बार आदि पदार्थों पर जो ममत्व है, मेरापन है, तथा उसी ममत्व के कारण बार-बार सँभालने, सुरक्षा करने, बढ़ाने आदि की चिन्ता लगी रहती है, उन सबका त्याग करता है। वह 'अप्पाणं वोसिरामि' करके शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के प्रति जो ममत्व है, उसका त्याग करता है, अर्थात् हृदय से इन सब पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग करता है।

जो साधु मन से ममत्व-बुद्धि को नहीं छोड़ता, उसे पद-पद पर जीने का, शरीर का तथा शरीर से सम्बद्ध आहार-वस्त्र आदि का मोह-ममत्व सताया करता है। वह इन्ही सासारिक पदार्थों की उधेड़बुन मे रचा-पचा रहता है, न तो वह आत्म-कल्याण की बात सोच पाता है, और न ही विश्वकल्याण की। मुख से वह भले ही उच्चारण कर ले कि मैं सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत् व्यवहार करता हूँ, मैं किसी से कुछ नही चाहता, परन्तु पद-पद पर वह इसी ममत्व के जाल मे फँसकर अपने देह-गेह, अनुयायी आदि की चिन्ता करता रहता है। उसकी यह चिन्ता तब तक नही मिटती और वह आध्यात्मिक विकास भी तब तक नही कर पाता, जब तक देहासक्ति मे डूबा है।

राजस्थान के सत सुन्दरदासजी ने ठीक ही कहा है—

गह तज्यो पुनि नेह तज्यो, पुनि खेह[1] लगाइके देह सवारी।
मेघ सहै सिर सीत सहै, तन धूप सहै जु पचागनि वारी॥
भूख सहै, रहि रूख तरै, पर 'सुन्दरदास' समै दुःख भारी।
डासन छाडि के कासन ऊपर, आसन मारि पै आस न मारी॥

भावार्थ स्पष्ट है। जो साधु का स्वाग रचकर आशा-तृष्णा को नही मारता, उन्हें मन मे लिये फिरता है, समझ लो वह अभी तक ममत्व के पिजरे मे बधा है।

निर्ममत्व एवं स-ममत्व की पहचान

प्रश्न होता है, किसी साधक के मस्तक पर कोई साइनबोर्ड तो लगा हुआ नहीं होता कि यह साधु निर्ममत्व है या स-ममत्व है, फिर इन दोनो की पहचान और विवेक कैसे किया जा सकता है ? मेरी नम्र दृष्टि से स्थूलदृष्टि से इन दोनो की पहचान होनी कठिन है, मुख्यतया दोनो के व्यवहार एव वृत्ति-प्रवृत्ति पर से ही इनका निर्णय हो सकता है। जो कुछ मन-मस्तिष्क मे होता है, वह या तो चेष्टाओ तथा प्रवृत्तियो पर से या व्यवहार पर से ज्ञात हो सकता है। मनुष्य चाहे कितना ही छिपा ले, कितना ही कूट-कपट कर ले या दम्भक्रिया कर ले, आखिर तो उसकी किसी न किसी दिन कलई खुलकर ही रहती है।

बाह्यदृष्टि मे कई साधक घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति आदि का ममत्व

---

१. राख

छोडकर साधु-जीवन मे शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, विचरण-क्षेत्र, स्थानक-उपाश्रय, वस्त्र-पात्र, उपकरण आदि पर सावधानी न रखे तो फौरन मोह-ममत्व चिपक जाता है। फिर वह चालाकी से उस सम्बन्ध मे सफाई देता रहता है, यह मेरा नही, संस्था का है, सम्प्रदाय का है, समाज या सघ का है। जो हृदय से ममत्व छोड देता है, वह तो इस ममता की वैतरणी को पार जाता है, लेकिन जो इस ममता को—साधु-जीवन मे आई हुई ममता-मूर्च्छा को खदेडता नही, बार-बार उसमे लिपटता रहता है, वह माया के मायाजाल म ही भटकता रहता है।

एक ऐतिहासिक उदाहरण द्वारा मैं अपने विषय को स्पष्ट कर दूं तो अच्छा रहेगा—

एक राजा वृद्ध हो गया था। उसने अपने पूर्वजो के आदर्श के अनुसार जीवन का अन्तिम समय त्याग म बिताने का निश्चय किया। राजा ने अपना निश्चय राजकुमार मत्री आदि सबको सुनाया। इससे उन्हें जरा आघात भी लगा। राजकुमार ने प्रार्थना की—"पिताजी! वैसे तो आपका विचार उत्तम है, पर उसके लिए घर-बार और कुटुम्ब-परिवार को छोडकर जाने की क्या आवश्यकता है?" राजा ने कहा—"बेटा! यहाँ रहने से फिर वही मोह-ममता लग जायेगी, परिवार की सारी जिम्मेवारी निभानी पडेगी तथा राज्य का त्याग करने पर भी यदा-कदा बरबस राज्य-कार्य मे भाग लेना पडेगा। इसलिए मैं तुम्हे घर-बार तथा राज्यकार्य सब कुछ सौंपकर जाना चाहता हूँ।"

मत्री तथा राजदरबारियो को भी राजा का इस प्रकार सर्वस्व त्याग कर जाना अखरता था। परन्तु राजा के दृढनिश्चय के आगे सभी को झुकना पडा। विदाई का दिन निश्चित हो गया। राजा ने राजकुमार का विधिवत् राज्याभिषेक करके उसे राज्य सौंप दिया। राजा ने राजकुमार तथा मत्री आदि के बहुत आग्रह के बावजूद अपने साथ सिर्फ एक सेवक और एक सामान लदा हुआ घोडा ले चलने का निश्चय किया। स्वय पैदल चलकर नगर के बाहर आया। राज-परिवार, राजकुमार, मत्री आदि सब दरबारियो और प्रजाजनो ने अश्रुपूर्ण नेत्रो से अपने प्रिय राजर्षि को भावभीनी विदा दी। राजा सबको आशीर्वादसूचक दो शब्द कहकर आगे बढ गये। चलते-चलते दोपहर को राजर्षि ने एक छायादार वृक्ष के नीचे विश्राम किया। सेवक ने घोडे पर से राजर्षि का सादा बिछौना निकाला और वही पेड के नीचे बिछाकर आराम करने को कहा। स्वय बर्तन निकालकर भोजन बनाने लगा।

राजर्षि का भोजन बन रहा था, तभी एक किसान आया। उसने पेड के नीचे जगह साफ करके अपना अगोछा बिछाया और हाथ का तकिया बनाकर सो गया। करीब आधा घटा सोकर वह उठा और चल दिया।

राजर्षि ने चिन्तन किया—ओहो! यह किसान तो यो ही एक वस्त्र बिछाकर सो गया, फिर मुझे गद्दे-तकिये की क्या जरूरत है? नौकर से कहा—"माधव! हम नाहक ही गद्दा-तकिया लाये, इन्हे वापस ले जा।"

कुछ देर बाद एक और किसान आया, उसने एक हाथ पर रूखी रोटी और थोडा-सा साग लिया और दूसरे हाथ से कौर तोडकर खाने लगा। थोडी देर मे जब वह भोजन करके चल दिया तो राजर्षि ने चिन्तन करके सेवक से कहा—"भैया! हम व्यर्थ ही खाने-पीने के लिए इतने बर्तन और सामान लाये। इस किसान की तरह मैं भी तो हाथ पर या किसी एक ही बर्तन मे खा सकता हूँ। यह सारा सामान तू वापस ले जा। मुझे नही चाहिए। और तुम भी अब घोडे सहित वापस लौट जाओ। सन्यासी को यह सब अडगा रखने की क्या जरूरत है?"

सेवक कहने लगा—"सरकार! आपको अभी अभ्यास नही है। आप तकलीफ पायेंगे। जब तक अभ्यास न हो जाये, तब तक सब सामान और मुझे रखे रहिये।"

परन्तु राजर्षि ने भोजन से निवृत्त होकर प्रेमाग्रहपूर्वक उस सेवक को सामान सहित वापस भेज दिया। अब राजर्षि अकेले चलकर अगले पडाव पर आये।

एकाकी, अकिचन और नि स्पृह बनकर राजर्षि ने गाँव के बाहर वट वृक्ष के नीचे अपना आसन जमाया। दूसरे ही दिन से सारे गाँव मे शोहरत हो गई। राजर्षि किसी से कुछ माँगते नही थे, फिर भी लोग खाने-पीने की तरह-तरह की चीजे लाकर उनके सामने ढेर करते जाते। राजर्षि एक-दो रूखी रोटी और थोडा सा साग खाकर शेष भोजन वही बाँट देते। मिठाइयो और फलो को तो छूते ही न थे। यो तीन दिन हो गये। तीसरे दिन एक देवदूत आया, हाथ मे झाड़ू लेकर सफाई करने के लिए। राजर्षि ने पूछा तो कहने लगा—"मुझे अपने स्वामी द्वारा आदेश मिला है कि राजर्षि जहाँ बैठते है, वहाँ की सफाई कर दो, दरी और गलीचा बिछा दो।"

राजर्षि ने कहा—"मैं तो यहाँ की सफाई स्वय कर लेता हूँ, और अपना आसन बिछाकर बैठता हूँ। मेरे पास नौकर क्या कम थे? मैं दवदूत को क्यो तकलीफ दूँ?"

पर देवदूत नही माना और सफाई करके दरी-गलीचा बिछाकर चला गया। इतने मे एक देवदूत पक्वान्न लेकर आया और राजर्षि को दने लगा। राजर्षि ने कहा—"मुझे आवश्यकता नही है। आवश्यकतानुसार मुझे ग्रामीण लोगो से मिल ही जाता है।" फिर भी देवदूत न माना और वहाँ रखकर चला गया। यो प्रतिदिन दोनो देवदूत आकर अपना-अपना कार्य कर जाते। राजर्षि अपने भजन म मस्त रहते।

उसी गाँव के एक किसान ने राजर्षि का यह रग-ढग देखा तो बहुत आकर्षित हुआ और आकर भक्तिभाव से पूछने लगा—"महात्माजी! मुझे भी ऐसा उपाय बताइये, जिससे आपके जैसे ठाठ लग जाये। मैं भी अपनी गृहस्थी से तग आ गया हूँ।"

राजर्षि बोले—"भाई! मैं स्वय इसका उपाय नही जानता। मैने तो परमात्मा के नाम पर सब कुछ छोडा तो मुझे उन्ही की कृपा से शरीर के लिए आवश्यक भोजन मिल जाता है। ग्रामीण लोग मिठाइयाँ, फल आदि ले आते है। उन्हें मैं नही लेता।

मुझे तो दो रोटी और थोड़े से साग की जरूरत होती है, वह ले लेता हूँ, बाकी सब बाँट देता हूँ। तुम भी इसी तरह करो। शायद तुम्हारे भी ठाठ लग जायें।"

किसान घर गया और अपनी घरवाली को समझा दिया कि "मैं उस बड़ वाले बाबा का चेला बन रहा हूँ। अपना सब दलिद्दर दूर हो जायेगा।" यों किसान अपनी पत्नी के मना करते-करते सीधा बड वाले बाबा के पास जा पहुँचा। वहाँ एक ओर अपना आसन जमा लिया और जप करने लगा। एक-एक करके तीन दिन हो गये। अभी तक कोई देवदूत नही आया। तीसरे दिन मध्याह्न मे एक देवदूत एक मोटी रोटी और साग लेकर आया। किसान-बाबा आग-बबूला हो रहा था। देवदूत के आते ही उसने पूछा—"तू कौन है ? क्यो आया है ?" उसने कहा—"मैं देवदूत हूँ। हमारे स्वामी ने मुझे आपके लिए भोजन लेकर भेजा है।" किसान ने गुस्से मे आकर कहा—"अब तक कहाँ मरा था ? तीन दिन हो गये मुझे भूखो मरते ! ला, क्या-क्या लाया है ?" ज्यो ही थाली मे रूखी रोटी और साग देखा, किसान-बाबा ने एकदम थाली फेंक दी और कहा—"क्या इस रूखी रोटी के लिए मैंने घर छोडा था ? रूखी रोटी की घर मे क्या कमी थी ? उस बाबा को तो छप्पन भोग और मुझे रूखी रोटी ! जा अपने मालिक से कह दे, मैं नही लेता।"

देवदूत वापस गया और अपने मालिक से सारा वृत्तान्त कहा। मालिक ने कहा—"उस राजर्षि ने तो राज-पाट, वैभव वगैरह सब छोडा है, फिर भी वह जो भी पक्वान्न आदि यहाँ से जाता है, लेता नही है। सिर्फ रूखी रोटी और साग लेता है। और यह तो खाने-पीने और अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए ही बाबा बना है। इसका गृहत्याग हृदय से नही। यह तो इस रूखी रोटी का भी हकदार नही है। जाकर कह दो, लेना हो तो यह रूखी रोटी-साग ले लो, अन्यथा यह भी नही मिलेगा।" देवदूत ने किसान-बाबा से सारा वृत्तान्त कहा। अब तो उसका सारा वैराग्य उड़ गया। सोचने लगा—'नाहक ही इस बाबा (राजर्षि) की देखा-देखी हैरान हुआ।' वह बाबा का स्वाग छोडकर पुन गृहस्थी म जा फंसा। राजर्षि ने हृदय से त्याग किया था, स्वेच्छा से समझ-बूझकर निष्काम भाव से छोडा था, इसलिए लोग उनकी आवश्यकतानुसार उत्साह और श्रद्धाभक्ति स सवा करते थे।

हाँ तो मैं कह रहा था, जो व्यक्ति हृदय से समझ-बूझकर त्याग नही करता, किसी स्वाथ, स्पृहा, कामना या लालसा से प्ररित होकर छोडता है, वह ममत्वत्यागी नही है, ममत्वत्यागी वह है, जो बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार से स्वेच्छा से समझ-बूझकर त्याग करता है। उसके त्याग के पीछे कोई लालसा, स्वार्थ या बदले में कुछ लने की भावना या कोई कामना नही होती। न ही उसे त्याग का अहकार होता है। त्याग की ओट म वह लोगो को अपनी ओर आकर्षित करके उनसे विविध भोग-सामग्री, अनावश्यक पदार्थ लन की स्पृहा नही करता है। न ही उस त्याग से होने वाले फल—इहलौकिक या पारलौकिक सुख-साधनरूप परिणाम की आकाक्षा रखता है। ऐसा त्याग-

परायण साधु अपनी आवश्यकतायें कम से कम रखता है। आवश्यक वस्तुओ मे से भी कोई वस्तु अगर अपने नियमानुसार विधिपूर्वक मिलती हो तभी ग्रहण करता है अन्यथा संतोषपूर्वक चला लेता है। आवश्यकतानुसार वस्तु न मिलने पर या गृहस्थ लोगों द्वारा श्रद्धाभक्तिपूर्वक न देने पर भी वह न किसी पर नाराज होता है, न किसी प्रकार की शिकायत करता है, और न ही किसी के समक्ष दीनता प्रकट करता है। स्वाभिमानपूर्वक यथालाभ-सन्तोष ही उसके जीवन का मूलमन्त्र होता है।

आई हुई भोग्यसामग्री को ठुकराने वाले · निर्ममत्व सत तुकाराम

सत तुकाराम के अभंग (आत्मिक भजन) और कीर्तन सारे महाराष्ट्र—मे गाँव-गाँव मे गूँज रहे थे। देहू नाम के एक छोटे-से गाँव मे भगवान् बिठोबा का एक साधारण मन्दिर था। जब से सत तुकाराम उस मन्दिर मे भजन-कीर्तन करने लगे, तब से वह साधारण मन्दिर एक आकर्षक तीर्थस्थल बन गया। धर्मप्रिय भक्तजनो की टोली चारो ओर से सिमट-सिमटकर आती और सत तुकाराम के भजन-कीर्तन सुनकर आनन्दमग्न हो जाती थी। सत तुकाराम की कीर्ति फैलती-फैलती छत्रपति शिवाजी के कानो मे पहुँची तो उनका हृदय ऐसे सत के दर्शन करने के लिए उत्सुक हुआ। फलत उन्हें राजदरबार मे शाही ठाठ से लाने और फिर उनका समुचित सत्कार करने निश्चय किया गया। सत को राजसभा मे पधारने के लिए सरकारी हाथी, घोडे, पालकी, लवाजमा एव सेवक एक दरबारी के साथ भेजे गये, साथ मे कीमती पोशाकें और आभूषण भी।'

इस शाही ठाठ को देखकर सत तुकाराम उस दरबारी से बोले—"भाई ! मैं तो बिठोबा का एक नगण्य भक्त हूँ। इससे मैं राजा-महाराजा व उनके महलो तथा उनके सम्मान का पात्र नही हूँ। जब वहाँ जाना ही होगा तो मुझे भगवान ने दो पैर दिये है, उन्ही से वहाँ पहुँच जाऊँगा। इससे ये हाथी, घोडे, पालकी आदि मेरे लिए व्यर्थ हैं। जरी की ये कीमती पोशाकें और बहुमूल्य आभूषण मुझ भिक्षुक के लिए लज्जास्पद हैं। अत मैं इन्हें ग्रहण करने मे असमर्थ हूँ।"

दरबारी—"सतजी ! अगर हम कोरे लौटेंगे तो छत्रपतिजी को क्या उत्तर देंगे ?"

तुकाराम—"भाई ! उनसे मेरा आशीर्वाद कहना और यह कहना कि तुकाराम अपने भगवान की सेवा से एक दिन भी विमुख नही होना चाहता।" गाँव वाले इस पर हँसे कि तुकाराम गँवार है। घर आई हुई लक्ष्मी को इसने लात मार दी। मन्दिर के साथी भी आशा बाँधे थे, वे भी नाराज और निराश हुए। जब वह दरबारी कोरे हाथ राजधानी लौटा तो दूसरे दरबारी समझे कि छत्रपति शिवाजी राजाज्ञा-उल्लघन के कारण सत तुकाराम को अवश्य दण्ड देंगे, किन्तु शिवाजी सत की नि स्पृहता और निर्भयता से और भी प्रभावित हुए। बोले—"मैं आज ही उस महान् सत के दर्शनो का पुण्य-लाभ लेना चाहता हूँ।"

उस छोटे-से गाँव मे जब शिवाजी आये तो सारा ग्राम आश्चर्यचकित हो गया। घर-घर शिवाजी की जय-ध्वनि गूँज उठी। संत तुकाराम को देखते ही शिवाजी उनके चरणो मे लोट गये। सत बोले—"छत्रपति ! हूं हूं आप यह क्या करते हैं ? राजा तो देवांश होता है अत आप महान् है।" ऐसा कहकर उन्हें उठाया और गद्गद स्नेह से गले लगा लिया। शिवाजी बोले—"मैं आपके दर्शनो से कृतार्थ हुआ। मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी यह तुच्छ भेट स्वीकार करें।" ऐसा कह शिवाजी ने स्वर्णमुद्राओ का ढेर उडेल दिया, वस्त्र एव आभूषण भी।

"आप यह क्या करते हे, महाराज ! माया से प्रभुभक्ति मे बाधा आती है। भक्ति को निराबाध रखना राजा का प्रथम कर्त्तव्य होता है। फिर आप स्वय इस बाधा को सामने ला रहे हे।"

शिवाजी—"यह तो आपके व आपके परिवार-निर्वाह के लिए अर्पित है। इसे अपनी भक्ति मे बाधक नही, साधक समझकर कृपया स्वीकार कीजिए।"

तुकाराम—"सुनो छत्रपति ! मुझे जब भूख लगती है तो बिठोबा के नाम पर जो मधुकरी मिल जाती है, वही मेरा अमृत भोजन है। रास्ते मे पडे चिथडो को सीकर यह शरीर ढँक लेता हूँ। वह मेरा प्रिय वस्त्र है और यह विशाल भूमि मेरा बिछौना है। मन आये वही सो जाता हूँ। फिर मुझे कमी किस बात की है ? शेष समय भगवान बिठोबा की सेवा मे लगाकर अपूर्व आनन्द मे मग्न रहता हूँ। इसलिए आपके द्वारा अर्पित ये धन, आभूषण वस्त्रादि मेरे लिए अनुपयोगी है। अत मै इन्हे स्वीकार करने मे असमर्थ हूँ।"

शिवाजी ने अपने जीवन म पहली बार ऐसा अनोखा सत देखा जो इतना अनासक्त, इतना ममत्वरहित इतना निर्लेप था ! वह गद्गद हृदय से बोले—"धन्य है, भक्ति शिरोमणि ! ऐसी अद्भुत नि स्पृहता, अकिंचनता और निर्भयता मैंने कही नही देखी।" फिर उनके चरणो म सिर रखकर बोले—"शिवा के कोटि कोटि प्रणाम !"

इस प्रकार सत तुकाराम आजीवन नि स्पृह और अकिंचन रहे। वे भौतिक सम्पदा से निर्धन, किन्तु आत्म-सम्पदा के महान् धनी थे। यह है, निर्ममत्व का अनुपम उदाहरण जिसमे साधक आत्म-साधना म लीन रहकर अपनी ज्ञानगगा मे डुबकी लगाता रहता हे।

इस प्रकार के साधुओ के लिए दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है—

सओवसता अममा अकिंचणा।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा॥

वे सदा उपशान्त, निर्ममत्व और अकिंचन होकर ऐसे निर्मल एव स्वच्छ प्रतीत होते हे—मानो ऋतु साफ-स्वच्छ होने पर निर्मल चन्द्रमा आकाश मे सुशोभित हो रहा हो।

समत्वधारक हो वही निर्ममत्व साधु

सच्चा साधु समत्वधारी होता है। वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ की गुलामी नही करता। वह किसी प्रकार से इन्द्रियो की दासता नही स्वीकारता। जहाँ व्यसनो की गुलामी होती है, वहाँ न तो स्व-पर-कल्याण-साधना हो सकती है और न परमात्मा की आराधना। वह कष्ट आते ही शरीरासक्ति के कारण हाय-तोबा मचाने लगता है। कष्ट आ पडने पर वह आर्तध्यान करता है, निमित्तो को कोसता है, शरीर के प्रति ममत्व के कारण चिन्तित होता है, रोता-पीटता है। परन्तु ममत्वहीन साधु सदैव शान्ति और समता मे मग्न रहते हैं। वे कष्ट को एक प्रकार का कायक्लेश तप समझते है। कष्ट को वे कष्ट नही समझते, न कष्टो से घबराते हैं, क्योकि देह पर उनकी आसक्ति नही होती, न ही देहाध्यास के कारण वे आर्त्तध्यान करते हैं।

ऐसे साधुगण सदैव गृहस्थो के लिए पूजनीय और आदरणीय होते हैं। इनका जीवन सदैव दूसरो के उपकार मे रत रहता है। वे अपने लिए कुछ नही चाहते, परन्तु अगर कोई व्यक्ति पीडा मे हो तो वे उसके लिए चिन्तित रहते है।

ऐसे अकिंचन सन्त अपने आपको दरिद्र नही समझते, वे स्वाभिमानपूर्वक अपने आप मे यथालाभसन्तोषी होते हैं। ऐसे अकिंचन साधु किसी के द्वारा धन या सोना-चाँदी या हाथी-घोडे आदि दिये जाने पर नही लेते, न ही किसी प्रकार की भोग्य-सामग्री की इच्छा रखते हैं।

एक सम्राट् सन्तो का बहुत ही सम्मान किया करता था। जब भी उस पर कोई सकट आ पडता, वह सन्तो की सेवा मे पहुँचता और उनकी खूब सेवा शुश्रूषा करता था। एक बार उस सम्राट् ने किसी सकट-निवारण के हेतु यह सकल्प किया कि यदि मेरा सकट टल गया तो मैं एक हजार रुपये की थैली सतो को भेट करूँगा। कुछ समय पश्चात् उस सम्राट् का सकट का समय टल गया, तो उसने अपने एक कर्मचारी को एक हजार रुपये की थैली देकर सन्तो को भेट देने हेतु भेजा। कर्मचारी दिनभर इधर-उधर घूमता रहा, पर कोई भी सच्चा सन्त उस भेट को लेने को तैयार न हुआ। सभी कहते थे—हमे नही चाहिए। हमारे लिए धन किस काम का? शाम को कर्मचारी थैली वापस लेकर सम्राट् के समक्ष उपस्थित हुआ। कर्मचारी को भरी थैली लिये वापस आये देख सम्राट् को बहुत आश्चर्य हुआ। सम्राट् ने इसका कारण पूछा तो कर्मचारी बोला—"हजूर! मैंने बहुत ही खोज-बीन की परन्तु उपयुक्त पात्र मुझे एक भी न मिला, जिसे मै थैली भेट करता।"

सम्राट् क्रुद्ध होकर बोला—"मूर्ख! इस नगर मे ५ से अधिक सन्त हैं, फिर भी तुमको ऐसा कोई सत क्यो नहीं मिला, जिसे तुम यह थैली भेट करते? तुम बहुत विचित्र व्यक्ति हो।" कर्मचारी बोला—"सरकार! नगर मे सन्त तो बहुत हैं, मगर वे आपके धन को छूते भी नही और जो धन का इच्छुक है, वह सन्त नही है। इसलिये

मैंने इसे वापस लाना ही उचित समझा ।" कर्मचारी की बात सुन बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ ।

दान का अधिकारी : अकिंचन साधु

दान देने मे विधि, द्रव्य और दाता का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व पात्र का है । पात्र देखे बिना दिया गया दान सफल दान नही कहलाता । देय द्रव्य भी आदाता के अनुरूप योग्य हो, दाता भी योग्य हो, और विधिपूर्वक भावना के साथ दान दे रहा हो, किन्तु दान लेने वाला पात्र अच्छा न हो, दुर्गुणी हो, मांसाहारी, शराबी, हत्यारा, चोर, डाकू आदि हो, अथवा सशक्त, स्वस्थ, हट्टा-कट्टा गृहस्थ हो, तो वह दान का उत्तम पात्र नही होता । भिक्षा लेने का यथार्थ अधिकारी भारतीय सस्कृति मे उसे ही बताया है, जो अकिंचन, अनगार, भिक्षु या साधु-सन्यासी हो । साधुओ, श्रमणो, भिक्षुओ और त्यागियो द्वारा नि स्पृह एव निरपेक्ष भाव से यथालाभ-सतोषवृत्ति से जो भिक्षा की जाती है, उसे ही सर्वसम्पत्करी, अमीरी एव श्रेष्ठ भिक्षा कहते है ।

दूसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है, जो हट्टे-कट्टे धन-धान्यसम्पन्न, सशक्त, एव सर्वांगपूर्ण तथा कमाने खाने की शक्ति वाले तथाकथित लोगो द्वारा की जाती है ।

तीसरी भिक्षा वृत्ति वह है, जो अन्धे, लूले, लगडे, अगविकल, अशक्त, असाध्य, रुग्ण, अतिनिर्धन, दयनीय लोगो द्वारा की जाती है ।

हाँ तो सर्वसम्पत्करी और श्रेष्ठ भिक्षा उन अकिंचन और नि स्पृह साधु मुनिवरो की है, जो अपने पास किसी प्रकार की सम्पत्ति या साधन नही रखते, पचन-पाचन, क्रय-विक्रय आदि के प्रपचो से दूर रहते हैं । इसीलिए महर्षि गौतम ने स्पष्ट कहा है—दान का सबसे उत्कृष्ट पात्र ममत्वरहित, अकिंचन एव नि स्पृह साधु ही है ।

मैं पात्रापात्र की गहरी चर्चा मे नही उतरना चाहता । मैं तो यहाँ गौतमकुलक के प्रस्तुत जीवनसूत्र के अनुसार यह बताना चाहूँगा कि निर्ममत्व एव अकिंचन साधु ही क्यो उत्कृष्ट दानपात्र है ?

बात यह है कि साधु सर्वथा अकिंचन और निर्ममत्व होकर जब स्व-पर-कल्याण-साधना मे लगता है, तब वह मोक्ष-मार्ग के साधनरूप रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की साधना करने मे दत्तचित्त रहने को तत्पर होता है लेकिन वह अपनी साधना म दत्त-चित्त तभी हो सकता है, जब उसे निर्दोष एव स्वाभिमानपूर्वक भिक्षा की चिन्ता न रहे, और उसका तन-मन स्वस्थ रहे । यह देखना गृहस्थ वर्ग का कर्त्तव्य है । गृहस्थ वर्ग भी नि स्वार्थ-निष्काम भाव से अपने लिये प्रतिलाभ—सिर्फ पुण्य लाभ की दृष्टि से ऐसे अकिंचन साधु वर्ग को दान देता है । पुण्यशाली गृहस्थ दान देकर यह भावना करता है कि मेरे दान से इन महापुरुषों के तप, संयम और रत्नत्रय मे वृद्धि हो । ये महापुरुष इस आहार आदि का उत्तम उपयोग करेंगे । इनका बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम संयम मे, सवर में, निर्जरा मे एवं कर्मक्षय करने मे लगेगा ।

दान का लक्षण भी जैनाचार्यों ने यही किया है—

आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम् ।[1]

—अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए अपने अन्न-पानादि द्रव्यसमूह का पात्र मे उत्सर्ग करना—देना, दान है।

स्वानुग्रह का तात्पर्य है—अपने श्रेय के लिए धर्मवृद्धि करने की दृष्टि से, किसी सुपात्र को दान देना, स्वानुग्रहकारक दान है। परानुग्रह है—दूसरे की—सुपात्र की—रत्नत्रय की वृद्धि के लिए दान देना।

आप यह तो जानते ही हैं कि कोई भी चतुर किसान जब किसी खेत मे बीज बोता है, उससे पूर्व उस खेत की परीक्षा करता है कि इस खेत मे बोया हुआ बीज फलप्रद होगा या नही? होगा तो कितना फलदायक होगा? इसी प्रकार दान देने वाले को भी दान देने से पूर्व पात्र का निरीक्षण करना आवश्यक है कि किस पात्र को दिये गये दान का कितना लाभ होगा? उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीय अध्ययन मे हरिकेशी मुनि की ओर से उनके सेवक—यक्ष ने ब्राह्मणो को उत्तर दिया है—

थलेसु बीयाइ ववंति कासगा, तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झ, आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं ॥

—किसान लोग अच्छे स्थलो (क्षेत्रो) को देखकर बीज बोते है और सुफल पाकर आश्वस्त होते है। उसी श्रद्धा (विश्वास) से मुझे (निर्ग्रन्थ मुनि को) (आहार) दान दीजिये और इस पुण्यशाली क्षेत्र की आराधना कीजिये।

आचारागसूत्र (श्रु० १, उ० ८, सू० २) की वृत्ति मे भी सुपात्रदान का परिणाम बताया गया है—

दुःखसमुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुनैव मकरनिलयं वणिजः सद्यानपात्रेण ॥

—जैसे वणिक् लोग छोटे-से अच्छे यानपात्र से समुद्र को पार कर लेते है, वैसे ही प्राज्ञजन पात्र को दिये गये दान के प्रभाव से दुःख समुद्र को पार कर लेते हैं।

निर्ममत्व अकिंचन साधु की पहचान

पउमचरिय मे निर्ममत्वयुक्त सुपात्र साधु मुनिराज का लक्षण बताते हुए कहा है—

जे नाणसंजमरया अणन्नदिट्ठी जिइंदिया धीरा।
ते नाम होंति पत्तं समणा सव्वुत्तमा लोये ॥३९॥
सुहदुक्खेसु य समया जेसिं माणे तहेव अवमाणे।
लाभालाभे य समा ते पत्तं साहवो भणिया ॥४०॥
पंचमहव्वयकलिया निच्चं सज्झायझाणतवनिरया।
घणसयणविणयसंगा ते पत्तं साहवो भणिया ॥४१॥

---

1 तत्त्वार्थ भाष्य अ० ६/१२

—जो ज्ञान और सयम मे रत हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, जितेन्द्रिय हैं, धीर हैं, वे ही श्रमण लोक मे सर्वोत्तम पात्र हो सकते हैं।

—जो सुख और दु ख मे, मान और अपमान मे, लाभ और अलाभ में सम हैं, वे साधु ही पात्र कहलाते है।

—जो पाच महाव्रतो से युक्त हैं, नित्य स्वाध्याय, ध्यान और तप मे रत हैं, धन, स्वजन आदि की आसक्ति से दूर है, वे सयमी पुरुष ही पात्र कहलाते है।[1]

वरागचरित्र मे भी अकिंचन श्रमण को पात्र रूप बताया है—"जो मद, मात्सर्य एव असूया से रहित है, सत्यव्रती है, क्षमा और दया से सम्पन्न हैं, सन्तुष्टशील हैं, पवित्र और विनीत है, वे निर्ग्रन्थ शूर ही यहाँ पात्ररूप है। जिन तपोधनियो का ज्ञान तीन लोक के भावाथ को सम्यक् प्रकार से जानता-दखता है, तीन लोक के धर्म से युक्त है, कर्मक्षय करने मे दृढप्रतिज्ञ है। जिन्हे कामाग्नि जला नही सकती, जिनका चारित्र अखण्ड है, जिन्होने मोहान्धकार का नाश कर डाला है, जो परीषहो से विचलित नही होते, ऐसे आशाविजयी नि स्पृही साधु ही पात्ररूप हे।[2]

निर्ममत्व साधु को दान देने का सुफल

निष्किचन अनगार को आहारादि दान दने के सम्बन्ध म श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो जैन सम्प्रदायो के धर्मग्रन्थ एक स्वर से महालाभ बताते है। सागार धर्मामृत मे बताया गया है—

"जो आहार गृहस्थ ने स्वय अपने लिए बनाया हो, जो प्रासुक हो—त्रस और स्थावर जीवो से रहित हो, ऐसे भक्त-पानादि को गृहस्थ द्वारा दिये जाने पर आत्म-कल्याणाथ ग्रहण करने वाला महाव्रती साधु केवल अपना ही नही, अपितु उस दाता का भी कल्याण करता हे। यदि दाता सम्यग्दृष्टि है तो उसे स्वर्ग या मोक्ष के अनुरूप बना देता है, और यदि दाता मिथ्यादृष्टि है तो उसे अभीष्ट विषयो की प्राप्ति करा देता है।"[3]

भगवतीसूत्र मे भी इस सम्बन्ध मे भ० महावीर और गौतम का सवाद है—

(प्र०) समणोवासए ण भते ! तहारूव समण वा माहण वा फासुएसणिज्जे असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेमाणस्स कि कज्जइ ?

(उ०) गोयमा ! एगत सो णिज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ ॥[4]

—भगवन् ! यदि श्रमणोपासक (श्रावक) तथारूप श्रमण या माहन को प्रासुक एव एषणीय आहार देता है तो उसे क्या लाभ होता है ?

---

१. पउमचरियं १४/३६—४१
२. वरागचरित्र ७/५० से ५२
३. सागारधर्मामृत, अ० ५ श्लोक ६६
४ भगवतीसूत्र ८/६

—"गौतम ! वह एकान्तनिर्जरा (सर्वथा कर्मक्षय) करता है लेकिन किंचित्मात्र भी पापकर्म का बन्ध नही करता।" इसी प्रकार भगवतीसूत्र (अ० ५, उ० ६) मे शुभ (सुखोपभोगयुक्त) एव अकालमृत्युरहित दीर्घायु किन कारणो से प्राप्त करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान फरमाते हैं—"गौतम ! जो जीवहिंसा नही करता, असत्य नही बोलता, श्रमण-श्रावको का गुणानुवाद करता है या सत्कार-सम्मान करता है, उन तथा-रूप श्रमण-ब्राह्मणो को अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चतुर्विध आहार देता है, वह सुखपूर्वक आयु पूर्ण करके दीर्घायु प्राप्त करता है।"

ऐसे अकिंचन सुपात्र को दान देने का लौकिक लाभ भी कम नही है। स्वर्गादि सुखो के अतिरिक्त वह यहाँ भी सभी मनोवाछित सुखोपभोग प्राप्त करता है। वह अच्छे माता-पिता, मित्र, पुत्र, स्त्री आदि कुटुम्ब-परिवार का सुख तथा धन, धान्य, वस्त्र, अलकार हाथी, रथ, महल आदि महावैभव आदि का सुख सुपात्र दान के फलस्वरूप पाता है।

उत्तम कुल, सुन्दर रूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ तीक्ष्ण बुद्धि, निर्दोष शिक्षण, उत्कृष्ट शील, उत्तम गुण, सम्यक्चारित्र, शुभ लेश्या, शुभनाम और समस्त प्रकार के भोगो-पभोग की सामग्री आदि समग्र सुखसाधन सुपात्र-दान के फलस्वरूप प्राप्त होते है।

जैनशास्त्रो एव ग्रन्थो म ऐसे अनेक उदाहरण उत्तम दाताओ के आते है, जिन्होने उत्तम पात्र पाकर अपना सब कुछ, जो अत्यन्त प्रिय था, वह भी उत्कट भाव से दे डाला। शालिभद्र पूर्वजन्म म सगम नाम का ग्वाला था। उसने मासक्षपण तपस्वी मुनि को उत्कृष्ट भाव से प्रासुक खीर का दान दिया, जिसके प्रभाव के वह गोभद्र सेठ एव भद्रा माता के पुत्र—शालिभद्र के रूप मे अपार ऐश्वर्यशाली बना।

साकेतपुर का सुदत्त नामक कर्मकर किसी धनिक के यहाँ नौकरी करता था। वह स्वभाव मे बहुत ही भद्र एव विनीत था, निर्धन होते हुए भी उसे दान करने की बहुत इच्छा रहती थी। वह प्रतिदिन वन मे लकडियाँ लाने जाता था। साथ मे अपना भोजन (पाथेय) ले जाता था, और किसी न किसी को दान देकर ही वह खाता था।

एक दिन वन मे उसने प्रतिमाधारक कायोत्सर्गस्थ एक मुनिवर के दर्शन किये। मुनि दर्शन से उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मुनि के पास वह लगभग १ मुहूर्त तक श्रद्धा-पूर्वक रहा। जब उनका कायोत्सर्ग पूर्ण हुआ और वे भिक्षार्थ चलने लगे, तब सुदत्त ने भी उन्हे भिक्षा ग्रहण करने की विनती की। मुनि ने सहज ही अतिलाभ जानकर उपयोगपूर्वक भिक्षा ली। सुदत्त को भिक्षा देकर अत्यन्त आनन्द हुआ। वह अपने आपको कृतार्थ मानता हुआ घर आया, अपनी पत्नी को सुवृत्तान्त सुनाया। उसने भी हर्षित होकर इसका अनुमोदन किया। ऐसे अकिंचन मुनि को दान देकर वह स्वय को धन्य मानने लगा।

वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके सुदत्त उसी साकेतपुर मे भानुमती रानी के उदर से श्रीतेज राजा के रूप मे जन्मा। नाम रखा गया—वसुतेज। वसुतेज ने शिक्षा-दीक्षा प्राप्त

की, जवान हुआ। इसकी पूर्वभव (सुदत्त भव) की पत्नी कौशाम्बी नगरी के सुबाहु राजा की रानी विमलमती के उदर से राजपुत्री के रूप मे पैदा हुई। उसका नाम रखा गया—मदनमंजरी। उसने भी यौवन अवस्था मे पदार्पण किया। विवाह योग्य हुई। मदनमजरी श्रेष्ठ वर प्राप्त करने हेतु रोहिणी देवी की आराधना करती थी। उसे देवी ने 'वसुतेज' दिखाया और वसुतेज को मदनमजरी दिखाई। दोनों का परिचय देकर कहा—तुम दोनो पति-पत्नी के रूप मे एक-दूसरे के जीवन साथी बनोगे। लो यह एकावली हार। इसे २१ बार पानी मे डुबोकर वह पानी जिस पर छींटोगे, उसके शस्त्रादि के घाव भी तुरन्त ठीक हो जायेंगे। राजकुमारी ने सारी बात अपनी सखी से कही। सखी ने उसकी माता से कहा। माता ने उसके पिता से।

पिता ने कुमारी दलबल सहित विवाह के लिए भेजी। किन्तु यहाँ एक विघ्न आगया। मगल राजा ने बीच मे ही अन्य सब सुभटो को मार भगाया और मदन-मजरी का अपहरण करके ले गया। वसुतेजकुमार ने मदनमजरी की परीक्षा करके मगलराजा को जीवित ही पकड लिया और मदनमजरी को अपने घर ले आया। अन्त मे मदनमजरी के साथ पाणिग्रहण किया। मगलराजा को भी आदरपूर्वक छोड दिया। वह मित्र बन गया अब। वसुतेज को राजा श्रीतेज ने राजपाट सौंप दिया और स्वय तपोवन मे चले गये। वसुतेज ने भी पिता की तरह अनेक राजाओ को आज्ञाधीन बना लिया। एक पुत्ररत्न भी हो गया।

एक दिन राजा गवाक्ष मे बैठा था। तभी रानी आई और उसने वसुतेज राजा के सिर पर सफेद केश देखकर कहा—"प्राणनाथ! यमराज का बुलावा आ गया है।" इस पर राजा को ससार से विरक्ति हो गई।

इसी अवसर पर चतुर्ज्ञानी मुनिवर वहाँ पधार गये। उनके दर्शन करने दोनो पहुँचे। धर्मोपदेश सुना। राजा ने दीक्षा ली, साथ मे रानी ने भी। दोनो चारित्र-पालन करके देवलोक मे गये। क्रमश: ७वे भव मे मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त किया।

यह है सुपात्रदान—निर्ममत्व साधु को दान का फल।

सुखविपाकसूत्र आदि मे सुपात्रदान वर्णन

इसी प्रकार सुखविपाकसूत्र मे सुबाहुकुमार का बहुत ही भव्य सुखमय जीवन का वर्णन आता है।

आदर्श श्रमणोपासक सुबाहुकुमार हस्तिनापुर नगरनिवासी सुमुख गृहपति के भव मे (पूर्वभव मे) एक दिन धर्मघोष स्थविर के शिष्य सुदत्त अनगार को, जो कि मासिक (मासक्षपण) तप करते थे, मासक्षपण तप के पारणे के लिए अपने घर की ओर आते देखा। देखते ही सुमुख गृहपति मन ही मन अतीव हृष्ट-तुष्ट हुआ। फिर अपने आसन से उठा, चौकी पर पैर रखकर नीचे उतरा। एक शाटिक उत्तरासग (उत्तरीय) किया (लगाया)। फिर सुदत्त अनगार को देखते ही वह ७-८ कदम सम्मुख

गया। उन्हें तीन बार प्रदक्षिणा करके विधिवत् (तिक्खुत्तो के पाठ से) वन्दन-नमस्कार किया; और जहाँ अपना भोजनगृह था वहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक लेकर आया। फिर उन्हें अपने हाथो से विपुल अशन, पान, खादिम एव स्वादिम चारो प्रकार के आहार देने की उत्कृष्ट भावना से उन्हें आहार दिया। आहार देने से पूर्व, आहार देते समय और आहार देने के बाद यों तीनों समय सुमुख गृहपालक के मन मे अतीव प्रसन्नता और सन्तुष्टि थी।

उसके बाद उस सुमुख गृहपति ने उक्त दान मे द्रव्य-शुद्धि, दाता की शुद्धि और पात्र की शुद्धि, मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदितरूप त्रिकरण शुद्धिपूर्वक सुदत्त अनगार को प्रतिलाभित करने (दान देने) से अपना ससार (जन्म-मरण का चक्र) सीमित कर लिया। मनुष्यायु का बन्ध किया।

इस प्रकार एक महान् अकिंचन अनगार को विधिपूर्वक, अत्यन्त पवित्र भावना से दान देने का कर्त्तव्य अदा करने से सुबाहुकुमार ने पूर्वजन्म और इस जन्म—दोनो जन्मो मे सुख-शान्ति, वैभव एव सुखमय जीवन व्यतीत किया।

इस पर से हम यह दावे के साथ कह सकते है कि जो भव्य मानव ऐसे उत्कृष्ट ममत्वरहित साधक को उत्कृष्ट भाव से दान देता है, वह अवश्य ही अपने जन्म-जन्मान्तर को सार्थक करता है।

बन्धुओ ! आप भी महर्षि गौतम के परामर्श के अनुसार ममत्वरहित अकिंचन साधुओ को दान देकर अपने इहलोक-परलोक को सार्थक करे। ❀

७७. पुत्र और शिष्य को समान मानो

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपके समक्ष गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के विषय मे विस्तार से चर्चा करना चाहता हूँ। मोक्ष का मार्ग इतना विकट है कि अगर गुरु-शिष्य दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध ठीक न हो, या ठीक तरह से न समझा जाये तो गुरु भी ससार के बीहड मे भटका सकता है, और शिष्य भी लोभ या स्वार्थ मे आकर ससार की मोहमायाभरी अटवी मे ही भटक सकता है। दोनो ओर से बहुत बडा खतरा है। दोनो की बहुत बडी जिम्मेवारी है। अगर शिष्य गुरु को पिता मानकर न चले तो वह भटक सकता है, और गुरु शिष्य को पुत्रसम न माने तो वह भी कर्तव्यच्युत होकर उसे मोह के अन्धकूप मे डाल सकता है। इसीलिये गौतमकुलक म गुरु और शिष्य के पवित्र सम्बन्ध का परिज्ञान कर लेना आवश्यक बताया है। गौतमकुलक का यह ६३वाँ जीवनसूत्र है, जिसमे कहा गया है—

पुत्ता य सीसा य सम विभत्ता

—पुत्र और शिष्य इन दोनो को समान जानना चाहिए।

इस जीवनसूत्र मे शिष्य पर जिम्मेवारी डालने के बजाय गुरु पर विशेष जिम्मेवारी डाली गई है कि उसका गुरु-पद तभी सार्थक हो सकता है जब वह शिष्य को अपने पुत्र के समान ही माने—समझे।

गुरु-पद की सार्थकता

गुरु का पद भारतीय सस्कृति म बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह पद जितना बडा है, उतनी ही इस पद की जिम्मेवारी बडी है। आप यह न समझ लें कि किसी ने वेष पहन लिया और दो-चार चेले मूँड लिये इतने मे ही गुरु-पद प्राप्त हो जाता है। गुरु-पद को प्राप्त करने के लिए बहुत बडी साधना की जरूरत है। गुरु-पद को पाकर जो अपनी जिम्मेवारी नही समझता, वह सुगुरु नही, कुगुरु कहलाता है।

यद्यपि आत्म-साधना मे सहायक और सहयोगी बनने मे गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह महनीय और पूजनीय समझा जाता है तथापि इस महत्त्वपूर्ण पूजनीय पद का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। आज भी हो रहा है। कुछ मनचले चाम्पाक लोगो मे गुरु के स्थान और पद की महिमा होती देखकर तथा इस पवित्र पद से स्वार्थसिद्धि

होती देखकर स्वय उस पद के लिए योग्य और गुरु के गुणो से युक्त न होने पर भी ढोंग और पाखण्ड का सहारा लेकर गुरु—पूज्य पुरुष बनने की लालसा जागी। गुरु-पद की महिमा का बखान करते हुए एक आचार्य ने कहा है—

अज्ञानतिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन, तस्मै श्रीगुरवे नम ॥

—अज्ञानरूपी अन्धेरे के कारण अन्धे बने हुए लोगो की आँखे जिन्होने ज्ञान-रूपी अंजन आजने की सलाई डालकर खोल दी, उन श्रीगुरु को मेरा नमस्कार हो।

गुरु को नमस्करणीय भी तभी समझा गया है, जब वह अज्ञानान्धकार से अन्धे बने हुए शिष्य की आँखो पर से अज्ञान का पर्दा हटा देता है।

'गुरु' शब्द का सामान्य अर्थ होता है—भारी, अर्थात्—जो अज्ञानान्धकार मिटाने की जिम्मेवारी के भार से युक्त हो, अथवा सद्गुणो के भार से—गौरव से युक्त हो। गुरु शब्द मे दो अक्षर है—'गु' और 'रु'। इन दोनो अक्षरो को भिन्न-भिन्न दो शब्द मानकर दोनो का समासयुक्त शब्द बनाया गया है—गुरु। इसीलिए भारतीय संस्कृति के उन्नायको ने गुरु शब्द का विशेष अर्थ इस प्रकार किया है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकार, 'रु' शब्दस्तन्निरोधका।
अन्धकार-निरोधत्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते ॥

—'गु' शब्द का अथ है—अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है—निरोधक। दोनो शब्दो का मिलकर अर्थ हुआ—अन्धकार का निरोधक। अर्थात्—गुरु वह है, जो शिष्य के अज्ञानान्धकार को मिटा दे। भावान्धकार का निरोधक होने से ही कोई व्यक्ति गुरु कहला सकता है।

गुरु शिष्य के अज्ञानान्धकार को कैसे मिटा देता है और उसे सुमार्ग पर कैसे लगा देता है इस सम्बन्ध मे एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

कारजा की भट्टारक गद्दी उन दिनो अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थो की सुलभता के लिए प्रसिद्ध थी। भट्टारक सकलकीर्ति अध्यात्मशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। उनके पास दूर दूर से अनेक ज्ञान-पिपासु छात्र आते, और अध्ययन करके अपने ज्ञान की श्रीवृद्धि करते थे।

एक दिन सुदूर दक्षिण का एक निर्धन, किन्तु मेधावी छात्र सुब्बैया वहाँ आया। उसने पारे से सोना बनाने के ताडपत्र-लिखित 'पारद रसायनशास्त्र' ग्रन्थ का अध्ययन करने हेतु भट्टारक गुरुजी से आज्ञा माँगी। भट्टारकजी ऐसे शास्त्रो को पढ़ने की अनुमति प्राय नही देते थे, क्योकि वे समझते थे, इनका दुरुपयोग ही लोग अधिक करेंगे। वे अपने गुरु-पद के गौरव को समझते थे। सुब्बैया ने उनसे बहुत ही अनुनय-विनय की तथा उनकी (भट्टारकजी की) आज्ञा के बिना इस शास्त्र मे अंकित विद्या का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा कर ली, तब भट्टारकजी ने उसे एक सप्ताह के लिए वही एक कक्ष मे बैठकर अध्ययन करने की अनुमति दे दी।

उस छात्र ने गुरु की कृपा पाकर उनकी आज्ञानुसार इतनी तन्मयता और रुचि से पढ़ना प्रारम्भ किया कि वह पूरे एक सप्ताह तक खाने-पीने और सोने तक की सुध भूल गया। बहुत होता तो कभी थोड़ा-सा दूध वहीं पी लेता तथा बैठे-बैठे ऊँघकर अध्ययन करने लगता। भट्टारकजी सुब्बैया की वृत्ति-प्रवृत्ति का बराबर अध्ययन करते रहे। उसके मनोयोग की उन्होंने मन ही मन बहुत प्रशंसा की। जब देखा कि सप्ताह पूरा होने पर भी सुब्बैया को समय का भान न रहा, तब भट्टारकजी स्वय उसके कक्ष मे पहुँचे। पर वह ग्रन्थ मे इतना डूबा हुआ था कि भट्टारकजी के आगमन को भी न जान पाया। इस प्रकार कुछ देर तक चुपचाप खड़े रहकर भट्टारकजी बोले—"सुब्बैया! इस ग्रन्थ के अध्ययन की अवधि पूरी हो चुकी। अब यह ग्रन्थ मुझे वापस लौटा दे।" सप्ताह पूरा होने की बात सुनते ही वह हड़बड़ाकर उठा और गुरुजी के चरण छुए। फिर अनिच्छापूर्वक वह ग्रन्थ उसके गुरुजी के हाथ मे थमा दिया।

गुरु से अध्ययन करने और स्वय अध्ययन करने मे क्या अन्तर है? इस बात की गहराई को वे ही जान पाते है, जिन्होने स्वय किसी ग्रन्थ को पढने के बाद गुरु से उसी ग्रन्थ को पढा हो। स्वय पढकर भी प्राय व्यक्ति अज्ञानान्धकार मे डूबा रहता है, यह सुब्बैया के उदाहरण से स्पष्ट प्रतीत होता है।

भट्टारकजी ने सुब्बैया के अज्ञानान्धकार को दूर करने की दृष्टि से परीक्षा-सूचक प्रश्न किया—"वत्स सुब्बैया! तूने पारद रसायनशास्त्र पूरा पढ़ लिया है, अब क्या करेगा?" सुब्बैया ने अपनी अव्यक्त अज्ञानान्धता को सूचित करते हुए अपनी योजना विस्तार से बताई कि किस प्रकार वह पारे से सोना बनाकर विशाल महल चुनवायेगा, मौज से रहेगा, अपने विरोधियो को नीचा दिखायेगा और समाज में आदरणीय-सम्माननीय बनेगा।

श्री भट्टारक गुरु ने उसकी अज्ञानान्धता का निवारण करने हेतु उपालम्भ के स्वर मे कहा—"सुब्बैया! क्या तू विद्वान होकर भी विषय-वासना और कषायो मे डूबा रहेगा? पापकर्मों के जाल मे फंसकर क्या तू निरा पशु ही बना रहेगा और अन्त मे जन्म-मरण के चक्र मे परिभ्रमण करता हुआ नरक मे जायेगा? क्या तेरी यह जीवन-योजना उचित है?" सुब्बैया ने कुछ सोचा, फिर वर्षों से सजोई हुई अपनी सासारिक सुख की मनोकामना के कटुफल का सस्मरण कर वह चिन्ता में पड गया। उसे चिन्तित देख श्री भट्टारक गुरु ने पुन कहा—"वत्स! मेरे पास ऐसे भी शास्त्र हैं, जो सांसारिक बन्धनो से मुक्त कराकर चिर दु खी को शाश्वत सुखी बना दें, दीन-हीन को असीम शक्तिशाली बना दे! सक्षेप मे, आत्मा से परमात्मा बनने का गुर बताने वाले वे शास्त्र है।"

सुब्बैया ने जीवन मे पहली ही बार ऐसा अपूर्व सन्देश सुना था। सुनते ही उसके अन्तर् मे ज्ञान का प्रकाश हो गया, अज्ञानान्धकार अब पलायित हो चुका था।

उसे अपूर्व ज्ञाननिधि मिल गई। भट्टारक गुरु ने उसके अन्तश्चक्षु खोल दिये। वह आश्चर्य से गुरु के मुख की ओर देखने लगा। फिर सहसा उनके चरण पकड़कर गद्‌गद कण्ठ से बोला—"पूज्य गुरुदेव ! अब मैं आपकी शरण मे हूँ। मुझे उबारिये। मैं तो नर से पशु बनने की योजना बना रहा था, ककड़-पत्थर से झोली भर रहा था, अज्ञानवश सासारिक बन्धनो मे बँधकर दु खी होने का सकल्प कर रहा था। आपने मुझे ज्ञान का प्रकाश देकर मेरी आँखे खोल दी, मेरा अज्ञानान्धकार दूर किया। अब मेरा उद्धार कीजिये और मुझे शाश्वत सुख पाने की योजना बताइये।" इस प्रकार वह श्रीगुरु के चरण-कमल युगल को अपने आँसुओ से धोने लगा।

श्री भट्टारकजी ने उसे योग्य शिष्य समझकर उठाया, गले लगाया और अध्यात्मविद्या के अध्ययन की ओर उसकी शक्तियाँ लगा दी। इस पर सुब्बैया ने पारद रसायनशास्त्र को कभी न स्मरण करने की प्रतिज्ञा की। भट्टारकजी ने भी उस ताडपत्रलिखित रसायनशास्त्र को पाकशाला की ज्वालाओ को भेट कर दिया। तब से कारजा मे आध्यात्मिक ग्रन्थ ही शेष रहे हैं। मेधावी सुब्बैया ने अध्यात्मविद्या मे प्रवीण बनकर अनेक जिज्ञासुओ का अज्ञानान्धकार मिटाया और गुरु के स्वर्गस्थ होने के बाद वहाँ की भट्टारक गद्दी का सुयोग्य उत्तराधिकारी बन गया।

बन्धुओ ! गुरु-पद के महान् उत्तरदायित्व को समझकर श्री भट्टारकजी ने सुब्बैया के अज्ञानान्धकार को मिटा दिया और ज्ञान के प्रकाश से उसे सुपथ पर लगाया।

प्रश्न यह है कि इस भावान्धकार को कौन मिटा सकता है ? जो स्वय यथार्थ ज्ञान से प्रकाशमान हो, वही दूसरो को प्रकाश देकर उनके अज्ञानतिमिर को मिटा सकता है। जिसमे ज्ञान का प्रकाश नही है, जो स्वय काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर आदि अज्ञानजित दुर्गुणो का शिकार बना हुआ है, वह दूसरो के अज्ञान और मोह आदि को कैसे मिटा सकता है ? जैसे प्रदीप स्व-पर-प्रकाशक होता है, इसी प्रकार गुरु भी स्व-पर-प्रकाशक होना चाहिये। जिस प्रकार प्रदीप स्वय ज्योतिर्मान होकर ही अन्य को ज्योति प्रदान करता है, अदृश्य या अव्यक्त पदार्थों को आलोकित करता है, इसी प्रकार जो स्वय ज्ञान और चारित्र से ज्योतिर्मान हो, और अन्य को भी ज्ञान और चारित्र की ज्योति प्रदान करते हो, वे ही सद्‌गुरु हैं।

गुरु और शिष्य दोनो निःस्पृह हो, तभी लक्ष्य-प्राप्ति

दीपक के प्रकाश से अन्धकारजनित भय नष्ट हो जाते हैं, वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, भयस्थल, भयकर प्राणी और खतरनाक पदार्थों को देखकर उनसे बचने का यत्न किया जाता है, तथा सीधे मार्ग पर चला जा सकता है, इसी प्रकार जो महान् आत्मा अपनी ज्ञानप्रभा से शिष्य के अज्ञानजनित भयो को नष्ट करता है, जीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध प्रदान करता है, साधना मे पतन के भयस्थल, साधना

से पतित जीवों और साधना मे प्रतिकूल द्रव्यादि के स्वरूप को समझाकर उनसे बचाने का प्रयत्न करता है तथा द्रव्यादि को अपने लक्ष्य मे बाधक न बनने देकर सन्मार्ग पर चलने मे सहयोग देता है, वही सच्चा सद्गुरु है।

जैसे दीपक प्रकाश प्रदान करके उसके बदले मे अन्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं रखता, और प्रकाश पाने वाला भी दीपक से प्रकाश के सिवाय और कुछ आशा नहीं रखता, वैसे ही गुरु को भी शिष्यो से ज्ञानादि प्रदान करने के बदले भौतिक पदार्थों को पाने की वाछा नहीं करनी चाहिए। शिष्य को भी गुरु से आत्मिक उन्नति मे सहयोग के सिवाय अन्य अपेक्षा नही रखनी चाहिये। सच्चा गुरु शिष्य का कल्याण चाहता है, और सुशिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करता है, उनके मार्गदर्शन के अनुसार चलता है। गुरु की सेवा और विनय के द्वारा वह उनके चित्त को प्रसन्न करके आत्मकल्याण का सुपथ प्राप्त करता है।

एक उदाहरण लीजिये—

कुछ गुरुभाई परस्पर ज्ञान-चर्चा कर रहे थे। इतने मे एक शिष्य ने आकर खबर दी—"दौडो-दौडो ! गुरुजी को बिच्छू ने काट खाया, डक मारा उस जगह भयकर वेदना हो रही है।" सभी शिष्य ज्ञान-चर्चा अधूरी रखकर उसके पीछे-पीछे भागे। वहाँ जाकर देखा—गुरुजी अगुली पपाल रहे है। बिच्छू के डक की वेदना से उनका हाथ काँप रहा था। एक शिष्य ने एक बडे बिच्छू को लकडी से दबा रखा था। दूसरे शिष्य तो गुरुजी की परिचर्या करने लगे। परन्तु जिसने बिच्छू को लकडी से दबा रखा था, उसे बिच्छू पर खूब क्रोध आया। उसने सोचा—गुरुजी सरीखे समर्थ ज्ञानी और पवित्र विभूति को बिच्छू ने काटा ही क्यो ? ऐसी लोक-मान्यता है कि सौ अपराध हो, तब बिच्छू काटता है, और हजार अपराध हो, तब साप। पर इन सात्त्विक प्रकृति के महापुरुष ने कौन-सा अपराध किया था कि इन्हें बिच्छू ने काटा ? गुरुजी के डक मारकर तो इसने अक्षम्य अपराध किया है। यो सोचकर इसने बिच्छू की पूँछ एक डोरी से बाँध दी और आश्रम के एक कमरे के बीचो-बीच लटका दिया।

बिच्छू का जहर उतरते ही गुरुजी कुछ स्वस्थ हुए। कोई कार्य याद आते ही गुरुजी उस कमरे मे गये जहाँ बिच्छू लटकाया हुआ था। गुरुजी का ध्यान उस बिच्छू की ओर खिचा, उसके प्रति वात्सल्य दृष्टि करके गुरुजी ने वहाँ खडे शिष्य से कहा—"अरे ! इस बेचारे को ऐसी कठोर सजा !" शिष्य ने क्रुद्ध भाव से कहा—"पर गुरुजी ! आपको डक मारने का महा-अपराध यह कर बैठा है, उसका परिणाम तो इसे भोगना ही चाहिए।"

गुरुजी—"अरे भाई ! इसे अपनी रक्षा के लिये डक मिला है। अनजान मे ही शायद यह मेरे हाथ से दब गया हो, पर यह तो यो ही समझता है कि यह हाथ मेरा नाश करने के लिए आया है, इसलिए इसने स्व-रक्षार्थ डक मारा होगा। बिच्छू

या सांप का स्वभाव है कि दबे बिना किसी को नहीं काटते। मनुष्य ही एक ऐसा है कि अपने क्षणिक स्वार्थ के लिये कुकर्मरूपी डंक मारता फिरता है।"

फिर भी शिष्य नहीं माना और बिच्छू को अपराध की सजा देने पर अडा रहा। गुरुजी मनोवैज्ञानिक थे। उन्होने सोचा—समय आने पर इसे समझाकर इसका क्रोध छुडा दूंगा। इस समय अधिक समझाना व्यर्थ है।

गुरु-पूर्णिमा का मगल दिवस आया। सभी शिष्य हार्दिक उत्साहपूर्वक इस उत्सव को मनाने लगे। उत्सव की पूर्णाहुति के अवसर पर गुरुजी ने मगल प्रवचन किया। प्रवचन के अन्त मे शिष्यो से कहा—"प्रति वर्ष की तरह आज भी तुम सब मुझे गुरुदक्षिणा दोगे। पर प्रति वर्ष तो तुम मुझे अपनी-अपनी इच्छानुसार गुरुदक्षिणा देते थे, आज तुम्हें मेरी इच्छानुसार गुरुदक्षिणा देनी है; बोलो, दोगे न ?"

"हाँ हाँ, गुरुदेव! हमारे अहोभाग्य है कि आप स्वय गुरुदक्षिणा माँग रहे हैं। गुरुदेव! माँगिये। आपके लिए हम अपने प्राण भी न्योछावर करने को तैयार है।" एक अग्रगण्य शिष्य ने कहा।

गुरुदेव ने सभी शिष्यो से अलग-अलग दक्षिणा माँगी। इस दक्षिणा मे किसी से भी उन्होने रुपये-पैसे या भौतिक साधन नही माँगे, प्रत्येक शिष्य से उसमे रहे हुए किसी न किसी दुर्गुण को उन्होने गुरुदक्षिणा के रूप म माँगा। सबसे अन्त मे बारी आई उस क्रोधी शिष्य की। गुरुदेव ने इसे भी वात्सल्य भरे स्वर मे कहा—"तुम्हें आज गुरुदक्षिणा मे मुझे अपना क्रोध देना है।" "अच्छा गुरुदेव!" यो कहकर गुरुदेव के चरण पकडकर वह उनमे लोट गया। गुरुदेव उसकी पीठ सहलाने लगे। उसी दिन से उस शिष्य का क्रोध जड-मूल से निकल गया। इस शिष्य को क्रोधरूपी शैतान के चगुल से छुडाने वाले सद्गुरु थे श्रेय साधक अधिकारी वर्ग के प्राणपुरुष बडौदा-वासी श्रीमन् नृसिंहाचार्यजी।

यह है—गुरु के उत्तरदायित्व को निभाने वाले गुरु-लक्षणो से युक्त गुरु-पद की सार्थकता का ज्वलन्त उदाहरण!

गुरु-पद के उत्तरदायित्व से दूर

परन्तु दुःख है कि आजकल इससे विपरीत अवस्था भी दृष्टिगोचर होती है। आजकल के कई गुरु भी नाममात्र के गुरु बने रहते हैं, वे अपने त्यागी शिष्यो को न तो मनोवैज्ञानिक ढग से साधुत्व की साधना का प्रशिक्षण देते है, और न ही उन्हें अनुशासन मे रखते हैं। केवल शिष्यो की फौज बढ़ाने की शिष्य-लिप्सा ही उनके मन मे नाचती रहती है। वे ऐसे शिष्यो को कुछ कहते हुए भी डरते है कि कही अधिक कहने-सुनने से ये भाग जाएँगे; टिकेंगे नहीं। दूसरी ओर ऐसे त्यागी शिष्य भी गुरु की अवहेलना करते रहते हैं। और जो उपासक (गृहस्थ) शिष्य (भक्त) हैं, उनके प्रति भी अधिकांश गुरुओ की भावना विपरीत है, वैसे ही अधिकांश उपासक शिष्यो की भी

गुरुओ के प्रति भावना ठीक नहीं है । एक अनुभवी व्यक्ति ने मार्मिक व्यग्य किया है, आज के अधिकाश गुरु-शिष्यो की मनोवृत्ति पर—

गुरु लोभी शिष्य लालची, दोनो खेले दाँव ।
दोनो डूबे बापडे, बैठ पत्थर की नाव ।।

गुरु भी लोभी है, वह विचार करता है—शिष्यो के अनुकूल रहूँगा या कहूँगा तो सभी सुख-सुविधाएँ जुट जाएँगी, प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी, और मुझे आदर-सत्कार भी देंगे। फिर इन्हें कुछ चमत्कार बता दूंगा तो अनुरागी भक्त बन जाएँगे। इन्हें कुछ मन्त्र-तन्त्र दे दूंगा तो इनसे जो कुछ चाहूँगा, करवा सकूँगा। इनके मनोऽनुकूल कुछ कर दूंगा तो फिर ये मेरे आश्रम, उपाश्रय, स्थानक, मन्दिर या कुटिया बना देगे । इस प्रकार गुरु की मनोभावना शिष्य से कुछ ऐंठने की होती है । और उपासक शिष्य भी कहाँ कम है ? वह भी प्राय यह सोचता है—गुरु के कहे अनुसार कर दूंगा तो ये प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे देंगे । मैं मालामाल हो जाऊँगा, मुकदमा जीत जाऊँगा, पुत्र-पौत्रादिक हो जाएँगे । धनिक हो जाने पर कार, कोठी और बगला हो जायेगा । एकाध फीचर या सट्टे का अक बता देंगे तो सारा दारिद्र्य दूर हो जायेगा । अथवा ये भूत-प्रेत का प्रकोप दूर कर देंगे, रोग मिटा देंगे, इनसे ये सब कार्य सिद्ध हो जाएँगे तो हमारा क्या नुकसान है ? इनके नियम ये जाने, हमे इससे क्या मतलब ?

इस प्रकार गुरु लोभ म गले तक डूब जाता है और शिष्य के रोम-रोम मे लालच रम रहा है । दोनो ही एक दूसरे पर दाँव अजमाते है । गुरु सोचता है—यह कब मेरे वश म हो और शिष्य सोचता है—कब गुरु की कृपा मेरे पर बरसे । दोनो ही पत्थर की नाव मे बैठे ह । सोना भी तो पत्थर ही है । भला, पत्थर की नैया कब किसको तैरा सकती है ? यह तो डूबन का ही मार्ग है । लोभ के सागर मे डूबने पर ऐसे गुरु-शिष्यो का भवसागर से पार होना कदापि सम्भव नही है ।

ऐसे लालुप गुरु शिष्यो को अन्धकार से निकालते नही, बल्कि उन्हें और गाढ़ अन्धकार मे ले जा रहे हे, गुरु शब्द के अन्धकार-निरोधक रूप अर्थ का उपहास कर रहे है । कोरी मत्रदीक्षा देने मात्र स या सम्यक्त्व का पाठ सुना देने मात्र से कोई गुरु नही बन सकता ।

ऐसे ही गुरुओ पर तीखा व्यग्य कसा गया है—

कान्या मान्या कुर्र, तू चेला मैं गुर्र ।

कान म गुरुमत्र फूंक दिया । भले ही मन्त्र लेने वाले ने मन्त्र का कुछ भी आशय न समझा हो, गुरु को इससे कोई मतलब नही । उसने जिसे मन्त्र दे दिया, वह उसका शिष्य हो गया, और वह मन्त्रवाला तारणहार गुरु हो गया । आजकल 'सम्यक्त्व' देने के नाम पर ऐसे ही तमाशे चलते रहते हैं । इसमे न तो शिष्य का उत्थान है और न ही गुरु का कोई कल्याण । गुरु को सिर्फ अपने भक्तो की पलटन

कमाने की फिक्र है, शिष्य के उत्थान की नही और शिष्य को अपने जीवन मे कुछ त्याग नहीं करना पड़ा, न तो पापकर्म, अनीति, अन्याय और अधर्म का त्याग करना पड़ा और न ही कोई व्रत, नियम अपनाना पड़ा; सस्ते मे मुक्ति का टिकट मिल गया। ऐसे गुरु अपने उत्तरदायित्व से कोसो दूर है। शिष्य तो अज्ञान और मोह मे ग्रस्त है, इसलिए इतना दोषी नही, लेकिन गुरु भी जान-बूझकर अज्ञान-मोह मे शिष्य को ले जाने के लिए प्रेरित हो, स्वयं भी लोभ-प्रेरित हो, यह तथाकथित गुरु का गुरुतर अपराध है। वे कहाँ गुरु-पद के योग्य हैं, जिनकी दृष्टि शिष्य के धन पर लगी हुई है ? जिसके हृदय मे यह चाह है कि शिष्य का धन मेरे अधिकार में आजाये, वह कदाचित् त्यागी के वेश मे हो, पर वह गुरु-पद के योग्य नही। गुरु में धनलिप्सा आई कि वह दुर्गुणो का महालय बन जाता है, सद्गुण धीरे-धीरे वहाँ से पलायन कर जाते हैं। इसीलिए साधना-पथ पर बढ़ने वाले साधको को चेतावनी देते हुए कहा है—

गुरवो बहव. सन्ति, शिष्यवित्तापहारका. ।
गुरवो विरला सन्ति, शिष्यसंतापहारका ॥

दुनिया मे ऐसे बहुत-से गुरु है, जो विविध उपायो से शिष्यो का धन अपहरण करने म लगे हुए हैं, किन्तु ऐसे गुरु विरले ही है, जो शिष्यो का सन्ताप दूर करते हैं।

उत्तरदायित्वपूर्ण गुरुओ के लक्षण

इसीलिए गुरु का उत्तरदायित्वमूलक लक्षण बताते हुए कहा गया है—

गृणाति धर्मं शिष्य प्रतीति गुरुः

—जो शिष्य को उसका धर्म बताता है, सिखाता है, वह गुरु है। कुमारपाल प्रबन्ध मे भी गुरु का उत्तरदायित्वमूलक अर्थ बताया गया है—

सत्त्वेभ्य : सर्वशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ।

—जो एकान्त हित बुद्धि से प्रेरित होकर जिज्ञासु जीवो को सभी शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझाता है, वह गुरु कहलाता है।

महाभारत मे आध्यात्मिक गुरु का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

त्यक्तदारा सदाचारा, मुक्तभोगा जितेन्द्रिया ।
जायन्ते गुरवो नित्य, सर्वभूताभयप्रदा ॥

—जो स्त्रियों के त्यागी होते हैं, सदाचारपरायण, भोगो से मुक्त और जितेन्द्रिय होते हैं तथा सदैव सब जीवो को अभयदान देते हैं, वे ही गुरु होते हैं।

इससे भी उच्चकोटि के आध्यात्मिक गुरु का लक्षण आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र मे किया है—

महाव्रतधरा धीरा भैक्ष्यमात्रोपजीविनः ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मता. ॥

—जो महान् आत्मा महाव्रतधारी हैं, धीर हैं, भिक्षामात्र-जीवी हैं, सामायिक (समतायोग) मे स्थित रहते हैं, धर्मोपदेशक हैं, वे गुरु माने गये हैं।

आध्यात्मिक गुरु का लक्षण आत्मानुशासन मे बताया गया है—

> प्राज्ञ प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
> प्रास्ताश प्रतिभापर' प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर ।
> प्राय प्रश्नसह प्रभु परमनोहारी परानिन्दया,
> ब्रूयाद् धर्मकथा गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षर. ॥ ५ ॥
> श्रुतविकल शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने,
> परणतिरुद्योगो मार्गप्रवर्तन सद्विधौ ।
> बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञाता मृदुता स्पृहा,
> यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरु सताम् ॥ ६ ॥

आध्यात्मिक गुरु बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ, लोक-व्यवहार का ज्ञाता, निर्लोभ, प्रतिभावान, उपशम परिणामी, आगे की बात को पहले ही जान लेने वाला, प्राय प्रश्नो से न घबराने वाला, सम्माननीय, जन-मन को आकर्षित करने वाला, परनिन्दा से रहित, गुणनिधान, जो गणनायक स्पष्ट और मधुर शब्दो मे धर्मकथा करता है, तथा जो सशयरहित शास्त्रज्ञ है, शुद्ध आचरण वाला है, उपदेश देने मे रुचि रखता है, धर्ममार्ग की प्रभावना मे रुचि रखता है, विद्वानो द्वारा प्रशसित, औद्धत्यरहित, लोकरीतिमर्मज्ञ, मृदुस्वभावी, नि.स्पृह तथा साधुप्रवरो के अन्य गुणो से युक्त हो, वही सज्जनो का गुरु होता है।

वास्तव मे ऐसे गुरु ही अनुभूत मार्ग पर स्वय चलते हुए औरो को भी उसी मार्ग पर चलाते है। उनमे राग-द्वेष, पक्षपात, ग्रन्थि या कामना नही होता, न ही साधना का अभिमान होता है। वे क्रोधादि कषायविजयी एव जितेन्द्रिय होते है। उनके जीवन मे शान्ति के स्पष्ट दर्शन होते है।

आवश्यकता यथार्थ गुरु की, योग्य शिष्य की

यो तो अनादिकाल से जीव ससार के मोह, जन्म-मरण आदि के चक्र मे घूमता रहा है। इससे छूटने के लिए न तो उसमे स्वय ही कोई अन्त.प्रेरणा हुई, और न किसी बाह्य न निमित्त—व्यक्ति, शक्ति या साधन से उद्बोधन मिला। यदि किसी माध्यम से कभी आदर्श, प्रेरणा या उपदेश मिला भी तो यथार्थ न मिला, इससे भटकन नही मिटी। यथार्थ गुरु मिले और शिष्य भी तदनुकूल ग्रहणकर्ता हो तभी अज्ञानान्धकार से मुक्ति मिल सकती है। लोकोक्ति है—**गुरु बिन होई न ज्ञान।** सचमुच गुरु की उपासना से ज्ञान प्राप्त होता है। वैसे तो क्या लौकिक क्या लोकोत्तर हर क्षेत्र मे गुरु की आवश्यकता होती है, किन्तु आत्मार्थी को विषय-लम्पट और

वाचाल गुरु तथा चोर को अपरिग्रही गुरु मिल जायें तो कार्य सिद्धि नहीं होती। इसलिए शिष्य को भी सावधानीपूर्वक गुरु का चयन करना चाहिए और गुरु को भी शिष्य का चयन करने के साथ-साथ अपने को तौल लेना होगा। क्योंकि गुरु को अपने मन-वचन-काया तीनो योगों से गुरुत्व की भूमिका निभानी पड़ेगी, उसमे शैथिल्य, प्रमाद या रियायत को जरा भी अवकाश नही है। इसी प्रकार शिष्य को भी सावधान रहना होगा अन्यथा जरा-सी असावधानी, शिथिलता या प्रमाद-परायणता दोनो के लिए अनर्थकारी सिद्ध होगी।

माता-पिता का हृदय : सद्‌गुरु का सर्वोपरि गुण

सद्‌गुरु के इन सब लक्षणो से बढ़कर सर्वोपरि गुण है—माता-पिता का हृदय। सद्‌गुरु किसी देश, वेश, जाति और धर्म का हो, उसमे माता-पिता का हृदय होना अत्यावश्यक है। जिस गुरु मे शिष्य के प्रति माता-पिता का सा व्यवहार न हो, बल्कि मैं तो यह कहूँगा कि माता का सा वात्सल्यपूर्ण हृदय न हो, वह चाहे जितने अन्य गुणो से या लक्षणो से युक्त हो, साधक भी हो, किन्तु गुरु-पद के योग्य नही है।

लौकिक व्यवहार मे माता-पिता या अभिभावक को भी आद्य गुरु कहा जाता है। वे बालक को पद-पद पर सँभालते और सिखाते रहते हैं। शिशु की प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान रखते है। उसके खान पान, शयन, वस्त्र, औषध, उपचार आदि का पूर्ण विवेक रखते है। स्वय गीले मे सोकर अपने आश्रित शिशु को सूखे मे सुलाते है। उसको स्वेच्छा से घुटने के बल चलने देते है, जब वह खडा होकर चलने लगता है, तब उगली पकडकर चलना सिखाते है, गिर पडता है तो उठाते है, छाती से लगाते हैं, हर अच्छे कार्य के लिए शाबाशी देते हैं, साहस के कार्य मे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ने का मौका देते हैं। जब वह ठीक राह पर चलता है या ठीक काम करता है तो प्यार करते है, गलत काम करने पर या गलत राह पर चलने पर फटकारते भी है, डाँटते-डपटते भी है, उलाहना भी देते है, पर इन सबके पीछे बालक का हित ही मुख्य होता है। बालक की तोतली और अस्पष्ट बोली का तो अर्थ वे समझते ही हैं, बालक के मन मे क्या विचार है ? वह क्या चाहता है ? इन बातो को बिना कहे ही वे बालक के चेहरे पर से समझ जाते हैं।

इसी प्रकार लोकोत्तर गुरु भी माता-पिता या अभिभावक के समान शिष्य को आध्यात्मिक जन्म देते है, उसे अध्यात्मविद्या के क-ख-ग से प्रारम्भ करके उच्च-कोटि के अध्यात्म-ग्रन्थो को पढने, समझने और जीवन मे उतारने का प्रशिक्षण देते हैं। माता-पिता की तरह गुरु शिष्य की भूलो को क्षम्य मानकर धीरे-धीरे वात्सल्य-पूर्वक उसे भूलें बताकर सुधारते हैं। उसे अपने सान्निध्य मे रखकर उसके खान-पान, शयन, वस्त्र, औषध, उपचार आदि का पूरा ध्यान रखते हैं। उसे इस प्रकार से इन्द्रिय-विजय, कषाय-विजय एवं आवश्यकताओ पर संयम, आदतो पर नियंत्रण एव

स्वेच्छा से शरीर और मन पर कंट्रोल करने का प्रशिक्षण वे देते हैं कि उसे अनुशासन में रहना भारभूत नही मालूम होता। गुरु के द्वारा दी गई ताड़ना, उपालम्भ या फटकार शिष्य को औषध की तरह रुचिकर और हितकर लगती है, वह कभी यह महसूस नही करता कि गुरु मेरे शत्रु है, मुझे उलाहना देकर अपमानित करते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति मे हितैषी एव आप्त गुरु को वह माता-पिता के समान समझता है। श्री तिलोक काव्य सग्रह की भाषा मे कहूँ तो वह शिष्य गुरु को सर्वोपम श्रद्धेय समझता है—

गुरु मित्र गुरु मात, गुरु सगा गुरु तात,
गुरु भूप गुरु भ्रात गुरु उपकारी है।
गुरु रवि गुरु चन्द्र, गुरु देव गुरु इन्द्र,
गुरु देत है आनन्द, गुरु-पद भारी है॥
गुरु देत ज्ञान ध्यान, गुरु देत दान-मान,
गुरु देत मोक्षस्थान, सदा हितकारी है।
कहत तिलोकरिख भली-भली देत सीख,
पल-पल गुरुजी को वन्दना हमारी है॥

ऐसे परमहितैषी गुरु जब शिक्षा देते हैं तब शिष्य क्या समझता है? यह उत्तराध्ययन सूत्र मे देखिये—

पुत्तो मे भाय नाइत्ति साहू कल्लाण मन्नइ

सुशिक्षित एव विनीत शिष्य गुरुदेव की शिक्षा को पुत्र, भ्राता या ज्ञातिजन समझकर दी गई शिक्षा के समान श्रेयस्कर व कल्याणकर समझता है।

माता-पिता जैसे अपने पुत्र को पारिवारिक एवं समाज के व्यवहार की सभी बाते खुले हृदय से समझाते हैं, व्यवसाय सम्बन्धी बातो मे कुशल बना देते हैं, वैसे ही मातृ-पितृहृदय गुरु अपने शिष्य को सारी अध्यात्म-विद्या खुले हृदय से बता देते हैं। वे शिष्य के साथ किसी भी प्रकार का कपट नही रखते। माता-पिता की तरह गुरु अपने शिष्य को केवल वचन से ही नही सिखाते, वरन् अपने आचार, विचार, आहार, विहार और व्यवहार आदि सभी के द्वारा सिखाते है। सच्चा गुरु इतना नि स्पृह होता है कि उसे शिष्य मडली बढ़ाने की कामना नही होती। माता-पिता जैसे बच्चे को प्यार भी देते हैं, तो समय आने पर फटकार भी। वे ऊपर से कठोर होते हैं तो अन्दर से मृदु और मधुर भी। पण्डितराज जगन्नाथ ने ठीक ही कहा है—

उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजंगमपुंगवात्।
अन्त. साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः॥

—जो ऊपर से तलवार की धार के समान तीखे तथा श्रेष्ठ सर्प से भी क्रूर

दिखाई देते हैं, किन्तु अन्तर् मे द्राक्षा जैसे मधुर और कोमल फल को भी साक्षात् दीक्षा देते हैं, ऐसे कतिपय विरले ही गुरु इस ससार में उपलब्ध हैं।

गुरु : जीवन का निर्माता कलाकार

वास्तव मे गुरु शिष्य का जन्मदाता नही, परन्तु माता-पिता से भी बढ़कर निर्माणकर्ता है, वह जीवन जीना सिखाता है। यही कारण है कि माता-पिता की अपेक्षा भी गुरु के प्रति शिष्य विशेष ऋणी है। अलेक्जेंडर मेसीडोन (Alexander Macedon) ने इसी बात का समर्थन किया है—

"I am indebted to my father for living, but to my teacher for living well."

—जीवन देने के लिए मै अपने पिता का ऋणी हूँ, लेकिन उससे भी बढ़कर गुरु का ऋणी हूँ, जिन्होने मुझे अच्छी तरह जीवन जीना सिखाया।

गुरु जीवन का महान् कलाकार है। जैसे भौंडे, भद्दे, टेढ़े-मेढ़े, खुरदरे पत्थर को लेकर मूर्तिकार अपनी पैनी छैनी एव औजारो से काट-छीलकर सुन्दर देव मूर्ति बना देता है, जो भविष्य मे पूजनीय बन जाती है, वैसे ही गुरु असस्कृत, अनघड और अप्रशिक्षित शिष्य को अपनी वाणी, काया और मन से घड़कर सुन्दर, स्वस्थ, सुसस्कृत, प्रशिक्षित जीवन का रूप दे देता है। इसीलिए तिलोक काव्य सग्रह मे गुरु को शिष्य के जीवन का सुधारक, निर्माणकर्ता एव परम उपकारी बताया है—

जैसे कपडा को थान दरजी बेतत आन,
खड-खड करे जाण देत सो सुधारी है।
काष्ठ को ज्यो सूत्रधार, हेम को कसे सुनार,
माटी के ज्यो कुम्भकार पात्र करे त्यारी है॥
धरती के किरसान, लोह के लुहार जान,
शिलावट शिला आण, घाट घडे भारी है।
कहत तिलोकरिख सुधारे ज्यो गुरु सीख,
गुरु उपकारी नित लोजे बलिहारी है॥

भावार्थ स्पष्ट है। जैसे दर्जी कपडे का थान लेकर पहले नाप लेता है, फिर काटकर सींता है, इस प्रकार कपडे को सुधारता है, जैसे काष्ठ को काट-छीलकर बढ़ई अच्छी वस्तुएँ बनाता है, सुनार सोने को काट-पीटकर गहने बनाता है, कुम्हार मिट्टी को सान-गूंदकर बर्तन बनाता है, किसान भूमि को समतल करता है, लुहार लोहे को तथा सिलावट शिला को काट-छीलकर अनेक रूप देता है, वैसे ही पितृ-हृदय लेकर उपकारी गुरु शिष्य को अनुशासन, प्रशिक्षण, भूल-सुधार आदि से घड़ता है, उसे तैयार करता है।

इसलिए गुरु माता-पिता से भी बढ़कर उपकारी है। संत कबीर गुरु द्वारा शिष्य के निर्माण का तरीका बतलाते हैं—

> गुरु कुम्हार शिष्य कुम्भ है, घड-घड काढ़ै खोट।
> अन्तर हाथ सहारा दै, बाहर वाहै चोट ॥

सचमुच, पितातुल्य गुरु अपने पुत्रतुल्य शिष्य रूपी घट को कुम्हार के समान बाहर से घड-घडकर और अन्दर से हाथ रखकर खोट निकालता है।

भारतीय सस्कृति मे पाँच प्रकार के पिता माने गये है—

> **जनेता चोपनेता च यश्च विद्या प्रयच्छति।**
> **अन्नदाता भयत्राता पचैते पितर. स्मृता. ॥**

ये पाँच पिता कहे गये है—(१) जन्मदाता पिता, (२) पालक या अभिभावक पिता, (३) विद्यादाता, (४) अन्नदाता और (५) भयत्राता।

योग्य शिष्य गुरु के गौरव को बढ़ाते हैं

प्रस्तुत सन्दर्भ मे अध्यात्मविद्या-प्रदाता पिता के रूप मे गुरु है, जो अपने शिष्य को पुत्र की तरह शिक्षण-प्रशिक्षण देकर तैयार करता है।

सच्चा गुरु पितृहृदय रखकर अपने शिष्यो को कितना तैयार कर देता है? गुरु के उपदेश का योग्य शिष्यो के जीवन पर कैसा प्रभाव पडता है? यह साकेत (रामायण) मे वर्णित एक प्रसग से समझिए —

चित्रकूट मे राम-भरत मिलन का अद्‌भुत भव्य दृश्य। भरत राम से आग्रह कर रहे थे—वापस अयोध्या चलकर राज्य सँभालने का और राम भरत को शासक बनाने पर कटिबद्ध थे। दोनो मे से कोई भी एक दूसरे की बात मानने को तैयार न था। लक्ष्मण और शत्रुघ्न हतप्रभ-से खडे थे। ऋषिगण भाइयो की इस त्यागवृत्ति और नि स्पृहता के देख कर मन ही मन प्रफुल्लित हो रहे थे। तभी हँसकर ऋषि जाबाल ने कहा—"मैं कुछ समझ नही पा रहा हूँ कि जिस राज्य के लिए लोग पितृवध तक करने मे सकोच नही करते, उसी राज्य को देने के लिए द्वन्द्व हो रहा है, देने को दोनो भाई तैयार हैं, पर लेने को कोई नही।"

ऋषि जाबाल के ये वचन सुनकर भरत ने कहा—"ऋषिवर! आप जैसे गुरुओं की हमे यही शिक्षा मिली है कि नश्वर राज्य लक्ष्मी के लिए क्षुद्रपुरुष ही जघन्य कृत्य करते हैं, जिनका कुल निम्न होता है, जिन्हें गुरुओ की उचित शिक्षा नही मिलती, वे ही राज्य प्राप्ति को अपना लक्ष्य मानते हैं।"

जाबाल ने वशिष्ठ ऋषि की ओर मुस्करा कर देखा। इस मुस्कराहट का अर्थ वे समझ गये। वे भी खिलखिलाकर हँसे और बोले—

"ऋषिवर ! ये इस तुच्छ ऋषिचरण-रज के शिष्य हैं। मैंने अपने हृदय की अनुभूति से सींच-सींचकर इन्हें विकसित किया है। आर्य संस्कृति के पवित्र सस्कार कूट-कूटकर भरे हैं। आप इनकी जैसे चाहें परीक्षा ले लीजिए।" जाबाल ऋषि ने कहा—"ऋषिवर ! इन राजकुमारो की परीक्षा की आवश्यकता नही है। इनका चरित्र ही स्पष्ट बोल रहा है। आपके पवित्र कर-कमलो द्वारा किये सस्कार-सिंचन से इनका जीवन-तरु अद्भुत रूप से पल्लवित-पुष्पित-फलित हुआ है। सचमुच आपके ये शिष्य योग्य हैं। ये अपने उज्ज्वल चरित्र से जगत् को प्रभावित करने वाले हैं। इनका निर्मल जीवन और आदर्श धन्य है।"

योग्य शिष्य गुरु को पुत्र से भी बढ़कर प्रिय

इस प्रकार एक सच्चे गुरु ने योग्य शिष्य को पाकर अपनी सर्वस्व विद्याएँ उसे दे दी और जीवन-निर्माण के साथ योग्य विद्वान् बना दिया। योग्य शिष्य स्वयमेव गुरु को अपने गुणो से आकर्षित करके पुत्र का अधिकार पा लेता है। आत्मानुशासन मे योग्य शिष्य की पहचान इस प्रकार बताई गई है—

> भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतिमान्,
> सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।
> धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितम्,
> गृह्णन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥ ७ ॥

—योग्य शिष्य वह होता है, जो भव्य हो, अपना कल्याण किसमे है ? इसका विचार करता हो, दुःखो से डरता हो, सुखेच्छुक हो सुनने (शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, विज्ञान, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान) आदि मे रुचि रखता हो, युक्ति और आगम से निश्चित दयागुणमय सुखकर धर्म का आचरण करता हो, धर्मकथा को रुचिपूर्वक ग्रहण करता हो, शास्त्रो मे पारगत हो और दुराग्रही न हो। जहाँ ये गुण नही होते, वहाँ शिष्य योग्य नही समझा जाता।

एक उदाहरण लीजिये—

आचार्य क्षीरकदम्ब अपने पुत्र पर्वत और शिष्य नारद दोनो को समान भाव से पढ़ाते थे। परन्तु पर्वत की बुद्धि अहकार और दुर्विनय के कारण मलिन होती जा रही थी। एक दिन पर्वत ने अपनी माता से शिकायत की—"माँ, पिताजी मेरे प्रति भेदभाव रखते है, वे मुझे भलिभाँति नही पढ़ाते, नारद को अच्छी तरह पढ़ाते हैं। इस कारण नारद मुझ से अधिक बुद्धिमान होता जा रहा है। अहकारवश मुझे छेड़ता रहता है, और नीचा दिखाने की कोशिश करता है। आज जब हम समिधा लेने गये थे, तो उसने मुझे तरह-तरह से अपमानित किया।"

पुत्र के प्रति माता का मोह जाग उठा। पुत्र के अपमान से दुःखित माता (गुरु-पत्नी) ने अपने पति से शिकायत की—"यह तो आपका रवैया ठीक नही कि आप अपने

पुत्र के साथ भेदभाव रखें। आजकल आपने नारद को बहुत सिर चढ़ा रखा है। वह अहंकार में आकर पर्वत का अपमान करता रहता है।"

क्षीरकदम्ब ने कहा—"मुझे तो ध्यान मे नहीं कि मैंने पर्वत के साथ भेदभाव बरता हो और न ही आज तक नारद मे अहंकार की मात्रा देखी है। फिर भी तुम कहती हो तो मैं उसे अभी बुलाकर पूछता हूँ कि पर्वत को उसने क्यो अपमानित एवं तंग किया ?"

पत्नी को इससे सन्तोष हुआ। क्षीरकदम्ब ने तुरन्त नारद को बुलाया और डाँटते हुए कहा—"नारद! तुम पर्वत को क्यो तग करते हो ? बोलो, आज तुमने वन मे क्या उपद्रव किया था ?"

नारद चकित रह गया। वह समझ गया कि पर्वत ने गुरुजी से कोई शिकायत की है, इसी कारण गुरुजी नाराज हो रहे है। उसने नम्रस्वर मे उत्तर दिया—"गुरुजी! मैंने तो कोई उपद्रव नही किया, पर हाँ दो घटनाये अवश्य घटित हुई थी।"

गुरुजी—"कौन-सी घटनाये हुई ? बताओ तो।"

नारद—"गुरुदेव! आज वन मे हमने देखा कि ८ मोर नदी-प्रवाह का जल पीकर वापस लौट रहे थे। तभी पर्वत ने कहा—ये आठो मोर हैं। मैंने कहा—एक मोर है, बाकी सात मोरनी है। जब स्वय पर्वत ने पास जाकर देखा तो मेरी बात सच निकली।"

गुरुजी—"तुमने कैसे जाना, वत्स!"

नारद—"गुरुजी! यह तो साधारण-सी बात थी। एक मोर पूँछ भीगकर भारी न हो जाये, इस कारण उलटा लौट रहा था, मैंने समझ लिया कि यह मोर है। बाकी सब मोरनी थी। उनकी पूँछें छोटी थी, उन्हें पूँछ भीगने का डर न था, इसलिए वे सीधी लौट रही थी।"

गुरुजी मन ही मुस्कराये और पूछा—"और दूसरी घटना ?"

नारद ने कहा—"नदी तट के एक स्थान को देखकर मैंने कहा—यहाँ से एक कानी हथिनी गई है। उस पर सफेद साड़ी पहने एक गर्भवती स्त्री बैठी है, वह आज ही प्रसव करेगी।"

गुरुजी—"यह सब तुमने कैसे जाना ?"

नारद—"गुरुजी! जब मैंने वन मे देखा कि हाथी के पदचिह्न उसके मूत्र से भीगे हुए हैं, तभी निश्चय कर लिया कि वह हथिनी है। फिर देखा कि दाईं ओर के वृक्ष टूटे हुए हैं, बाईं ओर के नही, तब समझ लिया कि वह कानी है। वह स्त्री मार्ग की नदी तट की रेत पर लेटी थी, वहाँ उसके उदर का निशान बन गया था। उसे देखने से अनुमान लगाया कि वह गर्भवती है और शीघ्र ही माँ बनने वाली है। असावधानीवश उसकी साड़ी का एक कोना कँटीली झाड़ी में उलझ गया

था, वह सफेद था, इससे मालूम हुआ कि वह सफेद साड़ी पहने थी। प्रसव पीड़ा से व्याकुल है, इसका अनुमान तो इस पर से हुआ कि उस महिला ने अपनी साड़ी फटने दी, कांटों मे उलझने दी। ये ही मेरे अनुमान के आधार हैं। इन दोनों घटनाओं को ही भाई पर्वत ने अपना अपमान समझ लिया है।"

गुरुजी मन ही मन नारद पर प्रसन्न एव सन्तुष्ट थे। उनके अन्तर् से उसके प्रति आशीर्वाद बरस पड़ा। उन्होने नारद को बाहर जाने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् पत्नी से बोले—"भामिनी! इसमें नारद ने तुम्हारे पुत्र का क्या अपमान कर दिया, बताओ तो?" गुरु-पत्नी ने अपने पुत्र से पूछा तो उसने भी इन घटनाओं को सत्य बताया। अत गुरु क्षीरकदम्ब ने अपनी पत्नी से कहा—"प्रिये! बताओ, इसमें मैंने कौन-सा भेदभाव कर दिया? तुम्हारा पुत्र मेरी शिक्षा पर ध्यान नही देता, वह व्यर्थ की शिकायतें करता है, और नारद ने उसी शिक्षा को ध्यान से हृदयगम किया और अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा से ये अनुमान लगा लिए।"

माता भी समझ गई कि उसका पुत्र अहकारी और दुर्विनीत है। अपनी बुद्धि का समुचित प्रयोग नही करता।

नारद के प्रति गुरुजी का अपने पुत्र से बढकर प्यार था। उसके विनयपूर्ण बुद्धि-बल को देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि पुत्र की अपेक्षा उनका शिष्य अच्छी बुद्धि वाला है, उनकी शिक्षा को सही ढग से वही प्रचारित-प्रसारित कर सकता है।

हाँ तो, मैं कह रहा था—सुयोग्य शिष्य पर गुरु की कृपा पुत्र से भी बढ़कर बरसती है।

गृहस्थ-पुत्र से भी बढ़कर सुयोग्य शिष्य

वैसे भी देखा जाये तो सद्गुरु अगर अपने शिष्य के प्रति पुत्रवत् आचरण करे तो सामान्य गृहस्थ-पुत्र और साधक-शिष्य दोनो म साधक शिष्य ही बढ़कर विनीत होता है। आवश्यक टिप्पणी मे एक कथा है—

एक राजा और एक आचार्य मे एक बार परस्पर विवाद खड़ा हो गया। राजा ने कहा—राजपुत्र विनीत और बढ़कर होता है। आचार्य ने कहा—नही, राजपुत्र की अपेक्षा साधु-शिष्य अधिक विनीत और बढ़कर होता है। दोनो की परीक्षा करके निर्णय कर लेने का निश्चय हुआ। राजा ने अपने विनीत पुत्र को बुलाकर कहा—"बेटा! यह देख आओ कि गगा किस दिशा मे बह रही है?"

राजकुमार बोला—"इसमे क्या देखना है? गगा पूर्वाभिमुख होकर बहती है।" फिर भी राजा ने बहुत कुछ समझा-बुझाकर गगा नदी देखने भेजा। रास्ते में उसके मित्र मिले। उन्होने पूछा—"कहाँ जा रहे हो, कुमार?" राजपुत्र बोला—"पिताजी ने एक बेगार सौंपी है, उसे करने जा रहा हूँ।" यो कहकर बीच मे से वापस लौट आया, और राजा से कहने लगा—"मैं वहाँ जाकर देख आया। गंगा पूर्वाभिमुख

होकर बह रही है। इसके बाद आचार्य ने अपने शिष्य-साधु से कहा— "जाओ वत्स ! देख आओ तो गगा किस दिशा मे बहती है ?" साधु-शिष्य विचार करने लगा—'गगा तो पूर्वाभिमुखी बहती है, यह मैं भी जानता हूँ, गुरुजी भी जानते हैं, फिर भी मुझे देखने के लिए भेज रहे हैं, इसके पीछे कोई न कोई रहस्य होगा।" यो सोचकर वह शिष्य गगा तट पर गया, स्वय देखकर निश्चय किया कि गगा पूर्वाभिमुखी बहती है। वहाँ खडे लोगो से भी पूछा तो उन्होंने भी ऐसा ही कहा। वहाँ से लौट कर गुरु के उस शिष्य ने कहा—"मेरी दृष्टि मे तो गगा पूर्वाभिमुखी बहती है। इसका रहस्य तो गुरुजी जानें।" राजा ने दोनो व्यक्तियो के पीछे गुप्तचर भेजा था, उन्होने आकर दोनो के समाचार राजा को पहले ही दे दिये थे। राजा को मानना पड़ा कि राजपुत्र की अपेक्षा साधु-शिष्य बढ़कर है, विनय मे, बुद्धि मे, वाणी कौशल में।

शय्यभवाचार्य का मनक नाम का पुत्र था, वही उनका शिष्य था।

शिष्य के प्रति गुरु का मातृवत् व्यवहार

योग्य गुरु अपने प्रति समर्पित शिष्य के प्रति माता की तरह करुणा और वात्सल्य की गगा बहाते हैं। जो शिष्य अपने हितकारी एव पूछने योग्य गुरुओ से पूछ कर कार्य करता है, उसके किसी भी कार्य मे विघ्न नही होता। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के रुग्ण होने पर अपना सब दु ख भूलकर उसकी परिचर्या मे जुट जाती है, उसी प्रकार सद्गुरु भी रुग्ण शिष्य के लिए स्वय कष्ट सहकर उसकी सेवा मे जुट जाते है।

मैंने एक बार एक दृष्टान्त सुनाया था कि एक सद्गुरु ने शिष्य के दुसाध्य रोग को देखकर उपाय सोचा और एक दिन एक सर्प को आते देख शिष्य से कहा—"वत्स ! इस साँप के दाँत गिन आओ।" गुरु आज्ञा बिना किसी तर्क के हितकारी समझकर विनीत शिष्य ने साँप का मुँह पकडा। ज्यो ही साँप के हाथ लगाया, उसने दश मार दिया। गुरुजी ने उस शिष्य को कम्बल उढाकर सुला दिया। थोडी ही देर मे रोग के कीडे बाहर निकल गये। रुग्ण शिष्य बिलकुल स्वस्थ हो गया।

बन्धुओ ! इसीलिए नीतिवाक्यामृत मे शिष्य को निर्देश किया गया है—"**पितर-मिव गुरुमुपचरेत**" गुरु के प्रति पिता के तुल्य व्यवहार करे।

वास्तव मे, गुरु का महान उत्तरदायित्व तो है ही, शिष्य को पुत्रवत् मानकर उसके जीवन निर्माण करने का, परन्तु अगर शिष्य ही गुरु-आज्ञा न माने, उनकी बात न सुने, अपनी मनमानी करे तो गुरु क्या कर सकते है ? इसलिए शिष्य का भी दायित्व हो जाता है कि वह एक पिता के सच्चे सपूत की तरह अपने गुरु का सच्चा शिष्य बने। सच्चा शिष्य अपने गुरु के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित होता है, वह गुरु के लिए प्राण न्यौछावर करने को तैयार होता है, गुरु की प्रत्येक आज्ञा को वह शिरो-धार्य करके क्रियान्वित करता है। इसीलिए महर्षि गौतम ने गुरु के उत्तरदायित्व के गर्भ मे शिष्य की शिष्यता का भी सकेत कर दिया है।

'पुत्ता य सीसा य सम विभत्ता' ●

७८. ऋषि और देव को समान मानो

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं आपको ऋषिजीवन की दिव्यता और भव्यता की झाँकी कराना चाहता हूँ। ऋषि का जीवन दिव्यजीवन-सदृश होता है। उस जीवन मे दैवीगुण स्वाभाविक रूप से विकसित होते है। इसीलिये गौतमकुलक मे कहा गया—

रिसी य देवा य सम विभत्ता

—ऋषि और देव, ये दोनो समानरूप से सम्मान्य होते है।

गौतमकुलक का यह ६४वाँ जीवनसूत्र है। इस जीवनसूत्र मे ऋषि को देवतुल्य सम्मान्य बताया गया है। आइये, हम विभिन्न पहलुओ से इस पर विचार करे कि ऋषि और देव मे किन कारणो से और किन बातो मे साम्य है ?

ऋषि कौन ?

सर्वप्रथम हमे समझ लेना चाहिये कि ऋषि कौन होते हैं ? उनका स्वरूप क्या है ? ऋषिजीवन कैसा जीवन है ?

ऋषि की व्युत्पत्ति वैयाकरणो ने इस प्रकार की है—

ऋच्छति गच्छति—प्राप्नोति ऊर्ध्वस्थानमिति ऋषि ।

—जो ऊर्ध्वस्थान—मोक्षस्थान को प्राप्त करता है, उसकी ओर गमन करता है, वह ऋषि है।

ऋषि मानव-समाज का एक सजग प्रहरी है, जो स्वय अमृतपुत्र बनकर अमृत बाँटता और स्वय आस्वादन करता हुआ अमरत्व की ओर बढता है। जहाँ-जहाँ वह देखता है, लोग अमरत्व-प्राप्ति के विरुद्ध चेष्टाएँ कर रहे हैं, अमृतत्व पाने के अवसर को खो रहे है, वहाँ वह जागृत रहकर प्रेम से सबको अमृतपिता का सन्देश देता है। इस प्रकार ऋषि जीवन और जगत् के महानियम को जानकर स्वय तदनुसार आचरण करता हुआ दूसरो को उस महानियम की प्रेरणा देता हुआ चलता है। ऋषि भविष्यद्रष्टा और क्रान्तद्रष्टा होते है, वे पहले से ससार की गतिविधि पर से भविष्य का अनुमान लगा लेते है और समाज को चेतावनी दे देते है। वेदो मे विभिन्न ऋषियो के नाम की ऋचाएँ हैं। वहाँ ऋषि की महिमा बताते हुए कहा गया है—

ऋषयो मन्त्रद्रष्टार

ऋषि, वे हैं, जो मानव-समाज के लिये उपयोगी मन्त्रो के द्रष्टा हैं। मानव-

समाज को किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये ? किस-किस व्यक्ति का क्या-क्या धर्म है ? उसका आचरण कैसे करना चाहिये ? इन और ऐसे ही विषयों मे मथन करके, मनन-चिन्तन करके ऋषिगण मन्त्रो के द्रष्टा एव स्रष्टा बनते थे। वे समाज को उन मन्त्रो का उपदेश भी देते थे, जिनसे समाज का हित—कल्याण हो।

ऋषि का स्वरूप बताते हुए तिलोक काव्य सग्रह मे कहा है—

ऋषि नाम सो ही षट्काय के दयालभाव,
साधु साधे आतमा उपाधि राह तजता।
अन्त करण हू की वासना वमत मुनि,
भक्त भगवन्त को सो निरन्तर भजता।।
वैरागी सो राग, द्वेष, मोह ते रहित होय,
द्रव्यभाव-ग्रन्थ तजे निगरथ बजता।
सत्य पक्ष गहे सत कहत तिलोक तत,
ततन मे तत-तत जिनमग अजता।।

भावार्थ यह है कि ऋषि वह है, जो षड्जीवनिकाय के प्रति दयाभाव रखता है, आत्मा को उपाधि मे डालने वाला मार्ग छोड देता है, जगत् के तत्त्वो का मनन करके अन्त करण की वासनाओ का वमन (त्याग) कर देता है, भगवद्भक्त बनकर सतत भजन करता है, सत बनकर सत्य का पक्ष लेता है, समस्त तत्त्वो का सारभूत तत्त्व—मोक्ष है, उसे प्राप्त करने के लिये जैन (वीतराग भगवान-प्ररूपित) पथ को स्वीकार करता है। वास्तव मे सच्चा ऋषि शुद्ध धर्म के विपरीत कार्य जहाँ कही भी धर्म के नाम से होता हो, वहाँ उसका विरोध करता है, कोई व्यक्ति अधर्म या पाप के रास्ते जाता हो, किसी भी तरह मे न मानता हो, उसे षट्कायप्रतिपालक ऋषि किसी भी सात्त्विक उपाय से धर्म की राह पर ले आते हैं। इस दृष्टि से ऋषि धर्मप्रभावक, धर्मरक्षक एव धर्ममार्गप्रापक कहे जा सकते है। कल्पसूत्र स्थविरावली मे उल्लिखित एक उदाहरण प्रस्तुत करना यहाँ अप्रासगिक नही होगा—

अजमेर के निकट प्राचीनकाल मे हर्षपुर नामक एक नगर था। वहाँ सुभटपाल राजा राज्य करता था। उस नगर मे १८ सौ ब्राह्मणो के तथा ३६०० वणिको के घर थे तथा अनेक बाग-बगीचा, बावडी, कुआ, दानशाला, भवन, जलाशय, आराम आदि से वह नगर सुशोभित था।

एक बार वहाँ प्रियग्रन्थ नाम के आचार्य पधारे। उन्ही दिनो मे, वहाँ के ब्राह्मण यज्ञ के निमित्त बकरे का वध करने लगे। श्रावकों ने आकर आचार्य प्रियग्रन्थ को ये दु खद समाचार दिये। आचार्यश्री ने वासक्षेप को अभिमन्त्रित करके एक श्रावक को दिया और कहा—इसे बकरे के मस्तक पर डालना। श्रावक ने ऐसा ही किया। इससे बकरे के शरीर मे तत्काल अम्बिका देवी आई। अतः बकरा आकाश मे अधर

रहकर मनुष्य भाषा मे बोलने लगा—"ओ याज्ञिको ! तुम मुझे अग्नि मे होमना चाहते हो तो पहले मुझे बाँधो, फिर मारो, देखूं तो सही तुम कितने पानी मे हो। अगर मैं भी तुम्हारी तरह निर्दय बन जाऊँ तो तुम सबको एक क्षण मे यमलोक का मेहमान बना दूं। अगर मेरे चित्त मे दया न हो, मैं कषायभाव लाकर जैसे लंका मे हनुमानजी ने किया था, वैसे ही तुम्हारे नगर का बेहाल आकाश मे खड़ा-खड़ा कर सकता हूँ।"

इस प्रकार के वचन सुनकर भयभीत होकर यज्ञकर्ता ब्राह्मण पूछने लगे—"आप कौन हैं ?" तब वह अपने आपको प्रगट करके बोला—"मैं पावक हूँ। यह बकरा मेरा वाहन है। उसे तुम लोग व्यर्थ ही क्यो मारते हो ? तुम लोग शुद्ध धर्म से विमुख हो रहे हो। इस नगर मे प्रियग्रन्थ नामक जैनाचार्य पधारे हुए है। उनके सान्निध्य मे जाकर तुम विशुद्धधर्म की पृच्छा करो एव उस धर्म को स्वीकार करो। वे आचार्य नरेन्द्रो मे जैसे चक्रवर्ती, धनुर्धारियो मे जैसे धनजय हैं, वैसे ही सर्वसत्य-वादियो मे शिरोमणि है।"

यह सुनकर सभी ब्राह्मण उन आचार्यश्री की सेवा मे पहुँचे और उनसे पूछा—"भगवन् ! शुद्ध धर्म का स्वरूप बताने की कृपा करें।" आचार्यश्री ने उन सबको धर्म सुनाया। जिसे सुनकर उन्होने स्वीकार किया और तदनुसार आचरण करने का सकल्प किया।

इस प्रकार ऋषि अधर्म-मार्ग या पापमार्ग पर चढे हुए मनुष्यो को उक्त अशुभमार्ग से हटाकर शुद्ध मार्ग पर आरूढ कर देते है।

ऋषिजीवन की पहचान

ऋषि जब दूसरो को धर्ममार्ग मे आरूढ और स्थिर करते हैं, तब उन्हें अपने जीवन मे क्षमा, दया, करुणा, सेवा, मैत्री, विश्वबन्धुत्व, आत्मीयता, सहिष्णुता, क्षमता आदि गुणो का विशेषरूप से अभ्यास करना पडता है, इन गुणो को श्वासोच्छवास की तरह जीवन मे प्रतिष्ठित करना पडता है, तभी वह दूसरो को धर्ममार्ग मे प्रेरित कर सकता है, तभी उसकी वाणी मे बल, जोश, प्रभावशालिता, शक्तिमत्ता एव दृढता आ सकती है। तभी वह दूसरो को निर्भय होकर सच्ची और साफ बात कह सकता है। यदि ऋषि मे ये गुण नही होंगे तो वह हर बात मे दूसरो से दबेगा, भयभीत होगा, दूसरो का लिहाज रखेगा, लल्लो-चप्पो करेगा या दूसरो को ठकुरसुहाती कहेगा। सचमुच ऋषि के लिये ऐसी दुर्बलताएँ कलंकरूप होगी। ऋषि के जीवन को लोभ, मोह, भय, चिन्ता आदि विकारों से कलुषित कर देंगी।

ऋषि-जीवन वह पवित्र जीवन है, जिसकी सफेद चादर पर जरा-सा भी दुर्गुण का धब्बा सह्य नही होता। ऋषि-जीवन व्यसनमुक्त, फैशन और विलास से दूर सात्त्विक और निर्दोष होता है। ऋषि-जीवन मे व्यसन और विलास, आडम्बर और

प्रदर्शन, अपव्यय और अनावश्यक सग्रह को कोई स्थान नही होता। ऋषि-जीवन अपने सत्य, प्रेम और न्याय की त्रिपुटी से समाज, राष्ट्र और विश्व को आकर्षित एवं प्रभावित कर लेता है। इस जीवन मे क्षुद्रस्वार्थ और मोह सम्बन्ध को कोई स्थान नही होता। ऋषि के लिए सारा विश्व एक कुटुम्ब होता है, वह किसी एक परिवार, एक जाति, एक समाज, एक राष्ट्र, एक प्रान्त, एक ग्राम, नगर या एक भाषा आदि से मोहवश बँधा हुआ नही होता। ऋषि-जीवन मे अपने-पराये, तेरे-मेरे या अह-मम की सकीर्ण दीवारे नही होती।

ऋषि भले ही विचरण करता हुआ किसी एक गाँव या नगर मे ठहर जाता हो, चातुर्मास के लिए चार मास एक जगह निवास कर लेता हो, परन्तु उसकी दृष्टि मे सारा विश्व होगा, ऋषि को भले ही प्रसगवश एक प्रान्त, एक राष्ट्र या एक ग्राम-नगर के लोगो से वास्ता पडता हो, किन्तु उसका हार्दिक सम्पर्क सारी मानव-जाति से होगा, चाहे उसे मानवो से ही, उसमे भी जैन आदि से ही प्राय अधिक सम्पर्क मे आना पडता हो, लेकिन उसका मैत्रीभाव या बन्धुत्व सारे विश्व के सभी धर्म-सम्प्रदाय, जाति आदि के मानव समूह से होगा, वह हरिजन, परिजन, गिरिजन, छूत-अछूत, सवर्ण-असवर्ण, ऊँच-नीच आदि का भेदभाव मनुष्यो मे नही करेगा। मानव-जाति ही नही, ससार के सभी प्राणियो को वह आत्म-समान मानेगा, भले ही सभी प्राणियो से उसका वास्ता न पडता हो, वह समय आने पर सभी प्राणियो पर करुणा, दया आदि करेगा। उसके मस्तिष्क म अपना स्वाथ गौण होगा, समाज, राष्ट्र या विश्व का स्वार्थ-परमार्थ मुख्य होगा। ऋषि-जीवन जातियो, प्रान्तो, राष्ट्रो, भाषाओ या धर्म-सम्प्रदायो के सघर्ष म भाग नही लेगा बल्कि उसके सामने ये प्रश्न आने पर माध्यस्थ्य एव समत्व के सिद्धान्तो से प्रेरित होकर वह उनम समन्वय और सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। सामायिक या समतायोग ही उसके जीवन का मूलमत्र होगा। ऐसे ऋषि जीवन की महिमा तिलोक काव्य सग्रह म सुन्दर शब्दो मे व्यक्त की गई है—

रिख सो ही छहो काय जीव के जतन करे,
रीस परिहार अरजुन अनगार-सी।
रिद्ध है अखूट ज्ञान-ध्यान-तप-जपरूप,
तातै कर्मरिपु निर्मूल कर डारसी॥
ऋतु छहु माही रीत पाले जिनमारग की,
सत्य माने प्रभुवाणी मिथ्या माने छार-सी।
ऐसे रिखराज रिद्ध जहाज समान सही,
कहत तिलोक वे ही भवोदधि तारसी॥[1]

भावार्थ स्पष्ट है। वास्तव मे ऋषि धर्म की प्रतिक्षण रक्षा करने वाले जागरूक प्रहरी है। जहाँ भी स्वार्थ और परमार्थ मे टक्कर होगी, वहाँ वे स्वार्थ को नहीं,

---

१. तिलोक काव्य सग्रह, द्वितीय बावनी, काव्य ४६

सर्वार्थ को—परमार्थ को प्रधानता देंगे। इस विषय मे वे शीघ्र ही निर्णय कर लेते हैं, मोह-माया में पडकर बुद्धि को स्वार्थ मे लिपटाकर वे सत्य को ओझल नही करते। एक उदाहरण द्वारा मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूं—

अहमदाबाद के 'सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय' के सस्थापक भिक्षु अखण्डानन्दजी थे। वे अपना घर-बार, कुटुम्ब-कबीला और सर्वस्व सम्पत्ति छोडकर सन्यासी बन गए थे। एक बार उनके ऋषिपद की कसौटी करने हेतु एक सेवक आकर कहने लगा—"स्वामीजी! मुझे आप से एक प्रार्थना करनी है। आप कबूल करे तो कहूँ। मेरी बात को आप फेंक दे तो मुझे नही कहनी है।"

स्वामीजी—"कहो भाई, क्या कहना है आपको? बात को पहले जाने बिना ही कबूल कर लेना नीति-विरुद्ध है। अगर आपकी बात मेरे ऋषिधर्म के साथ सुसगत होगी तो मैं अवश्य स्वीकार करूगा। आप खुशी से कहिये।"

सेवक ने मन मे बात जमाकर धीरे से कहा—"स्वामीजी! एक तरह से देखें तो मेरी बात का उद्देश्य लोक-कल्याण ही है।"

स्वामीजी—"लोक-कल्याण की कोई भी बात हो तो आप खुशी से कहें। जनसेवा या लोक-कल्याण करना तो ऋषियो का परम कर्त्तव्य है। किसी भी प्रकार के अवरोध के बिना सतत जनसेवा मे प्रवृत्त रहने के लिए ही तो मैंने यह भगवा वेश धारण किया है।"

सेवक—"स्वामीजी! मैं जो कुछ कहूँ उस पर आप उदार हृदय से विचार करना। पैसे के अभाव मे आपके प्रपौत्र की पढाई रुकी हुई है। इस बारे मे आप सक्रिय रुचि ले तो उसकी पढाई आगे चल सकती है। इसमे आपको तो सिर्फ जीभ ही चलानी है। आप सम्मति देंगे तो यह कार्य आसानी से हो जायेगा। आप चाहे तो इस सस्था से भी इसे मदद दिला सकते है।"

सेवक की बात सुनकर भिक्षु अखण्डानन्दजी विचार म पड गये। उनकी दृष्टि के समक्ष अपने पूर्वाश्रम का चित्र उपस्थित हो गया। वास्तव मे उनके पुत्र की आर्थिक स्थिति कमजोर थी ही।

इस प्रश्न पर कुछ क्षण गम्भीर चिन्तन करने के पश्चात् स्वामीजी बोले—"भाई! आपने कहा, वह कार्य लोक-कल्याण का अवश्य है, मगर स्वस्थचित्त से सोचा जाये तो इस कार्य के पीछे स्वार्थ की गन्ध तो है ही। ऋषि, मुनि एव सन्यासी को तो मन-वचन-कर्म से शुद्ध होकर, स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक-कल्याण का कार्य करना चाहिए। इसके लिए सभी सरीखे हैं। इसी दृष्टि मे परिजन, परजन, गिरिजन या हरिजन जैसे भेदभावमूलक अलग-अलग खाने नही है। आर्थिक तगी के कारण क्या मेरे अकेले गृहस्थाश्रम-पक्षीय सतान की पढाई रुकी हुई है? दूसरे असख्य विद्यार्थियो की पढ़ाई भी तो पैसे के अभाव मे रुकी हुई है। संसार छोडने के बाद

ऋषि, मुनि, संन्यासी एव साधु के लिए तो सारा विश्व कुटुम्ब बन जाता है। अब मेरे लिए तो सभी सरीखे हैं। इस भारत देश मे मेरे गृहस्थपक्षीय संतान की अपेक्षा भी अधिक गरीब रहते है, आप कहिए, उन्हें छोड़कर मैं इसे कैसे मदद कर सकता हूँ। आप कहते है कि सस्था से मदद दिला दीजिए। परन्तु सस्था तो जनता की मिल्कियत है। मैं तो इस सस्था का एक तुच्छ सेवक हूँ। जो जनता की मिल्कियत के ट्रस्टी है, वे सस्था के धन का ऐसा दुरुपयोग नही कर सकते। जिस दिन ट्रस्टीगण ऐसी सकीर्णता मे डूबकर जनता के धन का दुरुपयोग करेंगे, उस दिन जनता का विश्वास उन पर से उठ जाएगा। जनता के पैसे का मनमाना उपयोग करना जनता के साथ द्रोह करना है।"

स्वामीजी की बात सुनकर सेवक ने नम्रभाव से अपना तर्क प्रस्तुत किया—"स्वामीजी! आप चाहें तो सब कुछ कर सकते है। जब आपने गृह त्याग किया था, तब जो अर्थराशि आप घर से लाये थे, वह सब आपने सस्था को ही सौंपी थी। उस रकम मे से आप इसे मदद करिए।"

स्वामीजी ने जरा जोश मे आकर कहा—"वाह भाई वाह! गृहत्याग करते समय मैंने जो रकम साथ मे ली थी, वह मेरे हक की थी। हक से अधिक रकम मैंने नही ली। सच कहूँ तो आज की शिक्षा से गरीबो का सर्वनाश करने की युक्ति-प्रयुक्ति का ही ज्ञान मिलता है, ऐसी शिक्षा के लिए तो मैं किसी को भी कुछ देने मे खुश नही हूँ। सच्ची शिक्षा प्राप्त करनी हो तो वर्धा आश्रम मे जाकर रहें और अध्ययन करके लोकसेवा मे लग जाए।" यो कहकर स्वामीजी अपने कार्य मे मग्न हो गए।

यह है, ऋषि के द्वारा क्षुद्र स्वार्थ की दृष्टि का त्याग करके सर्वार्थदृष्टि की सतत जागृति।

ऋषि : त्रिकालाबाधित द्रष्टा

ऋषि किसी जमाने से बँधा हुआ नही होता, उस पर काल का प्रतिबन्ध नही होता। वह सभी युगो का होता है।

ऋषि काल की गतिविधि को भलीभाँति जानता है। त्रैकालिक सत्य का वह द्रष्टा है। उसम काल की गतिविधि को परखकर काल को बदलने की शक्ति है।

आचार्य पूज्यश्री अमोलक ऋषि महाराज के जीवन की एक घटना लीजिये। स्थानकवासी जैनसम्प्रदाय मे अब तक शास्त्र छापने की प्रथा प्रचलित न थी। हस्तलिखित टब्बो के आधार पर शास्त्रवाचन की प्रथा थी। हस्तलिखित शास्त्र सर्वसुलभ नही थे। हैदराबाद निवासी सेठ ज्वालाप्रसादजी ने आचार्यश्री ने प्रार्थना की—"आपश्री स्थानकवासी सम्प्रदायमान्य ३२ शास्त्रो का शुद्ध हिन्दी में अनुवाद कर देने की कृपा करे। मैं उन्हें छपवाकर सर्वत्र स्थानकवासी जैनसंघो को भेजने का प्रयत्न करूँगा, जिससे शास्त्रज्ञान का प्रचार हो।"

आचार्यश्री के समक्ष भूतकाल विरोध मे खड़ा था, वर्तमानकाल भी पूरा तौ

नहीं, परन्तु अधिकांश विरोध मे था कि शास्त्र छापे नहीं आने चाहिए। छापे जाने पर शास्त्रो की आशातना होगी आदि-आदि; किन्तु आचार्यश्री ने शास्त्रीय ज्ञान के व्यापक प्रचार का महालाभ सोचकर विरोध की परवाह न करते हुए बत्तीस शास्त्रो के हिन्दी अनुवाद का बीडा उठाया और शीघ्र ही उसे कार्यान्वित कर दिखाया। सेठ ज्वालाप्रसादजी ने ३२ ही शास्त्रो को प्रकाशित करवाया और इस प्रकार पूज्य अमोलक ऋषिजी महाराज की दूरदर्शिता ने काल के प्रभाव पर विजय प्राप्त की।

ऋषि : आत्मानुभूति के मार्गदर्शक

राजा जनक को अध्यात्म विद्या का ज्ञान तो ऋषि पंचशिख से हो चुका था, किन्तु वे आत्मानुभव नही कर सके थे। आत्मानुभव की उन्हें तीव्र उत्कण्ठा थी। अतः घोषणा कराई—घोड़े की रकाब मे पैर रखकर घोडे पर सवार होने जितने समय मे जो मुझे आत्मानुभव करा दे, उसे मैं अपना गुरु मान लूंगा।" अनेक ऋषियो के हृदय मे राजा जनक के गुरु बनने की इच्छा हुई, पर इतने थोडे समय मे आत्मानुभव कराने की शर्त असम्भव मानकर चुप हो गये। ऋषि अष्टावक्र ने यह बीडा उठाया। राजा जनक ने अश्व मँगाया और बोले—"मैं अपना पैर घोड़े की रकाब में रखता हूँ, आप आत्मानुभव काराएँ।

अष्टावक्र—"ठहरो राजन्! पहले गुरु-दक्षिणा दो।"

जनक—"माँगिये गुरुदेव! क्या दक्षिणा चाहिये आपको? धन, गाएँ या और कुछ?"

अष्टावक्र—"मुझे न धन चाहिये न और कुछ, मुझे तो आपके मन, वचन, काया तीनो गुरुदक्षिणा मे चाहिए।"

राजा जनक चकित होकर कहने लगे—"यह तो बड़ी कठिन गुरुदक्षिणा है।"

अष्टावक्र—"आत्मा का अनुभव भी तो बडा कठिन है।"

राजा जनक—"पर मेरे सासारिक व्यवहार फिर कैसे चलेंगे?"

अष्टावक्र—"आत्मानुभव के बाद आप अपने मन-वचन-काया का उपयोग कर सकोगे। मैं तुम्हें स्वतन्त्र कर दूंगा।"

इस बात पर राजा जनक तैयार हो गये। ज्योंही वे अश्व पर सवार होने को तैयार हुए ऋषि अष्टावक्र ने रोका—"ठहरो नरेश! आप शरीर गुरु-दक्षिणा मे दे चुके हैं, रंचमात्र भी न हिलिये, स्थिर खडे रहिये। राजा स्थिर खडा हो गया। तब कहा—"अब एक भी शब्द बोलने की इजाजत नही है। मौन होकर वाणी को अवरुद्ध कर दो।"

राजा ने वाणी को भी रोक लिया। अब वह मन से चिन्तन करने लगा तो ऋषि ने फिर टोका—"मन का व्यापार बन्द करिये। मेरी आज्ञा बिना कुछ भी सोच नही सकते।"

मन को रोकते ही राजा ठूंठ के समान रह गया—आत्माश्रित। मन-वचन-काया तीनो योगो के स्थिर होते ही आत्मानुभव हुआ। अनिर्वचनीय आनन्द आया। इस स्थिति मे काफी देर तक राजा रहे। तब ऋषि ने पूछा—"विदेहराज! हुआ तुम्हें आत्मानुभव?" जनक राजा ऋषि अष्टावक्र के चरणों मे गिरकर बोले—"समझ गया गुरुदेव! मन-वचन-काया के स्थिर होने पर ही आत्मानुभव होता है।" अष्टावक्र बोले—"अब आप आसक्ति छोडकर मन-वचन-काया का उपयोग करिये।"

इस प्रकार ऋषिगण आत्मानुभूति के सच्चे मार्गदर्शक होते थे।

ऋषि पाप-विशोधक

ऋषियो की यह भी परम्परा रही है कि वे समाज मे या समाज के किसी विशिष्ट व्यक्ति मे या राजा मे कोई पूर्वकृत अशुभकर्म होता तो उसके लिये उचित प्रायश्चित्त देकर उसकी आत्मविशुद्धि करा देते थे। जिससे पापकर्मजनित कोई विघ्न-बाधा होती तो वह दूर हो जाती। मैं रघुवश का एक उदाहरण देकर इसे समझाता हूँ—

गृहस्थाश्रम का अन्त निकट आ चला। राजा दिलीप के कोई सन्तान नही हुई। वानप्रस्थ ग्रहण करने से पूर्व राज्य के लिये योग्य उत्तराधिकारी की उन्हें चिन्ता थी, और सुलक्षणा रानी को नि सतान होने का दु ख था। दोनो ने इस अन्तराय को दूर करने हेतु एव पूर्वकृत अशुभकर्मनिवारण करने हेतु ऋषि वशिष्ठ की सेवा मे पहुँचकर साधना करने का निश्चय किया। तदनुसार दोनो वशिष्ठ ऋषि के आश्रम मे पहुँचे और महर्षि के समक्ष अपनी चिन्ता निवेदित की। एक क्षण मौन रहकर महर्षि ने दिलीप का भूतकाल देखा—'पूर्वजन्म मे दिलीप ने एक गाय के बछडे को बहुत कष्ट दिया था। इस कारण गाय बहुत दु.खी हो गई थी। यही कारण है कि उस अशुभ कम के फलस्वरूप राजा दिलीप को इस जन्म मे सन्तान-सुख से वचित होना पडा है।' ऋषि वशिष्ठ ने पूर्वकृत अशुभकर्म को सतान न होने का कारण बताया और इस पूर्वकृत पापकर्म का प्रायश्चित्त करके उसका निवारण करने की प्ररणा दी। और कहा—"इसके लिए तुम दोनो को कुछ दिन तपश्चर्या करनी होगी। बोलो, तुम्हें स्वीकार है न!"

दिलीप ने हाथ जोडकर कहा—"गुरुदेव! आप जो कुछ कहेंगे, उसमे हमारा हित ही होगा।" इससे आगे की बात रानी सुलक्षणा ने पूरी की—"देव! आपकी प्रत्येक आज्ञा हम शिरोधार्य होगी। हम तप करने के लिए राजी हैं।"

वशिष्ठ ने राज दम्पति को आशीर्वाद देते हुए आश्रम की नन्दिनी गाय को बताकर कहा—"कल प्रात काल से आप दोनो को इस नन्दिनी गाय को चराने जाना होगा। इस गाय की सेवा का उत्तरदायित्व आप दोनो पर होगा।"

"आपका आदेश शिरोधार्य है, गुरुदेव!" दोनो ने कहा।

प्रातःकाल नन्दिनी वन की ओर चली। राजा दिलीप गाय के पीछे-पीछे वीरवेश मे सुसज्ज होकर चले। उनके पीछे पदत्राणरहित रानी सुलक्षणा, जो अतीव सुकुमारी थी, फिर भी पति के साथ नन्दिनी गाय को चराने लगी।

नन्दिनी जब चलती तो दिलीप भी उसके पीछे-पीछे चलते, वह बैठती तभी वे बैठते थे। नन्दिनी कभी अस्वस्थ दीखती तो दिलीप और सुलक्षणा दोनो रातभर जागकर उसका उपचार करते। उनके लिए जप-तप आदि नित्य-नियम एकमात्र नन्दिनी की सेवा थी। गुरुदेव की गाय की वे प्राण-प्रण से सेवा और सुरक्षा करते थे। ऋषि वशिष्ठ का इसमे अपना कोई स्वार्थ नही था, न ही दिलीप से सेवा लेकर किसी बडप्पन की उन्हें आकाक्षा थी। इस बहाने वे दिलीप राजा के पापो का प्रक्षालन कराना चाहते थे। वही सब हो रहा था।

शीत, ग्रीष्म, वर्षा, यो ऋतुएँ बदलती गईं, पर दिलीप की साधना मे कोई अन्तर न पडा। शरद ऋतु गई, हेमन्त ने प्रवेश किया। दिलीप वनश्री की अपूर्व शोभा को निहारने मे एकाग्र हो रहे थे, तभी नन्दिनी पर एक सिह गर्जना करके झपटने वाला ही था कि दिलीप का ध्यान भग हुआ। वे फुर्ती से सिंह के पास पहुँचे। दोनो ने समझाया कि आप हमारा शरीर भक्षण कर लें, पर इस नन्दिनी गाय को छोड़ दे। सिह ने भी मनुष्यवाणी मे दिलीप को बहुत समझाया। आखिर दिलीप की उत्कृष्ट गोभक्ति देख सिंह अदृश्य हो गया।

ऋषि वशिष्ठ नन्दिनी को लेकर राजदम्पति को आते देख अतीव प्रसन्न हुए। उन्होने आज की घटना अपने अन्तर्ध्यान से जान ली। दोनो से कहा—"तुम्हारी इस तपश्चर्या से पूर्वकृत अशुभकर्म क्षय हो चुके है। अब तुम अपने स्थान पर लौट जाओ।"

इसके पश्चात् रानी सुलक्षणा गर्भवती हुई और उसने रघु को जन्म दिया। जिसके नाम पर 'रघुवश' कहलाया।

सच है, परोपकार-परायण ऋषि दूसरो की आत्म-शुद्धि के लिए इस प्रकार नि स्वार्थ प्रेरणा देते रहते थे।

ऋषि . बोध-प्राप्ति के केन्द्र

प्राचीनकाल मे ऋषि समाज के तथा राजाओ के मार्गदर्शक होते थे। वे नि·स्वार्थ भाव से जो उचित, न्याय्य व हितकर लगता, वह कह देते थे। उनकी वाणी के पीछे तप-त्याग का इतना बल होता था कि मार्गदर्शन लेने के लिए जो भी जाता, वह प्रभावित हो जाता है, और उनके वचन को शिरोधार्य किये बिना न रहता। उन्हें अर्थ (बात) सोचकर बोलना नही पड़ता था, किन्तु उनके मुख से जो शब्द निकलता था, उसके पीछे अर्थ दौड़कर आता था। इसीलिए कहा गया है—

लौकिकाना हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचोऽर्थोऽनुधावति॥

अब पूछा गया कि हम किस से बोध प्राप्त करें ? उसके लिए उपनिषद् मे एक वाक्य आता है—"प्राप्य वरान् निबोधत ।" यानी 'वरों' के पास पहुँचकर बोध प्राप्त करो। यहाँ ऋषि के लिए 'वर' शब्द का प्रयोग किया गया है। जो सब ओर से, सब प्रकार से सर्वांगीण श्रेष्ठ है, उसे 'वर' कहते हैं। वर-वधू मे भी इसी दृष्टि से 'वर' शब्द आता है। 'वधू' की दृष्टि से जगत् मे सर्वश्रेष्ठ मानव उसका पति ही है। फिर भले ही वह कोई भी हो। यहाँ भी परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए सर्वश्रेष्ठ (वर) पुरुष ऋषि हैं, जिनके पास पहुँचकर बोध प्राप्त करने का निर्देश किया गया है। ऋषि ऐसी शक्ति—बोधशक्ति भर देता है, जिससे मनुष्य मे दौड़ने की शक्ति आ जाती है।

'वर' (ऋषि) के पास श्रेष्ठ पुरुष होने के नाते कुछ आभूषण होने चाहिए। वे आभूषण कौन-कौन से है ? इसका हमे विचार कर लेना है। मुख्यतया सात आभूषणो से विभूषित पुरुष ही श्रेष्ठ (ऋषि) है—

(१) भगवत्स्पर्शी जीवन (२) ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क, (३) वात्सल्यपूर्ण हृदय, (४) वृत्ति की महानता, (५) अन्तःकरण की उदारता, (६) जीवन की तेजस्विता और (७) हृदय की वैभवशीलता।

ऋषिवर का सर्वप्रथम आभूषण है—भगवत्स्पर्शी जीवन। उसके अंग-अंग में वीतराग प्रभु की वाणी का, उनके गुणो का, अनन्त चतुष्टय का स्पर्श हो। उसमें किसी प्रकार का व्यवधान न हो। भगवत्स्पर्श से जीवन मे सभी आध्यात्मिक शक्तियाँ आ जाती हैं। चाहे वे अभी पूर्ण मात्रा मे न हो, पर उनका स्पर्श तो हो ही जाता है।

दूसरा आभूषण है—ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क। श्रेष्ठ पुरुष (ऋषिवर) के पास पारदर्शी, सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धि होनी चाहिए। जो वस्तुतत्त्व की भीतरी तह तक पहुँच सके। वस्तु के दो रूप होते है। एक होता है—बाह्य रूप जिसे स्थूल दृष्टि वाले देखते हैं, एक होता है—अन्तरंग रूप, जिसे ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क वाले ही देख सकते हैं। जो किसी भी विषय को छानते-छानते उसके अन्त तक पहुँच जाता है, उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है, क्योंकि वह विषय की गहराई तक जा पहुँचती है। किसी भी विषय की सभी पहलुओ से छानबीन कर लेना ऋषियो का स्वभाव होता है।

तीसरा आभूषण है—भावपूर्ण हृदय। बुद्धि केवल सूक्ष्म और बाल की खाल निकालने वाले तर्क से युक्त होने पर मनुष्य मे भावहीनता आ जाती है, कर्कशता भी। इसलिए भावपूर्ण हृदय भी साथ मे होना आवश्यक है।

चौथा आभूषण है—वृत्ति की महानता। उसका आचरण भी उच्च, महान् एवं धर्म से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिए श्रेष्ठ पुरुष वृत्ति का महान् होना चाहिए। उसमे स्वार्थ वृत्ति नहीं, सर्वार्थ वृत्ति हो, वह केवल स्वोद्धारक नही, विश्वोद्धारक होना चाहिए। मैं ही सुखी रहूँ, मैं ही नीरोग रहूँ, मेरा ही कल्याण हो, ऐसी संकीर्ण

वृत्ति न होकर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्' इस प्रकार सर्वव्यापीवृत्ति हो।

पाँचवाँ आभूषण है—अन्तःकरण की उदारता। श्रेष्ठ पुरुष अन्त करण का उदार होता है। वह स्वय अच्छे-अच्छे कार्य करता है, पर उसका यश दूसरो को देता है। पुरुषार्थ स्वय करता है, श्रेय सहकार्यकरो को देता है। ऋषि अपना सर्वस्व दूसरों को लुटा देता है।

छठा आभूषण है—जीवन की तेजस्विता! श्रेष्ठ (ऋषि) वर जीवन मे सत्त्व-हीन, निष्प्राण, निर्बल, आत्महीन, दब्बू, कायर, मायूस, निराश, निरुत्साह और सुस्त नही होते। वे निर्भय, निष्काम, उत्साही, आत्म-गौरवशील, सत्त्ववान् एवं वीर होते हैं। समाज को बदलने के लिए जब भी तप-त्याग एव प्रतिकार की शक्ति की जरूरत हो ऋषिवर कदापि पीछे नही हटते। वे वीर की तरह प्राण, प्रतिष्ठा और परिग्रह की आहुति देने मे तनिक भी नही हिचकिचाते।

सातवाँ आभूषण है—हृदय की वैभवशीलता। केवल मोटी या चौडी छाती वाला मनुष्य श्रेष्ठ नही होता, अपितु जिसके हृदय मे मानव-मात्र ही नही, प्राणिमात्र समा जाये, इतना विशाल वैभवशाली हृदय हो। जो किसी मानव को अपने हृदय में स्थान देने से घबडाता नही चाहे रूढ़ समाज उसका विरोधी ही क्यो न बन जाये।

ये सात आभूषण या सात गुण 'वर-नर' (ऋषिवर) मे होते हैं जिनसे वह सारे समाज, राष्ट्र एव विश्व को बोध दे सकता है। विशेषावश्यकभाष्य के पचम निह्नवाधिकार मे एक कथा आती है, जो इस विषय को पुष्ट करती है कि ऋषिवर बोध देकर कैसे सन्मार्ग मे स्थिर कर देते है।

भगवान् महावीर के निर्वाण को २२८ वर्ष बीत चुके थे। तभी पाँचवाँ निह्नव हुआ। वह कैसे निह्नव हुआ इसकी रोचक कथा है—उल्लुक देश की उल्लुका नदी के किनारे उल्लुकानगर था। वहाँ नदी के दूसरे तट पर महागिरि आचार्य के शिष्य धनगुप्त आचार्य रहते और नदी के पूर्वतट पर उनके शिष्य आर्य गग नामक आचार्य थे। वे एक बार शरत् काल मे अपने गुरु (आचार्य) को वन्दन करने हेतु गंगा नदी पार कर रहे थे, उस समय उनका केश रहित सिर सूर्य का प्रखर ताप पडने से तपने लगा, तथा पैरों मे नदी के पानी की शीतलता का स्पर्श होने लगा। मिथ्यात्व के उदय से आर्य गंग ऐसा दुश्चिन्तन करने लगे—'जैन सिद्धान्तो मे तो एक समय में दो क्रियाओं के अनुभव होने का निषेध है, जबकि मैं इस समय प्रत्यक्ष एक समय मे उष्णता और शीतला (गर्मी और ठंड) इन दोनो का अनुभव कर रहा हूँ। अत आगम में प्ररूपित सिद्धान्त अनुभव से विरुद्ध होने से ठीक नही है।'

आर्य गंग ने अपनी बात गुरु के समक्ष रखी। गुरु ने कहा—तुम जिन दोनो क्रियाओं का अनुभव एक समय मे होने की बात कहते हो, वे युगपत् (एक समय मे) नहीं

होते, अपितु क्रमश. होते है। क्योकि आवलिका का काल ही अत्यन्त सूक्ष्म है, बुद्धि अतीव चपल है। जब मन इन्द्रियसयुक्त होता है, तभी वह ज्ञान का हेतु होता है। पैर और मस्तक ये दोनो दूर-दूर अवयव है, उनका उपयोग एक काल मे कैसे हो सकता है? समस्त असख्यात प्रदेशो मे एक वस्तु का उपयोग हुआ, फिर दूसरी वस्तु का उपयोग होने मे जीव का कौन-सा अश बाकी रहा, जिससे दूसरा उपयोग हो? अत. काल अति सूक्ष्म है, इस कारण क्रमश उपयोग हुआ है, किन्तु तुम छद्मस्थता के कारण समझते हो कि समकाल मे (युगपत्) मैंने दो क्रियाओ का अनुभव किया।

एक युवक कमल के एक पर एक रखे हुए सौ पत्तो को बीधता है, वह यो समझता है कि मैंने एक ही काल मे सभी पत्ते बीध डाले। मगर एक पत्ता बीधे बिना उसके नीचे का दूसरा पत्ता नही बिधता। इसलिए प्रथम पत्ते के बीधने का काल अलग है, दूसरे को बीधने का काल अलग। इस प्रकार क्रमश तीसरे आदि पत्तो के बींधने का काल पृथक्-पृथक् है, उसी प्रकार उपयोग भी क्रमश होता है, युगपत् नही।

एक व्यक्ति पापड खा रहा है। उस समय वह आँख से पापड का रूप देखता है, नाक से उसकी गन्ध भी लेता है, जीभ से स्वाद भी चखता है, पापड हाथ मे है, इसलिए स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्शज्ञान भी होता है, पापड खाते समय खडखड शब्द भी होता है, उसे कान सुनता भी है। इन पाँचो इन्द्रिय-विषयो का ज्ञान क्रमश होता है, मगर काल की सूक्ष्मता के कारण तथा मन के शीघ्रचारी होने से व्यक्ति को ऐसा प्रतिभास होता है कि मैं पाँचो का अनुभव समकाल मे करता हूँ। इसी प्रकार तुम अपनी दोनो क्रियाओं के अनुभव के विषय मे भी समझ लो।

इस पर आर्य गग कुतर्क करने लगे, अपना कदाग्रह नही छोडा। अत आचार्य ने उन्हें गच्छ-बहिष्कृत कर दिया। सघ बहिष्कृत आर्य गग विहार करते हुए राजगृह पहुँचे, वहाँ मणिनाग नामक नाग के चैत्य के निकट ठहरे। वहाँ धर्मसभा जमी। आर्य गंग ने देशना दी, उस समय जब वे एक समय मे दो क्रियाओ का उपयोग होने की प्ररूपणा करने लगे तब मणिनाग ने कुपित होकर कहा—"अरे दुष्ट शिष्य! तुम यह खोटी प्ररूपणा क्यो कर रहे हो? मैंने स्वय भगवान् महावीर के मुख से समवसरण मे एक समय मे एक क्रिया के अनुभव की प्ररूपणा सुनी थी। तुम क्या सर्वज्ञ प्रभु से भी बढ़कर ज्ञानी हो गये हो कि उलटी प्ररूपणा करते हो? अत हठवाद छोड दो। अन्यथा, मैं यही तुम्हारी सब प्रतिष्ठा नष्ट-भ्रष्ट कर दूँगा।" मणिनाग देव के वचन सुनकर पूर्वोक्त युक्तियो पर पुन चिन्तन करके आर्य गग पुन. असली राह पर आ गये। प्रतिबोध पाया। अपनी गलती के लिए "मिच्छामि दुक्कड" दिया। गुरु के पास जाकर आलोचन-प्रतिक्रमण करके शुद्ध हुए और पुन सिद्धान्त मे स्थिर हुए।

ऋषि और देव से तुल्यता के कारण

बन्धुओ! जिस प्रकार देव भूले-भटके व्यक्ति को प्रतिबोध देकर स्थिर करते हैं, वैसे ही ऋषि भी भूले-भटके को प्रतिबोध देकर पुन सन्मार्ग मे स्थिर कर देते हैं।

ऋषि को देवतुल्य कहने का एक विशेष कारण यह है कि ऋषियों मे भगवद् गीता के १६वें अध्याय मे कहे गये दैवीसम्पदा के गुण होते हैं। जिनमे दैवीसम्पदा के दिव्यगुण होते हैं, उन्हें देव कहने मे कोई अत्युक्ति नही है। भगवद्गीता मे वर्णित दैवीसम्पदा के कुछ गुणो का मैं यहाँ उल्लेख करूंगा, उस पर से आप स्वत समझ जायेंगे कि ऋषियो और देवो को एक समान सम्मान्य क्यो माना गया ? गीता मे कहा गया है—

अभय सत्त्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति ।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
मार्दव ह्रीरचापलम्
पार्थ ! सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत !

—जिसमे अभय हो, चित्त (सत्त्व) की शुद्धि हो, ज्ञान योग व्यवस्थित हो, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय तप, सरलता, मृदुता, लज्जा, अचपलता आदि गुण हो, वह व्यक्ति दैवी सम्पदा का अधिकारी होता है।

मैं इन दैवीसम्पदा गुणो की व्याख्या की गहराई मे अभी नही जाना चाहता। ऋषियो मे दैवीसम्पदा के ये गुण कूट-कूटकर भरे होते है, इस दृष्टि से उन्हें देव-तुल्य कहना कोई अनुचित नही है।

जैसे लोक-व्यवहार मे ब्राह्मण को 'भूदेव' कहा जाता है, वैसे ही शास्त्रो से ऋषि-मुनियो को 'धर्मदेव' कहा गया है। ऋषि धर्म के देव तो है ही। उनका सारा जीवन धर्म मे रमण के कारण दिव्य होता है।

बन्धुओ ! इन्ही सब कारणो को लेकर महर्षि गौतम ने इस जीवनसूत्र मे ठीक ही कहा है—

रिसी य देवा य सम विभत्ता

आप भी ऋषियो के देवतुल्य दिव्य जीवन से लाभ उठाइये, उनकी सेवा मे पहुँचकर उनसे अपने जीवन की अटपटी समस्यायें सुलझाइये, उनसे धर्म-बोध प्राप्त कीजिए।

*

७६. मूर्ख और तिर्यंच को समान मानो

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मैं एक निकृष्ट जीवन की चर्चा करना चाहता हूँ, जिसे मूर्ख-जीवन कहा जाता है। मूर्ख-जीवन को महर्षि गौतम ने तिर्यञ्च के समान बताया है। मूर्ख-जीवन इतना अधिक परवश, बन्धनग्रस्त, पाशविक, जडता से युक्त एव अविकसित होता है कि वह पशु-पक्षी को भी मात कर देता है। इसीलिए महर्षि गौतम को कहना पडा—

मुक्खा तिरिक्खा य सम विभत्ता

—मूर्ख और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) समान कहलाते है।

गौतमकुलक का यह ६५वाँ जीवनसूत्र है। मूर्ख को तिर्यञ्च के समान क्यो बताया गया है ? मूर्ख मनुष्य होते हुए भी तिर्यंच-सा क्यो बन जाता है ? तिर्यञ्च का स्वभाव मूर्ख मे कैसे प्रतिबिम्बित हो जाता है ? इन सब पहलुओ पर हम आज गहराई से चिन्तन करेंगे।

मूर्ख . लक्षण और पहचान

वैसे देखा जाये तो मनुष्य का लक्षण मनन करके कार्य करने वाला है, इसलिए मनुष्य का मूर्ख होना मनुष्य के लक्षण के विपरीत है, तथापि कई मनुष्य ऐसे भी होते है, जिनकी बुद्धि या तो विकसित नही हुई है, या उन्होने अपने बुद्धि-वैभव को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया। इस कारण वे मनन-चिन्तन से कोसो दूर रहते है, वे अपनी बुद्धि से काम नही लेना जानते या नही लेना चाहते, साथ ही वे दूसरे बुद्धिमान् लोगो से भी कोई सलाह मशविरा नही करना चाहते, वे ही मूर्ख कहलाते है। आशय यह है कि मूर्ख मानव किसी भी कार्य-अकार्य का विवेक नही करता। सस्कृत के एक विद्वान् ने मूर्ख की चुटकी लेते हुए उसके ८ लक्षण बताये है—

मूर्खत्व सुलभ भजस्व कुमते ! मूर्खस्य चाष्टौ गुणा,
निश्चिन्तो बहुभोजकोऽतिमुखरो रात्रिन्दिव स्वप्नभाक्।
कार्याकार्यविचारणाविरहितो मानापमाने सम.,
प्रायेणाऽमयवर्जितो दृढवपुर्मूर्ख सुख जीवति ॥

अर्थात्—हे कुबुद्धि ! मूर्खता सुलभ है, उसे अपना लो। मूर्ख के ८ गुण या लक्षण हैं, जिनसे वह सुख से जीता है—

(१) मूर्ख को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती,

(२) वह मात्रा का विचार किये बिना अत्यधिक भोजन करता है।

(३) अत्यन्त वाचाल,

(४) रात-दिन आलस्यवश सोया रहने वाला,

(५) कार्य-अकार्य के विवेक से रहित,

(६) जिस पर सम्मान और अपमान का कोई असर नही होता,

(७) प्राय नीरोग और

(८) हट्टा-कट्टा।

मूर्ख को पहचानने के लिए नीतिकार ने पाच चिह्न बताये है—

मूर्खस्य पचचिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा।
हठी चाप्रियवादी च परोक्त नैव मन्यते ॥

मूर्ख के पाँच चिह्न है—(१) घमडी, (२) दुर्वचनी (कटुभाषी) (३) हठाग्रही (४) अप्रियवादी और (५) किसी हितैषी की बात न मानने वाला।

मूर्ख के और भी लक्षण विभिन्न विचारको ने बताये है। एक दोहे मे एक विचारक ने मूर्ख की निशानी बता दी है—

मूरख माथे सीगडा, नही निशानी होय।
सार-असार विचार नही, जन ते मूरख होय ॥

भावार्थ स्पष्ट है। जो व्यक्ति सार-असार का, कार्य-अकार्य का, हित-अहित का, भले-बुरे का, धर्म-अधर्म का कोई विचार नही करता, वह मूर्ख कहलाता है।

मैं गान्धार नरेश नग्गति प्रत्येकबुद्ध की कथा के अन्तर्गत आये हुए एक दृष्टान्त के द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दूं तो अच्छा रहेगा—

जितशत्रु राजा को चित्रकला का बहुत शौक था। राजा ने इसके लिए एक अद्वितीय चित्रशाला बनवाने का विचार किया। उसने दूर-सुदूर देशो से अनेक नामी चित्रकारो को बुलाया, उनमे एक बूढा चित्रकार भी था। शरीर उसका जरा-जीर्ण हो गया था, हाथ भी थर-थर कांपते थे, लेकिन उसकी कला मे जादू-सा चमत्कार था। रग और कूंची लेकर जब वह चित्र बनाने बैठता तो अपनी पैनी सूझबूझ से बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक चित्र बनाता था। राजा ने प्रत्येक चित्रकार को चित्रशाला मे अपना-अपना मनपसन्द चित्र बनाने के लिए बराबर-बराबर स्थान सौंप दिया।

इस बूढे चित्रकार की एक सुन्दर नवयौवना कन्या थी—'कनकमजरी'। वह अपने पिता के लिए घर से चित्रशाला मे भोजन लाया करती थी। एक बार वह कन्या घर से भोजन लेकर निकली थी कि रास्ते मे एक घुड़सवार बहुत तेजी से घोड़ा

दौडाता हुआ उधर से गुजरा। घोडे को तेज दौडता देख बच्चे और स्त्रियाँ भय-भीत होकर मार्ग से हटकर एक ओर हो गये। कनकमंजरी भी डरकर एक ओर किसी दीवार से सटकर खडी हो गई। घुडसवार की इस लापरवाही पर कनकमंजरी को मन ही मन बहुत रोष आया, पर वह कर क्या सकती थी?

भोजन लेकर जब वह पिता के पास पहुँची। पिता ने अपना काम बन्द करके कूँची एक ओर रखी और कहा—"बेटी ! मैं जरा शरीर-चिन्ता से निवृत्त होकर आता हूँ, उतने तू इस चित्र को बारीकी से देख।"

पिता की इस अदूरदर्शिता पर कनकमजरी मन ही मन बहुत झुँझलाई, पर चुप रही। चित्रकार लोटा लेकर बाहर गया कि पीछे से कनकमजरी ने उसी भींत पर तूलिका से 'मयूरपिच्छ' का चित्र बनाया। रगो की मोहकता और कला की चतुरता ने मयूरपिच्छ म मानो जान डाल दी। दूर से वह मयूरपिच्छ ऐसा लगने लगा, मानो वह हूबहू मयूरपिच्छ हो।

उधर से चित्रशाला का निरीक्षण करता-करता राजा भी कक्ष मे आ पहुँचा, जहाँ मयूरपिच्छ चित्रित था। राजा ने दूर से ही मयूरपिच्छ को देखा तो ऐसा लगा कि सचमुच मोर की पाख ही रखी हो। राजा ने उसे उठाने के लिए ज्यो ही हाथ बढाया, त्यो ही राजा का हाथ भीत से टकराकर रह गया, राजा को अपने दृष्टिभ्रम पर बहुत लज्जा आई। राजा के इस अज्ञानपूर्ण आचरण पर कनकमजरी जोर से हँस पडी—"मेरी खाट के चारो पाये पूरे हो गये।"

कनकमजरी के उपहास पर राजा मन ही मन अपमानित-सा लज्जित-सा महसूस करने लगा। साथ ही 'खाट के चारो पाये पूरे हो गये' इस वाक्य से वह अत्यधिक विस्मित भी हो रहा था। राजा ने उससे पूछा—"भद्रे ! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तुम्हारी खाट के चार पाये कौन-कौन से है और कैसे पूरे हो गये ?"

कन्या मुक्त हास्य बिखेरती हुई बोली—"हाँ, हाँ, आपने जब पूछ ही लिया तो मैं भी बताये देती हूँ कि मेरी खाट के चार पाये कौन-कौन-से हैं ? सुनिये महाराज ! मैंने इस ससार मे चार विचित्र मूर्ख देखे है, वे ही मेरी खाट के चार पाये है।"

राजा ने पूछा—"कौन-कौन-से ?"

कनकमजरी—"पहला मूर्ख यहाँ का राजा है, जिसने युवा और वृद्ध चित्रकार की क्षमता को जाने बिना ही सबको एक जितनी भूमि चित्र बनाने के लिए दी है। यह तो सब जानते हैं कि युवा शरीर मे जो स्फूर्ति होती है, वह वृद्ध एवं जीर्ण शरीर मे कैसे हो सकती है ? युवक अधिक देर तक काम कर सकता है, जबकि वृद्ध थोडी देर तक काम करके ही थक जाता है। फिर भी राजा वृद्ध और युवक की स्थिति का विवेक किये बिना दोनो को एक समान भूमि पर चित्र बनाने का समान ही पारिश्रमिक देता है। इसलिए पहला मूर्ख राजा है, जो मेरी खाट का पहला पाया हो गया।"

राजा यह सुनकर अपमान के मारे जमीन मे धँसता जा रहा था। उसने कन्या की ओर देखकर पूछा—"अच्छा बतलाओ, दूसरा मूर्ख कौन-सा है जो तुम्हारी खाट का दूसरा पाया है ?"

कनकमजरी—"राजन् ! वह है घुडसवार जो राजमार्ग पर बहुत तेजी से घोडा दौडाता है। राजमार्ग पर बालक, स्त्री, वृद्ध सभी चलते है, वहाँ तो घोडा धीमी चाल से चलाना चाहिए। तीव्र गति से दौडाने पर कोई भी उस घोडे की चपेट मे आ सकता है ? पर उस लापरवाह घुडसवार मे इतनी बुद्धि कहाँ ? अत दूसरा मूर्ख वह घुडसवार है।"

राजा ने फिर पूछा—"अच्छा यह बताओ, तीसरा मूर्ख कौन है ?"

कनकमजरी—"राजन् ! तीसरा मूर्ख मेरा पिता है। वह ऐसे है कि मै उसके लिए गर्म-गर्म भोजन लेकर आती हूँ, तो वह मेरे आने के बाद शौच के लिए जाता है। इतनी देर मे भोजन ठडा हो जाता है। उसमे इतनी बुद्धि नही कि भोजन के समय से पूर्व ही शौचादि से निपटकर तैयार रहना चाहिए, ताकि बुढापे मे गर्म और ताजा भोजन किया जा सके। इसलिए वह भी मूर्खता का कार्य है और क्या ?

राजा ने पूछा—"और चौथा मूर्ख कौन है, तुम्हारी दृष्टि मे ?"

कनकमजरी ने सीधे और स्पष्ट शब्दो मे बेधडक कह दिया—"चौथे मूर्ख हो तुम, जो यहाँ आते ही भीत पर मयूरपिच्छ (चित्रित) देखकर उसे लेने को झपट पडे। यह नही सोचा कि भला, दीवार मे मोर कैसे बैठ सकता है ? उतावली मे हाथ मार कर व्यर्थ ही अपना नाखून तोड लिया। क्या यह मूर्खता नही है ?"

राजा कन्या की बुद्धिमत्ता और वचन-चातुरी देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उसने कनकमजरी की बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर उसके साथ पाणिग्रहण कर लिया। कहानी आगे चलती है, परन्तु आगे की बातो से यहाँ कोई प्रयोजन नही है। यहाँ तो 'मूर्ख' के लक्षण की बात चल रही है। इन चारो मे दूरदर्शिता और सूक्ष्मबुद्धि नहीं थी, चारो हित-अहित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक नही कर पाये थे।

मूर्ख वाणी मे अविवेकी

मूर्ख की सबसे अच्छी पहचान है—वाणी की। वह जब वचन बोलता है, तभी पता लग जाता है कि उसका वचन मूर्खतापूर्ण है या सुविचारपूर्ण ? कई मूर्खों की आदत होती है कि वे बहुत बकवास करते रहते है। अपने आपको बुद्धिमान सिद्ध करने के लिए वे किसी के न पूछने पर भी बोलते ही रहते है। एक बार उन्हें छेड लो, फिर उनके वचनो की गाडी ऐसी तेजी से छूटेगी कि बीच मे रोकने पर भी नही रुकेगी। कोई व्यक्ति उनकी बातो से ऊबकर उन्हें रोकना चाहेगा तो वे उससे ही लड पडेंगे और अटसंट बकते रहेंगे। अत्यधिक और अप्रासगिक बोलना मूर्खता का चिह्न है।

किसी-किसी मूर्ख मे एक विशेषता होती है कि वह बिना अवसर अच्छा वक्ता बन जाता है, किन्तु मौके पर मौन धारण कर लेता है। अपना पाण्डित्य बताने के लिए मूर्ख वाचालता का सहारा लेता है। तिलोक काव्य सग्रह मे मूर्ख के इस चिह्न का विश्लेषण करते हुए कहा है—

लोक-सी जीभ को निकाले अविवेकी नर,
मूरख को मुख जैसे बिविका सो कहिये।
निकसत वचन करूर विकराल व्याल,
सुणत श्रवण वेण तन-वन दहिये॥
बिना ही विचारे बात बोलत है टोल सम,
भावे सो ही होय फिर फिकर न लहिये।
कहत 'तिलोक' ऐसे मूढ के वचन जहर,
औषधी है मौनरूप चुपचाप रहिये॥

भावार्थ स्पष्ट है।

एक पण्डितजी थे। वे पढ़े तो थे, पर गुने नही थे। किस के आगे क्या कहा जाये ? किसको क्या सुनाया जाये ? इस बात का विवेक उनमे जरा भी नही था। एक बार वे एक गाँव मे जा पहुँचे और गडरियो के सामने वे सामवेद बहुत उच्चस्वर से पढ़ने लगे। गडरिये बेचारे सामवेद मे क्या जाने ? गडरियो ने समझा इस आगन्तुक के मुँह मे कोई रोग हो गया है जिसके कारण यह जोर-जोर-से चिल्लाता है। अनपढ गडरियो ने उन्हें रोगी समझकर उनके शरीर पर पशु की तरह डाम लगा दिये। अब पण्डित जी चुप हो गये और पोथी-पत्रा समेटकर चुपचाप उस गाँव से नौ-दो-ग्यारह हो गये।

कही-कही किसी सज्जन को ऐसे मूर्ख से पाला पड जाता है, जो जानता-बूझता कुछ नही है लेकिन अपनी डीग बहुत ज्यादा हाँकता है। ऐसे समय मे मूर्खों से पिण्ड छुड़ाने के लिए मौन के सिवाय कोई इलाज नही है।

एक बार अकबर बादशाह ने बीरबल से कहा—"बीरबल ! तुम बडे चतुर और बुद्धिमान हो, तुम्हारे पिता तो न जाने कितने अक्लमद और होशियार होगे। मैंने कभी उनसे बातचीत नही की। कल उन्हें दरबार मे साथ लेकर आना, मैं उनसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

विचक्षण बीरबल भाँप गया कि बादशाह का क्या मकसद है ? अत उसने कहा—"हजूर ! वे बहुत ही बूढे है, उनको यहाँ आने मे बहुत दिक्कत होगी। उनसे जो बात करनी है वह कृपा करके मेरे से कर लीजिए।"

बादशाह—"नही बीरबल ! कल तो उनसे जरूर मिलाओ। मेरी दिली ख्वाहिश है कि उनसे कुछ अनुभव की बातें पूछूं।"

बीरबल ने बहुत टालने की कोशिश की, लेकिन बादशाह न माना। अतः बीरबल ने कहा—"अच्छा, मैं उन्हें लेकर कल आऊँगा।"

बीरबल ने घर आकर अपने पिताजी को बादशाह का आदेश सुनाया। कहा—"कल आपको दरबार मे चलना है। वहाँ आपको कुछ नही करना है। आप तो सिर्फ मेरे आसन पर बैठ जाये। बादशाह कुछ भी पूछे, आपको उसका जवाब बिलकुल नही देना है। फिर जो कुछ होगा, उसे मैं सँभाल लूँगा।"

दूसरे दिन बीरबल अपने पिता को अच्छे वस्त्र पहनाकर दरबार मे ले आया। जिस आसन पर बीरबल स्वय बैठता था, उस पर उन्हें बिठा दिया और स्वय पास मे खडा रहा।

बादशाह बीरबल के पिता को देखकर पूछने लगा—"बूढे! आज ही दरबार मे आये हो?" पिता चुप रहा, कुछ भी न बोला।

"कितनी उम्र है तुम्हारी?" फिर भी बीरबल का पिता चुप रहा।

बादशाह—"ओ बूढे! मैंने तुम्हें आज जीवन के अनुभव सुनने के लिए बुलाया था। पर तुम कैसे अजीब आदमी हो कि बिलकुल चुप हो गये हो।" फिर भी बीरबल का पिता मौन रहा। अन्त मे बादशाह ने हैरान होकर बीरबल से पूछा—"अगर किसी मूर्ख से पाला पड जाये तो क्या करना चाहिए?"

तुरन्त बीरबल ने कहा—"जहाँपनाह! चुप रहना चाहिए।"

बादशाह ने मन ही मन समझ लिया कि मुझे बेवकूफ सिद्ध करने के लिए बीरबल ने अपने पिता को चुप रखा है। बादशाह स्वत मूर्ख सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार मूर्ख के साथ कभी वास्ता पड जाये तो बुद्धिमान् सज्जन को मौन रखना ही श्रेयस्कर है।

मूर्ख हठाग्रही और जिद्दी

कई मूर्ख हठाग्रही और जिद्दी होते है। वे इतने हठाग्रही होते है, जिस बात को एक बार पकड लेते है, दूसरे हितैषी लोग उन्हें चाहे जितना समझाये, वे छोडने को तैयार नही होते। मूर्ख की हठाग्रही और जिद्दी प्रकृति के कारण मूर्खता के चार चिह्न अहकारवश उसमे व्यक्त होने लगते है—(१) वह अपने से बडे या बलिष्ठ के साथ भिड जाता है, (२) जिसने कुछ भी काम नही किया, उस पर भरोसा कर लेता है, (३) नादानो के साथ अतिपरिचय करने लगता है, (४) स्त्रियो के छल-प्रपच से गाफिल रहता है।

एक रोचक उदाहरण मुझे याद आ रहा है—

एक राजा था। वह बडा अहकारी और जिद्दी था। वह जिस बात को मन मे विचार लेता, उसे किये बिना नही छोड़ता, चाहे वह बात सम्भव हो या असम्भव!

यदि कोई नौकर उस कार्य के लिए इन्कार करता या उस कार्य का होना असंभव बताता तो वह उसे डाटता-फटकारता, मारता-पीटता भी।

उसकी इस प्रकृति के कारण उसके पास रहने वाले जितने भी नौकर थे, वे जी हाँ कहते रहते थे और राजा की बात मे हाँ मे हाँ मिलाकर उसे चढ़ाते रहते थे। वे सदैव राजा की ठकुरसुहाती करते थे। राजा को भी अपनी प्रशसा बहुत ही सुहाती। वह कहता—'दिन है' तो भले ही अधेरी रात हो 'जीहजूरिये' उसकी हाँ मे हाँ मिलाकर कहते—"जी हाँ, सच्ची बात है, कितना उजाला है, दिन के बारह बजे का सूर्य चमक रहा है।" जब राजा चिल्लाकर कहता है—"अरे मूर्खो ! यह तो रात है रात।" तब वे कहने लगते—"हजूर की बात सोलहो आने सच है।"

एक दिन वह राजा समुद्रतट पर सैर करने निकला। साथ मे कुछ जीहजूरिये थे ही। समुद्र मे ज्वार आ रहा था, समुद्र की उत्ताल तरगें जोर-जोर से उछल रही थीं। राजा ने वही अपनी कुर्सी रखवाई और उस पर बैठकर कहने लगा—"अरे, बतलाओ, मेरा राज्य कहाँ नही है ?" वे कहने लगे—"सर्वत्र है महाराज !"

राजा—"यह समुद्र भी मेरी आज्ञा मानता है न ?"

जीहजूरिये—"हाँ, हजूर, मानेगा क्यो नही ?"

राजा ने आगे बढते हुए समुद्र के ज्वार को लक्ष्य करके कहा—"अरे ओ मूर्ख ! तुझे पता नही है, यहाँ मैं तेरा राजा जीवित बैठा हूँ। अत पीछे हट, पीछे !"

परन्तु समुद्र किसकी मानता है ? उस पर किसी का शासन चला है ? मूर्ख राजा ने फिर गुस्से मे आकर कहा—"अरे ! पीछे हटता है या नही ? मेरा हुक्म है। कि तू झटपट पीछे हट जा।"

परन्तु समुद्र मे ज्वार आगे से आगे बढता आ रहा था, इधर मूर्ख राजा का गुस्सा भी बढ़ता जा रहा था। गुस्से मे आकर उसने तलवार निकाली और दरबारी लोग रोकें उससे पहले ही 'अब तो तुझे एक ही झटके म मारकर गिरा दूँगा' यो जोर से चिल्लाता हुआ पानी मे आगे बढा। राजा को भान ही न रहा कि वह कहाँ जा रहा है ? थोडा-सा आगे बढते ही बहुत गहरा पानी था, मूर्ख राजा को उछलती तरगो ने अपने मे समा लिया। इस प्रकार मूर्ख राजा ने अपनी शक्ति जाने बगैर अपनी हठ के कारण प्राण गँवाये।

इसी प्रकार जो लोग जिद्दी और हठाग्रही होते हैं, वे अपनी हैसियत जाने-पहचाने बगैर अधी दौड लगाते है, हर एक काम मे वे इसी प्रकार करते है, चाहे कोई सामाजिक रीति-रिवाज हो, चाहे आर्थिक व्यय-सम्बन्धी कार्य हो, चाहे राजनैतिक हो। चुनाव के दिनो मे खडे होने वाले मौसमी नेताओ को देखकर आप अनुमान लगा सकेंगे कि वे अपनी क्षमता और शक्ति को तौले-नापे बिना ही कितने उछल रहे हैं। झूठी जिद के कारण मूर्ख मे ये अवगुण सहज ही आ जाते हैं—

(१) नीच कार्य करके प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा रखता है।
(२) शत्रु के साथ मित्रता करता है, मित्रों के साथ द्वेष।
(३) स्वयं करने योग्य कार्य नौकरों से कराता है।
(४) शीघ्र करने योग्य कार्यों मे बहुत विलम्ब करता है।
(५) कोई न पूछे तो भी अपने आप बडबडाता रहता है।
(६) मेहनत किये बिना ही अलभ्य वस्तु पाना चाहता है।
(७) दण्ड देने योग्य न हो, उसे दण्ड देता है।
(८) अकारण ही दूसरो के घर जा बैठता है।
(९) जिससे याचना करना योग्य नही, उससे याचना करता है।
(१०) स्वय निर्बल होते हुए भी बलबान के साथ वैर बाँध लेता है।
(११) अल्प धर्मलाभ से ही जो थककर बैठ जाता है।
(१२) स्वय सम्पन्न होने पर भी दूसरो को आश्रय नही देता है।
(१३) प्रशसा से फूलकर कर्ज करके भी खर्च करता है।

ये सब दुर्गुण मूर्खों की दुराग्रही वृत्ति एव अहकार के कारण आते हैं।

मूर्ख की पकड बहुत गहरी

इसी दुराग्रही वृत्ति के कारण मूर्ख की पकड बहुत गहरी होती है। वह या तो किसी बात को ग्रहण ही नही करता या फिर अगर वह किसी बात को पकड लेता है, तो जल्दी छोडता नही। अपनी मूर्खता के कारण वह जगह-जगह बार-बार हँसी का पात्र भी बनता है, नुकसान भी उठाता है, परन्तु प्राय वह अपनी मूर्खता को मूर्खता समझता ही नही। वास्तव मे वह व्यक्ति उतने अश मे मूख नही है, जो अपनी मूर्खता को जानता है, वास्तविक मूर्ख तो वह है, जो मूर्ख होते हुए भी अपने आपको पण्डित समझता है।

मूर्ख व्यक्ति किस प्रकार अपनी मूर्खता को न समझकर एक ही बात को पकडकर हँसी का पात्र बनता है, इसके लिए एक रोचक उदाहरण लीजिए—

एक कृषक-पुत्र को किसी कार्यवश दूसरे गाँव जाना था। अकस्मात् ही यह अवसर आया था। उसे गाँव मे अपना कार्य निपटाकर शाम को वापस लौटना था। अत उसे सुबह होने से पहले ही घर से रवाना होना था। उसकी माँ ने तब तक रोटी नही बनाई थी। भाता ले जाने के योग्य कोई वस्तु बनी हुई थी नही। उसके अकेले जाने का यह पहला ही मौका था। माँ ने उसे कुछ शिक्षा दी और कहा—"बेटा! घर मे अभी कोई खाने की चीज बनी हुई नही है, जो तुझे भाते मे दे दूँ। ले, यह ढब्बु पैसा (दो पैसे का टका) ले जा, भूख लगे तो इससे कुछ खरीदकर खा लेना। मुफ्त मे मागकर कही कुछ मत खाना।" लडके ने माता की सीख गाँठ बाँध ली और घर से चल पडा। उसे जिस गाँव मे जाना था, वहाँ पहुँच गया और काम निपटाकर वहाँ से घर

की ओर लौट पड़ा। रास्ते मे चलते-चलते धूप चढ़ गई। यद्यपि वह तेजी से चल रहा था, परन्तु उसका गाँव अभी काफी दूर था। फिर भयकर गर्मी की मौसम तथा भूख-प्यास सता रही थी। रास्ते मे एक गाँव आया, तो उसने सोचा—यहाँ से कुछ खरीद कर खा-पी लूं फिर आगे बढूं।"

कृषक-पुत्र की शादी बहुत छोटी उम्र मे हो गई थी। शादी के बाद वह कभी ससुराल मे आया नहीं था। उसकी पत्नी अभी तक अपने मैके ही थी। यह गाँव उसकी ससुराल का गाँव था। लेकिन उसे पता नहीं था कि यही मेरी ससुराल है। वह खाने की वस्तु खरीदने के इधर-उधर घूमा पर कही कोई दूकान न होने से भोजन न मिल सका। आखिर लोगो से पूछता-पूछता अनायास ही अपनी ससुराल के आँगन मे जा खडा हुआ। उसके बडे साले ने उसे पहचान लिया। कृषक-पुत्र ने उससे पूछा—"क्या यहाँ कुछ खाने की वस्तु मिल सकेगी?" साले ने उसके चेहरे से उसकी परेशानी भाँप ली। शान्ति से उत्तर दिया—हाँ, आइये, यहाँ भोजन की व्यवस्था हो जायेगी।"

साले ने बहनोई को आदरपूर्वक उचित स्थान पर बिठाया। लोटा भर कर पानी लाया। हाथ-मुँह धुलाये। फिर पीने के लिये पानी और गुड की डली ले आया। कृषक-पुत्र ने गुड की डली मुँह म डालकर पानी पिया। कुछ शान्ति हुई तो विचार दौडने लगे—शायद ये मुझे बडा ग्राहक समझकर विशिष्ट भोजन तैयार करे। मेरे पास तो सिर्फ ढब्बु पैसा है। अत उसने स्पष्टीकरण करना उचित समझकर कहा—"देखिये साहब! मेरे पास ढब्बु पैसे से अधिक देने को कुछ भी नही है। आप उसके अनुसार ही भोजन तैयार करवाइयेगा।" साले ने उसकी अज्ञता का मजा लेते हुए कहा—"हाँ साहब! उसके अनुसार ही तैयारी होगी, घबराइये मत।"

दामाद आखिर दामाद ही होता है। वह जब अपने यहाँ भले ही भूल से आये तो भी उसके अनुसार स्वागत-सत्कार होना चाहिये। अत साले ने घर म सबको इस बात की सूचना कर दी कि विशिष्ट भोजन तैयार किया जाये।

विशिष्ट भोजन तैयार करने मे देर तो लगती ही है। कृषक-पुत्र को मीठी-मीठी महक आ रही थी। इसलिये कुछ शका हुई कि कुछ विशिष्ट भोजन तैयार हो रहा है। अत उसने फिर चेतावनी देते हुए कहा—"देखिये साहब! सोच-समझकर भोजन तैयार करवाएँ। मेरे पास ढब्बु पैसे से अधिक कुछ भी नही है।" साला मन ही मन मुस्कराया और बोला—"कोई बात नहीं। आप भोजन तो करिये। पैसे की बात बाद मे सोची जायेगी। अभी आप अपने पास ही रखें अपना ढब्बु पैसा।"

भोजन का थाल सामने आया। विविध सामग्री देखकर कृषक-पुत्र फिर भड़क कर बोला—"आपने यह सब क्यो बनवाया? मेरे पास तो सिर्फ ढब्बु पैसा है।" साले ने मुश्किल से हँसी रोककर कहा—"आप भोजन करिये। पैसे की चिन्ता न

करिये।" वह चुपचाप संकोचपूर्वक भोजन करने लगा। थाल की भोजन सामग्री समाप्त भी नहीं हुई थी कि पुन मनुहार के साथ भोजन परोसा जाने लगा। कृषक-पुत्र मुँझलाकर बोला—"कही मेरे साथ ठगाई तो नही की जा रही है ? आप मनुहार तो कर रहे हैं, लेकिन सोच लेना, मेरे पास ढब्बु पैसा ही है।" साले ने मजाक के स्वर मे कहा—"यह तो मुझे मालूम है। यह सब ढब्बु पैसे मे ही तो हो रहा है।" कृषक-पुत्र बोला—"तब तो आपके यहाँ पूरा सुकाल है।" घर के भीतर से भी हँसी की धीमी गूँज आ रही थी।

भोजन करने के बाद वह साले को ढब्बु पैसा देने लगा तो उसने कहा—"अभी आप रहने दीजिये। अभी थोडा आराम कर लीजिये।" एकान्त हवादार स्थान में उसकी शय्या बिछा दी गई। शय्या देखकर कृषक-पुत्र बोला—"अच्छा! यहाँ ढब्बु पैसे मे आराम की भी व्यवस्था है ?" साला हँसी को पीते हुए बोला—"जी हाँ!" और चल दिया। कृषक-पुत्र आँखे मूँदकर सोया ही था कि किसी ने उसके पैर पर हाथ की हलकी-सी चाप दी। बात यह थी कि उसकी पत्नी को अपने पति की ढब्बु पैसे की रट अच्छी नही लग रही थी। बच्चे भी उसे चिढ़ा रहे थे—'बुआ! ढब्बू पैसे वाले फूफाजी आए, जीजी! ढब्बु पैसे वाले जीजाजी आये।' इससे वह मन ही मन घबराकर एकान्त देख अपने पति को चेताने आई थी। कृषक-पुत्र ने चाप का अनुभव किया तो आँखें खोली, अपने सामने एक षोडशी को खडी देख उसने पूछा—"तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आई हो ? देखो, मेरे पास ढब्बु पैसे से ज्यादा कुछ भी नहीं है।" उसकी पत्नी हँसी और चिढ़कर बोली—"मैं भी ढब्बु पैसे मे आ रही हूँ। अब कितनी बार ढब्बु पैसे की बात को दोहराओगे ? कुछ अक्ल से काम लो। क्या इतना सब स्वागत ढब्बु पैसे मे ही हो रहा है ? यह आपकी ससुराल है। मैं आपकी पत्नी हूँ। ढब्बु पैसे की आपकी रट से अब तो जिंदगीभर आपके सिर पर ढब्बु पैसे की छाप लग गई है। मैं तो लज्जित हो गई हूँ, यह सुन-सुनकर।"

कृषक-पुत्र भौचक्का-सा रह गया। वह बोला—"अच्छा, यह मेरी ससुराल है ? मुझे क्या मालूम ?"

स्त्री बोली—"आपको तभी मालूम हो जाना चाहिये था, मेरा इतना स्वागत किया जा रहा है तो कोई कारण है ? दूसरी जगह तो आपका किसी ने इतना स्वागत नही किया।" कृषक-पुत्र लज्जित हो गया। शीघ्र ही वह सबसे मिलकर बिदा हो गया।

मेरे कहने का मतलब यह है, ढब्बु पैसे वाले कृषक-पुत्र की तरह बहुत-से मनुष्य किसी बात को कसकर पकड लेने के कारण मूर्ख एव हँसी के पात्र बनते हैं। इसलिये जैसे पशु अपनी अक्ल अधिक नही दौडा सकते, सीमित दायरे मे ही सोचते हैं, वैसे ही मूर्ख भी अपनी अक्ल अधिक नही दौडाते। वे भी सीमित दायरे मे ही सोचते हैं। पशुओं की तरह उनमे नई बात सोचने का माद्दा ही नही होता।

मूर्ख ' बन्दर के समान नकलची

मूर्ख आदमी प्राय दूसरो की नकल किया करता है। उसमे पशु के समान स्वय की अक्ल तो बहुत ही कम होती है, इसलिए वह बन्दर के समान नकल करने लगता है। परन्तु वह यह नही समझता कि नकल करने से किसी न किसी दिन कलई खुल सकती है। नकल करने से मूर्ख मे किसी काम को व्यवस्थित एव भली-भाति करने की सूझ-बूझ नहीं आती, वह जैसे अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्ति को करते देखता है, ठीक उसी की नकल करने लगता है। उसे यह नही मालूम होता कि इस प्रकार नकल करने से उसके समय, शक्ति और धन का कितना अपव्यय होता है। परन्तु कई मूर्ख लोग अपनी हैसियत न होते हुए भी विवाह-शादियो, उत्सवो और अन्य प्रसगो पर समाज मे झूठी वाहवाही और क्षणिक प्रतिष्ठा पाने के लिए दूसरो की देखा-देखी हजारो रुपयो का धुँआ उडा देते है। फिर जब वे कर्जदार हो जाते हैं, तब पछताते हैं। परन्तु अब पछतान से क्या होता है ?

एक उदाहरण के द्वारा इसे समझने मे आसानी होगी—

आद्य शकराचार्य का एक शिष्य था। वह बडा मूर्ख था। हर बात मे वह शकराचार्य की नकल किया करता था। शकर जब कहते—'शिवोऽहम्' तो वह भी कहता—'शिवोऽहम्'। शकराचार्य ने उसकी मूर्खता दूर करने का निश्चय किया। एक दिन वे उस मूर्ख शिष्य को अपने साथ एक लुहार की दूकान पर ले गये। लुहार से उन्होने पिघला हुआ लोहा लिया और जब स्वय पी गये तब उस मूर्ख शिष्य से उन्होने कहा—"ले तू भी इसे पी।" शिष्य झेप गया बोला—"यह तो मुझ से नही हो सकता।"

शकराचार्य ने कहा—"तब तू हर बात म मेरी नकल क्यो करता है ? नकल करना अच्छा नही है, यह तो मूर्खता का चिह्न है। नकल करने से अक्ल गुम हो जाती है, बौद्धिक विकास रुक जाता है।"

अब मूर्ख शिष्य समझा, उसने शकराचार्य से क्षमा माँगी और भविष्य मे न कल न करने की प्रतिज्ञा ली।

शकराचार्य के मूर्ख शिष्य ने तो नकल करना छोड दिया, परन्तु आज के पठित और शिक्षित लोग परीक्षा के समय नकल करते-कराते है, वे पता नही कब नकल करना छोडेगे ? वरना नकल करने वाला मूर्ख की कोटि मे ही गिना जायेगा, फिर चाहे वे निरीक्षक, अध्यापक आदि को धमकी देकर नकल करें या और तरीको से करें, 'मूर्ख शिरोमणि' का पद तो मिल ही जायेगा।

मूर्ख मदमति होने से पशुतुल्य

मूर्ख मे सबसे बडा दुर्गुण यह होता है कि वह आगे-पीछे का कोई विचार नही करता, वह सिर्फ वर्तमान को ही देख पाता है। साथ ही वह ह नि-लाभ, अच्छे-बुरे परिणाम की परवाह किये बिना ही बेधडक काम किये जाता है। पशु मे भी बुद्धि मद होती है, मूर्ख मे भी। इसी मदबुद्धि के कारण ही मूर्ख बिना सोचे-समझे उलटे

काम करता है और इतनी जड़ता के साथ करता है कि सहसा किसी के रोकने से रुकता नहीं। मूर्ख की बुद्धिमन्दता के कुछ नमूने ये हैं—

(१) जो बुढापे मे भी आत्मशान्ति के लिए तैयार न होकर धन की तृष्णा एवं मोह-माया मे डूबा रहे।

(२) अपने सारे कुटुम्ब का परित्याग करके अपना अमूल्य जीवन स्त्री के आधीन कर दे।

(३) विषय-भोगो मे निर्लज्ज होकर डूब जाये।

(४) दूसरो से आशा रखकर स्वय पुरुषार्थहीन हो जाये।

(५) परोपकार करना न जाने, और उपकार करने वाले के प्रति भी अपकार करे।

(६) जो अपनी बात न सुने, उसे जबर्दस्ती शिक्षा देने का प्रयत्न करे।

(७) जो घर मे तो बहुत ही चतुर बनकर बिवेक करता है, मगर सभा मे कुछ कहने मे शर्माता है।

(८) जो जूआ, वेश्यागमन, चोरी, परस्त्रीगमन, मद्यपान, निन्दा-चुगली, आदि मे आसक्त हो।

ये सब अकृत्य मूर्ख व्यक्ति करता है, अपनी बुद्धिमन्दता एव अदूरदर्शिता के कारण। मूर्ख की मतिमन्दता की पहचान के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक कर्मकाण्डी वृद्ध ब्राह्मण किसी धनिक के यहाँ गीता पाठ करने जाया करता था। रास्ते मे एक नदी पडती थी। एक दिन नदी पार करते समय एक घडियाल मिला। वह बोला—"पण्डितजी! पहले मुझे गीता सुनाइये फिर सेठजी को।" यह कहकर उसने ब्राह्मण के सामने एक नौलखा हार भेटस्वरूप रखा। फिर क्या था? लोभवश ब्राह्मण यही गीता सुनाने लगा। प्रतिदिन यह क्रम चलता रहा। जब गीता-पाठ सम्पूर्ण हुआ तो घडियाल ने ब्राह्मण को मोतियो से भरा एक घडा दक्षिणा मे देते हुए कहा—"पण्डितजी! अगर आप मुझे त्रिवेणी मे छोड आये तो मैं आप को ऐसे ५ घडे और दे दूंगा।" ब्राह्मण ने घडियाल की बात मानकर उसे त्रिवेणी पहुँचा दिया। घडियाल ने अपने वादे के अनुसार उसे ५ घडे मोतियो के दे दिये। लेकिन जब ब्राह्मण उन्हें लेकर खुशी-खुशी घर जाने लगा तो व्यग से घडियाल मुस्कराने लगा। ब्राह्मण ने कारण पूछा तो उसने कहा—"आप अवन्तिका मे जाकर मनोहर धोबी के गधे से मिलकर इसका मतलब पूछना, वह आपको सब बतलायेगा।"

ब्राह्मण अवन्तिका पहुँचकर गधे से मिला। गधे ने कहा—पूर्वजन्म मे मैं राजा का सेवक था। एक बार राजा त्रिवेणी-स्नान को गये। त्रिवेणी-तट पर उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होने राजपाट छोडकर शेष जीवन वही बिताने का सकल्प

कर लिया। मुझ पर उनका बडा स्नेह था। अनुग्रह पूर्वक बोले—"इच्छा हो तो मेरे साथ रहो। तुम्हारी उम्र भी सौ के करीब पहुँच रही है। यह मजूर न हो तो लो ये हजार मुद्राएँ और घर लौट जाओ।" मैं मूढ़ था। धन-वैभव के व्यामोह ने मेरी बुद्धि पर पर्दा डाल दिया। मैं मुद्रायें लेकर अपने घर लौट आया। तुमने भी वही गलती की। बुढ़ापे मे घडियाल जैसे क्षुद्र जल-जन्तु ने अपनी आत्म-शान्ति के लिए प्रबन्ध कर लिया, मगर तुम मनुष्य और मनुष्यों में भी श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर भी धन की तृष्णा मे अभी तक मूर्ख बनकर दर-दर भटक रहे हो। तुम्हारी यह मतिमन्दता और मूर्खता देखकर ही घड़ियाल हँसा था।

इसीलिए महर्षि गौतम ने मूर्ख को तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) के समान बतलाया है। तिर्यञ्च तो फिर भी सोच लेता है, पर मूर्ख मनुष्य अपना हिताहित नही सोच पाता।

मूर्ख का सग, पशुसगवत् वर्जित

मूर्ख मनुष्य पशु की तरह सत्सग करने योग्य नही होता। जैसे पशु के पास उपदेश ग्रहण करने या पशु का सग करने कोई नही जाता, वैसे ही मूर्ख मानव से उपदेश ग्रहण करने या उसका सत्सग करने कोई नही जाता। इसीलिए शास्त्र मे जगह-जगह मूर्ख-सग का निषेध किया है—

अल बालस्स सगेण

—बाल (अज्ञानी) का सग मत करो।

मूर्ख के साथ बोलने या बात-चीत करने से कोई फायदा नही होता। उलटा अहित या नुकसान ही अधिक होता है। क्योकि मूर्ख यदि किसी दुर्व्यसन का गुलाम होगा, तो वह अपने पास बैठने वाले को उस दुर्व्यसन का चेप लगायेगा। अथवा वह बहुत बोलने या लडाई-झगडा करने की बीमारी लगा देगा। या वह सम्पर्क मे आने वाले के साथ जरा-जरा-सी बात पर झगडा कर बैठेगा। इसीलिए विचारकों ने कहा है—

"मूर्ख से बोलना पत्थर से टकराना है। जैसे पत्थर से टकराने से पत्थर का कुछ नही बिगड़ता, टकराने वाले की ही हानि है, वैसे हो मूर्ख से बोलने से बोलने वाले का ही नुकसान है, मूर्ख का नही।"

मूर्ख को यदि कोई हित की बात कहता है तो वह उसे पहले तो ग्रहण ही नही करता, यदि ग्रहण कर भी लेता है तो विपरीत रूप मे करता है। इसीलिए तिलोक काव्य सग्रह मे मूर्ख को उपदेश देने की व्यर्थता बताई है—

सतन को उपदेश मूढ़ को न लागे लेश,
जाति अन्ध नर ताको कैसे दीसे आरसी।
श्रोत नष्ट राग रीत, श्वान को फुलेलवास,
जहेरी को सक्कर सो, लागे कटु सारसी॥

गगा-सी सलिल बीच, खर को नहायबो ज्यो,
गूगजन आगे कछु पढ़ना है फारसी।
कहत तिलोक तैसे मूरख को उपदेश,
नीर को बिलोवे होवे मेहनत असारसी ॥[1]

भावार्थ स्पष्ट है। मूर्ख का सग चाणक्य नीति मे भी वर्जित बताया है—

मूर्खस्तु परिहर्त्तव्य प्रत्यक्षो द्विपद पशु ।
भिनत्ति वाक्यशल्येन, हृदयं कण्टक यथा ॥

"मूर्ख मनुष्य प्रत्यक्ष दो पैर वाला पशु है। वह अदृश्य काटे की तरह वचन-शल्य से हृदय को बीध डालता है। अत उसका परित्याग करना चाहिए। मूर्ख व्यक्ति कितना हठाग्रही होता है, एक उदाहरण लीजिए—

एक गच्छ मे एक साधु लब्धिधारक थे। पर वे किसी बालक साधु या ग्लान वृद्ध साधु की सेवा नही करते थे। एक दिन उनको आचार्य ने कहा—"तू सेवा क्यो नही करता ?" तब वह साधु बोला—"मुझे कोई साधु कहते ही नही कि मेरी सेवा करो।" यह सुनकर आचार्य ने कहा—"तू चाहता है कि साधु मुझे प्रार्थना करें, यह तेरी भूल है। तू उस ज्ञान मदोन्मत्त मरुक ब्राह्मण की तरह गलती करता है। उस उस देश का राजा कार्तिक पूर्णिमा के दिन दान देता है, तब सभी दान लेने जाते है, लेकिन मरुक नही जाता। एक बार उसकी पत्नी ने उसे दान लेने जाने की बहुत प्रेरणा की तब मरुक बोला—एक तो शूद्र के हाथ से दान लेना, दूसरे, उसके घर सामने जाना, यह कैसे सम्भव है ? अत जिसे सात पीढी तक गर्ज हो वह यहाँ आकर दे जाये। अपने इस हठाग्रह के कारण वह जिंदगीभर दरिद्र रहा। इसी तरह तू भी भूल कर रहा है। अगर तू बाल, वृद्ध साधु की सेवा करे तो निर्जरा होगी। सेवा करने वाले तो और भी साधु है, पर तुझे लब्धि प्राप्त है, और फिर वैयावृत्य किये बिना यम, नियम सब निष्फल हैं।" गुरु के ऐसा कहने पर वह साधु बोला—"अगर वैयावृत्य करना आप अच्छा समझते तो, आप स्वय वैयावृत्य क्यो नही करते ?" आचार्य ने कहा—"तू उस बन्दर की तरह मूर्ख है, जो बया पक्षी के द्वारा हित की बात कहने पर भडक उठा और अटशट गालियाँ बकता हुआ बया का घोसला तोडकर चला गया। इसी प्रकार तू मुझे वैयावृत्य करने की बात कहता है। मेरे समक्ष निर्जरा के अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है।"

अत मूर्ख मनुष्य बन्दर के समान उद्दण्ड होता है। उसे सीख देना अपनी ही गाठ की गँवाना है। अमृत काव्य सग्रह मे ठीक ही कहा है—

---

१. तिलोक काव्य सग्रह, तृतीय बावनी, गाथा ५१

सीख नही दीजे हठग्राही मूढ प्राणिन कूं,
सार नही होवे जैसे पानी को मथाए से।
खर को चन्दन लेप, मुकुट भूषण तन,
होवत निकाम जैसे ओसबिन्दु बाए से ।।
मर्कट के गले हार शोभादार बहु,
तोरी के देवत फेंक फँद जानी काए से।
अमीरिख कहे नही माने उपकार मन,
होवत है बैरी बात हित की बताए से ।।

पशुओ को भी मात करने वाली मूर्खताएं

ये सब मूर्खतायें पशुओ को भी मात कर देती है। पशु-पक्षियो मे भी इतनी तो बुद्धि होती है कि वे अपनी शक्ति और क्षमता को जानकर दौड लगाते है। गाय, भैंस, बैल, घोडा आदि अपनी शक्ति को जानकर ही भागते-दौडते हैं, पक्षी भी अपनी शक्ति के अनुसार आकाश मे उडते है, पर मूर्ख तो मूर्खता के आवेश मे अपनी शक्ति को भी भूल जाते है, उन्हें यह भान ही नही रहता कि मेरी कितनी शक्ति है ? मैं किससे बात कर रहा हूँ ? वह ऐसे नीच कार्य करने पर उतारू हो जायेगा, जिसे करते हुए पशु भी शर्माते है, और फिर उस नीच कार्य को करते हुए अपनी प्रतिष्ठा भी बरकरार रखना चाहेगा। उस नीच काय को करने के लिए वह अपने शत्रु के साथ मित्रता करेगा और मित्रो के साथ द्वेष-भाव रखेगा। इसका कारण यह है कि जो हितैषी मित्र होते है, वे उसके मूर्खतापूर्ण कार्यों को करने म रोकटोक करते है, उसे नही करने को समझाते है, वैसा गलत काम करने पर वे उसके साथ मित्रता तोडने की धमकी देते है, सच्ची और साफ बात करते हैं, इस कारण सच्चे हितैषी मित्र उसे शत्रु-से लगते है, और जो उसके शत्रु है, वे उसकी जड काटने को तत्पर रहते है, इसलिए वे उसे उकसाते और चढाते रहते है। यही उसकी सबसे बडी मूर्खता है। पशुओ मे इतनी मूर्खता तो होती है कि वे विरोधी से भिडने का साहस कर बैठते है, चाहे उनमे शक्ति न हो। एक दुर्बल कुत्ता अपनी गली मे आने वाले दूसरी जगह के कुत्ते को विरोधी एव पराया मानकर उससे भिड जाता है, और उसे परेशान करके अपनी गली से बाहर निकालकर ही दम लेता है। क्योकि कुत्ते मे इतनी बुद्धि नही होती कि यह मेरा जाति भाई है, इससे क्यो लडूँ-भिडूँ ? मनुष्य मे तो इतना सोचने की बुद्धि होती है, वह तो अपने-पराये को जल्दी पहचान सकता है, परन्तु मूर्ख मनुष्य पशु के समान अपने-पराये का भान भूल जाता है। इस तरह स्वय निर्बल होते हुए भी बलवान के साथ वैर-विरोध मोल ले लेता है।

पशु मे इतना तो सामान्य ज्ञान होता है, जिससे वह अपने मालिक को पहचानता है, और उसका कार्य अपनी शक्ति भर वफादारीपूर्वक करता है, अपने से होने वाला काम वह दूसरो पर नही डालता, वह मेहनत किये बिना अपने मालिक से खाना

नहीं लेता, बीमार पड़ता है तो खाना छोड़ देता है, परन्तु मूर्ख मनुष्य जिस मालिक के यहाँ नौकरी करता है, उसका कार्य शक्तिभर और वफादारी के साथ नही करता, वह कार्य से जी चुराता है, मेहनत पूरी नही करता किन्तु बदले मे खाना पूरा चाहता है, सब सुविधायें चाहता है, बीमार होने पर भी मूर्ख मानव प्राय खाना नहीं छोडता। कई बार तो मूर्ख मानव मालिक को हानि पहुँचाकर काम बिगाड कर भी मेहनताना पूरा माँगता है।

एक सम्भ्रान्त परिवार मे एक दयनीय हालत का नौकर था। उसे पति-पत्नी दोनो ने मिलकर ही रखा था। नाम था—चतुरी। वह आवाज लगाते ही बोलता—'जी हाजिर !' पर हाजिर होने के बाद काम जो कहते थे, उसमे बडी देर लगाता या करता नही था। एक दिन रात को उस सम्भ्रान्त गृहस्थ के यहाँ एक मित्र आगये, परिवार का अग्रगण्य मित्र से बात कर रहा था। फरमाबरदार चतुरी हरदम आस-पास ही रहता था। कब क्या हुक्म हो। अचानक मित्र ने पूछा—"चतुरी ! पानी है ?" चतुरी ने तुरन्त कहा—'जी हाँ, कुँए मे है।" मित्र तो हँस पडे पर गृह-स्वामी झेप गये।

गर्मी का मौसम था। दोपहर के समय दो तीन मित्र आगये। वे बैठे गृह-स्वामी से बात कर रहे थे। उन्होने पानो पीना चाहा। गृहस्वामी ने आवाज दी—"चतुरी !" बटन दबाते ही जैसे बिजली जल जाती है, चतुरी की आवाज आई—"जी !"

गृहस्वामी ने कहा—"जा, दो-तीन ग्लास ठडा शरबत बना ला।" 'जी' कह चतुरी चला गया। गया सो गया। आने का नाम नही। गृहस्वामी को शर्म भी आई और क्रोध भी। गृहस्वामी ने झल्लाकर कहा—"चतुरी !" आवाज के साथ ही सशरीर हाजिर होकर कहा—"जी !" गृहस्वामी बोला—"अबे ! शरबत के लिए कहा था न!" वह बोला—"जी !"

गृहस्वामी—"तो शरबत कहाँ है ?"

चतुरी—"जी ! बर्फ नही मिल रही है।"

गृहस्वामी—"कल जहाँ रखो थी, वही ढूंढ न !"

चतुरी—"जी। तमाम जगह ढूंढ ली, नहीं मिली।"

गृहस्वामी सिर ठोककर रह गये। चतुरी हसता रहा।

यह मूर्खता पशुता की सीमा को भी लाघ गई। पशु भी इशारे से बहुत सी बात समझ लेते हैं और तदनुसार काम करते है, मगर मूर्ख इशारा तो दूर रहा, कहने पर भी नही समझता, समझता है तो भी तदनुसार काम नही करता।

पशु अगर किसी बात को नही समझता है, तो वह उस काम को नही कर पाता, पर उलटा काम तो नही करता' मगर मूर्ख मनुष्य तो कभी-कभी उलटे काम

कर बैठता है। उसी गृहस्वामी ने चतुरी (नौकर) को एक बंद लिफाफा दिया और पैसा देकर कहा—"जा डाकघर मे जाकर इसे रजिस्ट्री करा आ। इसे तुलवा लेना और जितने की कहें, टिकिट लेकर चिपका देना। फिर वे इसे ले लेंगे और तुझे एक रसीद दे देंगे। वह रसीद ले आना समझा ? क्या समझा ?"

चतुरी ने जो जैसे-जैसे गृहस्वामी ने कहा था, दोहरा दिया।

गृहस्वामी ने कहा—"ठीक है, जा।"

चतुरी डाकघर गया और थोडी देर बाद ही हाथ म लिफाफा लिए ही लौट आया। गृहस्वामी ने पूछा—"क्यो, वापस क्यो ले आया ? क्या टिकिट कम पड गया ? वह बोला—"जी नही, आपने जैसे-जैसे कहा, मैंने ठीक वैसे ही वैसे किया, मगर रजिस्ट्री वाले ने कहा—लिफाफे पर पता नही है, लिखवा ला। मैं तो लड पडा—मालिक ने मेरे सामने पता लिखा है, आप नही कैसे कह रहे हैं ? बडी कहा—सुनी हो गई।" गृहस्वामी भी अजीब हैरानी मे पड गये। चतुरी के हाथ से लिफाफा लेकर देखा तो सिर पीट लिया। उसने पूरे पते पर ही सारे टिकिट चिपका दिये थे। कही पते का एक अक्षर भी खुला नही था।

इस प्रकार की मूर्खता करने वाला क्या पशु से भी गया-बीता नही है ?

तिर्यञ्च और मूर्ख की प्रकृति मे अन्तर नहीं

वैसे देखा जाये तो मूर्ख और तिर्यञ्च की प्रकृति मे कोई अन्तर नही होता। तिर्यञ्च शरीर से आगे की सोच नही सकता, उसे कुछ भी खाने-पीने को मिलेगा, वह स्वय ही प्राय खा-पी लेगा। दूसरा भूखा पशु पास मे आकर खडा होकर टुकुर-टुकुर देखता है, तो भी उसका हृदय पिघलता नही, उसमे देने की उदारता नही होती। अत तिर्यञ्चो की व्यस्तता शरीर से आगे की नही होती, मूर्खों का भी यही हाल है। वे भी अपने शरीर से आगे की प्राय नही सोचते। साथ ही पशु प्रीति, भीति, द्वेष और क्षुधा से आगे नही जाते, मूर्खों की प्रकृति भी प्राय: ऐसी ही होती है।

जीवन की सरसता और मौलिकता सदाचार मे है। सदाचार और दुराचार की सुगन्ध व दुर्गन्ध लाखो वर्षों तक मृत्यु के बाद भी ससार मे आती रहती है। परन्तु जिसके जीवन मे सदाचार होता है, वहाँ सुगन्ध एव मानवता होती है, जिसके जीवन मे दुराचार होता है, वहाँ होती है दुर्गन्ध एव पशुता। रावण को ११ लाख वर्ष हो गये, फिर भी प्रतिवर्ष उसकी दुर्गति की जाती है। पता है, उसका शरीर काला और उसके सिर पर सीग क्यो दिखाये जाते है ? ऐसा क्यो ? रावण वैसे तो आदमी ही था, परन्तु उसने दुराचार के कार्य किये, इसलिए उसे पशुता का प्रतीक बताने हेतु काला शरीर एव सीग बताये जाते है। निष्कर्ष यह है कि दुराचार पशुता की निशानी है।

अमरीका मे मानवता का पुरस्कर्ता टामस पेन हुआ है। उसके जीवन चरित्र

मे लिखा है, कि मानव मे देवत्व का जो अश है, उसे निकाल दिया जाये तो उसमे केवल पशुता ही शेष रह जायेगी । पशुता का अर्थ ही मूर्खता है, मूर्खता का दूसरा नाम पशुता है ।

तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) और मूर्ख मानव में साम्यता इस कारण भी है, पशु-पक्षी प्रसन्नचेता नहीं होते इसी कारण उनकी बुद्धि गहरी, व्यापक दृष्टिसम्पन्न एव स्थिर नही होती । मूर्ख का भी यही हाल है । वैसे तो हाथ-पैर आदि अवयवों या चेहरे की बनावट से ही मूर्ख और जानवर मे भेद नही किया जाता है, दोनो मे साम्य समझा जाता है, व्यवहार, बर्ताव एव बुद्धिमन्दता से । इसीलिए महर्षि गौतम ने इस जीवन-सूत्र द्वारा सावधान किया है—

मुक्खा तिरिक्खा य सम विभत्ता

आप भी मूर्खता और पशुता को समान जानकर अपने जीवन मे मूर्खता को न आने दें । *

८०. मृत और दरिद्र को समान मानो

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

आज मै आपके समक्ष एक नैतिक जीवन की प्रेरणा देने वाला जीवनसूत्र प्रस्तुत कर रहा हूँ। नैतिक जीवन शुद्ध हुए बिना आध्यात्मिक जीवन की शुद्धि की आशा रखना वृक्ष के मूल के दियासलाई लगाकर पत्तो को सीचना है। इसीलिए महर्षि गौतम इस बात पर जोर दे रहे है, कि व्यावहारिक जीवन को नीतिसमृद्ध बनाये बिना केवल आध्यात्मिकता की थोथी बाते करना अपने आपको दरिद्र बनाना है। दरिद्र और मृतक मे कोई खास अन्तर नही है। गौतमकुलक का यह ६६वाँ जीवनसूत्र है। इसमे स्पष्ट बताया गया है—

मुआ दरिद्दा य सम विभत्ता

—मृत और दरिद्र दोनो समान माने जाते है।

दरिद्र कौन है ? वह मृत-सम क्यो और कैसे हो जाता है ? दरिद्रता और मुर्दापन दोनो मे कितना साम्य है ? दरिद्रता-निवारण न करने मे क्या क्या हानियाँ है ? आदि सभी पहलुओ पर आज मैं चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

दरिद्र : स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण

दरिद्र का अर्थ सामान्यतया निर्धन समझा जाता है, परन्तु यह तो इसका स्थूल अर्थ है। दरिद्र केवल धन का ही नही होता, मन का भी होता है, तन का भी और नैतिकता का भी। धन के दरिद्र को तो सभी जानते है, परन्तु मन के दरिद्र को बहुत विरले पुरुष जान पाते हैं। मन का दरिद्र वह होता है, जो मन से अपने आपको दीन-हीन, निर्धन समझता है। कई व्यक्ति ऐसे भी देखे गये है, जो तन से भी दरिद्र नही हैं, किन्तु जिनके मन मे दरिद्रता बस गई है। जो यह कभी नही सोच सकते और न ही आत्म विश्वास कर पाते है कि मैं अपनी दरिद्रता दूर कर सकता हूँ। मन से दुर्बल और दरिद्र लोग यही सोचा करते है कि भाग्य मे ही दरिद्रता न लिखी होती तो हम एक दरिद्र के घर मे जन्म क्यो लेते ? क्या हमारा जन्म किसी भाग्यवान् के यहाँ नही होता ? इसके अतिरिक्त जब ऐसे मनोदरिद्री अपने चारो ओर यह भी देखते हैं कि धन के बिना ससार का कोई भी कार्य नही हो सकता तब वे स्वय किसी भी कार्य को उत्साह पूर्वक करने का विचार भी नही कर सकते। अपने चारो ओर की

परिस्थिति को देखकर वे और भी हतोत्साह हो जाते है और समझ लेते हैं कि ऐसी परिस्थिति मे हम कोई भी कार्य नही कर सकते। इस तरह अपनी शक्ति, योग्यता और क्षमता पर से उनका विश्वास उठ जाता है। उन्हें अपने आप मे पुरुषार्थ करने का उत्साह नही रहता।

ऐसे मनोदरिद्र लोगो मे जब अपनी योग्यता और शक्ति पर से विश्वास उठ जाता है, तब उनमे जो नैतिकता के सद्‌गुण होते है, न्यायनीति-पूर्वक पुरुषार्थ करने के और धैर्य, गाम्भीर्य आदि जो सद्‌गुण होते है, उनका भी ह्रास होने लगता है। फलत ऐसे मनोदरिद्र अपने जीवन को भारभूत, अभिशाप और दूभर समझने लगते हैं। उनमे न तो कोई आत्मगौरव रहता है, न महत्त्वाकाक्षा और न ही स्वतन्त्रतापूर्वक जीने की शक्ति रह जाती है। एक तरह से पराधीन, परमुखापेक्षी और पराश्रित हो जाते है। उनमे स्वतत्र रूप मे चिन्तन की शक्ति भी क्षीण हो जाती है, न कार्य करने का ढंग रह जाता है और न ही कोई अध्यवसाय, साहस या सत्कार्य करने का माद्दा रहता है। फलत वे एक ऐसे ढालू स्थान पर पहुँच जाते है, जहाँ से व लगातार नीचे गिरते ही जाते हैं, फिर ऊँचे उठ नही पाते। उनके मन के मारे मनोरथ मर जाते है। इस प्रकार मनोदरिद्र की अवस्था शरीर मे जीवित किन्तु मन से मृत की-सी हो जाती है। मनोदरिद्र अपनी मानसिक अवस्था को ऐसी बना लेता है, जिसमे फिर कभी किसी प्रकार की उन्नति करने की गुजाइश ही नही रहती।

दरिद्रता अपने आप मे इतनी भयकर नही है, न मनुष्य को मुर्दे-सा बना देने वाली है, जितनी कि दरिद्रता की भावना, यानी 'मैं सदा दरिद्र ही बना रहूँगा,' यही मनोभाव, सबसे अधिक घातक होता है। ऐसे दारिद्र्य के मनोभाव मनुष्य मे दीनता-हीनता का सचार करते हैं, जिनके कारण वह दारिद्र्य से पराङ मुख होकर उससे पिण्ड छुडाने का साहस और पुरुषार्थ ही नही कर पाता। वह अपनी शक्तियो की पहचान न कर पाने के कारण अहर्निश दरिद्रता के वातावरण से घिरा रहता है। अपने सम्पर्क मे आने वाले हर व्यक्ति के सामने वह अपनी दरिद्रता और दीन-हीनता का रोना रोता रहता है।

प्रत्येक बुरी बात मे भी कुछ न कुछ प्रेरक गुण अथवा कोई न कोई हित निहित रहता है। इस कहावत के अनुसार दरिद्रता से भी कुछ न कुछ अच्छी बात निकाली जा सकती है। किसी ने कहा है—

शक्ति करोति सचारे शीतोष्णे मर्षयत्यपि।
दीपयत्युदरे वन्हि दारिद्र्य परमौषधम्॥
ऐश्वर्यतिमिरं चक्षु पश्यन्नपि न पश्यति।
तस्य निर्मलतायां तु दारिद्र्य परमौषधम्॥

—दरिद्रता मनुष्य मे शक्ति का संचार कर देती है, सर्दी-गर्मी सहन करने की

शक्ति भी दरिद्रावस्था मे आती है। दरिद्रावस्था मे जठराग्नि भी प्रदीप्त हो जाती है, इसलिए दरिद्रता परम औषध है।

—जो लोग ऐश्वर्यशाली हैं, उनकी आँखें ऐश्वर्य से अधी हो जाती हैं, जिससे वे दरिद्रो को देखकर भी नही देखते। किन्तु दरिद्र की अनुभवपुनीत आँखें दूसरे की दरिद्रावस्था को देख सकती है। इसलिए दारिद्र्य परम औषध है।

यह तो सब का अनुभव है कि दरिद्रावस्था मे मनुष्य मे कष्ट-सहिष्णुता, साहस, अध्यवसाय और कर्मठता आदि गुणो का विकास हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति कुछ समय तक दरिद्रावस्था मे रह चुकता है, उसमे जन्म से अमीर रहने वालो की अपेक्षा परोपकार, दया, महानुभूति आदि का भाव कही अधिक होता है।

इसका यह मतलब नही है कि जान-बूझकर दरिद्रता को ओढा जाये, कदाचित् अशुभकर्मोदयवश दरिद्रता आ पडे तो उस समय इन गुणो का अनायास ही विकास हो सकता है।

परन्तु दु ख है कि मन के दरिद्र या बुद्धि के दरिद्र पहले से ही पस्तहिम्मत होकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते है। मनोदरिद्र किसप्रकार निरुत्साह होकर अपनी शक्ति और क्षमता को भूल जाता है ? इसे समझने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

रूस के प्रसिद्ध समाज-निर्माता, विचारक टॉल्स्टॉय के पास एक दिन एक युवक आया, जो उनसे सहायता की प्रार्थना करने लगा—"महाशय ! मै बहुत ही गरीब हूँ। मेरे पास जीवन-निर्वाह के लिए कुछ भी साधन नही हैं। धन के अभाव मे मेरा जीवन बहुत दु खी हो गया है।"

टॉल्स्टॉय ने उसकी ओर आश्चर्य भरी दृष्टि से देखकर कहा—"युवक ! तुम तो बहुत धनवान और भाग्यवान दिखते हो, फिर तुम अपने आपको निर्धन और भाग्यहीन क्यो कहते हो ?"

युवक बोला—"आप तो मेरे जले पर नमक छिडक रहे है। मैं एक तो निर्धन हूँ, उस पर आप ऊपर से मुझे चिढाते है। ऐसा तो न कीजिए।"

टॉल्स्टॉय—"नही, युवक ! मैं तुम्हें चिढ़ा नही रहा हूँ। मै तुम्हें यथार्थ बात कह रहा हूँ। तुम्हारे पास लाखो की सम्पत्ति है।"

युवक—"कहाँ है, मेरे पास लाखो की सम्पत्ति ? लाख कौडी भी तो नही है।"

टॉल्स्टॉय—"अच्छा तुम्हारे पास दो आँखे हैं न ? मेरा एक मित्र है, वह इन्हें तीस हजार मे खरीद लेगा। बोलो, तुम्हें देना मजूर है ?"

युवक—"अजी साहब ! खूब कही आपने ! आँखे दे दूँगा तो मैं अधा हो जाऊँगा। मेरे लिए सारी दुनिया सूनी हो जाएगी। मैं किसी प्रकार का आनन्द नही ले सकूँगा। इसलिए आँखें तो मैं हर्गिज नही दे सकता।"

टॉल्स्टॉय—"अच्छा, आँखें न सही। तुम अपने दोनो कान मेरे एक मित्र को दे दो, वह तुम्हें बीस हजार दे देगा। बोलो, स्वीकार है न ?"

युवक—"कान भी मैं नहीं दे सकूँगा। कान दे दूँ तो मैं सुनूँगा किन से ?"

टॉल्स्टॉय—"तो फिर मेरे एक बन्धु हैं, वे तुम्हारे दोनो हाथ खरीद लेंगे, तीस हजार रुपये मे। हाथ तो दे दोगे न ?"

युवक—"साहब! आप क्या मजाक कर रहे हैं ? मैं हाथ कैसे दे सकता हूँ ? हाथ दे दूँगा तो फिर काम किन से करूँगा ? वजन कैसे उठाऊँगा ? जीवन-निर्वाह के एक मात्र साधन दो हाथ ही तो हैं। इन्हें देकर क्या मैं अपने जीवन को पराधीन और बेकार बना लूँ ?"

टॉल्स्टॉय—"मालूम होता है, तुम्हे अपनी बहुमूल्य शरीर-सम्पदा का पता नही है। चलो, हाथ मत बेचो, तुम्हारे दोनो पैर बेच दो। मै स्वय खरीद लेता हूँ—बीस हजार मे। बोलो, बेच सकोगे तुम ?"

युवक—"महाशय! दो पैर बेच दूँगा तो मैं सर्वथा अपग हो जाऊँगा, पहले ही तो मै बेकार हूँ। फिर पैर न रहने से और अधिक बेकार व पराधीन हो जाऊँगा। इसलिए पैर मै हर्गिज नही बेच सकूगा।"

टॉल्स्टॉय—"अभी तुम्हारे पास नाक, मस्तक आदि कई अवयव है और सब मिलाकर, ये अगोपाग कई लाख रुपयो के होगे। पर तुम बेचोगे नही, ऐसा तुम्हारे मूड से पता लगता है। पर तुम्हें यह तो मालूम हो ही गया है कि तुम तन से दरिद्र नही हो। तुम्हारे पास लाखो का माल है, इसलिए धन से भी दरिद्र नही हो, परन्तु तुम अपने अज्ञान के कारण मन और बुद्धि मे दरिद्र बन रहे हो। बोलो, हो न तुम लाखो के स्वामी ?"

युवक—"हाँ, साहब! सचमुच मेरे पास लाखो की सम्पदा है, परन्तु मैं अपने आप को दरिद्र महसूस कर रहा था। आपने मेरी आँखे खोल दी। बताइये अब मैं क्या करूँ जिससे मेरी दरिद्रता दूर हो ?"

टॉल्सटॉय ने युवक से कहा—"सचमुच तुम बहुत भाग्यशाली हो, युवक! तुम्हारे पास श्रम की बहुमूल्य पूँजी है। यह कुल्हाडी लो, और श्रम करके कमाओ।"

युवक कुल्हाडी लेकर और टॉल्स्टॉय को प्रणाम करके खुशी-खुशी चला गया।

यह है, मन की दरिद्रावस्था का यथार्थ चित्रण और उसके निवारण का समुचित उपाय!

वस्तुत दरिद्रता—मानसिक, बौद्धिक दरिद्रता—कोई नैसर्गिक या स्वाभाविक चीज नही है।

मन का दरिद्र एक और प्रकार का भी होता है। वह धन और तन से तो

दरिद्र नही होता, उसके पास पेट भरने और अपना गुजारा चलाने लायक धन और पर्याप्त साधन होते हैं, फिर भी अपनी अपेक्षा दूसरो के पास अधिक धन और साधन—बंगला, कार, कोठी, फर्नीचर धन की प्रचुरता आदि—देख-देखकर मन ही मन ईर्ष्या करता है, अपने को उनकी अपेक्षा निधन या दरिद्र समझने लगता है। सोचता है—'मैं तो उसके सामने कुछ नही हूँ।' इस प्रकार वह अपने आपको मन से दरिद्र समझकर कष्ट का अनुभव करता है, तथा मन ही मन अधिक धनवान् बनने की योजना बनाता है। ऐसे लोग, चाहे कितना ही धन हो जाये, मन से सदा असन्तुष्ट ही रहते हैं और अपने आपको दरिद्र की कोटि मे मानते है। शकराचार्य-प्रश्नोत्तरी मे ठीक ही कहा है—

को वा दरिद्रो हि ? विशालतृष्ण ।

'दरिद्र कौन है ? जिसकी तृष्णा विशाल है।'

एक राजा था। उसने अपने सेवको को आदेश दिया कि मेरे राज्य मे जो सबसे अधिक दरिद्र हो—निर्धन हो—उसे यह स्वर्णमुद्राओ की थैली भेट कर आओ। सेवक पहुँचे गाँव मे। गाँव सारा छान डाला पर कही भी कोई दरिद्र या निर्धन नही मिला।

जिन साधु-सन्यासियो को उन्होने अकिंचन देखा, उनके पास जाकर प्रार्थना की—"स्वामिन् ! आप हमे निर्धन एव अकिंचन लगते है। अत हमारे राजा द्वारा दी हुई यह स्वर्णमुद्राओ की थैली लीजिये।"

साधु-सन्यासियो ने पूछा—"तुम्हारे राजा ने यह धन किसको देने को कहा है ?" वे बोले—"राजा ने कहा है कि जो सबसे अधिक दरिद्र या निर्धन हो, उसे दे आओ।" साधु-सन्यासियो ने कहा—"हम दरिद्र या निर्धन नही है, दरिद्र या निर्धन तुम्हारा राजा है, उसे ही यह थैली वापस ले जाकर दे दो।"

राजसेवको ने पूछा—"महात्मन् ! राजा कैसे दरिद्र है ?"

उन्होंने कहा—"राजा दरिद्र इसलिए है कि उसकी तृष्णा विशाल है। इतना सब वैभव होते हुए भी उसे नये-नये देश जीतने, उनका खजाना आपने कब्जे मे करने की लालसा है।"

राजसेवक मोहरो की थैली लेकर राजा के पास लौटे और सारा हाल कह सुनाया।

वास्तव मे जिसकी तृष्णा विशाल होती है, वही मन का दरिद्र होता है।

दारिद्र्य का कारणमूलक चित्रण करते हुए 'तिलोक काव्य सग्रह' मे कहा है—

ऋद्धिहीन वो ही जाके तृष्णा अधिक मन,
रीस परचण्ड वेग लोकन से लरते।
सतजन देखकर श्वान जैसे रोष करे,
क्रूरदृष्टि निष्ट बेण मन से उचरते॥

देत नहीं दान कछु, करे अभिमान मूढ,
आरत रुदर ध्यान, धरम न करते।
कहत 'तिलोक' धिक्धिक् वाको बारबार,
धिक् वाकी मात को सो जाया ऐसा नर ते ॥[1]

कई व्यक्ति धन के दरिद्र होते हैं, पर वे मन के दरिद्र नहीं होते। वे अपने जीवन में दरिद्रता को महसूस नही करते, और परिस्थिति के अनुसार अपने को एडजस्ट कर लेते है, वे दरिद्र नही हैं। पहले दरिद्र वे हैं, जो धन और तन के दरिद्र न होते हुए भी मन से दरिद्रता महसूस करते हो, दूसरे दरिद्र वे हैं, जो धन से दरिद्र हो, साथ ही मन से भी दरिद्रता का अनुभव करते हो, तीसरे वे हैं, जो तन से दरिद्र हो, धन से नहीं, पर मन से दरिद्रता महसूस करते हो। चौथे वे दरिद्र हैं, जो तन, मन, और धन तीनो से दरिद्रता का अनुभव करते हो।

वास्तव मे ऐसे कर्मवीर जो धन अथवा तन से दरिद्र होते हुए भी मन से दरिद्रता का अनुभव न करते हो, वे दरिद्र ही नही हैं। इतिहास मे ऐसे अनेक ज्ञात-अज्ञात उदाहरण मौजूद हैं कि जिनके घर मे बेहद गरीबी थी, परन्तु अपने आत्म-विश्वास और प्रबल उत्साह के साथ उन्होंने पुरुषार्थ किया और वे सफल हुए।

फ्रास मे २७ दिसम्बर १८२२ को एक मजदूर परिवार के घर एक बच्चे का जन्म हुआ। बालक का नाम रखा 'लुई'। इसका गरीब परिवार चमडे की चीजें बनाने का काम करता था। चमडे के सूटकेस, पर्स, छोटे बक्स आदि बनाता तथा मरम्मत करता था। इस छोटे-से काम मे चारो ओर प्राय गरीबी, अभाव और मजबूरी का वातावरण था। लुई मोची का पुत्र था। जिस बच्चे को दो टाइम भरपेट भोजन उपलब्ध नही, जाडे से बचने के लिए पर्याप्त वस्त्र नही, उसके पढने-लिखने की आशा करना आकाश-कुसुम को पाने की इच्छा के समान दुराशा थी। घर का वातावरण पढ़ने-लिखने मे तनिक भी रुचि उत्पन्न करने वाला न था।

परन्तु मोची अपने पुत्र लुई से कहता रहता—"लुई! मैं जब और पढ़े-लिखे लोगो के लडको को देखता हूँ तो मेरी भी इच्छा होती है कि तुम भी पढ़ा-लिखकर अच्छे विद्वान् बनो, दुनिया मे नाम कमाओ।"

लुई कहता—"पिताजी! आप ही तो कहते है कि तू मेरे काम मे हाथ बँटा। सारे दिन मेरे हाथ मे चमडा काटने की रापी, डोरा आदि रहते हैं, फिर इन हाथो मे किताब और कलम कहाँ से रहे?"

मोची कहता—"यह मेरी मजबूरी और खुदगर्जी है। लुई! मेरी गलती है। मैं गरीबी और अभाव मे समय काट लूँगा। एक समय भूखा रहकर जिंदगी पूरी कर लूँगा, पर तुम तो कम से कम ऊँचे उठो, विद्वान् बनो, नाम कमाओ।"

---

१. तिलोक काव्य संग्रह, द्वितीय बावनी, गा० १३, पृ० १८

मोची ने लुई के लिए कुछ किताबें खरी े। उसे स्कूल मे भर्ती कराया, पर लुई का मन पढने-लिखने म नही लगा। पिता ने एक अ ध्यापक रखकर पढाने का प्रबन्ध किया। उसने लुई को पढाने म कठोर परिश्रम किया, लेकिन अन्त म उसे मन्द-बुद्धि कहकर तिरस्कृत कर दिया गया। पिता बहुत दु.खी व चिन्तित रहता था, अपने बच्चे के भविष्य के लिए। उसने लुई का पुन -पुन समझाने की कोशिश की और उसे उच्चाई की ओर बढने क लिए प्रोत्साहित किया। यह भी कहा—'लुई ! मेरी बडी इच्छा है कि तुम समाज-सेवा का कोई कार्य पढ-लिखकर करो। हो सके तो विज्ञान पढो। क्योकि उसमे भी तरक्की की बहुत गु जाइश है, पर तुम पढ़ने मे काफी दिलचस्पी नही ले रहे हो।"

लुई कहता—"मै पढता तो हूँ लेकिन मेरे दिमाग म कोई बात बैठती ही नही, करूँ क्या ?" कभी-कभी पिता की गरीबी और लाचारी को देखता और उनके द्वारा प्रोत्साहन और आशा को देखता तो वह रो उठता। पिता बीच-बीच मे लुई का मन पढाई म न लगता दख हताश-निराश हो उठता, परन्तु पिता द्वारा बार-बार प्रोत्साहन और प्रेरणा से अब लुई मे परिवर्तन आने लगा। बूँद-बूँद पानी गिरने से पत्थर पर भी निशान हो जाता ह। लुई ने अपने गरीब पिता की महत्त्वाकाक्षा को ध्यान मे रखकर भगवान् को साक्षी से सकल्प किया—'अब मै पूरी निष्ठा से अध्ययन करूँगा। मैं मन को पढन-लिखन मे लगाऊँगा और विद्वान् वैज्ञानिक बनूँगा। सच्ची लगन से मुझे अभीष्ट सफलता मिलगी, मरे निर्धन पिता की आत्मा सन्तुष्ट होगी।'

इस प्रकार लुई फिर से अध्ययन म जुट गया। प्राथमिक शिक्षा के लिए उसने 'अरवोय' की एक पाठशाला म दाखिला लिया। फिर कठिनाई के काले बादल मडराने लगे। सस्कारवश उसकी मोटा बुद्धि विद्या जैसे सूक्ष्म विषय मे गतिमान न हो सकी। सावधानी से पढ़ने पर भी लुई को कक्षा म पढ़ाया हुआ पाठ समझ म न आता, न ही याद हाता था।

इस कारण वह कक्षा म बुद्धू समझा जान लगा। अध्यापको ने उसे पढाई छोडकर किसी व्यवसाय म लगन की राय दी। 'विज्ञान पढने का कार्य तेरे बूते का नही' यह निर्णय लुई न सुना तो अपनी मोटी बुद्धि पर उसे बडा तरस आया। एक बार तो हताश हाकर पढ़ाई छोडने का विचार कर लिया, फिर पिताजी की आकाक्षा, कारुणिक चहरा और आत्म-तृप्ति को धक्का, यह सब सोचकर उसने अपना खोया हुआ साहस पुन बटोरा। आलोचनाओं की परवाह न करते हुए वह पुन पढ़ने मे जी-जान स जुट गया। उसे अब पता लग गया कि उसमे आत्मविश्वास की कमी थी, जिसके कारण उसकी बुद्धि अडचन बनी हुई थी, उसे शिक्षा म आगे नही बढ़ने दे रही थी। अत इस बार लुई पूर आत्मविश्वास के साथ पढ़ने लगा। इस लगन के कारण विज्ञान के गूढ नियम और पुस्तक उसको समझ मे आने लगी। उसकी बुद्धि बढ़ने लगी। धीरे-धीरे विज्ञान मे तरक्की की। गरीब पिता ने कुछ पैसे इकट्ठे करके उसे

पेरिस भेज दिया, फिर उसकी इच्छा रसायनशास्त्र पढ़ने की हुई। फलतः वह न केवल रसायनशास्त्र मे पारगत हुआ, बल्कि चिकित्साशास्त्र म भी वह विद्वान् हो गया।

वही गरीब मोची का लडका 'लुई पाश्चर' के नाम से विख्यात हुआ। उसने अपनी मौलिक सूझ-बूझ से विषैले जन्तुओ द्वारा काटे जाने पर मनुष्यो को मरने से बचाने की दवाई की खोज की। फोडो की चीर-फाड के बाद सड़ने से बचाने के लिए दवाई खोज निकाली। पागल कुत्तो द्वारा काटे गये मनुष्यो के इलाज के इजेक्सन निकाले। सक्रामक रोगो की रोकथाम के लिए लुई के नाम पर 'पाश्चर इन्स्टीट्यूट' नाम से लुई की परोपकारी भावना का प्रतीक आज भी मौजूद है।

लुई के चरित्र को देखकर कौन कह सकता है कि दरिद्र पिता का पुत्र सदैव दरिद्र ही रहता है, वह मन का दरिद्र न बने तो दिल का धनिक बन सकता है। धन की दरिद्रता तब उसका कुछ भी बिगाड नही कर सकती।

तन की दरिद्रता होने पर भी मन से दरिद्रता महसूस न करने के कारण अधी, मूक और बहरी महिला 'हेलन केलर' ने जगत् मे अद्भुत सफलता प्राप्त करके दिखा दी। जगत् के सभी लोग उसकी अद्भुत क्षमता दखकर दाँतो तले उगली दबाने लगे। इसी प्रकार विश्व मे ऐसे लोग भी है, जिन्होने शरीर से लूले, लगडे एव अगविकल होने पर भी—अर्थात् तन से दरिद्र होते हुए भी मन से दरिद्रावस्था महसूस न करके अद्भुत क्षमता अर्जित कर ली, सफलता उनके चरण चूमने लगी।

भाग्य खुलते है मनोदारिद्र्य एव अनैतिकता दूर करने से

कई लोग तन से दरिद्र न होते हुए भी अपने आलस्य, अकर्मण्यता, उत्साह-हीनता, आत्महीनता आदि दुर्गुणो के कारण धन से भी दरिद्र बने रहते है, और मन से तो दरिद्र होते ही हैं। धन से दरिद्र होने पर भी अगर मानसिक दुर्बलताएँ न हो तो कोई खास कारण नही कि धन की दरिद्रता चिरकाल तक टिक सके। परन्तु धन से दरिद्र लोग अक्सर अपने दुर्भाग्य का राना रोते रहते है, वे अपनी अकर्मण्यता, आत्मविश्वास की कमी, आत्महीनता, आलस्यवृत्ति आदि का नही देखते, न ही उत्साहपूर्वक दरिद्रता-निवारण का प्रयत्न करते है। वास्तव मे उनकी दरिद्रता का कारण दुर्भाग्य तो कम होता है, प्राय मानसिक दरिद्रता और आत्महीनता ही अधिक होती है।

कई लोग अपनी दरिद्रता का कारण भगवान या ईश्वर की कृपा या देवी-देवो के अनुग्रह का अभाव समझते हैं, परन्तु वे यह नही समझते कि देवी-दव या भगवान भी किसी के शुभकर्मों का उदय हो, पुण्य प्रबल हो, तभी उस पर प्रसन्न होकर सहायता कर सकते है। परन्तु कई धन और मन से दरिद्र लोग अपना पुण्य प्रबल करने और दरिद्रता के कारणभूत अशुभकर्मों का निवारण करने का कोई उपाय या पुरुषार्थ नही करते, वे सिर्फ या तो देवी-देवो की मनौती करने लगते हैं, या भगवान को प्रसन्न

करने के लिये उस पर नारियल आदि चढाते हैं, दीपक जलाते है, फूल चढाते हैं और ढोंग तथा आडम्बर करते है। परन्तु ऐसा करने से अशुभकर्मों का नाश नही होता, न ही पुण्य प्रबल होता है। फिर भाग्य के द्वार कैसे खुल सकते है ? भाग्य के बिना दरिद्रता कैसे दूर हो सकती है ?

भाग्य खुलते है—दान देने से, जो कुछ भी अपने पास मन, वचन, तन, धन और साधन की शक्ति और क्षमता है, उन्हें नि स्वार्थभाव से परहित मे लगा देने से, अभिमान न करने से, शक्तियो का मद न करने से, चोरी, जुआ आदि दुर्व्यसनो से दूर रहने से तथा फैशन-विलास, व्यर्थ के आमोद-प्रमोद आदि मे अत्यधिक खर्च न करने से, न्याय, नीति, ईमानदारी, सत्यता आदि पर चलने से।

परन्तु आलसी और अकर्मण्य लोग भाग्य का ताला खोलने की इन चाबियो को न अपनाकर सीधे ही ईश्वर, भगवान या देवी-देवो को मनाने दौडते है। ऐसा करने से न तो भाग्य ही खुलता है और न ही दरिद्रता दूर होती है। एक पाश्चात्य विचारक Hunter (हटर) ने ठीक ही कहा है—

Idleness travels slowly and poverty soon overtakes him.

"आलस्य धीरे-धीरे यात्रा करता है, और दरिद्रता शीघ्र ही उस पर हावी हो जाती है।"

वास्तव म दान आदि करने से तथा नैतिकतायुक्त पुरुषार्थ करने से ही भाग्य खुलते है, दरिद्रताजनक अशुभकर्म दूर होते हैं। परन्तु देखा जाये तो आज अधिकाश लोग दरिद्रता का रोना रोते है, भाग्य को कोसते रहते है, परन्तु वे भाग्य खुलने एव दरिद्रता को दूर करने के लिये कोई पुरुषार्थ नही करना चाहते। अधिकाश लोग फैशन के पुतले बनकर अपना बहुत-सा धन फूंक देते हैं। अगर प्रत्येक परिवार मे फैशन और विलास का वार्षिक खर्च जोडा जाये तो वार्षिक खर्च कम से कम दो हजार रुपये तो होगा ही। फिर सौन्दर्य प्रसाधन एव तेल, साबुन, सेंट, पाउडर, क्रीम, स्नो आदि का खर्च अतिरिक्त है। इसके अतिरिक्त बढिया वस्त्रो, आभूषणो एव सूट-बूट आदि म भी प्रतिवर्ष हजारो रुपये उडाये जाते है। दुर्व्यसन के नाम पर मद्य, सिगरेट, बीडी, तम्बाकू आदि म प्रति परिवार हजारो रुपयो का खर्च है। यह तो प्रत्येक परिवार के खर्च का अनुमानित व्यय का लेखा-जोखा है। यदि सारे भारत का वार्षिक अपव्यय का हिसाब लगाया जाए तो करोडो-अरबो तक जा पहुँचेगा। एक ओर तो इतना अपव्यय, दूसरी ओर विवाह, मृत्यु उत्सव आदि कई कुरूढ़ियो मे दिखावा तथा प्रदर्शन करके करोडो रुपयो का धुआ भारतवर्ष मे किया जाता है। तीसरी ओर मध्यमवर्गीय परिवारो की दयनीय हालत यह है कि कमाने वाले एक दो है तो खाने वाले है—दस। स्त्रियाँ अक्सर कमाने नही जाती, लडके-लड़कियाँ आजीविका का कोई काम प्राय नही करते। यही कारण है कि वे दु.ख, दुर्भाग्य और दारिद्र्य की चक्की मे पिसते रहते है। ऊपर से कमर-तोड महगाई है, वह भी दरिद्रता की

ज्वाला मे वृद्धि करने के लिए आहुति डालती रहती है। इस प्रकार फैशन, विलास, दुर्व्यसन, खोटे रीति-रिवाज, अमीरी का प्रदर्शन, कर्जदारी, कम आय, अधिक खर्च, परिवार मे श्रमनिष्ठा कम, आलस्य, आत्महीनता आदि सब मिलकर भारत की अधिकांश जनता के दारिद्र्य मे वृद्धि करती रहती है।

इन सब कारणो के रहते भारत मे कगाली नहीं आएगी तो क्या होगा ? जब तथाकथित दरिद्रो के समक्ष दरिद्रता निवारण की पूर्वोक्त योजना रखी जाती है, गरीबी हटाने के लिए पूर्वोक्त अपव्ययो को दूर करने के संकल्प के लिए कहा जाता है तो वे बगलें झाँकने लगते हैं, उलटे हितकर उपदेश देने वाले को कोसा जाता है, उसे अपने मार्ग का रोडा समझा जाता है। अधिक सतानो का बोझ भी दरिद्रता का बहुत बडा कारण है। परन्तु सयमपूर्वक संतति नियमन के लिए कोई कहता है तो तथाकथित दरिद्रता के शिकार लोगो को बहुत ही बुरा लगता है। वे दरिद्रता-निवारण के सात्त्विक उपायो को अपनाने के लिए तैयार नही, तब कैसे भाग्य खुलेगा और कैसे लक्ष्मी के दर्शन होंगे ?

दीपावली के अवसर पर लोग लक्ष्मी-पूजा करते हैं, परन्तु उसी लक्ष्मी को पटाखे, आतिशबाजी, फिजूलखर्ची आदि मे खर्च करके अपने घर से धक्का देकर निकाल देते हैं। क्या यह लक्ष्मी का अपमान नही है ? घर मे आई हुई लक्ष्मी शुभ कार्यों मे व्यय करने के लिए ही बहियो मे, घर के द्वार पर लिखा जाता है—'लाभ' और 'शुभ'। लाभ के साथ शुभ कार्य न हो तो लक्ष्मी कहाँ से टिकेगी ?

बन्धुओ ! भाग्य खुले बिना लक्ष्मी प्राप्त नही होती और भाग्य खुलने के लिए कई कारणो का जिक्र मैंने सक्षेप मे कर दिया है। शुभ कार्यों के करने से भाग्य खुलते हैं, तब सभी बाते अनुकूल हो जाती है।

एक बार गुजरात के मूक लोकसेवक रविशकर महाराज कुछ अध्यापको से मिले। उनकी समस्याएँ सुनी। सभी कहने लगे—"हमारा वेतन प्रतिमास दस रुपया और बढ जाए तो हम अपना निर्वाह ठीक तरह से कर सके।"

रविशकर महाराज ने उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति देखकर कहा—"अगर मेरी बात मानो तो मैं तुम्हारा वेतन प्रतिमास दस रुपया अधिक करा सकता हूँ।"

उन्होने कहा—"हाँ, हाँ, क्यो नही मानेंगे आपकी बात ? आप बताइए तो सही, वेतन वृद्धि का उपाय ?"

सभी अध्यापक बीडी पीते थे। साथ ही जर्दा-सुर्ती खाते थे। अत: रविशकर महाराज ने पूछा—"अच्छा, यह बताइए तो, आप प्रतिमास कितने रुपये बीड़ी, माचिस, जर्दा-सुर्ती आदि मे खर्च करते है ?"

एक अध्यापक ने कहा—"हिसाब तो नही लगाया, परन्तु अनुमान से हम प्रतिमास लगभग १५ रुपये तो इन व्यसनो मे खर्च कर ही डालते हैं।"

रविशकर महाराज ने कहा—"तो लो, मेरी बात मानकर इन फालतू व्यसनो को आज से ही तिलांजलि देकर प्रतिमास दस रुपयो के बदले पन्द्रह रुपयो की बचत कर लो तो तुम्हारा वेतन प्रतिमास १५) रुपये अधिक हो जाएगा। क्यो आप लोगो की समझ मे आगया न ? ये दुर्व्यसन आज से मेरी झोली म डाल दो और जो १५) रुपये बचे, उन्हें वेतनवृद्धि के रूप म मानो।"

परन्तु अध्यापको ने श्री रविशकर महाराज की यह हित-शिक्षा न मानी, तब दरिद्रता-निवारण और भाग्यद्वार का उद्‌घाटन कैसे होता ?

दुर्व्यसनो से तन, मन, धन और धर्म चारो की हानि होती है, कोई भी फायदा नही है, फिर भी दरिद्रता की चक्की मे पिसने वाले लोग इन्हे छोडना कहाँ चाहते हैं ?

केवल भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले लोगो का भाग्य कदापि नही खुलता, वे आमतौर पर दुर्भाग्य के ही शिकार बने रहते है।

एक बार दो देवो में एक बात पर विवाद खडा हो गया। दोनो मे एक मिथ्यात्वी था, दूसरा था सम्यक्त्वी। मिथ्यात्वी देव कहता था—"दिव्य शक्तिधारी देव चाहे जिसको भाग्यवान बना सकता है ?" जबकि सम्यग्दृष्टि देव का कहना था—"चाहे जितना शक्तिशाली देव हो, बिना भाग्य के किसी को कुछ नहीं दे सकता है, न ही सम्पन्न बना सकता है।" दोनो न परीक्षा करके निश्चय करने की ठानी। सम्यक्त्वी देव ने अपने अवधिज्ञान से एक जाट परिवार को दुर्भाग्यपूर्ण जानकर मिथ्यात्वी देव से कहा—"बनाओ जाट, जाटनी और जाट के युवा पुत्र को भाग्यवान्! इनकी दरिद्रता दूर करो।" मिथ्यात्वी देव न कहा—"ऐसा ही होगा।" यह कह कर उसने तीनो के रास्ते म रत्नो के ढेर लगा दिये। सोचा कि रत्नो को प्राप्त करके ये तीनो सुखी हो जाएंगे।

इधर ये तीनो वार्तालाप कर रहे थे कि तीनो को एक नई बात सूझी कि अगर हम तीनो एक साथ अधे हो जाएँगे तो अपना काम कैसे चलाएँगे ? अत अभी से ही हमे इस (अधे होने) का अभ्यास कर लेना चाहिए, ताकि समय पर अपना काम रुके नही। बस, तीनो भाग्यहीनो ने आँखो पर पट्टियाँ बाँध ली, हाथो को आगे-आगे हिलाते चलने लगे। रास्ते मे रत्नो के ढेर पर पैर रखकर चलते हुए बोले—"आज रास्ते म किसी ने इतने ककड बिछा दिये है कि चलना मुश्किल हो रहा है।" जैसे-तैसे रास्ता तय किया। आगे जाकर उन्होंने आँखो पर से पट्टियाँ खोल दी और कहने लगे—"अब कोई हर्ज नही, हम अधे भी हो जाएँगे तो भी अपना काम चला ही लेगे।"

सम्यग्दृष्टि देव ने कहा—"देखा, इन भाग्यहीनो को, ये तुम्हारे बिखरे हुए रत्नो के ढेर पर आँखो पर पट्टी बाँधकर चलने लगे। बना दिया तुमने इन्हें भाग्यवान ?"

मिथ्यात्वी देव—"नही बना सका इन्हें भाग्यवान ! इन भाग्यहीनो को तो उलटी बात सूझती है।"

सम्यक्त्वी देव—"तो चलो, हम किसी भविष्योज्ज्वल गरीब आदमी की परीक्षा करके देख ले।"

दोनो देव नगर मे आये। वहाँ मार्ग मे एक अन्धा भीख माँग रहा था। यह माता-पिता और घर से वचित है, दरिद्र है। सम्यक्त्वी देव ने अवधिज्ञान से देखा कि इसने शुभकर्म किये है, इस कारण इसका अब भाग्योदय होने वाला है। इसे वरदान देना चाहिए। दोनो देव बात-चीत करते हुए उस अन्धे के पास से गुजरे। अन्धे ने विनयपूर्वक पूछा—"भाई साहब ! आप कौन है ?"

दोनो देव बोले—"हम सिद्धपुरुष है। जो चाहो सो माग सकते हो, पर वरदान एक ही मागना होगा।"

अन्धा भिखारी बुद्धि से दरिद्र नही था, उसने बहुत कुछ सोच-विचारकर कहा—"मुझे यही वरदान दे दे कि मैं अपने पोते को सतमजिले मकान मे सोने के थाल मे खीर-खाड का भोजन करते देखूं।"

प्रसन्नचित्त एव आशापूर्ण अन्धे भिखारी की वरयाचना सुनकर दोनो देव बडे प्रसन्न हुए। उन्होन 'तथास्तु' कहा। अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से अन्धे की आँखे खुल गई, धन और सोना मिल गया, सात मजिला मकान भी खडा हो गया। विवाह हो गया और कुछ ही वर्षों मे उसके बेटा और पोता भी हो गया। तन, मन और धन सभी प्रकार की दरिद्रताएँ दूर हो गईं।

ये है दुर्भाग्य और सौभाग्य के परिणाम !

नैतिक दृष्टि से दरिद्र भी भाग्यहीन

कई लोग तन की दृष्टि से तो दरिद्र नही होते, परन्तु नैतिक दुर्बलताएँ उन्हें दरिद्र और भाग्यहीन बना देती है। धन से दरिद्र नैतिक दुर्बलताओ के कारण होता है, परन्तु किसी हितैषी के समझाने पर भी वह अपने अनैतिक कार्यों, दुर्व्यसनो या बुरी आदतो को नही छोडता, वह अपनी गलती नही सुधारता। यही कारण है कि वह दरिद्रता के दुष्परिणाम भोगता रहता है। वह मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, चोरी, डकैती, लूटपाट, जुआ, मासाहार, बेईमानी, ठगी, चोरबाजारी, अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि नैतिक दुर्बलताओ का शिकार बनकर अधिकाधिक दरिद्रता के शिकजे मे फँसता जाता है। चोरी आदि से भले ही थोडा-सा क्षणिक सतोप उसे हो जाये, परन्तु चोरी आदि अनैतिक उपायो से प्राप्त धन अधिक नही टिकता, वह बीमारी, मुकदमेबाजी आदि रास्तो से निश्चित ही चला जाता है, या सरकार छीन लेती है, बदनामी, हैरानी, अपकीर्ति, अधर्मवृद्धि, पापकर्मबन्ध आदि होता है सो अलग। अत दरिद्रता के निवारण का मूल उपाय सदाचार, नैतिकता और शुद्धधर्म की राह पर चलना है। इसी से ही व्यक्ति के पुण्य प्रबल होगे, भाग्य खुलेंगे।

दरिद्रता का शिकार मृत है

वास्तव मे देखा जाये तो पूर्वोक्त सभी प्रकार की दरिद्रताओं का शिकार एक तरह से मृत ही है। महर्षि गौतम की अनुभव की आँच मे तपी हुई यह उक्ति वास्तव मे यथार्थ है कि 'दरिद्र और मृत को समान मानो'।

प्रश्न होता है कि दरिद्र मनुष्य चाहे दरिद्र हो, परन्तु है तो वह जीवित ही, उसे मृत क्यो और किस दृष्टि से कहा गया है ? आपको मैं दारिद्र्य के परिणाम संक्षेप मे बता दूं, जिससे आप इस बात को भली-भाँति समझ सकेगे। दरिद्र को मृत क्यो कहा गया है ?

दरिद्र आदमी को पेट भरने के लिए इधर-उधर भटकना पडता है, मगर उसे माँगने से भी कई दफा नही मिलता, गालियाँ और धिक्कार मिलते हैं, कई बार उसे मार भी पडती है। अगर कही कुछ माँगने जाता है तो गृहस्वामी चोर या उचक्का होने की शका से उसे धक्का देकर निकाल देता है। एक कवि ने कहा है—

> लखि दरिद्र को दूर ते, लोग करे अपमान।
> जाचक-जन ज्यो देखि कै, भूसत है बहु स्वान ॥

महात्मा गाधी के द्वारा प्रेरित पत्र—'हरिजन सेवक' मे वर्षों पहले एक धनिक का आत्मव्यथापूर्ण पत्र छपा था। पत्र हरिजन सेवक के सम्पादक 'श्री किशोरलाल मश्रुवाला' पर आया था। पत्र का सक्षेप मे भावार्थ यह था कि एक धनिक सेठ के पास एक भूतपूर्व सम्पन्न किन्तु वर्तमान मे दरिद्र बढ़ई मिलने आया। बहुत देर तक द्वार पर खडा रहा, किन्तु सेठ ने कोई ध्यान नही दिया। आखिर वह साहस करके पास पहुँचा, अपनी व्यथाकथा सुनाई कि सेठजी ! मैं एक अच्छा मिस्त्री था, कुर्सी, टेबल आदि लकडी का सामान बनाता था। किन्तु दुर्भाग्य से मेरे कारखाने मे आग लग गई। सब सामान जलकर खाक हो गया। मैं बिलकुल निधन हो गया। खाने-पीने की भी तगी आगई। क्या करू ? किससे माँगूं, कहाँ जाऊ यो दो दिन तो इसी उधेड-बुन म रहा। किसी ने आपका नाम मुझे सुझाया कि सेठजी उदार हैं, वे तुम्हें कुछ काम दे देगे। अत मैं इसी आशा से आपके पास आया हूँ कि कुछ काम मिल जाय तो मैं अपना गुजारा चला लूँ।

इस पर सेठ तमककर बोला—"जाओ जाओ यहाँ से। मेरे यहाँ अभी कोई काम नही है, जो तुम्हें दे दूं। मुझे निठल्लो की फौज नही भर्ती करनी है। और फिर तुम इतने दुर्बल हो कि कुछ काम कर सकोगे, इसमें सन्देह है।"

बढ़ई ने बहुत अनुनय-विनय की कि "सेठजी ! जैसा भी होगा, मैं बहुत

वफादारीपूर्वक काम करूंगा। भोजन करने से मेरे शरीर में शक्ति आएगी। तो मैं काम कर सकूंगा।"

सेठ का पारा गर्म हो गया, बोला—"जाओ, हटो यहाँ से। मेरा सिर मत खपाओ।"

दरिद्र बढ़ई बोला—"अच्छा सेठजी! मैं तीन दिन का भूखा हूं। मुझे कुछ भोजन तो करा दें, जिससे थोडी-सी शरीर मे स्फूर्ति आ जाये।"

सेठ बोला—"जा-जा यहाँ से! यहाँ क्या भोजन रख गया था? यहाँ लगर थोडे ही है, जो भोजन मिलेगा।"

बेचारा दरिद्र बढ़ई निराश होकर चलने लगा। उसे सेठ से ऐसी आशा नही थी कि एक मानव का इतना अपमान करेगा। उसने चलते-चलते सेठ से फिर कहा—"सेठजी! मुझे सिर्फ एक पैसा दे दे, मैं चने खाकर पानी पी लूंगा।" परन्तु सेठ ने साफ इन्कार कर दिया—"यहाँ कुछ न मिलेगा।" बढई दरिद्र था। दरिद्र का आत्म-सम्मान मर ही जाता है, उसको चाहे जैसे उलटे-सीधे फटकार-तिरस्कार के वचन सहने पडते है। क्या इस दरिद्रावस्था और मृतावस्था मे कोई अन्तर है?

मृच्छकटिक नाटक मे दरिद्रता का चित्रण करते हुए कहा गया है—

> दारिद्र्यात् ह्रियमेति ह्रीपरिगत. प्रभ्रश्यते तेजसो।
> निस्तेजा. परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते॥
> निर्विण्ण शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते।
> निर्बुद्धि· क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥ १॥
> दारिद्र्यात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सतिष्ठते।
> सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारीभवन्त्यापद·॥
> सत्त्व ह्रासमुपैति शीलशशिन कान्ति परिम्लायते।
> पाप कर्म च यत् परैरपि कृत तत् तस्य सम्भाव्यते॥ २॥

अर्थात्—दरिद्रता से मनुष्य लज्जित हो जाता है, लज्जाहीन होने से उसका तेज नष्ट हो जाता है। निस्तेज मनुष्य का जगह-जगह अनादर होता है। जगह-जगह अनादर होने से उसे ग्लानि हो जाती है। ग्लानियुक्त मनुष्य शोक करने लगता है और शोक-पीडित मनुष्य का बुद्धि परित्याग कर देती है। अहो, दरिद्रता समस्त आपदाओ का स्थान है। दरिद्रता के कारण दरिद्र व्यक्ति का उसके बांधवगण कहना नही मानते। जो उसके मित्र या स्नेहीजन हैं, वे विमुख हो जाते हैं, आफते बढ़ जाती हैं। दरिद्र का सत्त्व क्षीण हो जाता है, शीलरूपी चन्द्रमा की कान्ति फीकी पड जाती है, तथा जो पाप-कर्म दूसरो ने किया है, उसकी शंका उसके प्रति की जाती है। सचमुच दरिद्रता एक प्रकार की मृत्यु है। इसीलिए आगे चलकर इसी नाटक मे कहा है—

दारिद्र्यान्मरणाद् वा मरणं मे रोचते न दारिद्र्यम् ।
अल्पक्लेशं मरणं, दारिद्र्यमनन्तकं दु:खम् ॥

—दरिद्रता और मृत्यु इन दोनो मे से मुझे मृत्यु ही पसद है, दरिद्रता नही । मृत्यु मे तो एक बार थोडा-सा कष्ट होता है, परन्तु दरिद्रता के कष्टो का कोई अन्त ही नही है ।

उस बढई ने सोचा—इस दरिद्रता से तो मरना ही अच्छा । मेरे लिए अब इस ससार मे कोई स्थान नही है । जहर के लिए भी एक पैसा मिल जाता तो मैं जीवन का आसानी से अन्त कर देता । अब तो मृत्यु की शरण लेना श्रेयस्कर है । रेलगाडी की पटरी तो सबके लिए सुलभ है, उसमे तो कोई पैसा नही लगता । बस, दरिद्रता-पीडित वह बढई सब ओर मे निराश होकर रात को रेल की पटरी पर लम्बा सो गया । गाडी धडधडाती हुई आई और एक ही झटक मे बढई के शरीर पर फिर गई। शरीर के टुकडे-टुकडे हो गये । इजिन ड्राइवर न गाडी रोकी । यात्रियो मे से कुछ लोग अचानक गाडी रुकने के कारण उतर पडे, देखा कि एक आदमी रेलगाडी के नीचे कटकर मर गया है । लोग अफसोस करने लगे । उसकी जेब टटोली गई, जेब मे एक पर्ची निकाली, जिस पर लिखा था—"इस ससार म मेरा जीना व्यर्थ है, मै एक पैसे के लायक भी नही, इसलिए इस ससार से मैं विदा होता हूँ ।"

अफसोस करने वाल यात्रियो म वह सेठ भी था, जिसने उस बढई को एक पैसा देने से भी इन्कार कर दिया था । उसन ज्यो ही वह पर्ची पढी स्मृतिपट पर उस बढई का चित्र उभर आया । उसकी आँखो से आँसू उमड पडे । घोर पश्चात्ताप हुआ—'हाय ! मेरे कारण से इसे आत्महत्या करनी पडी ।'

इस घटना से आप अनुमान लगा सकते है कि दरिद्रता कितनी बुरी है ! दरिद्रता मनुष्य को मरने के लिए विवश कर देता है, दीन-हीन, पराधीन बना दती है । दरिद्र व्यक्तियो के साथ अमीर लोग बेरहमी से पेश आते है । उन पर मनमाना अत्याचार करते है । अपना शील और सतीत्व भी दरिद्रता की बलिवेदी पर चढा दिया जाता है । दरिद्रावस्था मे पारस्परिक प्रेम का नाश हो जाता है, नैतिक दृष्टि से भी मनुष्य निर्बल हो जाता है। उसका तेजोवध हो जाता है । इसीलिए एक कवि कहता है—

जीवन्तोऽपि मृता पञ्च व्यासेन परिकीर्तिता ।
दरिद्रो व्याधितो मूर्ख प्रवासी नित्यसेवक ॥

वेदव्यास ने इन पाँचो को जीवित रहते हुए भी मृतवत् कहा है—(१) दरिद्र, (२) व्याधिग्रस्त, (३) मूर्ख (४) प्रवासी और (५) नित्यसेवक ।

इसीलिए दरिद्रता के दु ख का वर्णन करते हुए एक कवि ने परमात्मा से प्रार्थना की है—

देने वाले ! किसी को गरीबी न दे,
मौत दे दे, मगर बदनसीबी न दे।
छीन ली हर खुशी और कहा कि न रो,
गम हजारो लिये, दिल भी देने थे सौ।
करके हम पै सितम, खुश न हो।
देने वाले ॥
छोडकर यह जहाँ, बोल जाएँ कहाँ,
कोई गमख्वार है, न कोई मेहरबाँ।
खुद कहे खुद सुने दासताँ दासताँ ॥
देने वाले

जैसे लोग मृत व्यक्ति से घृणा करते है, कोई उसे घर मे नही रखता वैसे ही दरिद्र का हाल हो जाता है। दरिद्र को देखते ही लोग उसे नफरत भरी दृष्टि से देखते है, उसे दुरदुराते है। यह कुत्ते का सा अपमानित जीवन स्वाभिमानी के लिए मरण से भी बदतर है। दरिद्रावस्था मे मनुष्य किस प्रकार मृतवत् होकर मृतक का-सा कष्ट सहता है ? इसे समझने के लिए एक प्राचीन कथा लीजिए—

सारण उज्जयिनी का प्रमुख जुआरी था। एक दिन वह जुए मे सर्वस्व हार गया। उसके यहाँ एक टाइम खाने के लिए भी भोजन न रहा। अत सारण रात को नगर म घूमता-घूमता एक बनिये के घर के बाहर पिता-पुत्र की परस्पर होती हुई बातचीत सुनने के लिए खडा रहा। पिता कह रहा था—"बेटा ! हमे विपत्ति-निवारणार्थ कुछ धन सुरक्षित रखना चाहिए।" पुत्र बोला—"हाँ, पिताजी ! ऐसा ही करे।" पिता बोला—"दस हजार स्वर्णमुद्राएँ हम श्मशान म गाड देते है।" यह बात सारण जुआरी ने सुनी। वह उनसे पहले ही श्मशान मे जाकर जहाँ मुर्दे पडे थे, उनके पास सो गया। थोडी देर मे पिता-पुत्र दोनो द्रव्य लेकर श्मशान मे पहुँचे, जमीन पर थैली रखी। पिता ने कहा—"बेटा ! चारो ओर देख आ। कोई कपटी देख लेगा तो गडा हुआ द्रव्य निकालकर ले जायेगा।" पुत्र ने जाकर देखा तो मुर्दों के बीच मे सारण को भी देखा, भलीभाँति परखा, नाक तथा मुँह पर हाथ रखकर देखा, श्वास की हवा निकलती न देखी, फिर हिलाकर देखा। पिता के कहने पर दूसरी बार फिर गया, उसकी टाँगे खीचकर घसीटा, उछाला और एक ओर डाला, फिर भी वह मुर्दे की तरह न हिला न डुला। पिता से आकर सारी बात कही। पिता ने कहा—"बेटा ! उसके नाक-कान काटकर ले आ। फिर पता लगेगा।" पुत्र ने वैसे ही किया, पर धूर्त बोला नही। पिता-पुत्र दोनो को निश्चय हो गया कि यह मुर्दा ही है, अत उस धन को जमीन मे गाडकर दोनो अपने घर आये। इधर धूर्त सारण ने जमीन मे गडा हुआ धन निकाला और अपने घर आया। एक दिन सेठ

ने अपने पुत्र से कहा—"अपना गडा हुआ धन जाकर देख आ।" पुत्र वहाँ गया, किन्तु वहाँ धन गायब। पुत्र ने आकर पिता से कहा। पिता ने कहा—"मुझे तो उसी पर शका है, जिसके तू नाक-कान काटकर लाया था।" दोनो ने उसे खोजा तो एक जगह सुन्दर वस्त्राभूषण पहने जुआ खेलते हुए देखा। नाक-कान कटे हुए थे। सेठ ने उसे धिक्कारा। अत मे कहा—"जो द्रव्य बचा हो तो उसे ले आ। तुझे भी कुछ दे दूंगा।" जुआरी ने बचा हुआ धन सेठ को सौंप दिया। सेठ ने कुछ द्रव्य उसे देकर विदा किया।

दरिद्र को अपनी दरिद्रतावश मुर्दे की तरह कितना कठोर आघात सहना पडा। इसीलिए गौतम महर्षि ने इस जीवनसूत्र मे कहा है—

मुआ दरिद्दा य सम विभत्ता *